श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

(द्वितीय खण्ड)

सप्तम अध्याय से द्वादश अध्याय तक के मूल श्लोक, अन्वय,

श्रीधरस्वामिकृत टीका,

उसका हिन्दी अनुवाद

और

योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशय की आध्यात्मिक दीपिका

एवम्

श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल

द्वारा

उक्त आध्यात्मिक दीपिका की विशद व्याख्या

द्वितीय संस्करण

माघ शुक्ला सप्तमी

संवत् २०३७

प्रकाशक

हिन्दी प्रकाशन समिति

गुरुधाम, मन्दार

पो०—बौंसी

जि०--भागलपुर, बिहार

सम्पादक

ज्वालाप्रसाद तिवारी

अनुवादक

पं० गौरीशंकर द्विवेदी शास्त्री

साहित्यरत्न, साहित्याचार्य,

गोरखपुर ।

प्राप्तिस्थान—

बिहार राज्य शिक्षक संघ, एग्जीबिशन रोड, पटना

मूल्य पैंतीस रुपये

मूल्य ३०-००

मुद्रक

अमलकुमार बोस,

शान्ति प्रिन्टर्स,

एच-५७, विजय चौक

लक्ष्मी नगर दिल्ली-११००९२

श्रीगुरवे नमः

प्रस्तावना

प्रथम खण्ड के सम्पादकीय वक्तव्य में कहा जा चुका है कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार योग है। हमारे शास्त्रके प्रायः सभी ग्रन्थ इसी आधार पर स्थित हैं। योग ही जीवको परमार्थ-तत्त्व में पहुंचाने का सेतु है तथा अध्यात्म राज्य में प्रवेश कराने का सुगम और सुदृढ़ मार्ग है। कर्मी, ज्ञानी और तपस्वी सभीसे योगी श्रेष्ठ हैं, यही बात श्रीभगवानने अर्जुन को बताई और योगी होनेके लिए आग्रह किया—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन।।

योगका अल्प अनुष्ठान भी महद् भयसे त्राण करने वाला है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात।

जनसाधारणमें इस प्रकारकी भ्रान्त धारणा है कि योग एक कठिन साधन है और विशेषतः गार्हस्थ्य-जीवनमें रहकर इसकी साधना सर्वथा असम्भव है। वर्तमान और अतीतकी ओर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे देश के अनेक सिद्ध योगी महापुरुषों ने गार्हस्थ्य-जीवन में रहकर भी सिद्धि लाभ की और परमपद प्राप्त किया। योग का फल महान है अथच करनेमें भी सुसाध्य है—'सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्'।

यही योग-अनुष्ठान श्रीमद्भगवद्गीता में निगूढ़तम भावसे विभिन्न भङ्गियोंसे बताया गया है। इसीके सहारे मनुष्य अद्वय ज्ञान को प्राप्त कर कह सकता है—'कः शोकः कः मोहः एकत्वमनुपश्यतः' तथा उच्च स्वरमें घोषित कर सकता है कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'।

ऐसे सुकर और महत्त्वपूर्ण योगका भाष्य इस ग्रन्थमें विवृत है। मुमुक्षु और वैराग्य-सम्पन्न व्यक्तियोंके लिए यह ग्रन्थ विशेष रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा। साधारण लोगोंके लिए भी यह पंथ-प्रदर्शकका काम करेगा। विषयको सुस्पष्ट करनेकी यथाशक्ति चेष्टा की गयी है, फिर भी प्रमादवश त्रुटियाँ रह गयी होंगी। भगवान गुरुदेव से प्रार्थना है कि जगत-जीवको इन पंक्तियोंसे भ्रान्ति-दर्शन न हो।

हर्षका विषय है कि प्रथम खण्डके प्रकाशित होनेके प्रायः ९ मासके भीतर ही द्वितीय खण्ड प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमें ग्रन्थकारकी ही प्रेरणा है। उनकी ही असीम दयासे आज यह कार्य सुसम्पन्न हुआ। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। इस महान् कार्यमें भाई जगदीशप्रसाद सिंहने बड़ी तत्परतासे संशोधनका काम किया, इसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं और भगवान् गुरुदेवसे उनके लिए शुभाशीर्वादकी प्रार्थना करते हैं। द्वितीय संस्करण में डॉ० सुखदेव प्रसाद ने आर्थिक सहायता करके बहुत उपकार किया है भगवान उनका मंगल करें।

प्रथम खण्डकी तरह प्रस्तुत खण्डमें भी योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयकी आध्यात्मिक दीपिका प्रत्येक श्लोककी आध्यात्मिक व्याख्याके प्रारम्भ में छोटे अक्षरों में दी गई है। पश्चात् ग्रन्थकारने उन्हीं सूत्रों की व्याख्या की है जो उसी शीर्षक में तदपेक्षा कुछ मोटे अक्षरों में दी गयी है।

माघ शुक्ला सप्तमी
सम्वत् २०३७ (वि०)

ज्वालाप्रसाद तिवारी

विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तमोऽध्यायः

(ज्ञान-विज्ञानयोगः)

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)—पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आसक्तमनाः (आसक्तचित्त) मदाश्रयः (अनन्यशरण होकर) योगं युञ्जन् (योगाभ्यास करने से) समग्रं (सब प्रकार ऐश्वर्य और विभूतिसे सम्पन्न) मां (मुझको) यथा (जिस प्रकार) असंशयं (निःसंशय भावसे) ज्ञास्यसि (जान सकोगे) तत् (वह) शृणु (सुनो) ॥१॥

श्रीधर— विज्ञेयमात्मनस्तत्त्वं सयोगं समुदीरितम् ।
भजनीयमथेदानीमैश्वरं रूपमीर्यते ॥

पूर्वाध्यायान्ते मद्गतेनान्तरात्मना यो मां भजते स मे युक्ततमो मत इत्युक्तम् । तत्र कीदृशस्त्वं यस्य भक्तिः कर्त्तव्येत्यपेक्षायां स्वस्वरूपं निरूपयिष्यञ्छ्रीभगवानुवाच—मयीति । मयि परमेश्वरे आसक्तमभिनिविष्टं मनो यस्य सः । मदाश्रयोऽहमेवाश्रयो यस्य । अनन्यशरणः सन् । योगं युञ्जन्नभ्यसन् । असंशयं यथा भवत्येवं । मां समग्रं विभूतिबलैश्वर्यादिसहितं यथा ज्ञास्यसि तदिदं मया वक्ष्यमाणं शृणु ॥१॥

अनुवाद—(पूर्व अध्यायोंमें योगके साथ ज्ञातव्य आत्मतत्त्वका वर्णन करके अब भजनीय ईश्वरके स्वरूपका निर्देश कर रहे हैं)। [पूर्वाध्यायके अन्तमें कहा गया है कि "मद्गतचित्त होकर जो मेरा भजन करते हैं वही युक्ततम हैं, यह मेरा मत है।" वह तुम किस प्रकारके हो, जिसकी भक्ति करना कर्त्तव्य है?—इसके उत्तरमें अपने स्वरूपका निरूपण करनेके लिए] श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ, मुझ परमेश्वरमें जिसका मन अभिनिविष्ट है तथा मैं ही जिसका आश्रय हूँ [इस प्रकार] अनन्यशरण होकर जो योगाभ्यास करते हैं, वे असंशयित भावसे समस्त विभूति-बल-ऐश्वर्यके साथ जिस प्रकार मुझे जान सकेंगे, उसे कहता हूँ, श्रवण करो ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है :—मुझमें प्रवेश कर अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें रहकर—आत्मामें ही आश्रय करके जो कोई क्रिया करता है—वह स्थिति प्राप्त करके समान भावसे मुझको पहिले जिस प्रकार देख पाता है उसे कहता हूँ,

सुनो।—क्रिया करनी होगी, परन्तु आत्माको आश्रय करके, अर्थात् यह ध्यानमें रखना होगा कि उस समय मनका आश्रय गुरु-प्रदत्त मंत्रके ऊपर ही रहे, मन अन्य विषयोंमें भटकने न पाये। इससे शीघ्र ही क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। इस अवस्थाको ही 'मदाश्रय' कहते हैं। मन लगाकर क्रिया करने पर मन आत्मामें प्रविष्ट होकर आबद्ध हो जाता है, उस आत्ममग्न या ध्यान-निबद्धचित्त साधकके सामने समस्त विभूति-बल-ऐश्वर्यके साथ भगवान्के स्वरूपकी जिस प्रकार उपलब्धि होती है, वही यहाँ बतलाते हैं। इस योगमग्न चित्तके सिवा निःसंशयरूपसे भगवान्का स्वरूप अवगत करनेका और कोई उपाय नहीं है, इसीसे यहाँ उस स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायका निर्देश करते हैं। पहले षट्कमें भगवान्ने 'त्वं' पदका जो लक्ष्य है उसी ज्ञेय पदार्थकी व्याख्या की है। देहाभिमानयुक्त जिस 'मैं' का ज्ञान हमें होता है, वह अशुद्ध है। उस अशुद्ध भावको त्यागना पड़ेगा। विषयासक्ति ही जीवात्माका अशुद्ध भाव है, यही जीवका बन्धन-रज्जु है। भोगासक्तिके कारण समस्त भोग्य वस्तुको जीव अपने अधिकारमें लाना चाहता है। वह नहीं जानता कि यह भोग्य वस्तु क्या है, तथा वह स्वयं क्या वस्तु है। इसलिए इस 'त्वं' पदार्थका परिशोध आवश्यक है। अन्यथा 'त्वं' ही 'तत्' है, यह कदापि समझमें न आयगा। वस्तुकी प्राप्तिके लिए जीवकी जो अत्यासक्ति होती है, इसका कारण है जीवका अज्ञान—अपने आपको न जानना। इस अज्ञान और अविवेकके कारण जो भोग्य वस्तुओंमें आसक्ति होती है, उसका संन्यास ही इस 'त्वं' पदार्थकी शुद्धि है। परन्तु केवल विषय छोड़कर भागनेसे ही विषय जीवको न छोड़ेगा, विषयके प्रति आसक्ति जीवके प्राणमें जड़ित है। जब तक प्राणका सम्यक् शोधन नहीं होता, तबतक देश छोड़कर चले जाने से, या मुँहसे 'तुम्हारे शरणापन्न हूँ' कहनेसे यह आसक्ति कदापि नहीं जा सकती। पूर्व अध्यायके अन्तमें कहा है कि योगियोंमें जो मद्गतचित्तसे 'मुझको' भजते हैं, वही युक्ततम हैं। 'मुझको भजने' की बात तो उन्होंने कही, पर यह 'मैं' क्या है, यह 'मैं' तत्त्व तथा उसके भजनके द्वारा जो मद्गतचित्त होना पड़ता है—इन सारी रहस्यकी बातोंको अब कहेंगे ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अन्वय—सविज्ञानं (विज्ञान सहित अर्थात् स्वानुभवयुक्त) इदं ज्ञानं (यह ज्ञान) ते (तुमको) अहं (मैं) अशेषतः (अशेष प्रकारसे अर्थात् साधन समूहके साथ) वक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जो) ज्ञात्वा (जानकर) इह (इस लोकमें) भूयः (पुनः) अन्यत् (और कुछ) ज्ञातव्यं (जानने योग्य या पुरुषार्थका साधन) न अवशिष्यते (अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् मत्-तत्त्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है) ॥२॥

श्रीधर—वक्ष्यमाणं ज्ञानं स्तौति—ज्ञानमिति। ज्ञानं शास्त्रीयम्। विज्ञानमनुभवः। तत्सहितमिदं मद्विषयमशेषतः साकल्येन वक्ष्यामि। यज्ज्ञात्वेह श्रेयोमार्गे वर्तमानस्य पुनरन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्टं न भवति। तेनैव कृतार्थो भवतीत्यर्थः ॥२॥

अनुवाद—[वक्ष्यमाण ज्ञानकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं]—मैं तुमको अनुभवके साथ इस मद्विषयक समस्त शास्त्रीय ज्ञानको पूर्णतः कह रहा हूँ, जिसे जान लेने पर श्रेय मार्गमें चलने वाले पुरुषके लिए और कुछ जाननेके लिए अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् इसके द्वारा वह कृतार्थ हो जाता है ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ज्ञान—योनिमुद्रा, विज्ञान—क्रियाकी परावस्था, भलीभाँति बतला रहा हूँ—जिसे जान लेने पर और कुछ जानने के लिए बाकी नहीं रहेगा।—"ज्ञाते तु कस्मिन् विदितं जगत् स्यात्? सर्वात्मके मयि ब्रह्मणि पूर्णरूपे।" किसको जान लेने पर इस जगत्का सारा रहस्य विदित हो जाता है?—इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य शङ्कर कहते हैं कि सर्वात्मक पूर्णब्रह्मस्वरूप अहंपदवाच्य आत्माको जान लेने पर सब कुछ विदित हो जाता है। भगवान् इस विश्व ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके उसके प्रत्येक अणुमें किस प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं, वस्तुतः यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है! अतएव जो एक अणुके रहस्यको जान लेता है, उसके लिए ब्रह्माण्डमें कुछ अविदित नहीं रहता। मनुष्यको ही देखो, इसके शरीर—इन्द्रियमय बाह्य रूपको ही हम देख पाते हैं, परन्तु कौन इसके भीतर रहकर इस देहयन्त्रको चला रहा है, इस बातको हम बहुधा समझ नहीं पाते, और समझना आवश्यक भी नहीं समझते। जिस प्रकार वे प्रत्येक अणुके भीतर हैं, उसी प्रकार इस देह-यन्त्रमें भी विराजमान हैं, उनका विशिष्ट प्रकाश भी इसमें वर्तमान है। उस प्रकाश-स्वरूपको साधनविशेषके द्वारा जान लेते हैं—यही ज्ञान है, और इसके भी आदिमें एक अवस्था रहती है, जहाँ प्रकाश या अप्रकाश कुछ नहीं होता, तथापि वह नित्य है, वहाँ चन्द्र-सूर्यकी गति नहीं है, फिर भी वहाँ कैसा अद्भुत प्रकाश है!! उस चिरस्थिर केन्द्रसे अनन्त ब्रह्माण्डका विकास हो रहा है। यह स्थान ही परम धाम है, वही स्वानुभवपद है, वही क्रियाकी परावस्था है। इस अवस्थामें पहुँच जाने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता। साधक तब सर्वज्ञ हो जाता है।

सूर्येन्दु अग्नि तथा प्रकाश किछुइ नाइ।
'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' फूटेछे जेदिके चाइ॥
हृदय गुहार माझे निर्मल जोछना भरा।
असीम आकाश राजे अनन्त शान्तिते पोरा॥ ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अन्वय—मनुष्याणां सहस्रेषु (सहस्रों मनुष्योंमें) कश्चित् (कोई) सिद्धये (सिद्धिके लिए, अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिके लिए) यतति (यत्न करता है) यतताम् अपि सिद्धानां (मोक्षके लिए यत्न करने वालोंमें भी) मां (मुझको) कश्चित् (कोई कोई) तत्त्वतः (यथावत्) वेत्ति (जानता है) ॥ ३ ॥

श्रीधर—मद्भक्तिं विना तु मज्ज्ञानं दुर्लभमित्याह—मनुष्याणामिति। असंख्यानां जीवानां मध्ये मनुष्यव्यतिरिक्तानां श्रेयसि प्रवृत्तिरेव नास्ति। मनुष्याणां तु सहस्रेषु मध्ये

कश्चिदेव पुण्यवशात् सिद्धये आत्मज्ञानाय प्रयतते। प्रयत्नं कुर्वतामपि सहस्रेषु कश्चिदेव प्रकृष्टपुण्यवशादात्मानं वेत्ति। तादृशानां चात्मज्ञानां सहस्रेषु कश्चिदेव मां परमात्मानं मत्प्रसादेन तत्त्वतो वेत्ति। तदेवमतिदुर्लभमपि मज्ज्ञानं तुभ्यमहं वक्ष्यामीत्यर्थः॥ ३॥

अनुवाद—[परन्तु मद्भक्तिके बिना मद्विषयक ज्ञान दुर्लभ है, इसी कारण कहते हैं—] असंख्य जीवोंके बीच मनुष्यके सिवा अन्य किसीमें श्रेयः-प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती; परन्तु सहस्रों मनुष्योंमें कोई कोई पुण्यवश आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है; और सहस्रों प्रयत्न करनेवालोंमें, पुराकृत प्रकृष्ट पुण्यके वश कोई ही आत्माको जान सकता है। इस प्रकारके सहस्रों आत्मज्ञ पुरुषोंमें कोई कोई मत्प्रसादसे मुझको तत्त्वतः जान पाता है। अतएव यह आत्मतत्त्व अति दुर्लभ है, इस आत्मज्ञानको ही तुझे बतलाता हूँ॥ ३॥

[शङ्कराचार्यने 'सिद्धानां' शब्दका अर्थ लिखा है—"सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते"—जो मोक्षके लिए प्रयत्न करते हैं, वे ही सिद्ध हैं। मधुसूदन कहते हैं—"सत्त्व-शुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं"—सत्त्वशुद्धिके द्वारा ज्ञानोत्पत्ति होने पर सिद्ध हो जाते हैं।]

आध्यात्मिक व्याख्या—हजारों मनुष्योंमें कोई एक अनावश्यक कर्ममें इच्छा-रहित होनेके लिए यत्नवान् होता है, और इस प्रकारके अनेक यत्नशील पुरुषोंमें कोई कोई क्रिया करते हैं— करके परब्रह्म कूटस्थमें जाते हैं।—मनुष्येतर जीवोंका आत्मज्ञानमें अधिकार नहीं होता। मनुष्य-देहमें ही आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। परन्तु मनुष्योंमें भी जिनके पास सञ्चित पुण्य नहीं है, उनको आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति नहीं होती। आत्मज्ञानका प्रधान उपाय योग है, योगका अधिकार विवेकी पुरुषके सिवा दूसरेको प्राप्त नहीं हो सकता। और इस प्रकारके योगानुष्ठानमें भी नाना प्रकारकी विघ्नबाधाएँ आ पड़ती हैं, अतएव आत्मज्ञान अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि योगाभ्यास करने पर सिद्धिकी प्राप्ति तो होती है, परन्तु अनधिकारीके लिए योगाभ्यास करना बहुत कठिन है, क्योंकि मनुष्यको नाना प्रकारके अनावश्यक कार्योंको करनेकी इच्छा होती है, नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्ति होती है, और इस कारण सहस्रों अनावश्यक कल्पनाएँ करते करते जीव क्लान्त हो जाता है, तथापि कल्पनाका त्याग नहीं कर सकता। अशुद्ध अन्तःकरणके कारण विषयोंके प्रति अत्यधिक आसक्ति होती है और उससे मनमें अविश्रान्त कल्पनाका प्रवाह चलता रहता है। साधुसङ्गसे तथा विषयोंके हेयत्वकी आलोचना करने पर वासनाका वेग कम होता है। पहले पहल नितान्त प्रयोजनीय कर्ममें वेग रहता हो तो रहने दो, परन्तु अनावश्यक कर्म और तद्विषयक सङ्कल्पका वेग रोकनेके लिए कुछ न कुछ प्रयत्न होना आवश्यक है। प्रयत्न करने पर साधक इस विषयमें कुछ कृतकार्य भी होते हैं। इस प्रकारके आत्मोन्मुख जीवके प्रति कृपा करके सद्गुरु उनको साधनाका उपदेश देते हैं। उपदेश प्राप्त कर गुरुके आदेशके अनुसार साधन करते करते उनकी साधनामें तीव्रता बढ़ जाती है। साधनामें जिनको आलस्य या प्रमाद नहीं तथा तीव्रतर वेगसे जो साधनामें लगे रहते हैं, वे नाना प्रकारकी योगज-सिद्धि प्राप्त करते हैं, तथा इस प्रकारके समस्त सिद्ध साधकोंमें कोई

कोई कूटस्थरूप परब्रह्ममें प्रवेश प्राप्त करते हैं। अवश्य ही इस प्रकारके भाग्यवान् साधक बहुत दुर्लभ होते हैं। यदि कहो कि उनको तत्त्वतः* जानना क्या है—तो इसका उत्तर यह है कि क्रियाकी परावस्थामें प्रवेश करने पर ही वह तत्त्वतः जाना जाता है। उस समय भगवान्‌के ऐश्वर्य, ज्ञान, बल और माधुर्य—समस्त विषयोंके साथ साधकका परिचय हो जाता है। तब साधक योगबलसे बलिष्ठ होकर स्वयं तद्रूप हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था प्राणायामादि योगसाधनके द्वारा कैसे प्राप्त की जाती है, यह बतलाता हूँ। क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्थारूप परम शान्तिपद प्राप्त होता है, क्रियाकी परावस्थामें जब चित्त ब्रह्ममें लीन हो जाता है तब फिर कोई कर्म नहीं रह जाता। उस समय सबमें एक रस, अर्थात् ऐसा बोध होता है कि एक ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है। उस अवस्थामें अवस्थित साधक, करते हुए भी कुछ नहीं करता है। यह शरीर ॐकार-स्वरूप है, उसमें तेजोविन्दु है। प्राण-अपानकी क्रियाके द्वारा जब वायु सदा कुम्भकावस्थामें रहती है, तब मन अपने आप अन्य सब दिशाओंसे रुद्ध होकर शून्यमें प्रवेश करता है और निजानन्दमें रहता है। वहाँ रहते रहते उत्तम पुरुष नारायणको देखता है, और तब साधकमें तद्वत् पौरुषत्व तथा अलौकिक शक्ति प्रकट होती है। उस तेजमें रहने पर शुक्रकी वृद्धि होती है, बुद्धि तीक्ष्ण होती तथा अग्निकी वृद्धि होती है। अग्निके तेजकी वृद्धि होने पर सब वस्तुओंकी इच्छा नष्ट हो जाती है। इस तेजके बीचमें एक छोटा चिह्न दीख पड़ता है, उसको बिन्दु कहते हैं। वह बिन्दु अणुसे भी अणु है और 'महतो महीयान्' है। जो सदा इस अवस्थामें रहता है उसको परब्रह्मका अनुभव होता है। पहले योनिमुद्रामें कूटस्थ दृष्टिगोचर होता है; उसके परे अव्यक्त है, वहाँ सर्वशून्य है तथापि उसमें अनन्त ब्रह्माण्ड प्रविष्ट है। क्रिया करने पर एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, जिस अवस्थामें रहने पर मन अन्य किसी वस्तुमें नहीं जाता, इस प्रकारकी स्थितिका नाम ही क्रियाकी परावस्था है। क्रिया करते करते यह अपने आप ही प्राप्त होती है। यह सुख-दुःख-सम्पर्करहित एक परमानन्द अवस्था विशेष है, यही विदेह या कैवल्यावस्था कहलाती है ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अन्वय—भूमिः (पृथ्वी—यहाँ पृथिवी तन्मात्रासे अभिप्राय है) आपः (जल

---

*बहुतसे लोग 'तत्त्वतः' शब्दसे राम-कृष्णादिरूपमें या शङ्खचक्रगदापद्मधारी रूपमें वह देखे जाते हैं—ऐसा कहा करते हैं। यह यथार्थ रूपमें उनको 'तत्त्वतः' जानना नहीं है। इस प्रकार तो बहुतसे लोग देख लेते हैं, परन्तु उससे उनका भ्रम दूर नहीं होता और न विषयाभिलाषा मिटती है। यह उनका नित्य स्वरूप नहीं है, बल्कि मायातनु या विग्रहमात्र है। "मायातनु लोकविमोहनीयाम्। धत्ते परानुग्रह एष रामः।" परन्तु यह उच्च स्तरकी सिद्धि है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकारके सिद्धसाधकोंमें भी बहुत कम लोग देहातीत कैवल्यभावकी धारणा कर सकते हैं।

या जलतन्मात्रा) अनलः (अग्नि या अग्नितन्मात्रा) वायुः (वायु—वायुतन्मात्रा) खं (आकाश—आकाशतन्मात्रा) मनः (मन—मनका कारण अहङ्कार) बुद्धिः—(बुद्धि—बुद्धिका कारण महत्तत्त्व) एव च अहङ्कारः (अहङ्कार—अहङ्कारका कारण अविद्या) मे (मेरी) इयं (यह) भिन्ना प्रकृतिः (भिन्न प्रकृति) अष्टधा (आठ प्रकार की है) ॥४॥

श्रीधर—एवं श्रोतारमभिमुखीकृत्येदानीं प्रकृतिद्वारा सृष्ट्यादिकर्तृत्वेनेश्वरतत्त्वं प्रतिज्ञातं निरूपयिष्यन् परापरभेदेन प्रकृतिद्वयमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम् । भूम्यादिशब्दैः पञ्च गन्धादितन्मात्राण्युच्यन्ते । मनःशब्देन तत्कारणभूतोऽहङ्कारः । बुद्धिशब्देन तत्कारणं महत्तत्त्वम् । अहङ्कारशब्देन तत्कारणमविद्या । इत्येवमष्टधा भिन्ना । यद्वा भूम्यादिशब्दैः पञ्च महाभूतानि सूक्ष्मैः सहैकीकृत्य गृह्यन्ते । अहङ्कारशब्देनैवाहङ्कारः । तेनैव तत्कार्याणीन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते । बुद्धिरिति महत्तत्त्वम् । मनःशब्देन तु मनसैवोन्नेयमव्यक्तरूपं प्रधानमिति । अनेन प्रकारेण मे प्रकृतिर्मायाख्या शक्तिरष्टधा भिन्ना विभागं प्राप्ता । चतुर्विंशतिभेदभिन्नाऽप्यष्टस्वेवान्तर्भावविवक्षयाऽष्टधा भिन्नेत्युक्तम् । तथा च क्षेत्राध्याये इमामेव प्रकृतिं चतुर्विंशतितत्त्वात्मना प्रपञ्चयिष्यति—महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ इति ॥४॥

अनुवाद—[भगवान्ने अपनी प्रकृतिको सामने दिखलाकर, प्रकृति द्वारा सृष्ट्यादिके कर्त्तृत्वस्वरूपमें ईश्वरको बतलानेकी जो प्रतिज्ञा की थी, उसके ही निरूपणार्थ ईश्वरकी परा-अपरा भेद से प्रकृतिद्वयको बतला रहे हैं:—] मेरी प्रकृति (ईश्वरकी मायाख्य शक्ति) अष्टधा भिन्न है, अर्थात् आठ भागोंमें विभक्त है—भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार । यहाँ भूमि आदि शब्द स्थूल पञ्चभूतोंके लिए नहीं हैं, बल्कि इनके गन्धादि तन्मात्राओंसे तात्पर्य समझना चाहिए । इसी प्रकार 'मन' शब्दसे केवल मन न समझकर उसके कारणभूत अहङ्कारको समझना चाहिए । तथा 'बुद्धि' शब्दसे बुद्धिका कारण महत्तत्त्व, और 'अहङ्कार' शब्दसे अहङ्कारका कारण अविद्या समझना चाहिए । इस प्रकार प्रकृति अष्टधा भिन्न है । अथवा भूमि आदि शब्दोंसे सूक्ष्म भूतोंके साथ पञ्चमहाभूतोंको युक्त करके ग्रहण करना चाहिए । अहङ्कार शब्दसे केवल अहङ्कारको न लेकर उसके साथ तत्कार्य रूप इन्द्रियोंको भी लेना चाहिए । बुद्धि ही महत्तत्त्व है । 'मन'के द्वारा अव्यक्तरूप प्रधानको ग्रहण किया गया है । इस प्रकार हमारी मायाख्या प्रकृतिके आठ विभाग होते हैं । सांख्यके मतसे पञ्च तन्मात्राएँ, अहङ्कार, महत्तत्त्व और अव्यक्त—यह अष्टधा प्रकृति, तथा इसके सोलह विकार कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व होते हैं—इसको तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-तत्त्व समझाते समय कहेंगे । अविद्या अहङ्कारका कारण है, यहाँ अहङ्कार शब्दसे अहङ्कारके कारण अविद्याको ही लक्ष्य किया गया है । शङ्कर कहते हैं—"अहङ्कार इत्यविद्यासंयुक्तमव्यक्तम् । यथा विषसंयुक्तमन्नं विषमुच्यते ।" अहङ्कार ही अविद्यासंयुक्त अव्यक्त या मूल प्रकृति है, जिस प्रकार विषसंयुक्त अन्नको भी लोग विष कहते हैं । क्योंकि अविद्याके विना अहङ्कार

उत्पन्न नहीं होता, अपने स्वरूपको भूलकर अपनेको अन्य किसी रूपमें देखना अज्ञान भी है और अहङ्कार भी है। अव्यक्तको ही जब मूल कारण बतलाते हैं, तथा 'अहङ्कार' के वशमें ही जब जीवकी संसार-वासना है, तो यहाँ 'अहङ्कार' शब्दसे मूल कारण अव्यक्तको ही लक्ष्य किया गया है। शङ्कर कहते हैं—"प्रवर्त्तकत्वादहङ्कारस्य। अहङ्कार एव हि सर्वस्य प्रवृत्तिबीजं दृष्टं लोके।" अहङ्कार सब कार्योंका प्रवर्त्तक है, इस जगत्में समस्त प्रवृत्तियोंका बीज अहंज्ञानसे ही उत्पन्न होता दीख पड़ता है। सांख्यके मतसे प्रकृतिका परिणाम बुद्धि, और बुद्धि का परिणाम अहङ्कार है। अहङ्कारके परिणाम हैं—पञ्चतन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। तथा तन्मात्राओंसे स्थूल भूत उत्पन्न हुए हैं।* ॥४॥

---

*"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।"—सांख्यसूत्रम्।

त्रिगुणकी साम्यावस्थाका नाम 'प्रकृति' है। जब प्रकृति क्षुब्ध होती है, तब उनकी साम्यावस्था नहीं रहती। प्रकृतिके गुण-वैषम्यसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्वको बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं। बुद्धि ही प्रकृतिका प्रथम विकार या कार्य है। तीनों गुणोंको लेकर प्रकृति होती है, प्रकृति जब विकारको प्राप्त होकर बुद्धितत्त्व बनती है, तो उस बुद्धितत्त्वमें भी तीन प्रकारका भेद रहता है। महत्तत्त्व विकृतिको प्राप्त होकर जिस परिणामको प्राप्त होता है, वह 'अहङ्कार' या "अहं-प्रधान' है। अहङ्कारका कार्य्य अन्य समस्त कार्योंसे अपनेको पृथक् करके देखना या अपनेको सङ्कुचित करना है। यह महत्तत्त्वका विकार अहङ्कार भी तीन प्रकारका होता है—सात्त्विक अहङ्कार, राजसिक अहङ्कार और तामसिक अहङ्कार। सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता और मन उत्पन्न होते हैं। राजस अहङ्कारसे पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ समुद्भूत होती हैं। तामस अहङ्कारसे सूक्ष्म पञ्चभूत या पञ्च तन्मात्राओं का जन्म होता है। आकाश तन्मात्राके सात्त्विक अंशसे श्रोत्र, वायुके सात्त्विक अंशसे त्वक्, तेजके सात्त्विक अंशसे चक्षु, जलके सात्त्विक अंशसे रसना, और पृथ्वीके सात्त्विक अंशसे घ्राण—ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाशके राजस अंशसे 'वाक्', वायुके राजस अंशसे 'पाणि', तेजके राजस अंशसे 'पाद', जलके राजस अंशसे 'पायु' और पृथ्वीके राजस अंशसे 'उपस्थ' उत्पन्न हुआ है।

आकाशादि पञ्च तन्मात्राओंके सात्त्विक अंशके मेलसे मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार उत्पन्न हुए हैं। पञ्च तन्मात्राओंके राजस अंशके मेलसे पञ्च वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान उत्पन्न हुए हैं। पञ्च तन्मात्राओंके तामसिक अंशसे या पञ्च तन्मात्राओंके पञ्चीकरणसे पञ्च स्थूल भूत उत्पन्न हुए हैं।

पञ्चीकरण या मिश्रणकी प्रणाली—(१) स्थूल आकाश = १ का आधा अंश सूक्ष्म आकाश या आकाशतन्मात्रा + १ का आठवाँ भाग सूक्ष्म वायु + १ का आठवाँ अंश सूक्ष्म अग्नि + १ का आठवाँ अंश सूक्ष्म जल + १ का आठवाँ भाग सूक्ष्म पृथ्वी। (२) स्थूल वायु = १ का आधा अंश सूक्ष्म वायु या वायुतन्मात्रा + १ का आठवाँ भाग सूक्ष्म

आध्यात्मिक व्याख्या—क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम,—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य—और मन तथा कूटस्थ और श्रीकृष्ण में, ये आठ प्रकृति हैं—इसके परे सूक्ष्मरूपमें परा प्रकृति भी यही सब हैं।—यहाँ प्रकृतिके आठ भागों का सुस्पष्ट रीति से निर्देश करते हैं। (१) क्षिति तत्त्व, इसका स्थान मूलाधार है। (२) जलतत्त्व, इसका स्थान स्वाधिष्ठान है। (३) तेजस्तत्त्व, इसका स्थान मणिपूर है। (४) वायुतत्त्व, इसका स्थान अनाहत है। (५) आकाशतत्त्व, इसका स्थान विशुद्ध है। (६) मन—मनके द्वारा, मन (६) बुद्धि (७) अहङ्कार (८) इन तीनोंको एक साथ बतला रहे हैं। इनका स्थान आज्ञाचक्र है। आज्ञाचक्र में जिन चार भावोंका विकास होता है, यहाँ विशेषरूपसे उन्हींकी विवेचना की जाती है। यद्यपि साधारणतः आज्ञाचक्रको ही मनस्थान कहते हैं,

---

आकाश + १ का आठवाँ अंश सूक्ष्म अग्नि + १ का आठवाँ भाग सूक्ष्म जल + १ का आठवाँ भाग सूक्ष्म पृथ्वी। इसी प्रकार सारे अपञ्चीकृत भूतोंके सम्मिश्रणसे पञ्चीकृत या स्थूल भूत-समूह उत्पन्न हुए हैं। इसी कारण प्रत्येक मिश्र या स्थूल भूतमें अन्य स्थूल भूतोंके अंश परिलक्षित होते हैं। तन्मात्राएँ पञ्चीकृत हुए बिना इन्द्रियगोचर नहीं हो सकतीं। इससे ऊर्ध्व सप्त लोक और अधः सप्तलोक, यानी चतुर्दश भुवन उत्पन्न हुए हैं। इन स्थूल भूतोंसे चतुर्विध स्थूल शरीर (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज) तथा चतुर्विध स्थूल शरीरके भोगोपयोगी नाना प्रकारके अन्न-पान आदि उत्पन्न हुए हैं।

पुनः स्थूल शरीरको 'अन्नमय कोष' कहते हैं। पञ्च वायु और कर्मेन्द्रियोंके मेलसे प्राणमय कोष' होता है। मन और कर्मेन्द्रियोंका योग 'मनोमय कोष' है। ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिके मेलसे 'विज्ञानमय कोष' बनता है। और मूल अज्ञानको 'आनन्दमय कोष' कहते हैं। यह 'प्राणमय,' 'मनोमय,' और 'विज्ञानमय' कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है। 'आनन्दमय कोष' को कारण शरीर कहते हैं।

प्रत्येक इन्द्रियके अधिष्ठात्री देवता हैं। देवता ही इन्द्रियोंको उनके विषयोंकी ओर प्रेरित करते हैं। श्रोत्रके देवता दिक्, त्वक् के देवता वायु, चक्षुके देवता सूर्य, रसना के देवता वरुण, घ्राणके देवता अश्विनीकुमार हैं। पञ्चकर्मेन्द्रियोंमें वाक्के देवता अग्नि, पाणिके देवता इन्द्र, पादके देवता उपेन्द्र, पायुके देवता यम, और उपस्थके देवता प्रजापति हैं। मनके देवता चन्द्र, बुद्धिके देवता ब्रह्मा, अहङ्कारके देवता शङ्कर और चित्तके देवता विष्णु हैं।

सांख्य के मत से प्रकृति जड़ है, परन्तु पुरुषके सान्निध्यके वश जड़ प्रकृतिमें चैतन्यका सञ्चार होता है। चैतन्यका सञ्चार हुए बिना प्रकृति कर्त्ता नहीं हो सकती। सांख्यके मतसे पुरुष चेतन तो है, परन्तु निर्विकार, अकर्त्ता और केवल साक्षीमात्र है। प्रकृति और पुरुष दोनोंके युक्त हुए बिना सृष्टिका कार्य नहीं हो सकता। सांख्यके मतसे शुद्ध स्फटिकमें जवाकुसुम प्रतिबिम्बित होने पर जैसे स्फटिक रक्ताभ जान पड़ता है, उसी प्रकार निर्मल पुरुषमें प्रकृतिके गुणकार्यका अध्यारोप होता है, इससे

परन्तु मन कहनेसे मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारोंका ग्रहण होता है, अतएव इन सबका स्थान आज्ञाचक्र ही माना जा सकता है। वस्तुतः इन चारों (या तीनों) के कार्य आज्ञाचक्रमें होते हैं, थोड़ा ध्यानपूर्वक देखनेसे ही समझमें आ जायगा। ये मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ब्रह्माण्डसृष्टिके प्रधान कारणरूपसे गृहीत किये गये हैं। इनके न रहने पर कर्तृत्व भी नहीं रहता, कल्पना भी नहीं रहती और स्मरण भी नहीं रहता। अतएव सृष्टिके जो अत्यावश्यक उपादान हैं, वे कुछ भी नहीं रहते। ये मानो विरजा प्रकृति या मायाके मूर्त्तभाव हैं। पहले पहल अनिर्वचनीय

प्रकृतिको चेतनके समान और पुरुषको क्रियाशील जानने का भ्रम होता है। इस प्रकार पुरुषको संसार बन्धन होता है।

साक्षीस्वरूप और ज्ञानस्वभाव पुरुष अपनेको भूलकर किस प्रकार प्रकृतिके कार्यको अपना समझता हुआ भ्रममें पड़ता है, यह बड़ी ही विस्मयजनक बात है। परन्तु पुरुषका यह भ्रम कैसे संभव होता है, इसका उत्तर सांख्यमें उतना सुस्पष्ट रूपमें नहीं मिलता। सांख्यवादी ईश्वरको नहीं मानते। ईश्वर-निरपेक्ष होकर भी मुक्तिकी प्राप्ति संभव है—इसका अनुमोदन आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रभृति भी करते हैं। तन्त्रशास्त्रमें प्रकृति और पुरुषको बिलकुल दूसरे ही रूपमें ग्रहण किया गया है। गीताके प्रसिद्ध टीकाकार मधुसूदन सरस्वती प्रभृति प्रकृतिके स्वातन्त्र्यको स्वीकार नहीं करते। वह गीताके १४ वें अध्यायके प्रथम श्लोककी अपनी टीकामें कहते हैं— "तत्र निरीश्वर-सांख्यमत-निराकरणेन क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगस्य ईश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्।" निरीश्वर सांख्य जो प्रकृति पुरुषके संयोगको स्वतन्त्र मानता है, उस मतको न मानकर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग ईश्वराधीन है, यही वक्तव्य यहाँ जान पड़ता है।

तन्त्र किसी भी अवस्थामें शिव-शक्तिका विच्छिन्न या स्वतन्त्र भाव स्वीकार नहीं करते। जगत्‌की लीलाके लिए ब्रह्म अपनेको शिव-शक्तिरूप दो भागोंमें विभक्त करते हैं। परन्तु इस विभक्त अवस्थामें भी शिवके भीतर शक्ति और शक्तिके भीतर शिव सदा वर्तमान रहते हैं। शिव-शक्तिका यह संयोग किसी कालमें विच्छिन्न होने वाला नहीं है। इसीसे दृश्यरूप और द्रष्टारूपमें दोनों ओर शिव-शक्तिका समावेश है। शिव-शक्तिके संयोगके बिना कुछ भी प्रकाशित नहीं होता, कोई भी क्रीड़ा दृश्यपट पर समुदित नहीं हो सकती।

गीतामें भगवान् पुरुष-प्रकृतिको स्वीकार करके भी सृष्टिके विषयमें प्रकृतिके स्वातन्त्र्यका उपदेश नहीं करते। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।"—मेरे अधिष्ठानके द्वारा प्रकृति चराचर जगत्‌को उत्पन्न करती है। "तासां ब्रह्म महद्‌योनिरहं बीजप्रदः पिता"। प्रकृति उन सबकी मातृस्थानीया है, और मैं गर्भाधानकर्त्ता हूँ। वेदान्तमें इसीको 'ईक्षण' कहते हैं। श्रुतिमें है—"तद् ऐक्षत"। अतएव गीताके मतसे मूलतत्त्व पुरुष या प्रकृति नहीं है। पुरुषोत्तम या परब्रह्म ही गीताके अनुसार मूलतत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों उस परम पुरुषकी 'परा' और 'अपरा' प्रकृतिके नामसे अभिहित किये गये हैं।

निर्गुण ब्रह्मसे जो गुणमयी मायाका विकास होता है, उसका ही क्षेत्र है आज्ञाचक्र, इसी कारण कोई कोई इसे अज्ञानचक्रके नामसे भी अभिहित करते हैं। योगीश्वर लोग कहते हैं कि इस आज्ञाचक्रको भेदकर सहस्रारमें पहुँचने पर मायाका आवरण दूर हो जाता है। इस आज्ञाचक्रके भीतर चन्द्रमण्डलके समान एक प्रकारकी स्निग्ध ज्योति दीख पड़ती है, वही मनका स्वरूप है, इसी कारण मनके देवताको चन्द्र कहते हैं। आज्ञाचक्रके भीतर जो सवितृमण्डलका विकास दीख पड़ता है, वही बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व है, कूटस्थके बहिर्भागमें इसीका विकास है। इसी कारण किसी बातका स्मरण करनेके लिए या समझनेके लिए आज्ञाचक्रके बहिर्दिक् भ्रूमध्यमें तनिक जोर देकर लक्ष्य करने पर ही बहुत सी बातें याद पड़ जाती हैं, और बहुत सी बातें समझमें भी आ जाती हैं। इसी कारण बुद्धिके देवता ब्रह्मा या जगत्-प्रसविता सूर्य हैं। अहङ्कार ही जगत्के विकासका मूल है—यह अविद्यामूलक अव्यक्त भाव है। अव्यक्तमें जबतक केवल विद्या स्फुरित होती रहती है, तबतक अविद्याका विकास न होनेके कारण प्रकृत सृष्टि आरम्भ नहीं होती। अविद्यासे शुद्ध ज्ञान आवृत हो जाता है, शुद्ध ज्ञानके आवृत हुए बिना सृष्टि कैसे होगी? इस अविद्याके कारण जब अहंभाव उत्पन्न होता है तब सृष्टि होती है, इस अहङ्कारके देवता 'शङ्कर' हैं। प्रकृति और पुरुष समन्वित अर्द्धनारीश्वर शङ्कर ही समस्त सृष्टिकी मूल शक्ति अहङ्कार हैं। यही सृष्टिका प्रथम कारण, सर्वप्रथम सगुणभाव या व्यक्त भाव है। यही आज्ञाचक्रके भीतर चित्शक्तिका स्फुरण है। यह स्फुरण ही बिन्दुरूप कूट है, इस कूटस्थित चैतन्यका नाम ही कूटस्थ चैतन्य, पुरुष या ईश्वर है। कूटके चारों ओर सूर्यकिरणकी राशिके समान जो छटा होती है, वही चिज्ज्योतिका विकास है; उसके अभ्यन्तर चन्द्रमण्डलके समान ज्योति विकसित होती है। उसके भीतर जो ऊषालोकके समान ज्योतिर्मयी प्रभासे युक्त आकाश परिदृष्ट होता है, वही चिदाकाश है। उससे सारी शक्तियोंका स्फुरण होता है और उसमें ही सारी शक्तियाँ अन्तर्लीन होती हैं। वही महादेवी या मूला प्रकृति, अथवा पुरुष या ब्रह्मका चिन्मय लीलाविलास देह है। इन्द्रियातीत होनेके कारण इसको 'अव्यक्त' भी कहते हैं। इसके भीतर चित्शक्तिका कोई आभास नहीं मिलता, इसी कारण इसको 'असत्' भी कहते हैं। यह अव्यक्त शक्ति जब व्यक्त होती है, तब वह बिन्दुरूपा होकर फूट पड़ती है।

सवितृमण्डल-मध्यवर्ती पुरुष या कूटस्थ चैतन्य मानो साधकको स्पष्ट भावसे दिखला रहे हैं कि यही मेरी अष्टधा प्रकृति है। क्रियाकी पर अवस्थामें या गुणातीत अवस्थामें जब पुरुषका भी पुरुषत्व नहीं रहता, प्रकृतिका भी प्रकृतित्व नहीं रहता, उस समय वह गुणातीत अलिङ्ग पुरुष रहता है। इसको ही 'अतितुर्यावस्था' कहते हैं। 'सदसन् तत्परं यत्'— वह सत् और असत्के परे है। वहाँ न तो चैतन्य होता है और न जड़त्व होता है; वह जो कुछ है, बुद्धिके लिए अगम्य है। इस अवस्थाको भावुक लोग पसन्द नहीं करते, वे लोग निर्गुण-सगुणमें मिलित पुरुषोत्तम भावका ही अधिक समादर करते हैं। परन्तु ज्ञानी महाजन "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"— इस भावको चरमभाव मानकर इसीका अधिकतर समादर किया करते हैं। कोई इस अवस्थाको ही प्राप्त करके रहे, अथवा पुरुषोत्तम भाव लेकर ही मग्न रहे—दोनों ही आत्म-

साक्षात्कार प्राप्त करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उत्तम पुरुष या श्रीकृष्ण जो कूटस्थके भीतर हैं वही 'अहं' शब्द-वाच्य हैं। प्रकृति—यह शरीर है, जो शरीरके भीतर हैं वह सर्वव्यापक ब्रह्मस्वरूप होकर महत् हो रहे हैं। जिनको इस प्रकार सोऽहं ब्रह्मज्ञान होता है, वही महत् हैं। वह ब्रह्म मैं हूँ, यह मनमें ही बोध होता है। जब वह मन फिर मनमें लय हो जाता है तब सभी ब्रह्म हो जाता है।

अयं सदेव इत्येव सम्परिज्ञानमात्रतः।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च॥

यह मन जब चञ्चल होता है तब सब वस्तुओंमें आसक्तिके साथ दृष्टिपात करता है, सब वस्तुओंमें आग्रह और इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छाका फिर अन्त नहीं होता। वह अनन्त इच्छाओंके द्वारा अनन्त कर्मोंको करता है, और अनन्त कर्मोंके अनन्त फलोंको भोगनेके लिए जन्म-मृत्युके चक्रमें चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता है और भोग करनेके लिए पञ्चतन्मात्र शरीर धारण करता है। सबके शरीर क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम मिश्रित होते हैं। इन पञ्च-तत्त्वोंके बिना शरीर धारण नहीं हो सकता। इस शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, तथा पञ्च महाभूत—क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योमके सूक्ष्म अणु विभिन्न आकार और विभिन्न वर्णके हैं, जिनको योगी लोग देखते हैं। क्रमशः हरिद्रा (पीला), हरा, लाल, जँगाल और नीला रङ्ग दीख पड़ते हैं, इनके द्वारा ही बाहर और भीतरके सब तत्त्व देखे जाते हैं। पश्चात् सर्वतत्त्वातीत ब्रह्मको देखकर सब भूतोंमें प्रवेशकी क्षमता होती है, सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है एवं सब द्रव्योंका गुण ज्ञात होता है। क्रिया करने पर कुलकुण्डलिनी जाग्रत होती है, और वह जाग्रत होते ही साधकको उपर्युक्त शक्ति प्रदान करती है। दीप जिस प्रकार सब वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुषके प्रकाशसे सारी वस्तुएँ या तत्त्व प्रकाशित होते हैं। क्रिया करके क्रियावान् लोग इस उत्तम पुरुषको देखते हैं। तब उनको भी सब प्रकारके ऐश्वर्य और ईश्वरत्व प्राप्त होते हैं, और इस शरीरके भीतर जो कुछ है सबका उन्हें अनुभव होता है। गुरुवाक्यमें विश्वास करके जो लोग क्रिया करते हैं वे लोग कूटस्थका दर्शन करते-करते महादेव हो जाते हैं तथा शास्त्रोंमें जिन बातोंक उल्लेख है, उनका अनुभव वे अपने भीतर ही करते हैं। क्रिया करते-करते जब अपने आपमें अटक जाते हैं, तब साधक ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। तब वे भी सर्वव्यापक होकर सबके भीतर अपनेको देखते हैं। तब कूटस्थके भीतर तीनों लोकोंका प्रकाश दीख पड़ता है, तथा उसके भीतर सब देवता दिखलायी पड़ते हैं। तब साधक विस्मित होकर देखता है कि "पिण्डस्थं पिण्डवर्जितं"—यानी वह देहके भीतर भी हैं और साथ ही देहातीत भी हैं॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

अन्वय—इयं तु अपरा (परन्तु यह अपरा प्रकृति), इतः (इससे) अन्य (अन्य) जीवभूतां (जीवरूपा) मे (मेरी) परां प्रकृतिं (श्रेष्ठ प्रकृतिको) विद्धि

(जानो) महाबाहो (हे महाबाहो !) यया (जिसके द्वारा) इदं जगत् (यह जगत्) धार्यते (धृत हो रहा है) ॥ ५ ॥

श्रीधर—अपरामिमां प्रकृतिमुपसंहरन् परां प्रकृतिमाह अपरेयमिति । अष्टधा या प्रकृतिरुक्तेयमपरा निकृष्टा जड़त्वात् परार्थत्वाच्च । इतः सकाशात् परां प्रकृष्टामन्यां जीवभूतां जीवस्वरूपां मे प्रकृतिं विद्धि जानीहि । परत्वे हेतुः—यया चेतनया क्षेत्रज्ञरूपया स्वकर्मद्वारेणेदं जगद्धार्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद—[अपरा प्रकृतिका उपसंहार करके परा प्रकृतिके विषयमें कह रहे हैं]—हे महाबाहो ! इस अष्टधा प्रकृतिके विषयमें जो कहा गया वह अपरा अर्थात् निकृष्टा है । निकृष्ट क्यों ?—प्रकृतिके जड़त्व और पराधीनत्वके कारण यह निकृष्ट कहलाती है । इसकी अपेक्षा उत्कृष्ट एक दूसरी चेतनामयी जीवरूपी मेरी प्रकृतिको जान लो । उसके श्रेष्ठत्वका कारण यह है कि वह प्रकृति क्षेत्रज्ञरूपी चेतन शक्ति है, जो स्वकर्मके द्वारा इस अचेतन जगत्को धारण करती है । [शङ्कराचार्य कहते हैं—"अपरा, न परा निकृष्टाऽशुद्धाऽनर्थकरी संसाररूपाबन्धनात्मिकेयम्"—यह निकृष्टा, अशुद्धा, बन्धनात्मिका, अनर्थकरी और संसाररूपा है । "मे परां प्रकृष्टां जीवभूतां क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूतां, यया प्रकृत्येदं धार्यते जगदन्तःप्रविष्टया"—मेरी श्रेष्ठा प्रकृति क्षेत्रज्ञलक्षणा, जीवरूपा और प्राणधारणहेतुभूता है, यही प्रकृति सृष्टिकालमें जगत्के भीतर प्रवेश करके इस विश्वको धारण किये है ।] ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह परा प्रकृति ब्रह्मसूत्र पद है, जो सुषुम्नान्तर्गत विश्व-जगत्संसार जीवरूपमें जगद्व्यापक महादेव-लिङ्ग है—ब्रह्माके स्वरूप इस चलायमान संसारको धारण कर रहा है ।—मेरुदण्डके भीतर ब्रह्मसूत्र है । यह विश्व-संसार उसीके अन्तर्गत है । मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त कूटस्थ स्वरूपमें विराजमान है । इस सूत्रका अवलम्बन करके ही यह शरीर और जगत् वर्तमान है । यही महाकाशके रूपमें अलिङ्ग शिवस्वरूप है, यही अलिङ्ग सारे लिङ्गका मूल है । अर्थात् कुछ भी नहीं था, इससे ही सब कुछ हुआ है । यह कुछ न रहने की अवस्था ही अव्यक्त या अलिङ्ग ब्रह्म है । वह है क्या वस्तु ?—यह वाणीसे कहनेमें नहीं आता । आकाश ही उस ब्रह्मका चिह्न है । जब कुछ नहीं था तब आकाश था । परन्तु वह आकाश यह आकाश नहीं, जिसको हम आकाश कहते हैं । वह महाकाश है । क्रियाकी परावस्थामें जब सब कुछ एकाकार हो जाता है, मैं भी नहीं रहता, तब वही महाकाश है । वह आकाश फिर सर्वदा स्वप्रकाश रहता है; भूत, भविष्य और वर्तमान सभी उस आकाशमें देखे जाते हैं । वही विभिन्न स्थानोंमें नाना रूप और नाना नाम धारण किये हुए है । उसमें स्थिर होकर रहनेपर ही अमृतपद प्राप्त होता है । "अव्यक्ताज्जायते प्राणः" । यह प्राण ही जीवकी आयु है—"प्राणो हि भूतानामायुः" । इस प्राणके तीन पद हैं—ईड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना; सत्त्व, रजः, तम. तथा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र । सुषुम्नामें रहने पर ये तीनों पद स्थिर होकर एक हो जाते हैं, यही क्रियाकी परावस्था है । इसीको अक्षर परमपद

या परव्योम कहते हैं। इसी अवस्थामें "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। यह महेश्वर ही आत्मारूपमें विश्वके भीतर अणुप्रविष्ट होकर विश्वरूप धारण किये हुए हैं। इस अवस्थामें उनकी माया संज्ञा होती है। मायी जब मायाको भेद करके एक हो जाते हैं तब विश्वेश्वरी ही विश्वेश्वर हो जाती हैं। यह प्रकृति और आत्मा दोनों एक हैं, इनमें भेद नहीं है। चन्द्र और चन्द्रिकाके समान, जहाँ शक्ति है वहाँ शिव है, जहाँ कूटस्थ है वहाँ परमात्मा है। यही प्रकाशरूपा प्रकृति है, इसको जान लेनेसे प्रकृति व्योमस्वरूप हो जाती है। रूपातीत होकर भी अनन्तरूपमें, गुणातीत होकर भी अनेकोंके भीतर, स्थिररूप होकर भी चञ्चल श्वासरूप-में, यही महेश्वर और माहेश्वरी शक्तिरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं।

या सा माहेश्वरी मूर्त्तिर्ज्ञानरूपातिशोभना।
व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सैषा हैमवती सती॥

जब यह चञ्चल श्वास स्थिर होता है तभी साधक उनको जान पाता है। वह ज्ञानरूपा, सूर्यके किरणोंके समान उज्ज्वला और अमला है, वही मस्तक में स्थित होने पर ही अर्थात् प्राणके सहस्रारमें अवरुद्ध होने पर ही व्योमस्वरूप महादेव है। वही तब "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" हैं। तब उनका नाम सती अर्थात् सत्स्वरूपमें वर्त्तमाना होता है, वही तब मङ्गलदाता और एक ब्रह्मस्वरूपा होती हैं। चञ्चल श्वासके द्वारा जीवके आच्छन्न होनेके कारण उस 'सत् भाव' या परम मङ्गलरूप परमानन्दनिलय ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति लाभ नहीं होता। आधारके बिना आधेय नहीं रहता। आधार चेतन है, आधेय जड़ पदार्थ है। यह चेतन पदार्थ जड़को आलिङ्गन कर प्रकाशित हो रहा है। यह जड़ादि दृश्य प्रपञ्च ही अपरा प्रकृति है। और जिस चैतन्यका अवलम्बन कर यह जड़ प्रकाशित होता है वह परा प्रकृति है। वही समस्त क्षेत्रोंका अधिष्ठान-स्वरूप क्षेत्रज्ञ है। यह अधिष्ठान चैतन्य ही दृश्य प्रपञ्चको धारण कर रहा है। परन्तु शक्ति जड़ और अजड़ दोनोंमें ही वर्तमान है। उस जड़को भेद कर जब शक्ति स्फुरित होती है तब हम उसको चेतन भाव कहते हैं। जब शक्ति अपने भीतर आप सुप्त रहती है तब उसकी जड़ संज्ञा होती है। चैतन्यके बिना ज्ञानकी या किसी प्रकारके प्रकाशकी संभावना नहीं होती, जड़ उसका बाधक होता है, इसी कारण प्रकृतिका चैतन्यांश श्रेष्ठ तथा जड़ांश निकृष्ट होता है। यह चैतन्यांश ही प्राणरूपी, स्पन्दनधर्मी है। जहाँ चैतन्य है, वहाँ ही स्पन्दनकी अनुभूति होती है। अव्यक्त चिन्मय पुरुषसे यह चैतन्य या प्राण स्पन्दित होता है। प्राणके स्पन्दनमें ही जगत्का विकास होता है, इस कारण यह प्राण ही प्रकृत पक्षमें जगत्को धारण किये हुए है। यह महाप्राण ही नित्या विराट् चैतन्यमयी महाकालिका है। वह अव्यक्त निर्गुण पुरुषके हृदयमें सदा नृत्यमयी, उल्लासमयी होता है, इसीसे चराचर ब्रह्माण्ड सदा प्रस्फुटित होता रहता है। इसी कारण इस विराट् विश्वको ब्रह्मका आनन्द या उल्लास कहते हैं॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

अन्वय—सर्वाणि भूतानि (समस्त भूतगण) एतद्योनीनि (इस प्रकृति-द्वयसे उत्पन्न हैं) इति (यह) उपधारय (जान लो); अहं (मैं) कृत्स्नस्य जगतः (सारे जगत्का) प्रभवः तथा प्रलयः (उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूँ) ॥६॥

श्रीधर—अनयोः प्रकृतित्वं दर्शयन् स्वस्य तद्द्वारा सृष्ट्यादिकारणत्वमाह—एतदिति। एते क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपे प्रकृती योनी कारणभूते येषां तान्येतद्योनीनि स्थावरजङ्गमात्मकानि सर्वाणि भूतानीत्युपधारय बुध्यस्व। तत्र जड़ा प्रकृतिर्देहरूपेण परिणमते। चेतना तु मदंशभूता भोक्तृत्वेन देहेषु प्रविश्य स्वकर्मणा तानि धारयति। ते च मदीये प्रकृती मत्तः संभूते। अतोऽहमेव कृत्स्नस्य सप्रकृतिकस्य जगतः प्रभवः। प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभवः परं कारणमहमित्यर्थः। तथा प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्त्ताऽप्यहमेवेत्यर्थः ॥६॥

अनुवाद—[दो प्रकारकी अपनी प्रकृति बतला कर, अब यह निर्देश कर रहे हैं कि तद्द्वारा वही सृष्ट्यादिके कारण हैं]—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप प्रकृतिद्वय जिसकी योनि या कारण है, उस स्थावर-जङ्गमात्मक सर्वभूतोंको इस प्रकृतिद्वयसे ही उत्पन्न समझो। इनमें जड़ा प्रकृति देहरूपमें परिणामको प्राप्त होकर, तथा मेरी अंशभूत चेतना प्रकृति भोक्तारूपमें देहमें प्रवेश करके स्वकर्म द्वारा देहादिको धारण कर अवस्थान करती है। मेरी यह दोनों ही प्रकृति मुझसे सम्भूत है। अतएव मैं ही संप्रकृतिक जगत्की उत्पत्तिका परम कारण हूँ, तथा उसी प्रकार मैं ही जगत्का प्रलयकर्त्ता या संहर्त्ता हूँ ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्मयोनिसे सब भूतोंकी उत्पत्ति है—मुझसे ही उत्पत्ति मुझमें ही लय है।—एक बर्फके टुकड़ेको चूर्ण विचूर्ण करके फेंकने पर अनेक छोटे छोटे अंश चारों ओर छिटक जाते हैं। परन्तु उस अणुके समान क्षुद्रतम अंशमें भी बर्फ वर्तमान रहता है, उसी प्रकार विश्वके प्रत्येक अणुमें चित् और जड़ मिलकर वर्तमान हैं। अन्यथा कुछभी प्रकाशित नहीं होता। जहाँ सत्ता है वहाँ ही उसका प्रकाश भी वर्तमान होता है, वहाँ चित् भी रहता है और जड़ भी रहता है, ये जड़ और चित् सम्मिलित होकर इस अपूर्व दृश्य प्रपञ्च—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—नाम-रूपमय विश्वको प्रकाशित करते हैं। चित् और जड़की इस सम्मिलित अवस्थाका नाम प्रकृति है। यही महामहेश्वरी प्राणरूपा हैं। जिस प्रकार समुद्रके वक्षःस्थलपर हिल्लोल उठते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म या चित्के भीतर 'प्राण' सदा हिल्लोलित हो रहे हैं। यदि कोई प्रकृतिको विभाग करके देखना चाहे तो उसके भीतर उसको चित् और जड़ दोनों ही वस्तुएँ दीख पड़ेंगी। सब भूतोंकी उत्पत्तिका मूल होनेके कारण इसको ब्रह्मयोनि कहते हैं। ज्ञानरूपा चित् इच्छाशक्तिमयी है, और जड़ प्रकृति क्रियाशक्तिमयी है। परन्तु चित्के संस्पर्शमें आये विना जड़की क्रियाशक्तिका भी कोई स्फुरण नहीं होता। इसीसे जहाँ क्रिया

है; वहाँ ज्ञान भी वर्तमान रहता है, तथा जहाँ ज्ञान रहता है वहाँ क्रिया भी उसके भीतर अव्यक्त रूपमें वर्तमान रहेगी ही। यह चित्‌जड़मयी प्रकृति एक अद्भुत् शक्ति है। पहले तो यह है या नहीं, यह निर्णय करना ही दुःसाध्य है, इसीलिए शास्त्रने इसको अनिर्वचनीया कहकर पुकारा है। इस कर्त्तृभोक्तृरूपा पारमेश्वरी प्रकृतिको माया नामसे भी अभिहित करते हैं। जब इसको परमेश्वरसे अभिन्नरूपमें देखते हैं तब इसे महामाया या माहेश्वरी शक्ति अथवा जगन्माता या सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्री कहकर वर्णन करते हैं। इसके ही भीतर अनन्त कोटि कल्पित खण्डांश अनन्त कोटि जीवके रूपमें मानो व्यक्त हो रहे हैं। यह पारमेश्वरी प्रकृति देवी जब सृष्टिमुखी होती हैं, तब परम पुरुष मानो अचैतन्यभावमें पड़े रहते हैं। उनके ही वक्षःस्थलपर यह चिर चञ्चला, चिर नृत्यमयी प्रकृति किसीके भावमें मानो उन्मत्त होकर इस विराट् ब्रह्माण्डको अपने ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरसे प्रकटित कर कारुण्यपूर्ण नयनोंसे उसकी ओर देख रही हैं—यह करुणापूर्ण दृष्टि ही विश्वकी स्थितिका कारण है। फिर प्रलयकालमें प्रलयनृत्यके लिए उद्यत मांके पदकमलके सघन सन्ताड़नसे यह विराट् विश्व धूलिकणके समान चूर्ण विचूर्ण होकर उनके भीतर संहृत हो जाता है, तथा वह भी पुरुषके वक्षःस्थलपर स्थिरसे स्थिरतर होकर शान्त होते-होते एकबारगी उसमें विलीन हो जाती हैं। यही महाप्रलय है। घने श्याम बादलके वक्षःस्थलपर जैसे चपला विद्युत् क्षणकालके लिए विलास करके विलीन हो जाती है, उसी प्रकार अपनेको कुछ क्षणके लिए प्रकाशित करके अपने उद्भवस्थान व्योममूर्तिरूपी परम पुरुष शिवको मानो अङ्गुलिके सङ्केतसे दिखलाकर उस निविड़ घने महाकाशमें वह आत्म-संगोपन करती हैं। यही सृष्टि और लयका पुनः पुनः अभिनय है। उनके इस अभिनयका क्या कारण है?—यह कोई नहीं बतला सकता। जान पड़ता है यही उनका आनन्द है। जान पड़ता है कि असीमको सीमाके भीतर लाना तथा अखण्डको कतिपय खण्ड-बोधके अन्दर लाना ही उनका प्रमोद है। यह है क्या?—इसको वही जानें। जब शक्ति स्फुरित होकर सृष्टिकी ओर उन्मुख होती है तब उस अव्यक्त ब्रह्म-कलासे नाद समुत्थित होता है, उस नादसे ब्रह्म-विन्दु प्रकटित होता है। नाद विन्दुके भीतर प्रवेश करता है। यही गर्भाधान है। उस विन्दुके भीतर तुम, हम और यह सारा विश्व छिपा हुआ है, तथा उससे ही समुद्भूत होता है। यह विन्दु ही जगत्‌की मातृस्थानीया ब्रह्मयोनि है, तथा नाद ही अक्षर ब्रह्म या पुरुषशक्ति हैं। इन दोनोंके मिलनसे ही महत् ज्योति, तथा महत् ज्योतिसे मन या सङ्कल्प-विकल्पमय जगत् उत्पन्न होता है। लय भी ठीक इसके विपरीत ढंगसे होता है। मन ज्योतिमें मिल जाता है, ज्योति ध्वनिके भीतर विलीन हो जाती है। ध्वनि अनन्त चिदाकाशरूपी अव्यक्तके भीतर अङ्ग-गोपन करती है। पश्चात् चिदाकाश परम पुरुष या पुरुषोत्तमके साथ मिलकर एक हो जाता है। उसके बाद क्या होता है, और क्या रहता है, यह बतलाना असम्भव है। यही है "मुझसे उत्पत्ति और मुझमें ही लय"। यह पुरुषोत्तम निरञ्जन ही परब्रह्म हैं, यही समस्त जगदादिकी उत्पत्ति और लयके मूल कारण हैं, तथा प्रकृति इस परब्रह्मका ही प्रकाश या शक्ति है। यह जगत्‌का खेल प्रवाहके समान क्यों चल रहा है, इसे जगत्कर्त्ता ही बतला सकते हैं। जीवका

अनादि अदृष्ट ही इसका हेतु है—ऐसा कहनेसे उत्तर तो हो जाता है, परन्तु इस उत्तरको सुनकर किसीके हृदयको समाधान प्राप्त होने की आशा नहीं है। परब्रह्मके भीतर "एकोऽहं बहु स्याम्"—बहुत हो जानेकी वासना अकस्मात् स्फुरित होती है। इस इच्छा से ही अनेकको सृष्टि होती है। यह इच्छाशक्ति ही ब्रह्मकी सङ्कल्पमयी प्रकृति या भाव है, इस इच्छाशक्तिसे उनकी क्रियाशक्तिका विकास होता है। इस प्रकार ब्रह्म एक होकर भी अपनेको अनन्त आकारमें प्रकट करते हैं। इस बहुत होनेकी वासनासे ही बहिर्दृष्टि जाग्रत होती है, तथा अन्तर्मुख भाव या आत्मभावकी विस्मृति घटित होती है। यही जीवका बन्धन है। चिद्रूप ब्रह्मका चैत्यभावही उनकी प्रकृति है। यह चैत्य भाव ही बहु वासनामय स्पन्दन है। इस स्पन्दनसे मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार या अन्तःकरणात्मिका वृत्तिरूप परिणाम होते हैं। इस स्वरूप-विस्मृतिसे ही जीवात्माका बन्धन होता है, और स्वरूपकी स्मृतिसे ही जीवात्माका बन्धन दूर होता है। अतएव जिससे उत्पत्ति होती है, उसमें ही लय होता है ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय !) मत्तः (मेरी अपेक्षा) परतरं (श्रेष्ठतर) अन्यत् किञ्चित् (और कुछ) नास्ति (नहीं है), सूत्रे मणिगणा इव (सूत्रमें जैसे मणि ग्रथित होते हैं उसी प्रकार) इदं सर्वं (यह सारा जगत्) मयि (मुझमें) प्रोतम् (ग्रथित है) ॥७॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात् मत्त इति। मत्तः सकाशात् परतरं श्रेष्ठं जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणं किञ्चिदपि नास्ति। स्थितिहेतुरप्यहमेवेत्याह—मयीति। मयि सर्वमिदं जगत् प्रोतं ग्रथितमाश्रितमित्यर्थः। दृष्टान्तः स्पष्टः ॥७॥

अनुवाद—[अतएव] हे धनञ्जय, मुझसे श्रेष्ठ जगत्की सृष्टि और संहारका कारण और कुछ भी नहीं है। जगत्की स्थितिका कारण भी मैं हूँ, इसलिए कहते हैं कि सूत्रमें मणिगण जैसे ग्रथित होते हैं, उसी प्रकार मुझमें यह समस्त जगत् ग्रथित हो रहा है अर्थात् मुझको आश्रय करके अवस्थान करता है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरे सिवा कुछ नहीं है—मैं सूक्ष्मरूपसे ब्रह्मस्वरूपमें मृणालतन्तुके सदृश जीव होकर—सब भूतोंके भीतर मणिकी मालामें सूतके समान रहता हूँ।—जिस प्रकार मणिगण सूत्रका आश्रय लेकर मणिमालाके रूपमें अवस्थित रहते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ चैतन्यका आश्रय करके जीव-जगत् प्रकाशित होता है। सूत्रके बिना जैसे मालाका अस्तित्व नहीं रह सकता, उसी प्रकार कूटस्थके बिना जीवका अस्तित्व नहीं रह सकता। जिस प्रकार मालाके भीतर सूत्र गुप्त भावसे रहकर मालाका धारक होता है, उसी प्रकार ब्रह्म सूत्ररूपमें गुप्त रहकर इस जगत्-जीवको प्रकाशित करते हैं। इसलिए कूटस्थ ही सब विषयोंके कारणरूपमें वर्तमान हैं। यह कूटस्थ ही कुलकुण्डलिनीरूपमें जीव-शक्ति है। यह मूलाधारमें "प्रसुप्तभुजगाकारां

स्वयम्भूलिङ्गमाश्रिताम्"—प्रसुप्त भुजंगके समान साढ़े तीन वलयके आकारमें स्वयम्भूलिङ्गको वेष्टन करके अवस्थित है। इसका रूप—"कोटिसौदामिनीभासां मृणालतन्तुसदृशीम्"—मृणाल-सूत्रके समान है और यह कोटि विद्युत्के समान प्रभामयी है।

भगवान्का यह जीव-भाव ही मायाश्रित भाव है। यह कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरसे युक्त होकर बाहर देहादिरूपमें और भीतर अर्द्धचन्द्रात्मिका विन्दुरूपमें विराजमान है। यही जीवभूता परमा प्रकृति है। "मायानङ्गविकेरूपललना-विन्द्वर्द्धचन्द्रात्मिके"। फिर कहते हैं—

"मूर्त्तिस्ते जननि! त्रिधा सुघटिता स्थूलातिसूक्ष्मापरा।
वेदानां न हि गोचरा कथमपि प्राप्तां नु तामाश्रये॥"

कनकमें जैसे कुण्डल कल्पित होता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें यह जगत् कल्पनाके द्वारा आश्रितवत् अवस्थान करता है। नाम-रूपमय कुण्डल पदार्थ जैसे सुवर्णको आश्रय करके रहता है, उसी प्रकार जीव और जगत् ब्रह्मको आश्रय करके वर्तमान रहते हैं। ब्रह्म ही सत्य है। नाम-रूप या माया सत्यरूपमें दृष्ट होने पर भी पारमार्थिक सत्य नहीं हैं। स्वप्नादि अवस्थाके मिथ्या होने पर भी जैसे स्वप्नद्रष्टा सत्य होता है, उसी प्रकार जीव और जगत् स्वप्नवत् मिथ्या हैं, परन्तु स्वप्नका अधिष्ठानरूप द्रष्टा मिथ्या नहीं है। यह द्रष्टा पुरुष ही सत्य है, तथा द्रष्टाके दृश्यरूपमें जो वर्तमान है, वह प्रकृत नहीं, विकृति मात्र है॥७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) अहं (मैं) अप्सु रसः (जलके भीतर रस), शशिसूर्य्ययोः प्रभा (चन्द्र और सूर्यकी प्रभा), सर्व्ववेदेषु प्रणवः (सब वेदोंमें प्रणव ॐकार), खे शब्दः (आकाशमें शब्द), नृषु पौरुषं (मनुष्योंमें पौरुषरूपमें) अस्मि (हूँ)॥८॥

श्रीधर—जगतः स्थितिहेतुत्वमेवं प्रपञ्चयति—रसोऽहमिति पञ्चभिः। अप्सु रसोऽहं रसतन्मात्ररूपया, विभूत्या तदाश्रयत्वेनाप्सु स्थितोऽहमित्यर्थः। तथा शशिसूर्य्ययोः प्रभाऽस्मि। चन्द्रे सूर्ये च प्रकाशरूपया विभूत्या तदाश्रयत्वेन स्थितोऽहमित्यर्थः। उत्तरत्राप्येवं द्रष्टव्यम्। सर्वेषु वेदेषु वैखरीरूपेषु तन्मूलभूतः प्रणव ॐकारोऽस्मि। खे आकाशे शब्दतन्मात्ररूपोऽस्मि। नृषु पुरुषेषु पौरुषमुद्यमोऽस्मि उद्यमे हि पुरुषास्तिष्ठन्ति॥८॥

अनुवाद—[जगत्की स्थितिका हेतु मैं हूँ, यह पाँच श्लोकोंमें दिखला रहे हैं]—हे कौन्तेय, मैं जलमें रसस्वरूप हूँ। रसतन्मात्ररूप विभूतिके द्वारा मैं जलका आश्रय होकर रहता हूँ। चन्द्र-सूर्यमें प्रकाशरूप विभूतिके द्वारा उनका आश्रय होकर रहता हूँ। इस प्रकार सब पदार्थोंका मुझे आश्रय समझना चाहिए। सारे वेद प्रणवके ही वैखरीस्वरूप हैं—मैं प्रणवके रूपमें सब वेदोंका मूल हूँ। आकाशमें

मैं शब्दतन्मात्ररूप हूँ। तथा पुरुषके भीतर उद्यमरूपमें मैं रहता हूँ। उद्यममें ही पुरुष वर्तमान रहता है ॥ ८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जलके रसका स्वरूप, सूर्यकी किरणोंका स्वरूप, चन्द्रका भी वही—जैसी-जैसी प्रकृतिमें रहता हूँ, वैसा भासमान होता है। सत्‌लोकमें सत् और असत् में असत्—जैसे जलमें सूर्यका तेज या प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे प्रकाशित होता है, और पत्र या मृत्तिकामें सूर्यका वह प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ता—केवल एक प्रकाश-मात्र दीखता है—इसका कारण यह है जलसे अग्नि निर्मल होती है—उस ज्योतिमें प्रकाश अधिक होता है—उसकी अपेक्षा वायु निर्मल होती है—उसके द्वारा और भी निर्मलरूपमें प्रकाश होता है—उससे परे शून्य है जिसकी स्थितिके कारण अचल ब्रह्मका रूप—कूटस्थका—ब्रह्मका दर्शन होता है। अतएव जल, सूर्य और चन्द्रकी प्रभा तीनों मेरे ही रूप हैं।—सर्वत्र एक भगवत्-सत्ताका ही स्फुरण हो रहा है, और कुछ भी नहीं है। वह भगवत्-शक्ति है तो एक ही, परन्तु आधारकी भिन्नताके कारण विभिन्नवत् प्रतीत हो रही है—सत् आधारमें सत्‌रूपमें और असत् आधारमें असत्‌रूपमें। जैसे मेरा प्रतिबिम्ब मिट्टीके भीतर भी विम्बित होता है, जलके भीतर भी होता है तथा दर्पणके भीतर भी होता है; परन्तु जो आधार जितना स्वच्छ होता है, उसमें प्रतिबिम्ब भी उतना ही स्पष्टतर होता है। परन्तु सर्वत्र उनका ही प्रकाश है। प्राणवायुके भीतर उनका प्रकाश और भी अधिक है, तदपेक्षा अधिक प्रकाश शून्यमें है। मन जब शून्यमें अवस्थान करके शून्यवत् हो जाता है, तब उस स्वच्छ चित्तगगनमें हीरा-मणिकी झालरकी चमक देते हुए असंख्य सूर्यचन्द्रके प्रकाशके समान अपूर्व प्रकाश फूट पड़ता है। जगत्‌में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं सब कुछ वही ब्रह्मशक्ति है। अर्थात् कार्यरूपमें जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह सब उस ब्रह्मसत्ताका ही विकास है, यह जान लो। मनुष्यके भीतर वह पौरुषरूपमें वर्तमान हैं। मनुष्यके भीतर कर्मशक्ति या पुरुषकार उनकी ही विभूति है। जो पुरुषकारको अपनी शक्ति मानकर अभिमान करते हैं वे अज्ञ हैं। जो लोग यह समझकर कि इसके द्वारा अभिमान या अहङ्कार प्रकट होता है, पौरुष न करके आलस्यमें समय काटते हैं, तथा यह सोचकर कि सब कुछ अदृष्टके द्वारा होता है, उद्यम नहीं करते, वसिष्ठजी उनकी तुलना गर्दभसे करते हैं। वस्तुतः हमारे भीतर शक्ति रहती है और वह शक्ति उनकी ही है। पौरुषके रूपमें वह हमारे भीतर रहते हैं, तब हम उसका प्रयोग क्यों न करें? जब हम उनकी ही शक्तिसे कार्य करते हैं, तब हमारे लिए गर्व या अभिमान करनेका कोई कारण नहीं है। शक्ति उनकी ही है, इसका वर्णन केनोपनिषद्के तृतीय खण्डमें यक्ष और इन्द्रादि देवताओंकी आख्यायिकामें सुन्दर भावसे वर्णित है। इसी कारण गीतामें कर्मत्यागका उपदेश नहीं है, भगवान् वारंवार अनासक्त भावसे कर्म करनेका ही उपदेश देते हैं। कर्म किये विना कभी किसीको अपनी शक्तिका परिचय नहीं मिल सकता ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

अन्वय—पृथिव्यां च (और पृथिवीमें) पुण्यः गन्धः (पवित्र गन्ध), विभावसौ च तेजः (और अग्निमें तेज) अस्मि (मैं हूँ)। सर्वभूतेषु (सब भूतोंमें) जीवनं (जीवन), तपस्विषु च (और तपस्वियोंमें) तपः अस्मि (मैं तपस्यारूपमें हूँ) ॥ ९ ॥

श्रीधर—किञ्च—पुण्य इति। पुण्योऽविकृतो गन्धो गन्धतन्मात्रम्। पृथिव्या आश्रयभूतोऽहमित्यर्थः। यद्वा विभूतिरूपेणाश्रयत्वस्य विवक्षितत्वात् सुरभिगन्धस्यैवोत्कृष्टतया विभूतित्वात् पुण्यो गन्ध इत्युक्तम्। तथा विभावसावग्नौ यत्तेजो दुःसहा सहजा दीप्तिस्तदहम्। सर्वभूतेषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमित्यर्थः। तपस्विषु वानप्रस्थादिषु द्वन्द्वसहनरूपं तपोऽस्मि ॥ ९ ॥

अनुवाद—मैं पृथिवीमें अविकृत गन्ध अर्थात् पृथिवीका आश्रयभूत गंध-तन्मात्र हूँ। गन्धकी उत्कृष्टताके कारण वह भगवान्‌की विभूति है, इसीसे पुण्यगन्ध भगवद्विभूतिका आश्रय है। इसी प्रकार अग्निमें जो सहजात दुःसह तेज या दीप्ति है, वह मैं हूँ। सब भूतोंमें प्राणधारणरूप आयु मैं हूँ। वानप्रस्थावलम्बी तपस्वियोंमें मैं द्वन्द्व (शीतोष्णादि)-सहनरूप तपस्या हूँ ॥ ९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पृथ्वीमें जो फूलकी सुगन्ध होती है, उसका भी आकार नहीं होता, तथापि प्रकृतिमें आकर गन्धरूपमें प्रकाशित होता है—वह भी मेरा ही रूप है। सूर्यका तेज जो आकाशसे आता है—वह आकाशमें नहीं दीख पड़ता, परन्तु प्रकृतिस्थ होने पर उसका तेजोरूप दीख पड़ता है—इसी प्रकार निराकार ब्रह्मशरीर कुछ भी देखनेमें नहीं आता—परन्तु वही शक्तिका तेज—मणिपूरमें रहकर—कथावार्ता द्वारा प्रकाशित होता है—जीवन अर्थात् महादेव जो क्षेत्रज्ञ हैं उनको कोई नहीं देखता—जिनको गुरुवाक्यके द्वारा जान सकते हैं—उनके सारे कर्मोंके द्वारा अर्थात् चला प्रभृतिके द्वारा—सारे जीवोंकी प्रकृतिके भीतर रहनेसे प्रकाशित होता है। तपोलोकमें रहकर सब कुछ देख सकता है अर्थात् कूटस्थमें। जिसको कोई नहीं देख पाता, परन्तु वह सबके भीतर रहता है। अतएव वही ब्रह्मस्वरूप मेरा रूप है।—पृथ्वीका तन्मात्र गन्ध है, और वह गन्ध सदा पवित्र अवस्थामें रहती है अर्थात् वह गन्ध कभी मलिन नहीं होती। जड़त्वकी मलिनताका स्पर्श होने पर वह विकृत हो जाती है। पृथिवीकी यह पवित्र गन्ध भी भगवद्विभूति या उनकी शक्ति है। इस शक्तिका आकार कुछ भी नहीं है, परन्तु प्रकृतिके साथ संयोग होते ही वह गन्धरूपमें जान पड़ता है। ब्रह्मकी वह एक ही पवित्र शक्ति प्रकृतिके विभिन्न क्षेत्रोंमें आकर विभिन्न रूप धारण करती है। जो शक्ति नासिकाकी सूक्ष्म शक्तिके संस्पर्शसे गन्धरूपमें प्रकट होती है वही शक्ति जब चक्षुकी सूक्ष्म शक्तिके साथ मिलती है, तब वह रूप या वर्णमें परिणत हो जाती है। लोग कहते हैं उनकी बात सुनी नहीं जाती, परन्तु सब जीवोंके कण्ठमें किसका स्वर ध्वनित होता है—प्रणवसे वाक्‌वैखरी, प्रियतमका प्रणय-आलाप और कोयलकी कुहुतानसे वायसके कठोर कण्ठकी कर्कश ध्वनि पर्यन्त—सब उनकी ही विभूतियाँ हैं। हम शब्द सुनते हैं, परन्तु जिनका शब्द है उनका स्पर्श नहीं प्राप्त होता, इसीसे इन्द्रियाँ व्याकुल होकर सदा विषयोंके भीतर उनको खोजती हैं। "य एको देवो

बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति। यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश, यो ओषधीषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।" गन्धके भीतर भी जैसे वह हैं वैसे ही प्रदीप्त अग्निके भीतर भी उनका ही प्रकाश है। सारे जीवोंके जीवनमें उनका ही प्रकाश है। मनुष्यका सौन्दर्य, बलं, ज्ञान आदि आत्माका ही प्रकाश है। और तपस्या—शीत-आतपका सहना, इन्द्रियादिका निग्रह, योगीका प्राणसंयम—ये सारी शक्तियाँ उन्हीं से हैं। अतएव हमारे अहङ्कारका कोई हेतु नहीं है। तपस्वीकी तपःशक्ति देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं, उनके तेज और वलको देखकर विस्मित होनां पड़ता है—परन्तु क्या यह सभी उनकी चित्शक्तिकी क्रीड़ा नहीं है ?॥६॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) मां (मुझको) सर्वभूतानां (समस्त भूतोंका) सनातनं (चिरन्तन) बीजं (वीज या कारण) विद्धि (जानो), अहं (मैं) बुद्धिमतां बुद्धिः (बुद्धिमानोंकी बुद्धि), तेजस्विनां (तेजस्वी लोगोंके) तेजः अस्मि (तेजरूपमें रहता हूँ) ॥१०॥

श्रीधर—किञ्च—बीजमिति। सर्वेषां चराचराणां भूतानां बीजं सजातीय-कार्योत्पादनसामर्थ्यं सनातनं नित्यमुत्तरोत्तरसर्वकार्येष्वनुस्यूतम्। तदेव बीजं मद्विभूतिं विद्धि। न तु प्रतिव्यक्ति विनश्यत्। तथा बुद्धिमतां बुद्धिः प्रज्ञाहमस्मि। तेजस्विनां प्रगल्भानां तेजः प्रागल्भ्यमहम् ॥१०॥

अनुवाद—मुझे समस्त चराचर भूतोंके सजातीय कार्योत्पादनमें समर्थ बीजरूप जानो। यह बीज नित्य अर्थात् उत्तरोत्तर सारे कार्योंमें अनुस्यूत है। इस बीजको मेरी विभूति समझो। यह प्रकृतिकी अभिव्यक्तिके समान विनश्वर नहीं है। [अर्थात् अन्यान्य बीज अङ्कुरोत्पादन करके जैसे स्वयं विनष्ट हो जाते हैं भगवद्बीज उस प्रकारका नहीं होता]; उसी प्रकार मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि या प्रज्ञा हूँ और तेजस्वी पुरुषोंकी मैं प्रगल्भता या तेज हूँ ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्मयोनिसे ही सब भूतोंकी उत्पत्ति है—बुद्धिमान्‌की बुद्धि अर्थात् क्रियाकी परावस्था—सब तेजोंका तेज अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म, तद्व्यतीत कोई तेज नहीं हो सकता।—वह जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मका अणु है, जो जगत्-जीवोंकी योनि है अर्थात् उत्पत्तिका कारण है, वही परा प्रकृति ब्रह्मसूत्र या प्राण है जो सुषुम्नामें रहता है, जिसके न रहने पर कुछ नहीं रहता। क्रियाकी परावस्था ही बुद्धि है, जिनको यह अवस्था प्राप्त है उनको ही बुद्धिमान कहते हैं। सांसारिक बुद्धिके रहने या न रहनेसे कोई अन्तर नहीं होता। उसे मृत्युका द्वार ही समझना चाहिए। जिस तेजके सामने अन्य तेजस्वियोंका वल अति सामान्य जान पड़ता है, वह योगबल है। परन्तु वह सारा बल आत्माका है। वह कूटस्थरूपमें सब देहोंमें विराजमान है। उसके

बिना प्रकृतिके क्षेत्र, ये शरीरादि यन्त्र, सबके सब मृतवत् जान पड़ते हैं। यह एक अनादि अनिर्वचनीय ब्रह्मशक्ति बहुधा विभक्त होकर पृथक्-पृथक् नामरूपमें प्रकट होती है। ये सारे नामरूप मिथ्या हैं। अनादि बीजस्वरूप आत्मा ही एकमात्र सत्य है, जिसके आश्रयसे यह सारा विश्व-भुवन परिकल्पित होता है ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ !) अहं (मैं) बलवतां (बलवानोंका) कामरागविवर्जितं (काम और अनुरागशून्य) बलं (बल), भूतेषु (प्राणियोंमें) धर्माविरुद्धः (धर्मके अविरुद्ध) कामः अस्मि (काम हूँ) ॥ ११ ॥

श्रीधर—किञ्च—बलमिति। कामोऽप्राप्ते वस्तुन्यभिलाषो राजसः। रागः पुनरभिलषितेऽर्थे प्राप्तेऽपि पुनरधिकेऽर्थे चित्तरञ्जनात्मकस्तृषाऽपरपर्यायस्तामसः। ताभ्यां विवर्जितं बलवतां बलमस्मि। सात्त्विकं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यमहमित्यर्थः। धर्मेणाविरुद्धः स्वदारेषु पुत्रोत्पादनमात्रोपयोगी कामोऽहमिति ॥ ११ ॥

अनुवाद—काम यानी अप्राप्त वस्तुमें अभिलाषा। राग यानी अभिलषित वस्तुके प्राप्त होने पर भी पुनः अधिक प्राप्तिके लिए चित्तकी रञ्जनात्मक तृष्णा। काम राजस होता है और राग तामस होता है। मैं काम और रागसे वर्जित बलवानोंके स्वधर्मानुष्ठानका सामर्थ्य—सात्त्विक बल हूँ। प्राणियोंमें धर्मके अविरुद्ध अपनी धर्मपत्नीमें पुत्रोत्पादनमात्रोपयोगी कामरूपमें मैं ही अवस्थित हूँ। [देहधारणमात्रार्थोऽशनपानादिविषयः—स कामोऽस्मि—शास्त्रके अविरुद्ध देहधारणार्थ अशनपानादिमात्र जो कामका लक्ष्य है वह काम मैं हूँ—शङ्कर] ॥ ११ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बलीका बल अर्थात् योगबल—कामरागवर्जित—क्रिया करना मेरा रूप—धर्म अर्थात् क्रिया करना—विरुद्ध अर्थात् क्रिया न करना—अविरुद्ध अर्थात् क्रिया करना—क्रिया करनेकी इच्छा (कामोऽस्मि) मेरा रूप है।—अप्राप्त वस्तुके पानेकी अभिलाषाको काम कहते हैं। प्राप्त वस्तुके प्रति अधिक तृष्णा ही राग है। इस प्रकार काम-रागसे शून्य जो बल है वही सात्त्विक बल है। स्वधर्मानुष्ठान या आत्मकर्मके द्वारा प्राप्त सामर्थ्य ही सात्त्विक बल है। मनके संकल्पसे या किसी वस्तुमें अनुरागके कारण उसकी प्राप्तिके लिए जो बल या पौरुष हम प्रकट करते हैं, वह सात्त्विक नहीं है। साधन करते-करते सात्त्विक बल अपने आप उदय होता है। उसमें चित्तकी कोई उत्सुकता नहीं रहती। इस प्रकारके बलवानोंका जो बल है वह आत्माका ही बल है, इसीको योगबल कहते हैं। जिसमें इस प्रकारका धर्मबल या क्रिया करनेका सामर्थ्य जितना अधिक होता है, वह उतना ही अधिक आत्मबलके साथ परिचित होता है; वह उतना ही मन लगाकर और भी अधिकतर उत्साहके साथ क्रिया करता है। व्युत्थित अवस्थामें इन सब सामर्थ्योंको सिद्धि कहते हैं, परन्तु समाधिकी साधनामें ये भी उपसर्ग या प्रतिबन्धक होते हैं। 'ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः'—वे समाहित चित्तके लिए विघ्नस्वरूप हैं, परन्तु व्युत्थित चित्तके लिए सिद्धियाँ हैं—(योगदर्शन)। धर्मके अविरुद्ध काम ही

भगवद्विभूति है। आत्मामें मनकी पूर्ण स्थिति ही धर्म है। उस स्थितिके लिए जो चेष्टा या साधन करनेकी इच्छा है, वह भी धर्म है। संसारके अन्य कामोंको करनेसे यह स्थिति नष्ट होती है, परन्तु मन लगाकर क्रिया करनेसे यह स्थिति नष्ट नहीं होती, बल्कि इस आत्म-कर्मके द्वारा मन और भी स्थिर होता है। मनके विक्षेपशून्य होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे जो साधन किया जाता है, वह काम होने पर भी भगवद्विभूति है ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वय—ये च एव (और जो सब) सात्त्विकाः भावाः (सात्त्विक भाव) ये च (और जो) राजसाः तामसाः (राजसिक और तामसिक भाव) [हैं] तान् (उन सबको) मत्तः एव (मुझसे ही उत्पन्न) इति विद्धि (जानो), तेषु (उन सबोंमें) न तु अहं (मैं नहीं हूँ), ते मयि (वे मुझमें रहते हैं) ॥१२॥

श्रीधर—किञ्च—ये चैवेति। ये चान्येऽपि सात्त्विकभावाः शमदमादयः, राजसाश्च हर्षदर्पादयः, तामसाश्च ये शोकमोहादयः प्राणिनां स्वकर्मवशाज्जायन्ते तान् मत्त एव जातानिति विद्धि मदीय-प्रकृति-गुणत्रयकार्यत्वात्। एवमपि तेष्वहं न वर्ते। जीववत् तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः। ते तु मदधीनाः सन्तो मयि वर्तन्त इत्यर्थः ॥१२॥

अनुवाद—जो सब शमदमादि सात्त्विक भाव, हर्षदर्पादि राजसिक भाव और शोकमोहादि तामसिक भाव हैं—वे सब प्राणियोंके स्वकर्मके वश उत्पन्न होते हैं। उनको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो। मदीय प्रकृति अर्थात् गुणत्रयके वे सब कार्य हैं, इसलिए उन्हें मुझसे ही उत्पन्न जानो। ऐसा होने पर भी अर्थात् मुझसे उत्पन्न होने पर भी मैं उन सबमें अवस्थित नहीं रहता। अर्थात् जीवके समान मैं इन गुणोंके अधीन नहीं हूँ, परन्तु वे मेरे अधीन होकर मुझमें रहते हैं ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो लोग रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुणमें लगे हैं वे सब भी मैं हूँ परन्तु मैं वे नहीं—परन्तु वे मैं हूँ—अर्थात् वे मुझमें नहीं हैं—किन्तु मैं उनमें हूँ। जैसे कूटस्थ, सब मनुष्य कूटस्थमें नहीं हैं, परन्तु मैं सब मनुष्योंके भीतर कूटस्थ-स्वरूपमें हूँ।—शमदमादि सात्त्विक भाव, हर्षदर्पादि राजसिक भाव, और शोकमोहादि तामसिक भाव—ये सब मनुष्यके अपने-अपने कर्मोंके वश उत्पन्न होते हैं। जब कर्म गुणत्रयसे उत्पन्न होता है और वे गुणत्रय भगवान्‌की प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, तो कहा जा सकता है कि ये सारे भाव भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन सब कर्मोंमें वह जड़ित नहीं होते या इनके द्वारा विकारको नहीं प्राप्त होते। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि जीव जिस प्रकार गुणोंके अधीन है, उस प्रकार भगवान् गुणोंके अधीन नहीं हैं। कूटस्थ चैतन्यरूप परमात्मा देहके भीतर विराजते हैं, उनके बिना देह, इन्द्रिय और मन आदिका कोई स्पन्दन ही नहीं होता। वह अत्यन्त सूक्ष्म और निर्मल हैं, देहेन्द्रियादि उनको स्पर्श भी नहीं कर सकते। अतएव इनके कार्योंका प्रकाशक होने पर भी इनका कोई कार्य उनको विकृत नहीं कर सकता। उनकी मुख्य प्रकृति प्राणस्पन्दनके कारण ही देहेन्द्रियादिमें स्पन्दनका

भाव लक्षित होता है। प्राण स्पन्दित होने पर वह अपने स्थानसे विच्युत हो जाते हैं, तब वह ऊर्ध्वसे निम्नस्तरमें मनरूपमें अवतरण करते हैं। जैसे-जैसे मनका अवतरण होने लगता है वैसे-वैसे सारे गुण उत्पन्न होकर गुणानुसार चिन्तन और कर्म अथवा सदसत् मानसिक अवस्थाओंको प्रकट करते हैं। फिर जब विपरीत दिशामें मनकी गति होती है तो मनकी अवस्था निम्न स्तरसे उच्च स्तरकी ओर उठती है। इसी कारण जब मन नाभिके नीचे रहता है तब तामसिक भावोंका आविर्भाव होता है, नाभिके ऊपर और कण्ठके नीचे रहने पर राजसिक भाव, और कण्ठके ऊपर रहने पर सात्त्विक भावका विकास होता है। इस प्रकार मनको आज्ञाचक्रमें रख सकने पर सत्त्वगुणकी विशेष वृद्धि होती है, पश्चात् उससे गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। मन भी तब सङ्कल्प-विकल्पशून्य होकर 'अमन' हो जाता है अर्थात् मन नामकी कोई वस्तु फिर नहीं रह जाती। यही गुणातीत निर्मल भाव है। गुण वहाँ पहुँच नहीं सकते। इसीसे गुणातीत कूटस्थ चैतन्य सदा ही निर्विकार होता है। तथापि जैसे आलोक गृहस्थित सारी वस्तुओंको प्रकाशित करता है, परन्तु उन वस्तुओंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार परमात्मा कूटस्थरूपमें सब जीवोंके भीतर रहते हैं, नहीं तो जीवको कोई ज्ञान ही नहीं होता, उसका अस्तित्व तक न रहता, परन्तु जीव कूटस्थमें स्थित नहीं है, इसी कारण जीव उनमें नहीं है, उनके अस्तित्व तकको नहीं जान पाता। वह मनरूपमें बहिर्मुख होकर बाह्य विषयोंमें घूमता है। यदि भाग्यवश सद्गुरुका सन्धान मिलता है और उनके उपदेशके अनुसार कार्य करता है तो वह अपने निज गृहमें लौट सकता है, जहाँ आने पर प्राणका चाञ्चल्य स्तिमित होता है, साथ ही मन भी गल-गलकर विलीन हो जाता है। तभी आत्मदर्शन होता है या स्वस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

सूक्ष्मसे भी जो सूक्ष्मतर है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंके अतीत है, और बृहत्से भी बृहत् है यानी देशकालातीत है—इस प्रकारका चिन्मात्र आत्मा इस जीवकी बुद्धिके भीतर अवस्थित है। जो अक्रतु अर्थात् कामना-रहित हैं, जो वीतशोक अर्थात् मोहशून्य हैं, यानी रजस्तमादिभावोंसे अभिभूत नहीं होते, वे धातुः प्रसादात् (धाता = शरीरधारक प्राण) अर्थात् प्राणकी स्थिरताके कारण आत्माकी उस महिमा अर्थात् निर्विकार भावको साक्षात् करते हैं।

किसी किसीके मनमें यह शंका उठती है कि मान लिया भगवान् शम-दम-ज्ञानरूप सात्त्विक भाव बनते हैं, परन्तु राजस और तामस भाव भी वही बनते हैं, इसमें कैसे विश्वास किया जाय? जिनको सब प्रकारके कल्याणका आकर कहा जाता है वह फिर सब दुःखोंके निलय—राजसिक और तामसिक भावोंमें कैसे रहेंगे? स्थूल दृष्टिसे देखने पर यह बात ठीक जान पड़ती है, और इतना असामञ्जस्य भगवान्में

होना कैसे संभव है, यह बुद्धिमें उतारना कठिन है सही, परन्तु वास्तवमें इसको समझना कठिन नहीं है। हमारे शास्त्रोंने उनको 'सर्वस्वरूप' कहा है, अतएव धर्माधर्म, पाप-पुण्य यदि कुछ है तो वह सभी उनमें है। उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ है सब उनकी ही अभिव्यक्ति है। परन्तु वह इन सबोंमें रहते हुए भी इनके अतीत-रूपमें वर्तमान हैं। इसी कारण वह व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त हैं, मनरूप होते हुए भी अचिन्त्य हैं, इन्द्रियरूप तथा इन्द्रियातीत हैं, बुद्धिस्थ हैं और बुद्धिके अतीत भी हैं। इसीसे दुर्गासप्तशतीके मातृस्तोत्रमें उनके विषयमें कहा है कि "अतिसौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमोनमः"—तुम अत्यन्त सौम्य और अतिरौद्ररूपमें रहती हो, तुमको नमस्कार। प्राचीन भारतके साधकोंने उनके घोर और सौम्य दोनों रूपोंको एक साथ उपलब्ध किया था। वे यह भी जानते थे कि वह भले-बुरे, सु-कु, और शुभ-अशुभके अतीत होकर भी वर्तमान हैं। इसीसे माँकी बहुत सङ्गिनियोंको देखकर क्लेशाभिभूत शुम्भासुरको माँने समझाया था कि बहुत किसको कहते हो? वह सब तो मेरे ही रूप हैं—"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा"—एक मुझको छोड़कर दूसरी कौन है? ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय—एभिः (इन) त्रिभिः (तीनों) गुणमयैः भावैः (गुणमय भावोंके द्वारा) इदं सर्वं जगत् (यह सारा जगत्) मोहितं (मोहित है), एभ्यः (इन सब भावोंसे) परं (विलक्षण, अथवा इनके नियन्ता) अव्ययं (निर्विकार) मां (मुझको) न अभिजानाति (नहीं जान पाता) ॥१३॥

श्रीधर—एवंभूतमीश्वरं त्वामयं जनः किमिति न जानातीति। अत आह—त्रिभिरिति। त्रिभिस्त्रिविधैरेभिः पूर्वोक्तैः गुणमयैः कामलोभादिभिः गुणविकारैर्भावैः स्वभावैः मोहितमिदं जगत्। अतो मां नाभिजानाति। कथंभूतम्? एभ्यो भावेभ्यः परं—एभिरस्पृष्टम्—एतेषां नियन्तारम्। अतएवाव्ययं निर्विकारमित्यर्थः ॥१३॥

अनुवाद—[इस प्रकारके जगदीश्वर तुम हो, फिर तुमको लोग क्यों नहीं जानते? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—पूर्वोक्त त्रिविध कामलोभादि गुणविकार युक्त भावोंके द्वारा यह जगत् मोहित रहता है, इस कारण मुझको नहीं जान पाता। वह 'मैं' या 'भगवान्' कैसे हैं? वह इन सब भावोंके द्वारा अस्पृष्ट हैं तथापि इनके नियन्ता हैं। अतएव निर्विकार भगवान्‌को वे समझ नहीं पाते ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तीन गुणोंके द्वारा आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके सभी मत्त हैं, यह जगत् चलायमान है—सभी मोहित हो रहे हैं। मैं जो अव्यय अविनाशी सबके परे हूँ—इसे कोई नहीं जानता। अहं-पद-वाच्य जो आत्मा है वह त्रिगुणातीत है, मायामुग्ध जीव उसका स्वरूप समझनेमें असमर्थ है।—आत्म-समुद्रमें स्फुरित असंख्य दृश्य बुद्बुद् देखकर जीव मुग्ध है, ये बुद्बुद् उस असीम सागरके वक्षःस्थलपर भासित होते हैं—इसे न समझकर जीव उन दृश्य पदार्थोंको लेकर ही व्यस्त रहता है। परन्तु बुद्बुद्

तो स्थिर नहीं हैं, वे चलायमान हैं। उनमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि रखकर जीव कभी आनन्दित होता है और कभी दुःखसे रोता है। ये सारे दृश्य पदार्थ जिनके वक्षःस्थलपर भासित हो रहे हैं, वह तो चिरस्थिर, नित्य और अविनाशी हैं। उनको देख लेने पर फिर ये जन्म-मरणरूप असंख्य तरङ्गोंके घात-प्रतिघात जीवको मोहित नहीं कर सकते। गुणोंके द्वारा मोहित जीव केवल बाह्य पदार्थोंको ही देख पाता है और उनके प्रति आसक्त होता है। जो सब पदार्थोंका आश्रय है, उस आत्माकी ओर भूलकर भी एक बार लक्ष्य नहीं करता। आत्माको छोड़कर प्रकृतिमें रहनेके कारण जीवके सामने यह रूपमय जगत् प्रकाशित होता है। क्रियाकी परावस्थामें जब दृश्यादि कुछ भी नहीं रहते, मैं-तू कुछ भी नहीं रहता, तो वह त्रिगुणातीत अवस्था होती है। उस अवस्थामें न रहनेके कारण मोह-मुग्ध जीव उनके गुणातीत अव्यय भावकी धारणा ही नहीं कर सकता, अतएव महामायामें जड़ित होकर जो नित्य वस्तु है उसके प्रति लक्ष्य नहीं कर सकता ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अन्वय—एषा (यह) दैवी (अलौकिकी) गुणमयी (सत्त्वादिगुणविकारमयी) मम (मेरी) माया (शक्तिरूपा माया) हि (निश्चय ही) दुरत्यया (दुस्तरा है), ये (जो) माम् एव (मुझको ही) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) ते (वे) एतां मायां (इस मायाको) तरन्ति (पार करते हैं) ॥१४॥

श्रीधर—के तर्हि त्वां जानन्तीति ? अत आह—दैवीति। दैव्यलौकिकी अत्यद्भुतेत्यर्थः। गुणमयी सत्त्वादिगुणविकारात्मिका मम परमेश्वरस्य शक्तिर्माया दुरत्यया दुस्तरा हि प्रसिद्धमेतत्। तथापि मामेवेत्येवकारेणाव्यभिचारिण्या भक्त्या ये प्रपद्यन्ते भजन्ति ते मायामेतां सुदुस्तरामपि तरन्ति। ततो मां जानन्तीति भावः ॥१४॥

अनुवाद—[तब कौन तुमको जान सकते हैं ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं]—अलौकिकी अति अद्भुता सत्त्वादिगुणविकाररूपा मेरी माया दुस्तरा है। मेरी मायाशक्ति दुस्तरा है यह प्रसिद्ध ही है, तथापि जो लोग अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा मुझको भजते हैं, वे इस मायाके सुदुस्तरा होने पर भी इसको पार कर जाते हैं। उसके बाद मुझको जान पाते हैं ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दैवी अर्थात् कूटस्थ ब्रह्ममें रहते-रहते दैवी गुण प्राप्त होता है—मेरी माया आत्मामें है—ब्रह्म भिन्न अन्य वस्तु देखनेसे ब्रह्मको नहीं देख पाता—अर्थात् आत्मामें रहकर देख पाता है। आत्मासे दूर होने पर नहीं देख पाता। जो कोई मेरी आत्मामें सर्वदा रहता है वही मेरी मायासे उत्तीर्ण होता है अर्थात् क्रिया करता रहता है।—प्राणके चञ्चल भावसे ही 'मैं-मेरा' का बोध होता है, यही माया है। चिरस्थिर आत्मभावके भीतर 'मैं-मेरा' का बोध नहीं होता, अर्थात् वहाँ माया नहीं होती। यही दैवी भाव है, यही कूटस्थ ब्रह्म है। यहाँ मन रख सकने पर साधकको दैवी गुणकी प्राप्ति होती है, अतएव फिर मायासे मोहित होना नहीं

पड़ता। आत्मभावसे दूर रहने पर मायाको अतिक्रम नहीं कर सकते। जो सदा क्रिया करते हैं तथा आत्मामें रहते हैं उनके प्राणकी चञ्चलता नहीं रहती, अतएव अचञ्चल स्थिर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्तकर साधक इस चिरनृत्यमयी चञ्चल प्राणरूपा मायाको अतिक्रम करता है। प्राणकी चञ्चलतासे ही मनकी चञ्चलता है। मनके चञ्चल रहने पर आत्माके स्वरूपको कोई नहीं समझ सकता। क्योंकि आत्मा स्थिर है, मनके स्थिर हुए बिना उसको पकड़ नहीं सकते। अन्धकार जिस घरको आश्रय करता है उसको ही आवृत करता है, इसी प्रकार चञ्चल प्राण जिस स्थिर प्राण (आत्मा) के आश्रित है, उसी चिरस्थिर भावको वह आच्छादित करता है। आत्मक्रियाके द्वारा इस चञ्चल प्राणको स्थिर कर लेनेपर वह स्थिर प्राणके साथ एक हो जाता है। यह जो दुःखक्लेशमय चञ्चल प्राण है, जिसकी शक्तिसे परिचालित होकर मन एक विषयसे दूसरे विषयोंमें दौड़ता रहता है और नाना प्रकारके दुःख-कष्ट पाता है, वही मन यदि विचारकर आत्मक्रियाके द्वारा उनके शरणागत होता है, तो वह इस साधनाके फलस्वरूप सुदुस्तरा माया अर्थात् चाञ्चल्य-भावको अतिक्रम कर सकता है। मन लगाकर क्रिया करने पर ये सारी बातें समझमें आ जाती हैं। बहुत लोग समझते हैं कि शरणागत होनेका अर्थ है उनके ऊपर भार देकर अपने कोई प्रयत्न न करना। यह शरणागतिका भाव नहीं है, यह चित्तकी मूढ़ता और आलस्यादि-जनित प्रमाद है। विचार-विहीन होने पर ही मनमें इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न होता है। शङ्करने कहा है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेव मायाविनं स्वात्मभूतं सर्वात्मना ये प्रपद्यन्ते ते मायामेतां सर्वभूतचित्तमोहिनीं तरन्त्यतिक्रामन्ति।" आवरण और विक्षेप शक्ति-द्वय ही अविद्या या प्रकृति है—यही चञ्चल प्राण है, और "मायिनन्तु महेश्वरम्"—स्थिर प्राण ही आत्मा या महेश्वर है। जो दूसरी ओर न देखकर केवल गुरुवाक्यमें विश्वास करके क्रिया करते रहते हैं, वे ही इस स्थिर प्राण महेश्वरको जान सकते हैं। किसी दूसरी ओर न देखकर केवल क्रियाका आश्रय लेना ही उनकी शरणागति है। इस प्रकारके शरणागत व्यक्ति ही इस मायाको अतिक्रम कर सकते हैं अर्थात् उनका ही चञ्चल प्राण स्थिर भाव धारण कर सकता है। इस प्रकार शरणागति और पौरुष-प्रयत्न एक ही बात है। पुरुषकारके बिना प्रारब्ध-क्षय नहीं होता, संस्कार नहीं छूटते। पुरुषकी शक्ति ही तो पौरुष है। पुरुष एकमात्र आत्मा है। मनुष्य साधन करता है तो उस आत्मशक्तिके द्वारा ही करता है। यह चञ्चल प्राण ही महामाया है, वही बलपूर्वक आकर्षण करके जीवको मोहयुक्त कर देती है। "बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"—दुर्गासप्तशती। परन्तु जो अपनी दीनता समझकर आर्त्तभावसे उनके शरणागत होता है, उसका परित्राण करना उनका स्वभाव है—यह जानकर जीवको निश्चिन्त हो जाना चाहिये। किसी दूसरी ओर न देखकर गुरुवाक्यमें विश्वास करके अटल श्रद्धाके साथ क्रिया करते रहना चाहिए, इसीसे जीव बारम्बारके जन्म-मरणके क्लेशसे छूट सकता है। प्राण चञ्चल होकर सैकड़ों बन्धनोंमें जो मनको जकड़े हुए है, मनका वह बन्धन-रज्जु

खुल जायगा, उसके त्रितापकी सारी ज्वालाएँ शान्त हो जायँगी। क्रिया करके कूटस्थमें स्थित होने पर सारे दैवी गुण साधकको आश्रय करते हैं। जो आत्मामें रहता है, वह मायाका स्वरूप देख सकता है और तब वह फिर मायासे मुग्ध नहीं होता। जो क्रिया नहीं करता वह आत्मामें नहीं रहता, अतएव मायाको नहीं पकड़ सकता। क्रियाके द्वारा स्थिर भाव प्राप्त होने पर यह माया अतिक्रम की जा सकती है ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अन्वय—दुष्कृतिनः (पापशील) मूढाः (मूढ़ लोग) नराधमाः (नराधम लोग) मायया अपहृतज्ञानाः (मायाके द्वारा जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है वे) आसुरं भावं (आसुरी भावको) आश्रिताः (आश्रय करके) मां (मुझको) न प्रपद्यन्ते (नहीं भजते) ॥१५॥

श्रीधर—यद्येवं तर्हि सर्वे त्वामेव किमिति न भजन्ति? तत्राह—न मामिति। नरेषु ये अधमास्ते मां न प्रपद्यन्ते न भजन्ति। अधमत्वे हेतुः—मूढाः विवेकशून्याः। तत् कुतः? दुष्कृतिनः पापशीलाः। अतो मायया अपहृतं निरस्तं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां जातमपि ज्ञानं येषां ते तथा। अतएव दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव चेत्यादिना वक्ष्यमाणं आसुरं भावं स्वभावं प्राप्ताः सन्तो न मां भजन्ति ॥१५॥

अनुवाद—[यदि ऐसी बात है तो सब लोग तुम्हारा भजन क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—नरोंमें जो अधम हैं वे मुझको नहीं भजते। उनके अधमत्वका कारण क्या है?—वे विवेकशून्य होते हैं। इसका कारण क्या है?—क्योंकि वे पापशील हैं। अतएव उनका शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न ज्ञान भी मायाके द्वारा निरस्त हो जाता है। इसी कारण वे दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता इत्यादि आसुरी भावको प्राप्त होकर मेरा भजन नहीं करते ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो दुष्कृत है अर्थात् सुकृत नहीं है, सु = ब्रह्म = आत्मा—उसमें जो नहीं रहते वे मूर्ख हैं। वे मेरे चरण अर्थात् आत्मा (आत्मा ही चरण है, क्योंकि आत्मा ही इस शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है—चरण भी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाता है) इसमें प्रकृष्टरूपसे नहीं पड़ते अर्थात् क्रिया नहीं करते। वे नर तो हैं परन्तु अधम हैं। अधमका शब्दार्थ—अ = मणिबन्ध = कूटस्थ; अधः = नीचे, कूटस्थके नीचे रहते हैं, ऊपर नहीं जाते, इसी कारण वे अधम हैं। अन्य दिशामें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके आत्मामें दृष्टि त्याग करते हैं। और आत्मामें सर्वदा दृष्टि रखना, यह सुरका—देवताका कर्म है। अ = उसका उलटा, अर्थात् असुरके कर्ममें नियुक्त रहते हैं।—जो लोग दुष्कृति-युक्त होते हैं, वे मेरा भजन नहीं करते। सुकृत वे हैं जो सर्वदा आत्मस्थ

रहते हैं। दुष्कृत लोग इसके विपरीत होते हैं। ऐसे दुष्कृत या पापिष्ठ लोग चार प्रकारके होते हैं :—

(१) मूर्ख—मेरे सम्बन्धमें जिनको कोई ज्ञान नहीं होता, जो पशुके समान आहार, निद्रा, भय, मैथुनके सिवा और कुछ नहीं समझते—वे साधनाकी ओर जाते ही नहीं।

(२) नराधम—जो मुझको कुछ-कुछ समझते हैं, परन्तु विषयादिमें अत्यन्त आसक्त होनेके कारण मेरी ओर आकृष्ट नहीं होते, उनकी आसक्ति या रति पाप कार्योंमें ही विशेष रहती है। कूटस्थमें उनकी दृष्टि नहीं रहती—मणिबन्धके नीचे ही उनका मन पड़ा रहता है—वे लोग केवल नाममात्रके लिए मनुष्य होते हैं। केवल अपकृष्ट कर्ममें ही रत रहते हैं, इसीसे मनुष्योंमें ये अधम हैं, साधन प्राप्त करके भी साधन नहीं करते।

(३) मायापहृतज्ञान—जो लोग साधु-सद्गुरुके पास कभी-कभी जाकर आत्म-ज्ञानकी बात सुनते हैं, भगवान्‌की कथा सुनते हैं, परन्तु उन वाक्योंमें दोष कहाँ है—कुतर्क द्वारा यही सब खोजते रहते हैं। मायाके आवरणसे इतना आवृत रहते हैं कि तत्त्वकथा सुनकर सम्भवतः कुछ उत्साहित भी हुए परन्तु दूसरे ही क्षण यदि किसीका सर्वनाश करके भी अपना कुछ लाभ होता देखते हैं तो उसकी प्राप्तिके लिए दौड़ पड़ते हैं। संसार मिथ्या है यह सुनते हैं, मनको भी ठीक जँचता है, परन्तु उसी समय यदि पुत्रकी पीड़ा या किसी विपद्‌का समाचार पाते हैं तो फिर उनका धैर्य छूट जाता है, विचार नहीं रह जाता। लोगोंको दिखलानेके लिए साधना करने बैठते हैं, परन्तु यदि उनके सुननेमें आ जाय कि अमुक साधुके पास मन्त्र सीखनेसे लोहेको सोना बना सकते हैं, तो वह उसी वक्त साधन छोड़कर उसी ओर दौड़ पड़ेंगे। उनका ज्ञान मानो मायाके द्वारा अपहृत होता है। ज्ञानके होते हुए भी न होनेके समान होता है। इस प्रकृतिके लोग साधन प्राप्त कर लेनेपर भी साधनाकी ओर आकृष्ट नहीं होते।

(४) आसुरप्रकृति—ये लोग अत्यन्त अभिमानी या स्पर्द्धी होते हैं। वे जानते हैं कि इस प्रकारका साधन करनेपर कल्याण होगा, परन्तु सद्गुरुके समीप नहीं जाते। वहाँ जाने पर उनके सामने सिर झुकाना पड़ेगा, यह उनको सह्य नहीं होता। वे किसीके सामने छोटा नहीं बनना चाहते। जिस बातको नहीं जानते, उसको भी जाननेका दम भरकर लोगोंके सामने अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेकी चेष्टा करते हैं। इसके लिए यदि मिथ्या बोलना पड़े तो उसे बोलनेमें भी सङ्कोच नहीं करते। कोई अच्छे आदमी हैं, लोग उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति करते हैं, तो आसुर प्रकृतिके लोगोंको यह सह्य नहीं होता, साधुके नामपर व्यर्थ ही निन्दा फैलाते हैं। साधुनामधारी लोगोंमें भी इस प्रकारके असुर होते हैं, किसी अच्छे साधुका सुनाम सुनकर वे सहन नहीं करते। यदि मिथ्या निन्दा करनेसे भी उनकी प्रतिष्ठा नष्ट नहीं होती तो उनको मृत्युमुखमें डालनेमें भी उनके मनको संकोच नहीं होता। इनका विश्वास होता है कि वे स्वयं ही सर्वापेक्षा उच्च हैं, यहाँ तक कि अपनेको भगवान् कहकर प्रचार करनेका दुःसाहस भी उनमें यथेष्ट होता है। हिरण्यकशिपुके समान किसीको भगवद्भजन करते हुए देखकर

वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं।' कुछ-कुछ लोगोंमें रावणके समान पूजा और तपस्याका आडम्बर भी बहुत होता है, परन्तु जितने प्रकारके दुष्कर्म होते हैं उनको करनेमें वे कभी पीछे नहीं हटते।

असुर वह है जो सुर या देवता लोगोंके विपरीत है। आत्माको सदा लक्ष्यमें रखना देवताका काम है और असुरका काम है आत्मदृष्टिसे शून्य होना ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अन्वय—भरतर्षभ अर्जुन (हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन!) आर्त्तः (रोगाभिभूत या किसी प्रकार क्लिष्ट), जिज्ञासुः (आत्मज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा करने वाला), अर्थार्थी (भोग और ऐश्वर्यको चाहने वाला), ज्ञानी च (और ज्ञानी) चतुर्विधाः (चार प्रकारके) सुकृतिनः (सुकृतिशाली) जनाः (लोग) मां (मुझको) भजन्ते (भजते हैं) ॥१६॥

श्रीधर—सुकृतिनस्तु मां भजन्त्येव। ते च सुकृततारतम्येन चतुर्विधा इत्याह—चतुर्विधा इति। पूर्वजन्मसु ये कृतपुण्यास्ते मां भजन्ति। ते तु चतुर्विधाः। आर्त्तो रोगाद्यभिभूतः, स यदि पूर्वे कृतपुण्यस्तर्हि मां भजति। अन्यथा क्षुद्रदेवताभजनेन संसरति। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। जिज्ञासुरात्मज्ञानेच्छुः। अर्थार्थी अत्र वा परत्र वा भोगसाधनभूताऽर्थलिप्सुः। ज्ञानी चात्मवित्। [आर्त्तः आर्त्तिपरिगृहीतः तस्करव्याघ्ररोगादिनाऽभिभूतः—शङ्कराचार्य] ॥१६॥

अनुवाद—[सुकृतिशाली लोग मेरा ही भजन करते हैं! सुकृतिके तारतम्यके अनुसार वे चार प्रकारके होते हैं, उसे ही यहाँ कहते हैं]—पूर्वजन्मकृत पुण्य जिनके पास है वे ही मेरा भजन करते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—(१) आर्त्त अर्थात् रोगादि द्वारा अभिभूत। उनको यदि पूर्वकृत पुण्य होता है तभी मेरा भजन करते हैं, अन्यथा क्षुद्र देवताओंके भजनसे संसारगतिको प्राप्त होते हैं, [जो तस्कर, व्याघ्र, रोगादिके द्वारा अभिभूत होकर आर्त्तियुक्त हैं—शङ्कराचार्य]। (२) जिज्ञासु—आत्मज्ञानके इच्छुक। (३) अर्थार्थी—इहलोक अथवा परलोकमें भोगसाधनरूपी अर्थकी लिप्सा रखने वाला। (४) ज्ञानी—आत्मवित् ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चार प्रकारके भले आदमी मुझको भजते हैं—आर्त्त होने पर—ब्रह्म क्या है? जो इसका अनुसन्धान करते हैं—अर्थके लिए प्रार्थना करते हैं, अथवा किसी कामनाके लिए प्रार्थना करते हैं—और ज्ञानी जो क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं, ये ही चार प्रकार हैं।—यद्यपि प्रथम तीन प्रकारके भक्त सकाम होते हैं तथापि वे सुकृतिशाली हैं, नहीं तो भगवानका भजन क्यों करते? (१) रोग हुआ तो चिकित्सककी सहायता ही ली जाय इसके लिए भगवानको क्यों पुकारना? जब चिकित्सक रोगको शमन करनेमें समर्थ नहीं होता, तब आर्त्त पुरुष कातर होकर उनका ही आश्रय लेते हैं। रोग दूर करनेके उद्देश्यसे आज भी बाबा तारकनाथ, बाबा वैद्यनाथके यहाँ लोग धरना देते हैं। कोई-कोई साधुके पास साधन सीखते हैं,

इस आशासे कि साधुके आशीर्वादसे रोग दूर हो जायगा, अथवा उनके प्रदर्शित साधन-पथका अनुसरण करके व्याधिके हाथसे छुटकारा मिल जायगा। डाकू, व्याघ्रादि के द्वारा आक्रान्त होने पर प्राणरक्षाके लिए व्याकुल चित्तसे भगवान्‌के निकट कातर भावसे प्राणकी भीख माँगना भी आर्त्त भक्तका लक्षण है। प्राचीन कालमें गजेन्द्रने ग्राहके भयसे तथा द्रौपदीने सभाके बीच वस्त्रहीना होनेके डरसे प्राणपणसे भगवान्‌को पुकारा था और वे उनके शरणापन्न हुए थे—यह भी आर्त्त भक्तिका सुन्दर दृष्टान्त है। संसारकी ज्वाला-यन्त्रणासे व्याकुल होकर अर्थात् भवरोगसे कातर होकर भी कोई कोई उनके शरणापन्न होते हैं। (२) जो जिज्ञासु हैं, आत्मानुसन्धानके लिए साधुसङ्ग करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, ब्रह्म क्या है जगत् क्या है, मैं क्या हूँ—यह सब विचार करते हैं तथा साधनाभ्यास करते हैं—वे ही जिज्ञासु हैं। प्रत्येक युगमें अनेक जिज्ञासु भक्त देखनेमें आते हैं। इस कलियुगमें भी जिज्ञासु भक्तका अभाव नहीं है। इतने बड़े विराट् विश्वको देखकर तथा जीवके जन्म-मरणादि क्लेशको देखकर जिज्ञासु न होना ही बड़े आश्चर्यकी बात है। (३) अर्थार्थी—भोग और ऐश्वर्यके लिए भगवान्‌का भजन करते हैं। इनका भी भगवान्‌के ऊपर खूब विश्वास होता है। समस्त विश्वके प्रभु, सारे कर्मफलके विधातास्वरूप भगवान्‌के वे शरणापन्न होते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि भगवत्सेवाके द्वारा उनके सारे अभीष्ट प्राप्त हो सकते हैं। इसमें इतना विश्वास होता है कि विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। शास्त्र तथा गुरुवाक्यके प्रति उनके मनमें कोई अविश्वास नहीं पैदा होता। शास्त्रनिर्दिष्ट समस्त व्रत-नियम, पूजा-पाठ आदिका पालन वे एक-एक करके करते रहते हैं। यही उनकी विशेषता है। परन्तु अब भी यह भाव मनमें नहीं आता कि भगवान्‌के लिए ही भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। केवल उनके लिए ही उनसे प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌के पास देने-लेनेके सिवा और भी कुछ प्राप्तव्य और ज्ञातव्य है—वह हमारे प्राणोंके प्राण हैं, वह हमारे सर्वस्व हैं, वह हमारा 'मैं' हैं—आदि भावोंकी गम्भीरता अब भी उनको प्राप्त नहीं होती। अर्थार्थी लोग क्रिया करके केवल शक्ति या विभूति ही खोजते हैं और यही उनको मिलता भी है। शक्तिसञ्चय करलेने तथा साधनशक्ति प्राप्त करलेनेके कारण जिज्ञासु-की अपेक्षा वे श्रेष्ठ होते हैं। इस श्रेणीके भक्त पूर्व तथा वर्तमान युगमें अनेक हो गये हैं। अब आजकल इस श्रेणीके भक्त अधिक देखनेमें नहीं आते। ध्रुव आदि इसी श्रेणीके भक्त थे। भगवत्कृपासे ये लोग ज्ञान प्राप्त करके पश्चात् मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं। (४) ज्ञानी—उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्त सकाम होते हैं, ज्ञानी भक्त ही केवल निष्काम होते हैं। ज्ञानीके मनमें कोई फलाभिसन्धान नहीं होता। प्राणके आकर्षणमें पड़कर भगवान्‌के सिवा उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता। जीवनमें वह जो कुछ करते हैं सब भगवान्‌के लिए करते हैं, कोई वासना या कामना उनका हृदय स्पर्श नहीं कर सकती। ये तत्त्वसाक्षात्कारी पुरुष होते हैं, ब्रह्मानन्दमें मस्त रहते हैं। ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न निर्गुण पुरुष आत्मप्रेममें उन्मत्त और देहविभ्रम से रहित होते हैं।

ज्ञानके परिपाकके लिए वह जो साधना करते हैं उसका उल्लेख भागवत में इस

प्रकार मिलता है—

यदारम्भेषु निर्विरणाः विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

योगी जब कर्ममें निर्विरणा और कर्मफलमें विरक्त होते हैं, तब वह संयतेन्द्रिय होकर आत्माभ्यासके द्वारा मनको स्थिर और निर्विकल्प करनेवाली अचल स्थिति में ले जाते हैं।

इसी लिए भगवान्ने ज्ञानी भक्त उद्धवको उपदेश देते हुए कहा है—

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गाम्॥

तुम सब कुछ छोड़कर, स्वजन-बन्धुओंमें स्नेहका त्याग करके मुझमें सम्यक् रूपसे मन समाहित करके तथा समद्रष्टा होकर पृथ्वी पर पर्यटन करो।

साधक साधन करते-करते क्रियाकी परावस्थामें जब अपने मनको पूर्णतः लीन कर देता है और उस परम स्थितिके सिवा उसके मनमें वैषयिक लाभहानिकी कोई तरङ्ग नहीं उठती, तब उसको जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं। ये जीवन्मुक्त पुरुष ही उनके ज्ञानी भक्त हैं। नारद, वशिष्ठ, शुक, सनकादि ज्ञानी और उद्धव, प्रह्लाद आदि भक्त साधक—सभी उनके ज्ञानी भक्त हैं॥ १६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

अन्वय—तेषां (उनमें) नित्ययुक्तः (सदा मन्निष्ठ) एकभक्तिः (प्रेमास्पद आत्मामें, या मुझमें ही जिसकी एकमात्र भक्ति है) [वही] ज्ञानी (ज्ञानी) विशिष्यते (श्रेष्ठ हैं); अहं (मैं या आत्मा) ज्ञानिनः (ज्ञानीको) अत्यर्थं प्रियः (अत्यन्त प्रिय हूँ), स च (वहभी) मम प्रियः (मेरे प्रिय हैं)॥ १७॥

श्रीधर—तेषां मध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह—तेषामिति। तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्टः। अत्र हेतवः—नित्ययुक्तः सदा मन्निष्ठः। एकस्मिन्मय्येव भक्तिर्यस्य सः। ज्ञानिनो देहाद्यभिमानाभावेन चित्तविक्षेपाभावान्नित्ययुक्तत्वमेकान्तभक्तित्वं च संभवति। नान्यस्य। अतएव हि तस्याहमत्यन्तं प्रियः। स च मम। तस्मादेतैर्नित्ययुक्तत्वादिभिश्चतुर्भिर्हेतुभिः स उत्तम इत्यर्थः॥ १७॥

अनुवाद—[उनमें ज्ञानी श्रेष्ठ हैं—यही बतलाते हैं]—इन चतुर्विध भक्तोंमें ज्ञानी विशिष्ट हैं। इसका हेतु यह है कि (१) ज्ञानी सदा मन्निष्ठ रहते हैं, (२) एकमात्र मुझमें ही उनकी भक्ति होती है, ज्ञानीको देहादिका अभिमान न होनेके कारण चित्तविक्षेप नहीं होता, उससे उनका नित्य-युक्तत्व और एकान्त-भक्तित्व संभव है, दूसरोंके लिए वह संभव नहीं, (३) इसी कारण मैं ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय हूँ, (४) और वे भी मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। इन नित्य-युक्तत्वादि चार कारणोंसे ज्ञानी ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ हैं। [प्रसिद्धं हि लोके आत्मा प्रियो भवतीति। तस्मात् ज्ञानिन आत्मत्वाद्वासुदेवः प्रियो भवतीत्यर्थः। स च ज्ञानी मम

वासुदेवस्यात्मैवेति ममात्यर्थं प्रियः"—यह बात प्रसिद्ध है कि आत्मा ही लोगोंको सर्वापेक्षा प्रिय होता है, वासुदेव ज्ञानीके आत्मा हैं, इसलिए वासुदेव ज्ञानीको प्रिय हैं, और वह ज्ञानी मेरा यानी वासुदेवका आत्मा है, इसलिए ज्ञानी भी आत्माको अत्यन्त प्रिय हैं—शङ्कराचार्य]।। १७।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कारण क्रियाकी परावस्थामें जो रहता है, वह बड़ा है—वह नित्य मुझमें रहता है, गुरुवाक्यमें विश्वास करके, वह सबकी अपेक्षा उत्तम है—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर वह मेरा प्रिय होता है, और मैं भी उसका प्रिय होता हूँ, क्योंकि उस समय दोनों एक हो जाते हैं।—जबतक 'मैं-तू' लगा हुआ है, तबतक एकभक्ति होना संभव नहीं है। जो मन्निष्ठ है वही सबको भूलकर एकमात्र मुझको या आत्माको आश्रय करके रहता है। जो क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त ज्ञानी हैं, उनका न तो देहाभिमान रहता है और न चित्तविक्षेप, इस कारण वह आत्मामें ही नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। जो आत्मामें नित्य प्रतिष्ठित हैं, उनको 'मैं-पन' का भी बोध नहीं होता। इस प्रकार निरभिमान-जगद्विस्मृत-आत्ममय ज्ञानीके लिए आत्माके सिवा और कुछ नहीं रहता क्योंकि उस समय वह आत्माके साथ एक हो जाते हैं। आत्मा ही आत्माको प्रिय होता है। अतएव ज्ञानी आत्माको और आत्मा ज्ञानीको प्रिय होगा ही। भागवतमें लिखा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।।

मद्भावित ज्ञानीका आत्मा मैं हूँ। ज्ञानी भी जानते हैं "प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यदयमात्मा"—आत्मा अन्य सब वस्तुओंकी अपेक्षा अन्तरतम है, अतएव ज्ञानी आत्माको सर्वस्व जानते हैं—इसलिए ज्ञानी सर्वापेक्षा श्रेष्ठ भक्त हैं। आत्मा ही आत्माके सर्वापेक्षा निकट तथा अन्तरतर है। इसीसे आत्माके सिवा और सब परमात्मासे दूर हैं। "आत्मविद् आत्मैव भवति"—आत्मवित् पुरुष आत्मा ही हो जाता है। इसीसे आत्मज्ञानी लोग परमात्माको इतने प्रिय होते हैं। सकाम भक्तगण परमात्माके साथ नित्ययुक्त नहीं होते, क्योंकि वे संसार और भगवान् दोनोंको ही चाहते हैं, इसलिए वह एकनिष्ठ भी नहीं हो सकते। सब भूलकर उनका हो जाना उनके लिए संभव नहीं होता।। १७।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। १८।।

अन्वय—एते (ये) सर्वे एव (सभी) उदाराः (उत्कृष्ट हैं), तु (किन्तु) ज्ञानी (ज्ञानी) आत्मा एव (आत्मा ही है अर्थात् मुझसे पृथक् नहीं है), मे (मेरा) मतं (अभिमत है), हि (क्योंकि) सः (वह ज्ञानी) युक्तात्मा (मदेकचित्त या समाहितचित्त होकर) अनुत्तमां (सर्वोत्तम) गतिं (गति) माम् एव (मुझको ही—मेरे सिवा अन्य किसी फलका नहीं) आस्थितः (आश्रय करते हैं)।। १८।।

श्रीधर—तर्हि किमितरे त्रयस्त्वद्भक्ताः संसरन्ति ? न हि । न हीत्याह—उदारा इति । सर्वेऽप्येत उदारा महान्तो मोक्षभाज एवेत्यर्थः । ज्ञानी तु पुनरात्मैवेति मे मतं निश्चयः । हि यस्मात् स ज्ञानी युक्तात्मा मदेकचित्तः सन् , न विद्यत उत्तमा यस्याः तामनुत्तमां सर्वोत्तमां गतिं मामेवास्थित आश्रितवान् । मद्व्यतिरिक्तमन्यत् फलं न मन्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अनुवाद—[तो क्या अन्य तीन प्रकारके भक्त संसार-गतिको प्राप्त होते हैं ? निश्चय ही नहीं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं]—ये सभी (आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी) महान् अर्थात् मोक्षके भागी होते हैं, परन्तु ज्ञानी (मोक्षके भागी तो होते ही हैं) फिर मेरे आत्मा हैं, यही मेरा निश्चय है। क्योंकि ज्ञानी मदेकचित्त होकर सर्वोत्तमा गति मुझको आश्रय करते हैं। मेरे सिवा और कोई फल वे नहीं मानते। [त्रयोऽपि मम प्रिया एवेत्यर्थः । न हि कश्चित् मद्भक्तो मम वासुदेवस्याप्रियो भवतीति । ज्ञानी त्वत्यर्थं प्रियो भवतीति विशेषः—अन्य तीनों भक्त भी मुझको प्रिय हैं। क्योंकि कोई भक्त मुझ वासुदेवको अप्रिय नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय होते हैं, इतनी मात्र विशेषता है—शङ्कराचार्य ।]॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उनके द्वार सब खुले हुए हैं—जो कोई क्रियाकी परावस्थामें रहता है, इस प्रकार अटका रहकर—मेरी जो उत्तम गति उसके ही पीछे अणुके भीतर—प्रवेश करता है।—"मनके स्थिर होनेका नाम निरोध है, निरोध अवस्था ही ब्रह्मका स्वरूप है। वह सत्य है और सब मिथ्या है। जो सदा निरोध अवस्थामें रहता है उसीका प्रकृत हित या कल्याण होता है। वह एक विचित्र अवस्था है जब "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थामें रहनेका नाम ही ज्ञान है, जब वह ज्ञान सर्वदा बना रहता है तब सब ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार साधन करते-करते निःशेषरूपसे हित होता है अर्थात् कूटस्थके भीतर जो नक्षत्र-स्वरूप गुहा है, उसके भीतर प्रवेश करके मणिबन्धके परे जो व्योम है, जिसके अणुके भीतर समस्त त्रिलोक है, वह भी समस्त ब्रह्म-स्वरूप जान पड़ता है। जहाँ समस्त है तथापि कुछ भी नहीं है। सब एक हो जाने पर स्वयं भी नहीं रहता, अतएव सत्य-मिथ्या कुछ भी नहीं रहता। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना ये प्राणके तीन पाद हैं, इन तीनोंके एक हो जाने पर अर्थात् सुषुम्नामें जाने पर—क्रियाकी परावस्थामें रहने पर—अक्षरपद परब्रह्मके अणुमें प्रवेश करता है, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है, वही महत् है। उसी महत् ब्रह्मसे (प्राणसे) सारी सृष्टि होती है, इसीसे उन सबको प्राणी कहते हैं। समस्त स्थावर-जङ्गम आदि सब भूतोंमें प्राण वायुरूपसे सूक्ष्म भावमें रहता है। इस वायुके द्वारा ही सबके स्थूल अणुका नाश होता है।"—वेदान्त।

इस प्रकार क्रियाकी परावस्थामें युक्तचित्त योगी सर्वोत्तम गतिको प्राप्त करते हैं। ब्रह्माणुके भीतर प्रवेश करके अणु हो जाते हैं, फिर देहाभिमान नहीं रहता। आत्माके सिवा तब और किसी वस्तुमें उनका चित्त नहीं लगता। जब विषयान्तरमें चित्त नहीं रहता तो आत्माके साथ घनिष्ठ भावसे युक्त होना ही स्वाभाविक है॥ १८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वय—बहूनां जन्मनां (अनेक जन्मोंके) अन्ते (अन्तमें) ज्ञानवान् (ज्ञानी) सर्वं वासुदेवः (सभी वासुदेव हैं) इति (इस प्रकार) मां (मुझको) प्रपद्यते (प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, या सर्वात्मदृष्टिके द्वारा मेरा भजन करते हैं)। स महात्मा (इस प्रकारके महात्मा) सुदुर्लभः (नितान्त दुर्लभ होते हैं) ॥ १९ ॥

श्रीधर—एवंभूतो मद्भक्तोऽतिदुर्लभ इत्याह—बहूनामिति । बहूनां जन्मनां किञ्चित् किञ्चित् पुण्योपचयेनान्ते चरमे जन्मनि ज्ञानवान् सन् सर्वमिदं चराचरं वासुदेव एवेति सर्वात्मदृष्ट्या मां प्रपद्यते भजति । अतः स महात्माऽपरिच्छिन्नदृष्टिः सुदुर्लभः ॥१९॥

अनुवाद—[मेरा इस प्रकारका भक्त अति दुर्लभ है, इसी लिए कहते हैं]—अनेक जन्मोंमें किञ्चित्-किञ्चित् पुण्यके उपचयके द्वारा वह चरम जन्ममें ज्ञानवान् होकर, 'ये चराचर वासुदेव हैं'—इस प्रकारकी सर्वात्मदृष्टिके द्वारा मुझको भजते हैं । अतएव इस प्रकारके अपरिच्छिन्नदृष्टि महात्मा दुर्लभ हैं ॥१९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनेक जन्म इस प्रकार करते-करते मेरे चरणोंमें पड़े रहते हैं—जो इच्छा होती है—वह ब्रह्म करता है, इस प्रकारका ज्ञान होता है—इस प्रकारके सर्वव्यापी ब्रह्मका ज्ञान किसी महात्माका होता है—वह अति दुर्लभ है।—अनेक जन्म साधन करके उस पुण्यके बलसे साधक ज्ञान प्राप्त करते हैं। अनेक जन्ममें ज्ञान प्राप्त करते-करते अन्तिम जन्ममें प्रकृत ज्ञानी हो सकते हैं । ज्ञानीको भगवत्-सत्ताके सिवा और किसी वस्तुके अस्तित्वका भान नहीं होता । इस प्रकार सर्वात्मदृष्टि द्वारा साधन-दुर्लभ परमात्माको जान लेने पर वह महात्मा हो जाते हैं, अर्थात् तब यह अनुभव करते हैं कि उनका आत्मा ही विश्वव्यापी है। परन्तु इस प्रकारकी अवस्थाकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है। हजारों सिद्ध साधकोंमें कहीं कोई एक इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं । यह ज्ञानपूर्विका भक्ति है, इससे अन्तःकरण शुद्ध होने पर, 'सब कुछ वासुदेव हैं' ऐसा ज्ञान होता है। वही अणुरूपमें सूत्ररूपमें सर्वत्र अनुप्रविष्ट हैं, वही जगत्के प्रभु हैं, इस प्रकारका बोध होता है। विष्णुपुराणमें वासुदेवका अर्थ इस प्रकार है—

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ।
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥

वे सबके भीतर अनुप्रविष्ट हैं, इसीसे जगत् भासमान हो रहा है। जितने रूप हैं, सब रूपोंका मूल कूटस्थ है। इस सूर्य-स्वरूप कूटस्थके पीछे रहने पर त्रिभुवन दीख पड़ता है। कूटस्थ ब्रह्मके तीन चक्र हैं, पहला ज्योतिश्चक्र, उसके परे कृष्ण चक्र और उसके परे नक्षत्र चक्र । इनके भीतर रहने पर सुन्दररूप ब्रह्ममें रहा जाता है। पश्चात् कोटि सूर्यका उदय होता है, तब समस्त ब्रह्ममय हो जाता है। इस शरीरकी जो प्राणवायु है, उसकी क्रियाविशेषसे ही भीतर सूर्य-स्वरूप दीख पड़ता है। वह सूर्य-

स्वरूप कूटस्थ सबके भीतर है। उसके होने पर ही सब वस्तुओंका अस्तित्व है। इसीसे वह वासुदेव हैं, जगत्‌के विधाता और प्रभु हैं। इस सर्वत्रप्रविष्ट स्थिर प्राणरूप वासुदेवका भजन करने पर क्रियाकी परावस्थारूप मुक्ति अपने आप आती है। तब साधक जो कुछ करते हैं, सोचते हैं या देखते हैं, वह ब्रह्म करते हैं, ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार सर्वात्मभावसे ब्रह्मदर्शन जिनको होता है वही महात्मा हैं। इस प्रकारके प्रकृत महात्मा जगत्‌में सुदुर्लभ हैं ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अन्वय—तैः तैः (पुत्रकीर्तिशत्रुजयादिविषयक) कामैः (कामना द्वारा) हृतज्ञानाः (अपहृत हो गया है विवेक-विज्ञान जिनका) तं तं नियमं (देवताराधनके निमित्त जो जो नियम हैं उनको) आस्थाय (आश्रय करके या स्वीकार करके) स्वया (अपने) प्रकृत्या (स्वभावके द्वारा) नियताः (वशीभूत होकर) अन्यदेवताः (अन्य देवताओंको) प्रपद्यन्ते (भजन करते हैं) ॥ २० ॥

श्रीधर—तदेवं कामिनोऽपि सन्तः कामप्राप्तये परमेश्वरमेव ये भजन्ति ते कामान् प्राप्य शनैर्मुच्यन्त इत्युक्तम्। ये त्वत्यन्तं राजसास्तामसाश्च कामाभिभूताः क्षुद्रदेवताः सेवन्ते ते संसरन्तीत्याह कामैरिति चतुर्भिः। ये तु तैस्तैः पुत्रकीर्तिशत्रुजयादिविषयैः कामैरपहृतविवेकाः सन्तोऽन्याः क्षुद्रा भूतप्रेतयक्षाद्या देवता भजन्ति। किं कृत्वा ? तत्तद्देवताराधने यो यो नियम उपवासादिलक्षणस्तं तं नियमं स्वीकृत्य। तत्रापि स्वया स्वीयया प्रकृत्या पूर्वाभ्यासवासनया नियता वशीकृता सन्तः ॥ २० ॥

अनुवाद—[विषयकामी होकर काम-प्राप्तिके लिए जो लोग परमेश्वरको भजते हैं, वे अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करते हैं तथा पीछे धीरे-धीरे मुक्ति लाभ करते हैं। जिनकी प्रकृति अत्यन्त राजसिक या तामसिक होती है, वे कामाभिभूत होकर क्षुद्र देवताओंकी सेवा करते हैं, वे आवागमनको प्राप्त होते हैं, यही चार श्लोकोंमें कह रहे हैं]—परन्तु जिन लोगोंका पुत्र-कीर्ति-शत्रु-जयादि विषयक कामनाके द्वारा विवेक अपहृत हो गया है, वे भूत-प्रेत-यक्षादि क्षुद्र देवताओंका भजन करते हैं। किस प्रकार वे इन देवताओंको भजते हैं ?—तत्तत् देवताकी आराधनामें जो जो उपवासादि लक्षणवाले नियम हैं, उन उन नियमोंको स्वीकार करके। वहाँ भी अपनी प्रकृति अर्थात् पूर्वाभ्यस्त वासनाके द्वारा वशीभूत होकर अन्य देवताका भजन करते हैं ॥ २० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कामना करके अन्य देवताकी उपासना करते हैं अतएव आत्मामें नहीं रहते—इसी प्रकारका सब नियम करते हैं—इन अष्ट प्रकृतियोंके भीतर रहते हैं अर्थात् जन्म होता है।—पूर्वाभ्यासके अनुसार जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वही जीवकी प्रकृति है। उसी प्रकृतिके वशीभूत होकर कामादिके द्वारा जिनका विवेक-ज्ञान अपहृत है, वे अन्य देवताकी उपासना करते हैं, आत्मदेवकी उपासना नहीं करते। वे जड़ा प्रकृतिका अनुसरण करके काम-लोभादिके वशीभूत होते हैं, और तत्तत् कामोपभोगकी प्राप्तिके लिए व्रत-नियमादिका पालन करते हैं। आज्ञाचक्रको भेद किये बिना

परमात्मतत्त्वमें कोई नहीं पहुँच सकता। जो लोग स्थूल देह और मन, बुद्धि, अहङ्कारादि अष्ट बहिर्मुखी प्रकृतियोंके वशमें रहते हैं, उनको वारंवार जन्म-मरणके वशीभूत होना पड़ता है। वे जिन नियमोंका पालन करते हैं वह भी इस बहिःप्रकृतिके अनुसार ही करते हैं, अतएव प्रकृतिके बाहर नहीं जा पाते ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

अन्वय—यः यः (जो जो) भक्तः (भक्त) यां यां (जिस जिस) तनुं (देव-मूर्त्तिको) श्रद्धया (श्रद्धाके साथ) अर्चितुं (अर्चना करनेकी) इच्छति (इच्छा करता है) अहं (मैं) तस्य तस्य (उस उस भक्तकी) ताम् एव (उसी देवताके प्रति) अचलां श्रद्धां (अचल श्रद्धाका) विदधामि (विधान करता हूँ या दृढ़ कर देता हूँ) ॥ २१ ॥

श्रीधर—देवताविशेषं ये भजन्ति तेषां मध्ये—यो य इति। यो यो भक्तो यां यां तनुं देवतारूपां मदीयामेव मूर्त्तिं श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति प्रवर्त्तते, तस्य तस्य भक्तस्य तत्तन्मूर्त्तिविषयां तामेव श्रद्धामचलां दृढामहमन्तर्यामी विदधामि करोमि ॥ २१ ॥

अनुवाद—[देवता-विशेषका जो भजन करते हैं उनमें] जो जो भक्त जिस जिस देवतारूपी मेरी मूर्तिकी श्रद्धाके साथ अर्चना करनेमें प्रवृत्त होते हैं, उन भक्तोंकी उन मूर्तियोंके विषयमें मैं अन्तर्यामी उनकी श्रद्धाको अचल अर्थात् दृढ़ कर देता हूँ ॥ २१ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो जिसका भजन करता है, उसीके द्वारा अचल श्रद्धाकी बुद्धि मैं देता हूँ।—अन्य देवमूर्तियाँ भी मेरे ही तनु हैं, भक्त जिस रूपमें मेरी उपासना करे, मैं उसी मूर्तिके प्रति उसमें अचल श्रद्धाका विधान कर देता हूँ। समस्त देवमूर्तियाँ भगवत्-तनु हैं, सब देवदेहके भीतर वह अन्तर्यामी आत्मा हैं, अतएव उनमें भी भगवान्‌की ही उपासना होती है। कहीं क्षुद्र देवता मानकर पूजा करके मनमें क्षोभ उत्पन्न होकर नियमित श्रद्धाका अभाव न हो जाय, और इस प्रकार वह देवोपासना व्यर्थ न हो जाय, इसीलिए वह भक्तके मनमें उस देवताके प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। इसका फल यह होता है कि श्रद्धाके साथ तत्तत् देवताका भजन करके फल प्राप्त करनेपर भक्तकी देवताके प्रति दृढ़ भक्ति होती है, और उस भक्तिके बलसे क्रमशः आत्मदेवके प्रति भी उसे भक्ति प्राप्त होती है। देवता लोग तो उन्हींके शरीर हैं न, इसीसे भक्तको सत्यपथ बतला देनेमें, भगवान्‌का भजन करनेकी शिक्षा देनेमें, देवताओंको आनन्द ही होता है ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

अन्वय—सः (वह भक्त) तया श्रद्धया युक्तः (उस श्रद्धासे युक्त होकर) तस्याः (उन देवमूर्तियोंकी) राधनम् (पूजा) ईहते (करता है), ततः च (और उस आराधित

देवतासे) मया एव (मेरे द्वारा ही) विहितान् (विहित) तान् कामान् (उन सब कामनाओंको) लभते (प्राप्त करता है) ॥ २२ ॥

श्रीधर—ततश्च—स तयेति । स भक्तस्तया दृढया श्रद्धया तस्यास्तनो राधनमाराधनमीहते करोति । ततश्च ये सङ्कल्पिता कामास्तान् कामांस्ततो देवताविशेषाल्लभते । किन्तु मयैव तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितान् निर्मितान् हि । स्फुटमेतत् तत्तद्देवतानामपि मदधीनत्वान्मन्मूर्त्तित्वाच्चेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अनुवाद—उस प्रकारके भक्त दृढ़ श्रद्धाके साथ उस देव-तनुकी आराधना करते हैं, और तत्पश्चात् उस देवता-विशेषसे अपनी सङ्कल्पित अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त करते हैं । परन्तु अन्तर्यामिरूपसे उस देवतामें अवस्थित मेरे द्वारा ही उस फलका निर्माण होता है । क्योंकि यह स्पष्ट है कि वे देवता मेरे अधीन तथा मेरी ही मूर्त्ति होते हैं, अतएव उस फलका दाता मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह उस प्रकार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हैं, अर्थात् निश्चय होकर कर्म करते हैं तो मैं उसको उस प्रकारका फल देता हूँ, क्योंकि वह सर्वत्र हैं ।—देवता लोग भगवन्नियमके अधीन होकर ही अपना-अपना कार्य करते हैं । देवता लोग अपने भक्तोंको जो फल देते हैं, वह भी उस ईश्वरीय नियमके अधीन है । देवताओंके भीतर भी आत्मरूपमें वही विद्यमान हैं, वही सब कर्मोंका फल-विधान करते हैं । हमारी प्रत्येक कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंके पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता हैं, वे जब पूजित होकर सन्तुष्ट होते हैं तो तत्तद् इन्द्रियोंकी शक्ति-वृद्धि होती है, उन इन्द्रियोंमें दैवी शक्तिका सञ्चार होता है । परन्तु हस्त, पद, चक्षु आदि किसी इन्द्रियको वे देवता शक्ति प्रदान नहीं कर सकते यदि समस्त देहेन्द्रियादि प्रकृतिके अधीश्वरके रूपमें उनके भीतर आत्मा न होता । वही मानो प्रत्येक देवताके अन्तरस्थ होकर भक्तके अभीष्टको पूर्ण करते हैं, इसकी ठीक धारणा ये देव-याजी लोग नहीं कर पाते ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्वय—तु (किन्तु) अल्पमेधसां तेषां (अल्प बुद्धिवाले उन लोगोंका) तत् फलं (वह फल) अन्तवत् (विनाशी) भवति (होता है) । देवयजः (देवयाजी लोग) देवान् यान्ति (देवलोकोंको प्राप्त होते हैं), मद्भक्ताः (मेरे भक्त) माम् अपि यान्ति (मुझको ही पाते हैं), [अर्थात् मेरे सकाम भक्त अपने-अपने अभीष्टको प्राप्त करते हुए अन्तमें मेरे क्षयोदयशून्य नित्यधामको प्राप्त होते हैं।] ॥२३॥

श्रीधर—तदेवं यद्यपि सर्वा अपि देवताः सर्वात्मनो ममैव तनवः, अतस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराधनमेव, तत्र फलदाताऽपि चाहमेव, तथापि साक्षान्मद्भक्तानाञ्च तेषाञ्च फलवैषम्यं भवतीत्याह—अन्तवदिति । अल्पमेधसां परिच्छिन्नदृष्टीनां मया दत्तमपि तत्फलं अन्तवद्विनाशि भवति । तदेवाह—देवान् यजन्तीति देवयजः । ते देवानन्तवतो यान्ति । मद्भक्तास्तु मामनाद्यनन्तं परमानन्दं प्राप्नुवन्ति ॥२३॥

अनुवाद—[यद्यपि सब देवता सर्वात्मक भावसे मेरे ही तनु हैं, अतएव उनकी आराधना वस्तुतः मेरी ही आराधना है, और फलदाता भी मैं ही होता हूँ, तथापि साक्षात् मद्भक्त एवं इन सब भक्तोंमें फल-वैषम्य होता है, यही बतला रहे हैं]—इन सब अल्पमेधा परिच्छिन्न दृष्टिवालोंको यद्यपि मैं ही फल देता हूँ, तथापि वह फल विनाशी होता है। देवयाजी लोग अन्तवान् देवलोकको प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त लोग मुझको अर्थात् आद्यन्तविहीन परमानन्दको प्राप्त होते हैं ।।२३।।

आध्यात्मिक व्याख्या—परन्तु उन सब फलोंका अन्त है—मैं ब्रह्म हूँ, अनन्त हूँ, मेरा फल अनन्त है—मुझको भजनेसे मुझको ही पाता है।—अल्प बुद्धिवाले लोग जो फलकी प्राप्तिके लिए अन्य देवताओंकी आराधना करते हैं, वे देवता ही अन्तयुक्त हैं, अतएव वे जो फल प्रदान करेंगे, वह कभी अनन्त नहीं हो सकेगा। एकमात्र परमात्मा ब्रह्म ही अनन्त हैं, अतएव आत्मोपासक लोग अनन्त फल प्राप्त करते हैं। ज्ञानी भक्त तो अन्तमें ब्रह्मपद लाभ करते ही हैं, उनके अन्य तीनों प्रकारके भक्त भी वाञ्छित फल प्राप्तकर अन्तमें मुक्तिपद लाभ करते हैं, परन्तु क्षयोदयशील देवताओंकी अर्चना करके केवल अचिरस्थायी फलकी ही प्राप्ति हो सकती है, उससे अनन्त फल-प्राप्तिकी आशा नहीं की जा सकती। एकमात्र ब्रह्म ही अविनाशी है, और सब कुछ मायिक या विनाशशील है। जो उस अविनाशी आत्माकी उपासना करता है वही अमृतत्व लाभ कर सकता है ।।२३।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

अन्वय—अबुद्धयः (मन्दमति अविवेकी लोग) मम (मेरे) अव्ययं (व्यय-रहित अर्थात् नित्य) अनुत्तमं (निरतिशय या सर्वश्रेष्ठ) परं भावं (परमात्म-स्वरूपको) अजानन्तः (न जानकर) अव्यक्तं (प्रपञ्चातीत अप्रकाश्य) मां (मुझको) व्यक्तिं आपन्नं (मत्स्य-कूर्मादि भावको प्राप्त या साकाररूपमें प्रकाशित) मन्यन्ते (मानते हैं) ।। २४ ।।

श्रीधर—ननु च समाने प्रयासे महति च फलविशेषे सति सर्वेऽपि किमिति देवतान्तरं हित्वा त्वामेव न भजन्ति? तत्राह—अव्यक्तमिति। अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं मां व्यक्तिं मनुष्यमत्स्यकूर्मादिभावं प्राप्तमल्पबुद्धयो मन्यन्ते। तत्र हेतुः—मम परं भावं स्वरूपमजानन्तः कथंभूतम्? अव्ययं नित्यं—न विद्यते उत्तमो भावो यस्मात् तत् मद्भावं। अतो जगद्रक्षणार्थं लीलयाविष्कृतनानाविशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्तिं मां परमेश्वरं च स्वकर्मनिर्मित भौतिकदेहं च देवतान्तरं समं पश्यन्तो मन्दमतयो मां नातीवाद्रियन्ते। प्रत्युत क्षिप्रफलदं देवतान्तरमेव भजन्ति। ते चोक्तप्रकारेणान्तवत्फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।।२४।।

अनुवाद—[अच्छा, जब प्रयास समान है परन्तु फलगत भेद इतना अधिक है तो सब लोग दूसरे देवताओंका त्याग करके आपका भजन क्यों नहीं करते, इसीका उत्तर देते हैं]—मैं अव्यक्त अर्थात् प्रपञ्चातीत हूँ, परन्तु अल्प बुद्धिवाले लोग मुझको

मनुष्य, मत्स्य, कूर्मादि भावोंको प्राप्त हुआ मानते हैं। इसका कारण यह है कि वे मेरे नित्य, सर्वोत्कृष्ट परमस्वरूपको नहीं जानते। अतएव जगतकी रक्षाके लिए लीला-वश नाना प्रकारकी विशुद्ध ऊर्जित सत्त्व-मूर्त्ति धारण करनेवाले मुझ परमेश्वरको वे स्वकर्म-निर्मित भौतिक देह धारण करनेवाले दूसरे देवताओंके समान समझकर मेरा आदर नहीं करते, बल्कि क्षिप्र फल प्रदान करनेवाले दूसरे देवताओंको ही भजते हैं। इस प्रकार वे अन्तवत् या अनित्य फलको प्राप्त होते हैं ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अव्यक्त ब्रह्ममें न रहकर, व्यक्त जो यह शरीर है इसके उद्देश्यसे जो रहते हैं अर्थात् पाप पुण्यादि कर्म करते हैं, वे क्रियाकी परावस्थामें जो भाव है उसे नहीं जानते। वही अव्यय परब्रह्म है।—देहभात्र रहने पर ही पाप-पुण्य है, देहभाव ही सङ्कीर्ण भाव है। देह-दृष्टि रहते देहातीत अव्यक्त स्वरूप समझमें नहीं आता, क्योंकि वह इन्द्रियोंके गोचर नहीं है। जो इन्द्रियगम्य है, वह देश, काल, वस्तु द्वारा परिच्छिन्न है। अतएव वह सदा एकरूप नहीं रह सकता। परमात्माका प्रपञ्चातीत अव्ययस्वरूप नित्य, निर्विशेष, निर्गुण और निराकार है। इस प्रकारका देहातीत भाव ही क्रियाकी परावस्थामें उपलब्ध होता है। यह अव्यक्त ब्रह्मभाव क्रियाशून्य अवस्था है। परन्तु इस निर्गुण अवस्थासे ही सगुण भाव आता है। क्रमशः सूक्ष्मतम भावसे बुद्धि, मन, इन्द्रिय और देहादि व्यक्त भाव परिस्फुट होते हैं। यह व्यक्त भाव मायिक है, इससे ही विविध क्रिया, पाप-पुण्य आदि हुआ करते हैं। इस अवस्थामें क्षयोदय होता है, इसीसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादि विविध विकार लक्षित होते हैं। इस भावमें रहने पर जीव त्रितापकी ज्वालामें व्याकुल होता रहता है। इस प्रकारकी दुःखमय अवस्थाको प्राप्त करने पर वह श्रद्धाके साथ सद्गुरुके द्वारा प्रदर्शित साधनका अभ्यास करते-करते क्रियाकी परावस्थारूप असङ्ग अद्वैतावस्थाकी प्राप्ति करता है। यही ज्ञान है और इसके सिवा जो कुछ है सब अज्ञान है। जो लोग भोगमें मुग्ध होते हैं, उनका देहज्ञान नहीं छूटता। अतएव परमात्माके नित्य स्वरूप का सन्धान न पाकर वे मूढ़ ही रह जाते हैं, इनके सामने उनका अनुत्तम परम भाव स्फुटित नहीं होता।

अस्तु, जो उनकी साकार भावसे पूजा करते हैं उनकी अवस्था ज्ञानकी है या अज्ञानकी? जगत्की रक्षाके लिए भगवान् अनेक वार जगतीतलपर अवतीर्ण होते हैं। वे अवताररूप भी परब्रह्मके प्रकट रूप हैं। ऐसा समझ कर उनका ध्यान, पूजा करने पर जीव मुक्तिका सोपान देख पायेगा, क्योंकि उन सारी लीला-मूर्त्तियोंमें ब्रह्मका अनावृत भाव रहता है अर्थात् ऐश्वर्य-शक्ति पूर्णरूपसे वर्तमान रहती है। साधारण जीव भी ब्रह्मका अंश है, परन्तु उसमें ब्रह्मशक्ति अनावृत नहीं होती, अज्ञानावृत होती है। साधन करते-करते प्रति चक्रमें अथवा कूटस्थके भीतर उनकी बहुविध शक्तिमूर्त्तियाँ प्रकटित होती हैं, वह सभी ब्रह्म-शक्तियाँ हैं। ज्योति, ज्योतिके अभ्यन्तर गुहा, तथा उसके भीतर नक्षत्र—ये सभी साकार भाव हैं। शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य और गणेशादि मूर्त्तियोंका अवलम्बनकर 'ये भी परब्रह्मके ही रूप हैं' इस भावसे चिन्तन करने पर इनमें भी ब्रह्मोपासना होती है। मन जहाँ तक ग्रहण-

स्पर्श करता है, वहाँ तक साकार भावकी सीमा है, उसके परे अग्राह्य, अस्पर्श और अरूप भाव है—असीम चित्समुद्र है। मायाबद्ध अज्ञानी जीव इन सब भावोंसे भावित न होकर अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिए जो देवताओंकी उपासना करता है उससे क्षुद्र फलकी प्राप्ति तो होती है परन्तु वह परमात्माके स्वरूपके साक्षात्कारसे वञ्चित हो जाता है। उसको परमार्थ-दर्शिनी बुद्धि नहीं होती, क्योंकि आज्ञाचक्रमें स्थिति प्राप्त किये बिना किसीकी अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती। अतएव परमात्माका सर्वोत्कृष्ट जो मायातीत नित्य स्वरूप है, उसको वह प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। वह मायातीत अव्यक्त भाव सबके भीतर रहता है, वही असल वस्तु है, परन्तु उसको प्रत्यक्ष न करके, विभिन्न देहोंमें प्रकटित चैतन्यको एक अखण्ड चित्सत्तारूपमें न समझ सकनेके कारण उसको विभिन्न आधारमें विभिन्न रूपमें देखता है। क्षुद्रसे भी क्षुद्र जीवमें, यहाँ तक कि परमाणुके भीतर भी वही एक भगवत्सत्ता विद्यमान है, इसको वह नहीं समझ पाता। दुग्धमें घृत है, यह साधारण दृष्टिमें नहीं आता, परन्तु दुग्धको मन्थन करने पर उसके भीतर नवनीत आभासित हो उठता है—इसी प्रकार साधनारूपी मन्थन-कार्यमें जो अभ्यस्त हैं, वे देहादिसे पृथक् उस ज्योतिःस्वरूप आत्माको देख पाते हैं। वह आत्मा सदा ही सबके शरीरके भीतर रहता है, परन्तु आवरण और विक्षेपरूपी मायाशक्तिके द्वारा आच्छादित होनेके कारण उसका स्वरूप सदा बोधगम्य नहीं होता। केवल ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारपर उस चैतन्यका प्रकाश कुछ-कुछ अनुभूत होता है। साधारणतः देहीकी देहके भीतर वह ब्रह्म आवृत ही रहता है। साधनाके द्वारा वह आवरण उन्मुक्त करना पड़ता है। परन्तु किसी-किसी देहमें ब्रह्म अनावृत रहते हैं, आवरणमुक्त अवस्थामें रहते हैं। ये ही अवतारी पुरुष आजन्म सिद्ध या जीवन्मुक्त पुरुषके नामसे पुकारे जाते हैं। इनको भी अज्ञानान्ध जीव नहीं जान सकते। जिस प्रकार श्रीकृष्णको कंस, शिशुपाल, दुर्योधन आदि नहीं समझ सके थे। पाण्डव-सभामें श्रीकृष्णको बुरा-भला कहते देखकर ज्ञानवृद्ध योगी भीष्म-पितामहने शिशुपालको लक्ष्य करके कहा था—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥

× × × ×

अयन्तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषसे॥

—महाभारत, सभापर्व, ३८ अ०।

इस कृष्णसे ही लोकोंकी उत्पत्ति है। यह चराचर विश्व श्रीकृष्णकृत है। यह अल्पबुद्धि शिशुपाल इनको नहीं पहचान सका है, इसीसे सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्णको इस प्रकार बुरा-भला कहता है॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अन्वय—अहं (मैं) सर्वस्य (सबके लिए) न प्रकाशः (प्रकट नहीं हूँ) [क्योंकि] योगमाया-समावृतः (योगमाया द्वारा समाच्छादित हूँ) [इसी कारण] मूढः लोकः (मोहग्रस्त लोग) अयं (यह) अजं (जन्मरहित) अव्ययं (क्षयशून्य) मां (मुझको) न अभिजानाति (नहीं जान सकते) ॥ २५ ॥

श्रीधर—तेषां स्वाज्ञाने हेतुमाह—नाहमिति । सर्वस्य लोकस्य नाहं प्रकाशः प्रकटो न भवामि । किन्तु मद्भक्तानामेव । यतो योगमायया समावृतः योगो युक्तिर्मदीयः कोऽप्यचिन्त्यः प्रज्ञाविलासः स एव मायाऽघटमानघटनापटीयस्त्वात् । तया संछन्नः । अतएव मत्स्वरूपज्ञाने मूढः सन्नयं लोकोऽजमव्ययं च मां न जानातीति ॥२५॥

अनुवाद—[उनके आत्मज्ञानके अभावका कारण बतलाते हैं]—सब लोगोंके सामने मैं प्रकट नहीं होता, परन्तु मद्भक्तोंके सामने प्रकट होता हूँ। क्योंकि मैं योगमायाके द्वारा समावृत रहता हूँ, इसी कारण लोग मेरे स्वरूपज्ञानसे मूढ़ होकर, मैं अज और अव्यय हूँ—यह नहीं जान पाते। योगमाया = योग अर्थात् भगवान्‌का अचिन्त्य प्रज्ञाविलासरूप सङ्कल्प जिसे अघटन-घटन-पटीयसी होनेके कारण उनकी माया भी कहते हैं। इसी अवस्थामें गुणोंका योग या संघटन होता है।

[योगो गुणानां युक्तिः घटनं सैव माया योगमाया—सत्त्व, रजः और तमः इस गुणत्रयका योग ही यहाँ योग शब्दका अर्थ है, वह योग ही माया है—शङ्कराचार्य। भगवतो यः सङ्कल्पः स एव योगः तद्वशवर्त्तिनी या माया योगमाया—मधुसूदन]॥ २५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं सबके सामने प्रकट नहीं हूँ; क्योंकि अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक सबकी दृष्टि रहती है—उससे ही आवृत होती है—इस कारण वे मूढ़ हैं, अतएव आत्मामें न रहकर मुझको नहीं जानते। मेरा—जन्म भी नहीं है, नाश भी नहीं है—वह यही क्रियाकी परावस्था है—जो कब हुआ और कब गया कुछ भी पता नहीं मिलता।—भगवान्‌को या परमात्माको सभी जान सकते और समझ सकते थे, परन्तु कोई समझ नहीं पाता—क्यों? क्योंकि जीवकी साधारणतः अन्य वस्तुमें आसक्ति होती है, इससे उसका ज्ञान समाच्छादित होता है। इस ज्ञानके आवरणको भेद कर सकते हैं ज्ञानीजन, अज्ञानी नहीं भेद कर सकते। इसी कारण वह उनके चिर-स्थिर नित्यस्वरूपको नहीं समझ पाते। क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होने पर समझमें आ जाता है कि किस प्रकार इस जन्म-मृत्यु-रहित आत्माका देहके साथ सङ्ग होनेसे अर्थात् देहमें आत्मबोध होनेसे जन्म-मृत्युका वारंवार संघटन होता है। क्रियाकी परावस्थामें जब चित्तकी शुद्धि या निरोध होता है तभी परात्पर आत्मस्वरूपका प्रकाश होता है, वही सत्य जन्ममृत्युरहित अवस्था है। वह 'अदृष्टं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं, आत्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवमद्वैतम्' हैं। वह ज्ञानेन्द्रियके द्वारा ग्राह्य नहीं, कर्मेन्द्रियके द्वारा भी अग्राह्य है, व्यवहारके अयोग्य है, ऐसा कोई चिह्न नहीं है जिसके द्वारा वह समझमें आवे! वह

अचिन्त्य है—मन उनका मनन नहीं कर सकता। आत्मप्रत्यय अर्थात् निजबोधरूप है—किसीके समझाने पर नहीं समझा जाता, अपने आप समझना पड़ता है। वह प्रपञ्चोपशम अर्थात् क्षित्यादिभूतमय उपाधिसे शून्य है। वह शान्त है अर्थात् इन्द्रियाँ जब विषय-ग्रहण नहीं करतीं उसी अवस्थामें उपलब्ध होने योग्य है। वह द्वैतभावरहित है, अतः जन्ममृत्यु आदि अमङ्गलसे शून्य शिवस्वरूप है। साधनाके द्वारा यह अवस्था प्राप्त होने पर गुणोंका आवरण नहीं रहता, अतएव शरीरादिमें अभिमान भी नहीं रहता। गुणसंयोग छिन्न होने पर उसके साथ माया भी अदृश्य हो जाती है। जीव शरीरस्थ होकर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके योगसे गुणाच्छादित-सा प्रतीत होता है। साधनाके द्वारा गुणातीत हो जाने पर अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके परे जाने पर गुणत्रय उसे विड़म्बित नहीं कर सकते। गुणत्रयके द्वारा जीवोंकी दृष्टि बहिर्मुख हो जानेके कारण बद्धजीवका लक्ष्य गुण और उनके कार्योंकी ओर ही होता है। इसी कारण उसके सामने गुणातीत भाव सदा समाच्छादित होता है। ये सारे मोहविड़म्बनामें पड़े हुए जीव मूढ़ हैं, क्योंकि उनको वेदोज्ज्वला बुद्धि या प्रज्ञानेत्र प्राप्त नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें जो असीम स्थिर भाव है; विषय-विमूढ़, चञ्चल चित्त उस स्थिरताकी कुछ भी धारणा नहीं कर सकता ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहं (मैं) समतीतानि (भूत) वर्तमानानि च (और वर्तमान) भविष्याणि च (और भविष्यत) भूतानि (स्थावरजङ्गमादि सारे भूतोंको) वेद (जानता हूँ), तु (परन्तु) कश्चन (कोई भी) मां (मुझको) न वेद (नहीं जानता) ॥२६॥

श्रीधर—सर्वोत्तमं मत्स्वरूपमजानन्त इत्युक्तं। तदेव स्वस्य सर्वोत्तमत्वमनावृतज्ञान-शक्तित्वेन दर्शयन्नन्येषामज्ञानमाह—वेदाहमिति। समतीतानि विनष्टानि, वर्तमानानि च, भविष्याणि भावीनि च, त्रिकालवर्त्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाण्यहं वेद जानामि। मायाश्रयत्वान्मम। तस्याः स्वाश्रयव्यमोहकत्वाभावादिति प्रसिद्धम्। मां तु कोऽपि न वेत्ति मन्मायामोहितत्वात्। प्रसिद्धं हि लोके मायायाः स्वाश्रयाधीनत्वमन्यमोहकत्वं चेति ॥२६॥

अनुवाद—[मेरे सर्वोत्तम स्वरूपको अज्ञ लोग नहीं जान सकते, यह कहा जा चुका है, पश्चात् अपना सर्वोत्तमत्व अनावृत-ज्ञान-शक्तित्व निर्देश करके अन्यान्य लोगोंके अज्ञानके विषयमें कह रहे हैं]—हे अर्जुन! अतीत, वर्तमान और भविष्यत्, इन तीनों कालोंके समस्त स्थावर-जङ्गमादि भूतसमूहको मैं जानता हूँ। मैं मायाका आश्रय हूँ। माया अपने आश्रयको आप मोहित नहीं कर सकती, यह प्रसिद्ध है। परन्तु मुझको कोई नहीं जानता क्योंकि वे मेरी मायासे मोहित हैं। यह लोक-प्रसिद्ध है कि माया अपने आश्रयके अधीन है, परन्तु दूसरोंके लिए मोहोत्पादक है।

["नासौ योगमाया मदीया सती ममेश्वरस्य मायाविनो ज्ञानं प्रतिबध्नाति—मायावी ईश्वर मैं हूँ, मेरी माया मेरे ज्ञानको आवृत नहीं कर सकती अर्थात् जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी विद्याके द्वारा दर्शकोंको मोहित करता है, परन्तु इन्द्रजाल द्वारा स्वयं वह मुग्ध नहीं होता"— शङ्कराचार्य ।] ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब कुछ जानता हूँ—वह तो जानेंगे ही क्योंकि सब ब्रह्म है—परन्तु ब्रह्मको ब्रह्म हुए बिना नहीं जान सकता। —सीमाबद्ध काल अस्थिर और चञ्चल है, इसीसे उसमें तीन कालोंका बोध होता है। महाकाल अचञ्चल स्थिर-स्वभाव है अतएव उसमें त्रिकाल नहीं है। योगीन्द्र पुरुष जिन्होंने कालपर विजय प्राप्त किया है, उनके सामने सब कुछ वर्तमानके समान जान पड़ता है। इस प्रकारके कालजयी पुरुष ही सर्वज्ञ हैं, और कालाधीन जीव चाहे कितना ही बड़ा पण्डित क्यों न हो, फिर भी वह अल्पज्ञ है। जब कालके भीतर ही भेद रहता है तो कालाधीन वस्तुके भीतर भेद रहेगा ही। कालमें भेद होनेके कारण ही जन्म-मृत्यु-स्थितिका बोध होता है। इस प्रकारका बोध ही अज्ञान है। परन्तु क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें पहुँचने पर साधकको सब कुछ ब्रह्ममय बोध होता है। अतएव उसके सामने कालशक्ति रुद्ध हो जाती है। ब्रह्म कालातीत है। देहधर्मादिमें दृष्टि रखकर कोई कालातीत नहीं हो सकता, अतएव ब्रह्मको नहीं जान सकता। ब्रह्मको जाननेके लिए कालातीत ब्रह्मस्वरूप होना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म ही ब्रह्मको जान सकते हैं। अन्य सगुणाधिकार चाहे कितना भी ऊँचा क्यों न हो तथापि उससे ब्रह्मको नहीं जान सकते। तुलसीदासने कहा है— × × "बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। अउर तुम्हहिं को जाननिहारा॥ × × जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥" विधि, हरि, शंभुको भी तुम नचाते हो, वे भी तुम्हारा मर्म नहीं जानते, अतः दूसरा कौन तुमको समझ सकेगा ? तुम्हारी कृपासे जीव तुमको जान सकता है, और जो जानता है वह फिर वह नहीं रह जाता, 'तुम' हो जाता है। अभिप्राय यह है कि नामरूपविशिष्ट कोई भी नामरूपातीत वस्तुको नहीं जान सकता। क्योंकि बोधके द्वार जो इन्द्रियाँ हैं उनसे भी वह परे हैं। उनको जाननेका एकमात्र उपाय है, वही बन जाना, नामरूप-विवर्जित अवस्थाको प्राप्त करना। एकमात्र क्रियाकी परावस्थामें ही इस नामरूप-विवर्जित कालातीत अवस्थाका साक्षात्कार होता है, अतएव जो उसको प्राप्त नहीं करता, वह असमाहितचित्त व्यक्ति इन्द्रियोंके लिए अग्राह्य आत्मस्वरूपकी धारणा किस प्रकार कर सकेगा ? ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

अन्वय—परन्तप भारत (हे परन्तप भारत !) सर्गे (सृष्टिकालमें अर्था स्थूल देह उत्पन्न होने पर) इच्छाद्वेषसमुत्थेन (अनुकूल विषय प्राप्तिमें इच्छा और प्रतिकूल विषयमें द्वेष उत्पन्न होता है, इन दोनोंसे समुत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (शीतोष्ण,

सुख-दुःखादि द्वन्द्व-जनित मोहके द्वारा) सर्वभूतानि (सारे प्राणी) संमोहं यान्ति (सम्यक् मोहाभिभूत होते हैं) ॥ २७ ॥

श्रीधर—तदेवं मायाविषयत्वेन जीवानां परमेश्वराज्ञानमुक्तम् । तस्यैवाज्ञानस्य दृढत्वे कारणमाह—इच्छेति । सृज्यत इति सर्गः, सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां तदनुकूल इच्छा तत्प्रतिकूले च द्वेषः । ताभ्यां समुत्थः समुद्भूतो यः शीतोष्ण-सुखदुःखादि-द्वन्द्व-निमित्तो मोहो विवेकभ्रंशः । तेन सर्वाणि भूतानि संमोहं यान्ति—अहमेव सुखी दुःखी चेति गाढतरमभिनिवेशं आप्नुवन्ति । अतस्तानि मज्ज्ञानाभावान्मां न भजन्तीति भावः ॥२७॥

अनुवाद—[मायाके कारण जीवको भगवत्-ज्ञान नहीं होता, यह कहा जा चुका है । इस अज्ञानकी दृढ़ताका कारण दिखला रहे हैं]—हे परन्तप भारत ! स्थूल देहोत्पत्तिके समय अर्थात् जन्मकालमें देहके अनुकूल विषयमें इच्छा और प्रतिकूल विषयमें द्वेष उत्पन्न होता है (पूर्व संस्कारोंके कारण) और उससे शीतोष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्व समुद्भूत होते हैं, उनके कारण विवेकभ्रंश होता है । उससे सारे जीव संमोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् मैं सुखी या दुःखी हूँ इत्यादि गाढ़तर अभिनिवेश प्राप्त होते हैं (अर्थात् इस प्रकार अभिमानयुक्त होकर मोहित होते हैं) । अतएव मद्विषयक ज्ञानके अभावमें वे मेरा भजन नहीं करते ॥ २७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छा करता है—हिंसा करता है—संशय करता है—मोह करता है—सबको सुखकी इच्छा होती है ।—स्थूल देहके उत्पन्न होते ही जीवके पूर्व संस्कारोंके कारण अनुकूल विषयमें इच्छा और प्रतिकूल विषयमें द्वेष उत्पन्न होता है । उससे फिर शीतोष्ण और सुख-दुःखादि द्वन्द्व समुत्थित होकर मैं सुखी, मैं दुःखी—इस प्रकारक भाव जीवको मोहित कर देते हैं । वह दुःखसे परित्राण पानेके लिए काल्पनिक सुखके पीछे दौड़ता फिरता है और उस सुखमें किसीके द्वारा बाधा उत्पन्न करने पर या दूसरेको उस सुखका भोग करते हुए देखकर उसकी हिंसा करता है; जगत्के सारे सुखोंको अपने अधीन करनेके लिए समुत्सुक होता है । इससे आत्मविषयक प्रज्ञा आच्छादित होती है अर्थात् शीतातप, क्षुत्पिपासासे व्याकुल होकर देहरक्षार्थ वह कर्मादिमें आबद्ध हो जाता है, और मैं सुखी, मैं दुःखी—इत्यादि बोधकी ताड़नासे दिनरात व्याकुल रहता है, आत्मदर्शनकी स्पृहा तक मनमें उदय नहीं होती । यह जो अनात्मविषयमें आत्मबोध होता है—इसके द्वारा ही आत्मबोध आच्छादित होता है । जितना ही आत्मसम्बन्धी ज्ञान आवृत होता है उतना ही अज्ञान गंभीरसे गंभीरतर होता जाता है, अन्तःकरणसे भगवत्स्मृति उतनी ही दूर भाग जाती है, इसीसे वे भगवान्का भजन नहीं करते ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वय—तु (किन्तु) येषां (जिन) पुण्यकर्मणां (पुण्याचरणशील) जनानां (लोगोंका) पापं (पाप) अन्तगतं (नष्ट या क्षीण हो गया है) ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः

(सुख-दुःखादि द्वन्द्वजनित मोहसे शून्य वे लोग) दृढव्रताः (दृढव्रत होकर अर्था एकान्त चित्तसे) मां भजन्ते (मेरा भजन करते हैं) ।।२८।।

श्रीधर—कुतस्तर्हि केचन त्वां भजन्तो दृश्यन्ते ? तत्राह—येषामिति। येषां तु पुण्याचरणशीलानां सर्वप्रतिबन्धकं पापमन्तगतं नष्टं ते द्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन निर्मुक्ता दृढव्रता एकान्तिनः सन्तो मां भजन्ते ।।२८।।

अनुवाद—[तब क्यों कोई-कोई तुम्हारा भजन करते देखे जाते हैं ? इसके उत्तरमें कहते हैं]—परन्तु जिन पुण्याचरणशील लोगोंके सारे प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वनिमित्त मोहसे निर्मुक्त होकर ऐकान्तिक भावसे मुझको भजते हैं ।। २८ ।।

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसकी आसक्तिपूर्वक दूसरी ओर दृष्टि नहीं होती, इस कारण वह आत्मामें रहता है—शुभ कर्म अर्थात् क्रिया करता है। वह दुविधा और मोहसे निःशेषरूपसे मुक्त होकर अविनाशीके परे अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें स्थित होता है।—किनको निःशेषरूपसे क्रियाकी परा स्थिति अर्थात् क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होती है ?—जो लोग पुण्यकर्मा अर्थात् जो लोग अच्छी तरह क्रिया करते हैं। वे ही क्रियाका फल प्राप्त करते हैं अर्थात् उनकी अन्य किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं रहती। क्रिया करनेमें आनन्द मिलता है, इसी लिए क्रिया करते हैं। दूसरे जो सहज कर्म हैं, उनको करने पर संभवतः विषयसुखकी प्राप्ति होती, परन्तु उनमें उनका मन नहीं जाता। क्योंकि उन सब सुखोंकी प्राप्तिसे मनकी ज्वाला नहीं मिटती। क्रियाकी परावस्थामें ही मनकी ज्वाला मिटती है। इसीसे ऐकान्तिक चित्तसे वे क्रिया करते हैं। क्रिया करके जब कुछ-कुछ क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त करते हैं, तब फिर क्रियामें सन्देह नहीं रह जाता, विषयका मोह भी कट जाता है। तब वह प्राण-पनसे भजन करते हैं। क्रियाको पुण्य कर्म क्यों कहा गया है ?—क्योंकि अन्य सभी कर्मोंमें ताप होता है, परन्तु क्रिया करनेसे शरीरका ताप और अन्तर्ग्लानि सब नष्ट हो जाते हैं। शरीर और मनका ताप नष्ट हो जाने पर शरीर और मनमें दिव्य तेजका सञ्चार होता है। इस दिव्य तेजके सञ्चारमात्रसे अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। तब इन्द्रियोंकी विषयप्राप्ति या अप्राप्तिसे सुख-दुःखका कोई अनुभव नहीं होता, अतएव विषयके प्रति चित्तका खिंचाव नहीं रह जाता, विषयके प्रति खिंचाव न रहने पर साधनाका विघ्न नष्ट हो जाता है। अतः तब दृढव्रत होकर अर्थात् एकान्त चित्तसे भगवद्भजन हो सकता है और इस प्रकारके भजनसे ही क्रियाकी परावस्थामें दृढस्थिति लाभ होती है। यह दृढस्थिति प्राप्त होते न होते यदि किसीका देहपात होता है तो पूर्वजन्मकी इस सुकृतिके वश उसका द्वन्द्वजनित मोह क्षीण हो जाता है। वह संशयहीन साधक तब अन्य किसी वस्तुकी ओर न देखकर आत्मोपासनाको ही अपना एकमात्र भजनीय मानता है। इस प्रकारके दृढव्रत साधक ही मुक्तिपद-प्राप्तिके अधिकारी माने जाते हैं ।। २८ ।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२६॥

अन्वय—ये (जो लोग) जरामरणमोक्षाय (जरा-मृत्युसे मुक्तिके लिए) मां (मुझको) आश्रित्य (आश्रय करके अर्थात् आत्मामें समाहितचित्त होकर) यतन्ति (प्रयत्न करते हैं) ते (वे) तद्ब्रह्म (उस सनातन ब्रह्मको) कृत्स्नं (समस्त) अध्यात्मं (प्रत्यगात्मा अर्थात् देहादिव्यतिरिक्त शुद्ध आत्माको) अखिलं कर्म च (तत्साधनभूत सरहस्य कर्मको भी) विदुः (जानते हैं) ॥२६॥

श्रीधर—एवं च मां भजन्तः ते सर्वे विज्ञेयं विज्ञाय कृतार्था भवन्तीत्याह—जरेति। जरामरणयोर्मोक्षाय निरसनार्थं मामाश्रित्य ये प्रयतन्ते ते तत् परं ब्रह्म विदुः। कृत्स्नमध्यात्मं च विदुः। येन तत् प्राप्तव्यं ते देहादिव्यतिरिक्तं शुद्धमात्मानं च जानन्तीत्यर्थः। तत्साधन-भूतमखिलं सरहस्यं कर्म च जानन्तीत्यर्थः ॥२६॥

अनुवाद—[इस प्रकार जो मेरा भजन करते हैं, वे भक्तगण समस्त विज्ञेय पदार्थोंको जानकर कृतार्थ होते हैं। इस विषयमें कहते हैं]—जरामरणसे मुक्ति पानेके लिए मेरा आश्रय करके जो प्रयत्न करते हैं वे उस परब्रह्मको तथा समस्त अध्यात्मको जान सकते हैं। जिसके द्वारा परब्रह्म प्राप्त हो जाते हैं उस प्राप्तिके उपायस्वरूप देहादिव्यतिरिक्त शुद्ध आत्माको वे जान सकते हैं तथा उसके साधनभूत सरहस्य अखिल कर्मोंको भी जान पाते हैं ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अध्यात्म कर्म क्रिया करने पर मेरे आश्रित होकर जरामरणसे मुक्त होता है—ब्रह्ममें रहते हुए।—देह प्राप्त करके देहीकी परम सङ्कटावस्था होती है—जरा और मरण। सुन्दर बलिष्ठ देह जरामें जीर्ण होती जाती है। आज जो परम सुन्दर दीख पड़ता है, कल वह श्रीभ्रष्ट और कुरूप हो जाता है। कालके वशीभूत जीव कालके द्वारा सदा परिवर्तित होते रहते हैं, यही प्राकृतिक नियम है। भोगसुखमें आसक्त जीव कालकृत इन सब परिवर्तनोंको पसन्द नहीं करता। वह सर्वदा रूपमें, रसमें, भोगमें, डूबा रहना चाहता है, परन्तु जीवकी यह वासना कदापि पूर्ण नहीं होती, भोग करते-करते, आशा पूरी होते न होते जीवन समाप्त हो जाता है। मनकी आशा मनमें ही रह जाती है, विवश होकर उसे किसी अज्ञात आवासमें चला जाना पड़ता है, जिस स्थानसे फिर उसका कोई समाचार पानेकी संभावना नहीं रहती। जरा-मरणके इस दुर्दम्य प्रतापसे जीव निरन्तर सन्त्रस्त, विचलित और क्षुब्ध रहता है। जरा-मरणके इस पंजेसे त्राण तो सभी पाना चाहते हैं, परन्तु इनसे निष्कृति पानेका उपाय नहीं जानते। विषय-विमुख चित्तसे अनन्य-शरण होकर भगवान्का आश्रय लिया जाय तो काल-भय दूर हो सकता है। अध्यात्म कर्मके द्वारा जब क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है तभी जीव अनन्य-शरण होता है, यही भगवदाश्रय कहलाता है। देहके साथ ही जरा-मरण नित्य-संयुक्त रहते हैं। जो क्रियाकी परावस्थामें आत्माके साथ संयुक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्ममें अटल स्थिति प्राप्त करते हैं और जरा-मरणके पंजेसे निष्कृति पा जाते हैं। आत्मदेवका भजन या आत्मोपासना करना

ही उनका आश्रय ग्रहण करना है। इस प्रकार आश्रय ग्रहण करने पर चित्त शुद्ध हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है और कूटस्थ-ज्योतिका प्रकाश दिखलायी देता है। फिर वे साधक समझ पाते हैं कि उनके भीतर जो अध्यात्म या कूटस्थ रहता है, वह परब्रह्मके साथ एक और अभिन्न है। यह समझमें आते ही जरा-मृत्युके प्रभावसे रक्षा मिल सकेगी तथा जिस अध्यात्म कर्मके द्वारा आत्मसाक्षात्कार किया जाता है उस अध्यात्म कर्मका रहस्य भी समझमें आ जायगा ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

अन्वय—ये च (और जो) साधिभूताधिदैवं (अधिभूत और अधिदैवके साथ) साधियज्ञं च (तथा अधियज्ञके साथ) मां (मुझको) विदुः (जानते हैं) ते युक्तचेतसः (वे समाहितचित्त वाले लोग) प्रयाणकाले अपि (मृत्युके समय भी) मां विदुः (मुझको जानते हैं अर्थात् मुझको भूलते नहीं) ॥३०॥

श्रीधर—न चैवं भूतानां योगभ्रंशशङ्काऽपीत्याह—साधिभूतेति। अधिभूतादिशब्दानामर्थं श्रीभगवानेवोत्तराध्याये व्याख्यास्यति। अधिभूतेनाधिदैवेन च सहाधियज्ञेन च सह मां ये जानन्ति ते युक्तचेतसो मय्यासक्तमनसः प्रयाणकालेऽपि मरणसमयेऽपि मां विदुर्जानन्ति। न तु तदापि व्याकुलीभूय मां विस्मरन्ति। अतो मद्भक्तानां न योगभ्रंशशङ्केति भावः ॥३०॥

कृष्णभक्तैरयत्नेन ब्रह्मज्ञानमवाप्यते।
इति विज्ञानयोगाख्ये सप्तमे संप्रकाशितम् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः।

अनुवाद—[इस प्रकारके लोगोंके योगभ्रंशकी आशङ्का भी नहीं होती, इसी विषयमें कहते हैं। (अधिभूतादि शब्दोंके अर्थकी व्याख्या श्रीभगवान् अगले अध्यायमें करेंगे।)]—जो मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ जानते हैं वे मुझमें आसक्त तथा युक्तचित्त साधक मृत्युके समय भी मुझको जान सकते हैं। उस समय व्याकुल होकर वे मुझको नहीं भूलते। अतएव मेरे भक्तोंके योगभ्रंश होनेकी आशङ्का भी नहीं रहती ॥ ३० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ—इनको मरनेके समय जो जानता है वह मुझमें अटका रहकर—चिद्रूपमें रहकर—ब्रह्मपदको पाता है।—जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ परमात्माको जानते हैं, वे ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। इन शब्दोंकी व्याख्या अगले अध्यायमें की जायगी। मृत्युके समय शरीरकी विविध यातनाओंसे साधरणतः इन्द्रियाँ और मन अभिभूत हो जाते हैं। उस समय दूसरी बातें मनमें नहीं आतीं, केवल चिराभ्यस्त संस्कार चित्तमें हिलोरें मारते रहते हैं। उस

समय जीवको बहुत भय होता है, कभी-कभी वह ज्ञानशून्य भी हो जाता है। तब स्वयं तो भगवत्स्मरण कर नहीं सकता और दूसरोंके स्मरण कराने पर भी वह कानमें प्रवेश नहीं करता। क्योंकि उस समय मन अत्यन्त व्याकुल रहता है और उसकी शक्ति भी वैसी सतेज नहीं होती। परन्तु यदि कोई भाग्यवश साधनामें प्रयत्न करता है और आत्मामें स्थित होनेका अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तो उस समय उसके मनमें अन्य भाव नहीं आ पाते, उसका मन चिद्रूपमें मग्न हो जाता है। मरण-मूर्च्छामें उसका बाह्य ज्ञान विलुप्त होने पर भी अन्तःज्ञान छिन्न नहीं होता। शरीरमें सहस्रों कष्ट होने पर भी मन विवश नहीं होता। आत्मध्यानाभ्यस्त चित्तका आत्मचिन्तन कदापि विस्मृत नहीं होता। अतएव इस प्रकारके साधकके योगभ्रंश होनेकी आशङ्का नहीं होती। पूर्वही मृत्युके लक्षणोंसे अवगत होकर वे मृत्युके लिए प्रस्तुत रहते हैं। योगी किस प्रकार मूलाधारस्थ जीवनी-शक्ति कुलकुण्डलिनीको मेरुमार्गके भीतरसे सहस्रारमें परम पुरुष शिवके साथ मिला देते हैं और इस प्रकार जन्म-मृत्युमार्गमें आने-जानेकी क्रीड़ाको रोक देते हैं—यह अत्यन्त विस्मयजनक व्यापार है। वह सदाही मुक्त होते हैं। उनका प्राण उत्क्रमण नहीं करता—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।" परन्तु जो देहके रहते इतनी दूर अग्रसर नहीं हो सकते, उनके लिए क्रममुक्तिका भी विधान है। भगवान्के जो शरणागत भक्त हैं वे सर्वदा उनके साधन-भजनमें लगे रहते हैं, यदि किसी कारणवश उनके मुक्तिपथमें विघ्न आता है तो जिस प्रकार माता भयातुर और व्यथित शिशुको अपनी गोदमें ले लेती है उसी प्रकार भगवान् साधनमें सदाभ्यस्त साधकको मृत्युके समय दिव्यज्ञान देकर अपने धाममें प्रविष्ट कर लेते हैं—यह उनका भक्त-वात्सल्य है॥ ३०॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका नामक गीताके सातवें अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त॥

अष्टमोऽध्यायः

(अक्षरब्रह्मयोगः)

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा), पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम !) तत् (वह) ब्रह्म किं (ब्रह्म क्या है), अध्यात्मं किं (अध्यात्म क्या है), कर्म किं (कर्म क्या है), अधिभूतं च किं प्रोक्तम् (और अधिभूत किसको कहते हैं), अधिदैवं किमुच्यते (अधिदैव किसे कहते हैं), मधुसूदन (हे मधुसूदन !) अत्र (इस देहमें) अधियज्ञः कः (अधियज्ञ कौन है), अस्मिन् देहे (इस देहमें) कथं (किस प्रकारसे अवस्थित है), प्रयाणकाले च (और मरण-कालमें) नियतात्मभिः (संयतचित्त व्यक्तियोंके द्वारा) कथं (किस प्रकार) ज्ञेयः असि (ज्ञेय हो—अर्थात् किस प्रकार वे तुमको जान सकते हैं ?) ॥१-२॥

श्रीधर—ब्रह्मकर्माधिभूतादि विदुः कृष्णैकचेतसः ।
इत्युक्तं ब्रह्मकर्मादि स्पष्टमष्टम उच्यते ॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवतोपक्षिप्तानां ब्रह्माध्यात्मादिसप्तानां पदार्थानां तत्त्वं जिज्ञासुरर्जुन उवाच—किं तद्ब्रह्मेति द्वाभ्याम् । स्पष्टोऽर्थः ॥१॥ किञ्च—अधियज्ञ इति । अत्र देहे यो यज्ञो निवर्त्तते तस्मिन् कोऽधियज्ञोऽधिष्ठाता ? प्रयोजकः फलदाता च क इत्यर्थः । स्वरूपं पृष्ट्वाऽधिष्ठानप्रकारं पृच्छति—कथं केन प्रकारेणासावस्मिन् देहे स्थितो यज्ञमधितिष्ठतीत्यर्थः । यज्ञग्रहणं सर्वकर्मणामुपलक्षणार्थम् । अन्तकाले च नियतचित्तैः पुरुषैः कथं केनोपायेन ज्ञेयोऽसि ? ॥२॥

अनुवाद—[कृष्णमें एकचित्त भक्तगण यह जानते हैं कि ब्रह्म, कर्म और अधिभूतादि क्या वस्तु हैं—यह पहले कहा जा चुका है । इस अष्टम अध्यायमें ब्रह्म और कर्मादिके विषयमें स्पष्ट रूपसे बतलाते हैं]—[पूर्व अध्यायके अन्तमें भगवदुक्त ब्रह्म, अध्यात्म प्रभृति सप्त पदार्थोंका तत्त्व-जिज्ञासु होकर] अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम, (१) वह ब्रह्म क्या है ? (२) अध्यात्म क्या है ? (३) कर्म क्या है ? (४) अधिभूत किसको कहते हैं ? (५) अधिदैव किसे कहते हैं ? (६) हे मधुसूदन, इस देहमें जो यज्ञ है उसका अधिष्ठाता अर्थात् प्रयोजक तथा फलदाता कौन है ? (७) अधियज्ञके स्वरूपकी जिज्ञासा करके पूछ रहे हैं कि उनका अधिष्ठान किस प्रकारका है

अर्थात् इस देहमें रहकर वह किस प्रकार यज्ञ (कर्म) सम्पन्न करते हैं? सब कर्मोंके उपलक्षणार्थ यहाँ यज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। और (८) अन्तकालमें संयतचित्त पुरुषोंके द्वारा तुम किस प्रकार ज्ञेय बनते हो? ॥१-२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तारक ब्रह्म-योग-वर्णन। शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है:—(१) ब्रह्म, (२) अध्यात्म कर्म, (३) अधिभूत क्या है? अधियज्ञ क्या है? इस देहके भीतर मरनेके समय तुम किस प्रकारसे जाने जाते हो?—पूर्वाध्यायके अन्तमें भगवान्ने कहा है कि जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझको जानते हैं, वे मृत्युकालमें भी मुझको ही जानते हैं। मृत्युकालके दैहिक और मानसिक क्लेश चित्तको इतना अभिभूत करते हैं कि साधारणतः जीव उस समय भगवच्चिन्ता नहीं कर सकता, स्थूल देहके साथ सम्बन्ध छिन्न होनेके समय जीव यन्त्रणासे व्याकुल हो जाता है, वह अपने किये हुए कर्मोंका अनुस्मरण करने लगता है और कर्मसंस्कार भावी देहके गठनके लिए उपादान संग्रह करता है। अतएव यदि पहलेसे भगवत्स्मरणका दृढ़ अभ्यास न हो तो इस दारुण कालमें दूसरा कोई उपाय काम नहीं करता। अतएव पहलेसे ही ब्रह्म, अध्यात्म कर्म और अधिभूतादि विषयोंसे अवगत होने पर परमात्माको साधक नहीं भूलता—यही भगवान्का कथन है। इसी कारण अर्जुनने इसे जाननेके लिए समुत्सुक होकर यह प्रश्न पूछा। तुम सर्वज्ञ और परम कारुणिक हो, अतएव मुझ शरणागतके प्रति कृपा करके ये बातें मुझे समझा कर कहो, यही अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय है। ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान होने पर भी मनुष्यके अन्यान्य ज्ञातव्य विषयोंके समान कोई प्रसिद्ध पदार्थ नहीं है। क्योंकि वह ज्ञातव्य होने पर भी अत्यन्त निगूढ़ और रहस्यमय है, सब आदमी उसे नहीं जान सकते, समझाने पर भी वह सदा समझमें नहीं आता। ब्रह्म सगुण और निर्गुण भेदसे द्विधा विभाजित है, यहाँ (१) कौन ब्रह्म ज्ञेय है, सोपाधिक या निरुपाधिक? (२) इस देहको अवलम्बनकर जो अवस्थित है, उस अध्यात्मका स्वरूप क्या है, वह चेतनरूप है या भौतिक? चक्षु आदि इन्द्रियाँ जड़वत् होती हैं तथापि उनके द्वारा बोध होता है—तो क्या यह जड़-चेतनात्मक शक्ति ही अध्यात्म है? (३) कर्म क्या है, वैदिक यज्ञादि कर्म हैं या लौकिक और शास्त्रीय सारे काम ही कर्म हैं? (४) पृथिव्यादि कार्य अधिभूत हैं या इसके द्वारा कर्ममात्रको लक्ष्य किया गया है? (५) अधिदैव क्या है, क्या इसके द्वारा इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंको लक्ष्य किया गया है? अथवा

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥

आदित्यके अन्तर्गत सब ज्योतियोंमें श्रेष्ठ ज्योति तथा सब भूतोंके हृदयमें जो जीवरूपसे अवस्थित हैं—क्या उनको लक्ष्य करते हो? (६) अधियज्ञ क्या है, वह देवता-विशेष हैं या परब्रह्म? उनको किस प्रकारसे चिन्तन किया जाता है, वह देहके भीतर हैं या बाहर? बुद्धिरूपमें हैं या बुद्धिसे स्वतन्त्र वस्तु? (७) मृत्युकालमें संयतचित्त व्यक्ति तुमको कैसे जान पाता है?

अर्जुनने इन सप्त पदार्थोंके सम्बन्धमें जिज्ञासु होकर भगवान्से प्रश्न किया॥१-२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले), परमं अक्षरं (परम अक्षर ही) ब्रह्म (ब्रह्म हैं), स्वभावः (स्वभाव) अध्यात्मं उच्यते (अध्यात्म कहलाता है), भूतभावोद्भवकरः (भूतानां भावो भूतभावः, तस्योद्भवो भूतभावोद्भवः, तं करोतीति भूतभावोद्भवकरः—सब भूतोंके भावोंकी वृद्धि करनेवाले या पुष्टि करनेवाले हैं और वही) विसर्गः (देवताके उद्देश्यसे त्याग) कर्मसंज्ञितः (कर्म नामसे पुकारे जाते हैं) ॥ ३ ॥

श्रीधर—प्रश्नक्रमेणैवोत्तरं श्रीभगवानुवाच—अक्षरमिति त्रिभिः। न क्षरति न चलतीत्यक्षरम्। ननु जीवोऽप्यक्षरः। तत्राह—परमं यदक्षरं जगतो मूलकारणं तद् ब्रह्म, "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" इति श्रुतेः। स्वस्यैव ब्रह्मणः एवांशतया जीवरूपेण भवनं स्वभावः, स एवात्मानं देहमधिकृत्य भोक्तृत्वेन वर्तमानोऽध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः। भूतानां जरायुजादीनां भाव उत्पत्तिः उद्भवश्च—भवनमुद्भवः।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

इत्युक्तक्रमेण वृद्धि, तौ भूतभावोद्भवौ करोति यः। विसर्गो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपो यज्ञः। सर्वकर्मणामुपलक्षणमेतत्। स च कर्मशब्दवाच्यः॥ ३ ॥

अनुवाद—[प्रश्नक्रमसे तीन श्लोकोंमें उत्तर देते हुए] श्रीभगवान् बोले—[जो वस्तु नष्ट नहीं होती, जिसका चलन या क्षय नहीं होता वही अक्षर है। जीव भी तो अक्षर है, इसीलिए कहते हैं] (१) जो परम अक्षर जगत्का मूल कारण है वही ब्रह्म है। बृहदारण्यक श्रुतिमें लिखा है, "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति।" याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे गार्गि! ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं कि यही वह अक्षर है। (२) 'स्वस्य' अर्थात् ब्रह्मके अंशस्वरूप जीवरूपमें होना या अवस्थिति अर्थात् यह आत्मा जो इस देहको अधिकृत या अवलम्बन करके सुख-दुःखादिके भोक्ताके रूपमें वर्तमान है—उस जीवको ही 'अध्यात्म' कहते हैं। (३) जरायुजादि भूत-समूहकी उत्पत्ति और उनका उत्कर्ष या वृद्धि जो देवोद्देश्यसे त्यागरूप यज्ञके द्वारा होती है, वह वृद्धिक्रम इस प्रकार है—अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह सम्यग् रूपसे आदित्यको प्राप्त होती है, आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है—देवताके उद्देश्यसे त्यागरूप जिस यज्ञके द्वारा द्रव्य निष्पन्न होता है, वह यज्ञ ही 'कर्म' है। यज्ञ सब कर्मोंका उपलक्षण है अर्थात् यज्ञके अर्थमें सारे कर्मोंका बोध होता है।

[अक्षरं=न क्षरतीति अक्षरं परमात्मा। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" इति श्रुतेः। ॐकारस्य च ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्मेति परेण विशेषणात्तद्ग्रहणम्। परममिति च निरतिशये ब्रह्मणि अक्षरे उपपन्नतरं विशेषणम्। तस्यैव परस्य ब्रह्मणः

प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः इति स्वोभावः स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते, आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते"—अक्षर वह है जो विनष्ट नहीं होता अर्थात् परमात्मा। "इस अक्षरके शासनसे, हे गार्गि, चन्द्र-सूर्य विधृत होकर रहते हैं"—यह श्रुति द्वारा भी सिद्ध होता है। यहाँ अक्षर शब्दके द्वारा प्रणवका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि श्लोकोंमें जो अक्षर शब्दका ग्रहण हुआ है, उसमें 'परं' विशेषण नहीं है। 'परम' विशेषणका निरतिशय ब्रह्मरूप अक्षरमें प्रयुक्त होना ही अधिक उपपन्न होता है। प्रति देहमें प्रत्यगात्मभावसे उस परम ब्रह्मकी अवस्थितिको ही स्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव ही 'अध्यात्म' कहलाता है। देहरूप आत्माको अधिकृत करके प्रति पुरुषके आत्मभावमें अवस्थित उस परम ब्रह्मरूप परमार्थ वस्तु पर्यन्त सब पदार्थोंको स्वभाव या अध्यात्म शब्दके द्वारा प्रतिपादन किया गया है—शङ्कराचार्य] ।।३।।

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा प्रकाश होता है :—(१) कूटस्थ अक्षर परब्रह्म, (२) क्रिया करनेका नाम अध्यात्म, अर्थात् (अधि = बुद्धि) आत्मामें बुद्धिको स्थिर रखना, क्रियाके परे त्रिगुणातीत होकर इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना-वर्जित अवरुद्धरूप आश्चर्य निज बोधरूप—इसीका नाम अध्यात्म है।—जिसका क्षरण नहीं है वही अक्षर है। परब्रह्म ही एकमात्र क्षयहीन अविनाशी वस्तु है। मायाका इन्द्रजाल जहाँ निरस्त हो जाता है, वही एकमात्र सत् पदार्थ है। उसका कभी त्रिकालमें भी परिवर्तन नहीं होता। अन्तर-बाह्य करके यदि कुछ है तो जो अन्तर्बाह्य-व्यापी, उत्पत्तिविनाश-वर्जित है वही ब्रह्म या अक्षर पुरुष है। अक्षर शब्दसे जीवका भी बोध होता है, अतएव 'परम' शब्द द्वारा जीवोपाधिरहित परब्रह्म ही यहाँ अभिप्रेत है। परम शब्दका अर्थ शङ्कराचार्यने निरतिशय किया है। यह निरतिशय शब्द केवल ब्रह्मके लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। ब्रह्मके सिवा सब कुछ ससीम है। बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्य गार्गीसे कहते हैं—"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति"—इस अक्षरके प्रशासनमें हे गार्गि ! चन्द्र-सूर्य यथास्थान धृत हो रहे हैं, इसके ही प्रशासनमें द्युलोक और भूलोक अपने-अपने स्थानमें अवस्थित हैं, ब्रह्मज्ञ लोग इस अक्षरके विषयमें ही चर्चा करते रहते हैं। आकाशके ऊपर, पृथिवीके नीचे, तथा इन दोनों लोकोंके मध्यभागमें जो आकाश सर्व-व्याप्त है, उस आकाशको किसने धारण कर रक्खा है ? गार्गीके इस प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा —"स हो वा चैतद्वै तदक्षरं गार्गि"—हे गार्गि, वही यह अक्षर है। इस अक्षरको न जानकर जो इहलोकमें यज्ञादि करते हैं या तपस्यादि कर्म करते हैं—उनके उस यज्ञ या तपस्याजनित कर्मका फल अक्षय नहीं होता, अतएव अक्षर ही परब्रह्म है, यह श्रुतिसम्मत है।

'स्वभाव' और 'अध्यात्म'के सम्बन्धमें शङ्कराचार्यने कहा है—"तस्यैव परस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः—स्वो भावः स्वभावः—अध्यात्ममुच्यते। आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तम्"—उस परब्रह्मका देहरूप आत्माको आश्रय करके प्रत्यगात्मा या जीवके रूपमें प्रवृत्त होना ही अध्यात्म कहलाता है। भोक्ता

जीवके रूपमें 'स्व'का भवन या अवस्थिति ही 'स्वभाव' कहलाता है और उसीका नाम अध्यात्म है। यह अध्यात्म या जीव ब्रह्मका ही स्वरूप है, वह आत्मारूपमें रहकर जब देहको अवलम्बन करके भोक्तारूपमें वर्तमान होते हैं, तभी उनको अध्यात्म कहा जाता है—यही जीवभाव है।

"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः"—यह कर्म विसर्ग है अर्थात् त्याग ही कर्म है, जीवके भीतर जो शक्ति वर्तमान है, उसको स्फुटित कर डालनेका नाम ही कर्म है। यह प्रस्फुटन-कार्य त्यागके बिना नहीं होता। अंग्रेजीमें कहें तो कर्मसे Expenditure of energy का बोध होता है। अपनी शक्तिका व्यय ही कर्म है। शक्ति-व्यय किये बिना हम कोई भी कर्म नहीं कर सकते। अपने लड़केको मनुष्य बनानेके लिए स्वकीय शक्ति व्यय करनी पड़ेगी। एक खेत तैयार करनेमें या एक बाटिका बनानेमें हमें उसमें बहुत शक्ति लगानी पड़ती है। कवि हो या दार्शनिक, वैज्ञानिक हो या साधक—सबको अपने-अपने लक्ष्यके साधनमें शक्ति व्यय करनी पड़ती है—इसको तपस्या भी कहते हैं। इस तपस्याके बिना कोई सांसारिक उन्नति अथवा कोई आध्यात्मिक सम्पद प्राप्त नहीं हो सकती। अपनी धर्मपत्नीसे पुत्रोत्पादन करनेमें भी शक्ति व्यय होती है। परन्तु शास्त्र शक्तिके सभी प्रकारके व्ययको कर्म नहीं मानता। "देवतोद्देशेन परित्यागः, स एषः विसर्ग-लक्षणो यज्ञः कर्मसंज्ञितः"—देवताके उद्देश्यसे परित्याग करना—इस लक्षणसे युक्त त्याग ही कर्म कहलाता है। भूतभाव शब्दसे जीवकी उत्पत्ति तथा जीवके भीतरके सारे भावोंका बोध होता है। दोनोंमें सृष्टि-क्रिया वर्तमान है। सृष्टिका अर्थ ही भावका विकास है। जगत्पिताके अन्तःकरणमें जो भावरूपमें विद्यमान है, उसके विकास-साधनकी चेष्टाका नाम ही ऐश्वरिक कर्म है। तथा मनुष्यके अन्तःकरणमें जो नाना प्रकारसे अस्फुटित भावसमूह प्रसुप्त अवस्थामें वर्तमान हैं उनका स्फुटित करना ही जीवका कर्म है, परन्तु केवल भावको स्फुटित करनेमात्रसे ही कर्म नहीं होता। जो त्याग जीवके भावका विकासक है तथा जो देवोद्देशसे या विष्णुप्रीत्यर्थ है, शास्त्र उसको ही कर्म कहता है। मान लो मैंने बहुत क्लेश उठाकर, बहुत परिश्रम या शक्ति-व्यय करके अर्थ उपार्जन किया, उससे मेरी शक्तिका व्यय हुआ, इसलिए वह एक प्रकारका कर्म तो हुआ, परन्तु तबतक उसको कर्म नहीं कहेंगे यदि उसके मूलमें यह उद्देश्य न हो कि उस कर्मके द्वारा प्राप्त धन पर-दुःख-मोचन करनेमें व्यय होगा। विष्णु सर्वभूतमें स्थित है, इस प्रकारके त्यागके द्वारा ही सर्वभूतस्थ विष्णुका प्रीति-साधन होता है। यही वस्तुतः देवोद्देशमें त्यागरूप यज्ञ है। मान लो मेरी देहमें बल है। उसको भी मैंने शक्ति व्यय करके, चेष्टा करके उपार्जन किया है, अब इस बलके द्वारा मैं दूसरोंको पीड़ित कर सकता हूँ, परन्तु उसको कर्म न कहकर अकर्म कहेंगे, यदि वह बल विपन्नकी विपद दूर करनेमें प्रयुक्त होता है तो देवोद्देश-त्यागरूप यज्ञमें परिणत हो जायगा। इसी प्रकार मैंने बहुत परिश्रम करके विद्या सीखी है, वह विद्या यदि दूसरोंके अज्ञानान्धकारको दूर न करके केवल अपने स्वार्थ-साधनमें लगती है तो उसको फिर कर्म न कहेंगे। तपस्वी या साधककी तपस्या या साधनाके द्वारा यदि

केवल कुछ आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्राप्त करना ही साधनाका हेतु हो तो वह दैवभावापन्न न होकर आसुरभावापन्न हो जाती है और उसमें जगत्के जीवोंके ऊपर केवल अपना कर्तृत्व स्थापनकी ही प्रचेष्टा होती है, ऐसी अवस्थामें समझना चाहिए कि वह साधना और शक्ति निष्फल हो गयी है, उससे केवल अकर्म ही सिद्ध हुआ है। क्योंकि वह 'जगद्धिताय कृष्णाय' समर्पित नहीं हुआ। इसी प्रकार "पुत्रार्थे क्रियते भार्या" पुत्रके लिए अपनी भार्याका सहवास करना चाहिए, उसमें भी शक्तिका व्यय होगा, परन्तु यदि इसमें केवल इन्द्रियचरितार्थता-मात्र होती है तो वह अकर्म और अधर्म हो जायगा—कर्म या धर्म न होगा। अन्यथा धर्मको लक्ष्य करके जीव-प्रवाहके लिए जो प्रवृत्ति है वह अतिशय कर्त्तव्य कर्म है। इस कर्त्तव्यके लिए सभी मनुष्य जगत्के सामने ऋणी हैं। इस जीवसे ही व्यास, वसिष्ठ, नारद, शुक, ध्रुव, प्रह्लाद, नल, युधिष्ठिर, द्रौपदी, दमयन्ती, सीता, सावित्री, बुद्ध, शङ्कर, चैतन्य, अद्वैत आदि मनीषी उद्भूत हुए हैं। इस प्रकारके जगत-पावन जीवोंका जन्म जगत्के कल्याणके लिए ही होता है। जो इस लक्ष्यको नहीं देख पाते, समझना चाहिए कि उनकी शक्तिका अपव्यय हुआ तथा उनका कर्म अकर्मरूपमें परिणत हुआ और वह केवल पाशविक चेष्टामें ही पर्यवसित हो गया।

यह तो साधारण भावकी बात हुई, अब साधनाकी बात कुछ कहता हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण ही कूटस्थ चैतन्य हैं। उनको हृषीकेश कहते हैं, क्योंकि उनके कूटस्थ चैतन्य होनेके कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यमें नियन्त्रित होती हैं। यही कर्त्ता या अधियज्ञ पुरुष हैं, यही कूटस्थ चैतन्य सब भूतोंमें प्रविष्ट हुए हैं, इसीसे इनका नाम विष्णु है। उनके होनेसे ही यह नामरूपमय जीव और जगत् प्रकाशित हो रहा है। "बहुनात्र किमुक्तेन सर्वं विष्णुमयं जगत्"—अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, सारा जगत् ही विष्णुमय है।

शिवः स्यान्निर्मलो यस्माद्विभुः सर्वगतो यतः।
तारणात् सर्वदुःखानां तारकः परिगीयते॥

सर्वगत होनेके कारण उनको विभु कहते हैं, तथा सब दुःखोंसे त्राण करनेके कारण वह तारक कहलाते हैं। प्रकृतिपटरूपी कूटमें वह नाना रूपोंमें प्रतिबिम्बित होते हैं, नाना रूप धारण करते हैं। प्रकृतिके वक्षःस्थलपर विहार करनेवाले चैतन्य-स्वरूप भगवान्की अवस्थितिके कारण इन्द्रिय, मन, बुद्धि चैतन्ययुक्त होकर प्रकाशित होती हैं। लोहारके निहाईको भी कूट कहते हैं। उसके ऊपर लोहेको पीटकर वे असंख्य रूपोंमें परिणत करते हैं। परन्तु निहाईमें कोई परिवर्तन नहीं होता, तद्रूप अनन्त जीवोंके अनन्त रूप हम देखते हैं, परन्तु उन जीवोंके भीतर कूटस्थ चैतन्य सदा सबका एकरूप होता है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। यही उस सर्वव्यापी विष्णुका परम पद है—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्'—आकाशमें विस्तृत चक्षुके समान उस विष्णुके परम पदका ज्ञानी लोग सदा दर्शन करते हैं। चित्शक्तिके अपूर्व हिरण्मय किरणराशिके भीतर एक कृष्णवर्ण गोलक है। "हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्"—हिरण्मय कोषके भीतर सुनिर्मल ब्रह्मस्वरूप कृष्णवर्णमण्डल कैसी अद्भुत शोभामें प्रस्फुटित हो उठता है! "तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यत्तदात्म-

विदो विदुः"—वह शुभ्र सुनिर्मल ज्योति जिसकी ज्योति है, वही आत्मा है। इस श्यामसुन्दरके सौन्दर्यकी कहीं तुलना नहीं है। दो धनुषको मुँहामुँही एक साथ जोड़ने पर जो आकार बनता है, उसके मध्यमें स्थित कदम्बपुष्पके समान गोलाकार इस गोलोकका साधन-सम्भूत ज्ञान-चक्षुके द्वारा जो दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोकमें, गोलोकमें गमन करते हैं—

कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

जिस साधना द्वारा अपने भीतर इस आत्मस्वरूपका दर्शन होता है, वही साधना अध्यात्मसाधना है। क्योंकि उसी साधनाके द्वारा आत्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब क्रियाकी परावस्थारूपी स्थिर भाव उपलब्ध होता है, यही यथार्थ 'अध्यात्म' है—यही त्रिगुणातीत अवस्था है। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नाके परे भावरूप निजबोधमात्र अवरुद्ध अवस्था यही है। आत्मामें दो ही अवस्थाएँ विद्यमान होती हैं—एक गुणमय भाव और दूसरा गुणातीत भाव। गुणमय भाव ही प्राणका स्पन्दनभाव है, इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाकी मध्यगत अवस्था है। प्राणकी निःस्पन्द अवस्था ही गुणातीत अवस्था है। परन्तु अवरुद्ध रूप इस गुणातीत अवस्थामें पहुँचना हो तो गुणोंके भीतरसे ही होकर जाना पड़ेगा, अर्थात् इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्नाकी सहायतासे ही इन तीनोंसे परेकी अवस्था प्राप्त होगी। इसको ही उपनिषदमें 'त्रिणाचिकेत' अग्निकी उपासना कही गई है। कठोपनिषदमें है—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मयज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ १-१-१७

त्रिभिः (इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना—इन तीनोंकी) सन्धिं (मिलन-अवस्थाको) एत्य (प्राप्त कर) त्रिणाचिकेतः (इस सूर्य-चन्द्र-अग्नि अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाकी अर्चना रूपी) त्रिकर्मकृत् (तीन कर्मोंको जो करते हैं अर्थात् इस त्रिधारामें जो साधन करते हैं) जन्म-मृत्यू तरति (वह जन्म और मृत्युको अतिक्रम करते हैं)। ब्रह्मयज्ञं देवं (ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न सारे ज्योतिर्मय प्रकाशको) ईड्य (पूजनीय) विदित्वा (जानकर) निचाय्य (वही आत्मा है—इस प्रकार आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करके) इमां अत्यन्तं शान्तिं (इस निरतिशय शान्तिको) एति (प्राप्त करते हैं)।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १-१-१८

यः त्रिणाचिकेतः (इन तीनों अग्नियोंकी उपासना करनेवाले) एतत् त्रयं (इन तीनों अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्नाको) विदित्वा (जानकर) एवं नाचिकेतं (इस

प्रकार अर्थात् इन तीनोंके ज्ञानके द्वारा केवल एक नाचिकेतमात्र अग्निको) चिनुते (ध्यान करते हैं अर्थात् इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना इन तीनोंमें प्रधान सुषुम्नाका जो ध्यान करते हैं) सः (वह) पुरतः (देहपातके पूर्व ही) मृत्युपाशान् (वारंवार जन्म-मरण-रूप पाशको) प्रणोद्य (छिन्न करके) शोकातिगः (शोकसे अतीत अवस्था प्राप्तकर) स्वर्गलोके (स्वर्गमें अर्थात् सहस्रारमें) मोदते (परमानन्द अनुभव करते हैं)। [इष्टक और बाह्य अग्निचयनके द्वारा कोई शोकातिग अवस्थाप्राप्त नहीं कर सकता।]

जीवके लिए सर्वश्रेष्ठ श्रेयःसाधन वह है जिसके द्वारा परमात्माके साथ आत्माका मिलन प्राप्त होता है। अतएव ऐसे ही कर्मको अध्यात्म कर्म कहते हैं जिसमें अन्यान्य वासनाओंकी तरङ्गें अवरुद्ध हो जाती हैं और केवल ब्रह्मवासना स्फुरित होती है। अतएव जिस कर्मके द्वारा हम ब्रह्मसंमिलनरूप सुख लाभ कर सकते हैं वही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ अध्यात्म कर्म है। वह अध्यात्म कर्म क्या है— चैतन्यकी जीवावस्था ही 'भूतभाव' कहलाती है अर्थात् जो प्राण स्थिर और अचञ्चल था, वह जब चञ्चल होता है तभी जीवभाव व्यक्त होता है। जीवभाव व्यक्त होने पर प्राण बहिर्मुखी होकर श्वास-प्रश्वासरूपी कर्मको उत्पन्न करता है। इस श्वास-प्रश्वाससे ही सृष्टि, स्थिति और पोषणका कार्य होता है तथा संसार-प्रवाह चलने लगता है। वह प्रवाह फिर कदापि रुकना नहीं चाहता। पश्चात् जब जीव सांसारिक तापोंसे सन्तप्त होकर कातर हो उठता है और सहन नहीं कर पाता, तब उससे परित्राण पानेके लिए श्रीगुरुके शरणापन्न होता है। वह कृपा करके आर्त्त शिष्यको उद्धारका मार्ग बतला देते हैं। जिस चञ्चल श्वास से संसार-प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है, उससे निवृत्त होनेके लिए उलटे मार्गको पकड़ना पड़ता है। श्वास जिस भावसे प्रवाहित और जीवभावको संजीवित किये रहता है, वही जीव-प्रवाहका (जन्म-मरण-लीलाका) 'उद्भवकर' भाव है। श्वासका बहिर्गमनागमन ही वह 'भूतभावोद्भवकरः' भाव है। इसके द्वारा जीव-जगत्का प्रारम्भ और विस्तार होता है। यह भाव जबतक रहता है, तबतक जन्म-मृत्युके विविध कर्मोंका तूफान चलता रहता है। इस भावसे घूमते-घूमते फिर अन्तमें उसी अनादि, एक, अव्यक्त भावमें आकर जीव सम्मिलित हो जाता है। तब फिर बहुभाव नहीं रहता, नानात्व नहीं रहता। तभी प्रलयकी अवस्था आती है, अव्यक्तमें आत्मविसर्जन होता है। इस भावको ही शिवभाव या ब्रह्मभाव कहते हैं। शिवभावके संस्थापित होनेपर ही प्राणकर्मका अवसान होता है, बुद्धि आत्मामें स्थिर होती है। जिस कर्मके द्वारा जीवभावका विसर्ग होता है और आत्मभाव संस्थापित होता है वही कर्म-शब्द-वाच्य है। इस विसर्गसे सृष्टिरूप परिणाम अव्यक्त भावमें विलीन होकर शाश्वत अपरिणाम भावको प्रकाशित करता है। तब सारा प्रवृत्तिप्रवाह सङ्कुचित होकर अपरिणामी विन्दुमें आकर विलीन हो जाता है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वय—देहभृतांवर (देहि-श्रेष्ठ !) क्षरः भावः (क्षर या नश्वर भाव ही) अधिभूतं

(अधिभूत है) पुरुषः च (और पुरुष ही) अधिदैवतं (अधिदैव है), अत्र देहे (इस देहमें) अहमेव (मैं ही) अधियज्ञः (अधियज्ञरूपमें हूँ) ॥ ४ ॥

श्रीधर—किञ्च—अधिभूतमिति। क्षरो विनश्वरो भावो देहादिपदार्थः। भूतं प्राणिमात्रमधिकृत्य भवतीत्यधिभूतमुच्यते। पुरुषो वैराजः सूर्यमण्डलमध्यवर्ती स्वांशभूतसर्वदेवतानामधिपतिरधिदैवतमुच्यते। अधिदैवतमधिष्ठात्री देवता। "स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्त्ता स भूतानां, ब्रह्माऽग्रे समवर्तत" इति श्रुतेः। अत्रास्मिन् देहेऽन्तर्यामित्वेन स्थितोऽहमेवाधियज्ञो यज्ञाधिष्ठात्रीदेवता यज्ञादिकर्मप्रवर्त्तकस्तत्फलदाता च। कथमित्यस्याप्युत्तरमनेनैवोक्तं द्रष्टव्यम्। अन्तर्यामिणोऽसङ्गत्वादिभिर्गुणैः जीववैलक्षण्येन देहान्तर्वर्त्तित्वस्य प्रसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥" इति ॥

देहभृतां मध्ये श्रेष्ठेति सम्बोधयंस्त्वमप्येवंभूतं अन्तर्यामिणं पराधीनस्वप्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोद्धुमर्हसीति सूचयति ॥४॥

अनुवाद—क्षर भाव अर्थात् विनश्वर देहादि पदार्थ ही अधिभूत है, इसने प्राणीमात्रको अधिकृत कर रक्खा है, इसीलिए इसको अधिभूत कहते हैं। पुरुष अधिदैवत है अर्थात् सूर्यमण्डलमध्यवर्ती स्वांशभूत सब देवताओंके अधिपति वैराज पुरुषको अधिदैवत कहते हैं। अधिदैवत यानी अधिष्ठात्री देवता। श्रुतिमें लिखा है कि जो प्रथम शरीरी है उसीको पुरुष कहते हैं, वह समस्त भूतोंके पहले उत्पन्न होता है, उसे ही आदिकर्त्ता ब्रह्मा कहते हैं। इस देहमें अन्तर्यामिरूपसे स्थित मैं ही अधियज्ञ हूँ अर्थात् यज्ञादि कर्मोंका प्रवर्त्तक और उनका फलदाता हूँ। किस प्रकारसे वह इस शरीरमें अवस्थित हैं, इसका उत्तर भी इसमें दे दिया गया है। मैं सत्त्वादि गुणोंसे रहित, अन्तर्यामी तथा देहके अन्तर्वर्ती जीवसे विलक्षण हूँ। श्रुतिमें लिखा है कि दो परस्पर संयुक्त सख्यभावापन्न पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय किये हुए हैं। उनमेंसे एक तो स्वादिष्ट फलको खाता है और दूसरा न खाकर केवल देखता रहता है।

इस देहमें अन्तर्यामीरूपसे और सब कर्मोंके प्रवर्त्तकरूपसे मैं ही अधियज्ञ हूँ। मैं ही सब कर्मोंका फलदाता हूँ। असङ्गादि गुणोंके द्वारा जीवात्मासे भी पृथक हूँ अर्थात् मैं सत्त्वादि गुणोंसे शून्य, जीवसे विलक्षण, देहान्तर्वर्ती अन्तर्यामी हूँ। जीव-फलभोक्ता-अर्जुनको देहधारियोंमें श्रेष्ठ कहकर सम्बोधन करनेसे यह सङ्केत किया गया है कि तुम भी इस प्रकारके अन्तर्यामित्वको प्रवृत्ति-निवृत्तिके अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा अवगत हो सकते हो। [अर्थात् जीव स्वाधीन नहीं है, जीवके फलभोक्ता होने पर भी फलदाता कोई और ही है। कर्ममें अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मैं किसीकी इच्छाके अधीन होकर काम करता हूँ। इसके द्वारा पृथक् अन्तर्यामीकी सत्ताका अनुमान किया जा सकता है। अब यह देखना है कि उस अधीनताके पाशसे किस प्रकार मुक्ति हो सकती है ? जिसके अधीन रहकर तुम

कर्म करते हो वही अन्तर्यामी है और वही तुम हो। यही है अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा समझना।] ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—(३) अधिभूत पञ्चभूतोंमें मन रखनेसे कूटस्थ अक्षरमें भाव होता है—अर्थात् उसमें ही स्थिर रहता है—उसके परे उत्तम पुरुष देखा जाता है—वह भी आकाशके समान नराकार है—उसमें बुद्धि स्थिर करके रखनेका नाम अधिदैव है—देहरूपी चर्मस्वरूप वस्त्र परिधान करके जगत् ब्रह्माण्ड व्यापक ब्रह्मसूत्र है जो गुरु-वक्त्रगम्य है वही सारे कर्मोंको करता है—उसमें मन रखकर सब कर्मोंमें प्रवृत्त होना और कर्म करना (४) अधियज्ञ कहलाता है।—पूर्व श्लोकमें कहा गया है 'अधि' माने बुद्धि। जब बुद्धि आत्माको छोड़कर इस देहको लेकर क्रीड़ा करती है, इस देहको ही अपना स्वरूप समझती है, तब अधिभूत अवस्था होती है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तथा उनके गुण या सूक्ष्मावस्था शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ही पञ्चभूत हैं। इन पञ्चभूतोंमें मन रहने पर ही 'अधिभूत' भाव होता है। इन पञ्चभूतोंमें मन अर्पित करके ही आत्माने जगत्-प्रपञ्चकी सृष्टि करके अपने आपको जीवरूपमें आबद्ध कर डाला है। इससे उद्धारका उपाय क्या है? "विषस्य विषमौषधम्"—विष-निवारणकी औषधि विष ही है। जिस प्रकार इन पञ्चभूतोंमें जड़ित होकर जगत्-प्रपञ्च व्यक्त हुआ है, उससे परित्राण पानेके लिए भी इन पञ्चतत्त्वोंमें ही (मूलाधार = क्षिति, स्वाधिष्ठान = जल, मणिपूर = तेज, अनाहत = मरुत, विशुद्ध = व्योम, आज्ञा = मन) रहकर साधन करना होगा। इस प्रकार साधन करनेसे जो स्थिरता आती है वही अक्षर भाव है। इस अक्षरके साथ धीरे-धीरे मिलते-मिलते उसके साथ भाव अर्थात् मिलन होता है। मन उसमें ही स्थिर रहता है अर्थात् वही हो जाता है। उसके परे अधिदैव है, यही पुरुषभाव है। पुरुष अर्थात् देहरूपी पुरमें जो शयन करता है। आकाश ही सब है। उसी आकाशको प्राचीरसे घेरनेपर पुर होता है। हमारे देहरूपी पुरके भीतर जो चैतन्यरूपी आकाश या चिदाकाश रहता है वही अधिदैव है। अनन्त प्रकाश-मय वस्तु जब एक अन्तवान वस्तुके भीतर आत्मप्रकाश करती है तब उसका रूप मानो देखनेमें आता है। जिस अमित-तेजपुञ्ज-सम्पन्न सूर्यकी ओर ताका नहीं जाता वही जब एक पात्रस्थित जलमें प्रतिबिम्बित होता है तब उसका वह रूप सहज ही देखा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार देहपुरके भीतर जो चिज्ज्योतिका प्रकाश देखा जाता है वही अधिदैव पुरुष है। आदि अधिदैव पुरुषका वह प्रतीक है। वह देहरूपी पुरमें सर्वत्र व्याप्त है। 'तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' उस ब्रह्मचक्रमें आत्महंस घूमता है। इस ब्रह्मचक्रको क्रियावान् साधक पहले आज्ञाचक्रमें देखते हैं। "यह कूटस्थ तेजः, अप्, अन्नस्वरूप है, यही परम सूक्ष्म ध्वनिरूपा नित्या गायत्री है, यही दुर्गा है, इस शरीररूप दुर्गमें रहती है। वह कूटस्थ ब्रह्म अमृत, अक्षर और सूर्यस्वरूप है। वही सूर्यकी वरणीय शक्ति है। उसकी उपासनासे मधुर रसके समान रसकी अनुभूति होती है। इस उपासनाके द्वारा विद्या, शान्ति, प्रतिष्ठा और निवृत्तिरूपा चार प्रकारकी शक्तियाँ प्रकट होती हैं। यह सब ॐकार-ध्वनिके आश्रयमें ही रहती हैं।" यह शरीर ॐकार-स्वरूप है, ॐकार-क्रियाके द्वारा काल, क्षेत्रज्ञ और प्रधानको जान सकते हैं अर्थात्

महाविष्णु, विष्णु और ब्रह्माको जान सकते हैं। परावस्थामें सर्वदा स्थिति महाविष्णु, अल्पस्थिति विष्णु और अस्थिति ब्रह्मा हैं। क्रियाकी परावस्थामें सब एक हो जाने पर अव्यक्त पद होता है। वह सदसदात्मक है। जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत बनता है, अमत मत होता है और अज्ञात ज्ञात बनता है, वही ब्रह्म है। उसीसे तेजः, अप्, जल, उसके परे अन्न अर्थात् कूटस्थ है। क्रिया द्वारा उसके स्थिर होने पर वह अमृत-स्वरूप कहलाता है। वही आत्मा या परव्योम है। "शक्तिः प्रथमसम्भूता गायत्री सा पदोत्तमा"—(वायु-पुराण)। पहले श्वास जब ब्रह्मयोनिके भीतर प्रविष्ट होता है तब गायत्री-पद प्राप्त होता है। वह जीवका त्राणकर्त्ता है। ब्रह्मयोनिके भीतर स्थितिका अर्थ श्वासका मस्तकमें स्थिर होना है, उसीको माहेश्वरी शक्ति कहते हैं।

या सा माहेश्वरी मूर्त्तिर्ज्ञानरूपातिशोभना।
व्योमसंज्ञा परा काष्ठा सैषा हैमवती सती॥

वह मस्तक-स्थित शक्ति ही माहेश्वरी शक्ति है, इस शक्तिका ज्ञान होते ही साधक व्योम-स्वरूप हो जाता है। यही परा काष्ठा है तथा यही सती है अर्थात् वह प्रकृति ही ब्रह्मस्वरूपा है। जब कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था तब सब कुछ प्रकृतिके भीतर अव्यक्त भावमें था। यह अव्यक्तावस्था ही सदसद् भाव है अर्थात् विकृत और अविकृत, नित्य और अनित्य दोनों इसके भीतर हैं। ब्रह्म ही इन दोनों अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं। यही सदसद्रूप दो विन्दु हैं। इसके ही एक अपरिणामी और एक परिणामी, एक कूटस्थ और एक क्षर भाव हैं। श्वासके अवरुद्ध होने पर ही इसका बोध होता है, सूर्यकिरणके समान निर्मल तेज उत्पन्न होता है। वही महेश्वरी शक्ति उपाधियोगसे बहुरूपा हो जाती है। अधिक दिन क्रिया करने पर शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति—इन चार शक्तियोंका अनुभव किया जा सकता है, तभी आत्मानन्दका भोग होता है। महादेवकी यह चार मूर्त्तियाँ जगत्के बाहर और भीतर रहती हैं। वह आत्मा ही कालस्वरूप अग्नि है। कालसे ही सृजन, संहार और स्थिति होती है। अतएव जगत् कालके अधीन है। कालके वशमें ही सारे प्राणी हैं। काल किसीके वशमें नहीं है। परन्तु काल भी महाकालके भीतर लय हो जाता है। यह महाकाल ही क्रियाकी परावस्था है, अतएव इसी परावस्थामें सबको रहना चाहिए। मायात्मिका शक्ति सारे आकाशमें विद्यमान है और महादेव ही आत्मारूपमें विश्वरूप हो रहे हैं। माया जब मायीको भेद करके एक हो जाती है तब विश्वेश्वरी ही विश्वेश्वर हो जाती हैं। वह आत्मास्वरूप शिव और प्रकृतिस्वरूपा शिवा स्व-भावमें रहनेपर दोनों ही समान हैं अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें प्रकृति और आत्मा दोनों ब्रह्ममें रहनेसे दोनों ही समान हो जाते हैं।

यथा देवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः।
नान्ययोरन्तरं विद्याच्चन्द्रचन्द्रिकयोर्यथा॥

कूटस्थको देखते-देखते पीछे उत्तम पुरुष दीख पड़ता है जिसको शास्त्रमें परमात्मा कहते हैं। वह नराकार होते हुए भी अरूपके रूप आकाशके रूप हैं, उनमें बुद्धि स्थिर रखनेका नाम अधिदैव है (पृष्ठदेशमें मेरुदण्डमें सूक्ष्मरूपसे इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना इन

तीनोंका मुख क्रियाके द्वारा एक हो जाने पर रथ-स्वरूप कूटस्थमें उत्तम पुरुष नारायणका दर्शन होता है)। सूर्यसिद्धान्तमें लिखा है कि महादेवने जलमें बीज रोपण किया अर्थात् प्रकृति-योनिमें वीर्य-पतन हुआ, उससे स्वर्णके समान अण्डकी उत्पत्ति हुई। अन्धकारावृत (जहाँ इन्द्रियोंका प्रकाश नहीं), निरुद्ध (परव्योम) अवस्थासे यह व्यक्त हुआ। पहले ॐकार ध्वनि हुई। उससे आधा सोना और आधा चाँदीके समान अण्ड उत्पन्न हुआ। इसी कारण इस पुरुषको हिरण्यगर्भ कहते हैं, प्रथम व्यक्त होनेके कारण इनको आदित्य भी कहते हैं। इस कूटस्थके परे परम ज्योतिःस्वरूप सविता हैं, वही त्रिभुवनका पालन कर रहे हैं, उनका जो प्रकाश है वही आत्माका स्वरूप है। पुरुष, अव्यक्त और पञ्चतत्त्व—इन सप्त प्रकृतियोंसे अण्ड आवृत है। उसके भीतर कूटस्थ और कूटस्थके भीतर पुरुष है। उसकी वाम दिशामें विष्णु और लक्ष्मी, दक्षिणमें ब्रह्मा और सरस्वती, पूर्वमें ईश्वर रुद्र कार्य करते हैं। एक महादेवके ही ये तीन रूप हैं। कूटस्थ प्रथम सविता है, क्रियाकी परावस्था द्वितीय सविता है और तृतीय सविता है परम ज्योतिः सत्य ब्रह्म, वही जगत्के जन्मादिका कारण हैं। "योऽसावादित्य-पुरुषः सोऽसावहम्"—जो आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष है वही 'मैं' हूँ। यही ब्रह्माण्ड-व्यापक ब्रह्मसूत्र है। इनकी सत्तामें समस्त निखिल भूत-जगत्का अस्तित्व है। यही अधियज्ञ पुरुष हैं। इनमें मन रखकर समस्त कर्मोंमें प्रवृत्त होनेका नाम अधियज्ञ भाव है।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

यही सब यज्ञोंका फलदाता सब भूतोंमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं, इसी कारण यह विष्णु हैं। इन्हींका दूसरा नाम वासुदेव है, सब यज्ञोंका कर्त्ता होनेके कारण यही यज्ञेश्वर या कर्मकर्त्ता हैं। इसी कर्त्ताको जान लेनेपर जीवका अहंभाव नष्ट हो जाता है। गीतामें भगवान्ने जहाँ-जहाँ 'अहं' शब्दका व्यवहार किया है, वहाँ यही अधियज्ञ पुरुष या पुरुषोत्तम अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिए। सप्तम अध्यायमें "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये"—जरा-मरणसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए मेरा आश्रय करके जो यत्न करते हैं, "ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम्"—वे उस परब्रह्म, समस्त अध्यात्म तथा सारे कर्मोंके रहस्यसे अवगत हो जाते हैं। यही कर्मफलदाता हैं, कर्म जब इनको आश्रय करता है तब उस कर्मके फलरूपमें भगवान् स्वयं आविर्भूत होते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि इस 'अहं' का स्वरूप क्या है ? वह कृष्ण,राम, विष्णु हैं या कोई देवता-विशेष ? क्या वह हमारे समान शरीरधारी हैं ? उनकी हमारे समान आकृति तो है परन्तु उस आकारमें स्थूल जड़ देहका धर्म नहीं है, वरन् वह शुद्ध चिदाकाशरूप है।

अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः।
विरिञ्चिविष्णवीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥

तृतीय अध्यायमें भगवान्ने उस आश्रयवस्तुका निर्देश किया है—"मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः"—मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, जो बुद्धिके परे साक्षीस्वरूपमें अवस्थित हैं वही सर्वान्तर्यामी आत्मा हैं। "सा काष्ठा सा परा गतिः"। वही काष्ठा हैं, उनसे परे

और कुछ नहीं है, वही समस्त भूतोंकी चरम गति हैं। उनके भीतर ब्रह्माण्डका कुछ भी नहीं है तथापि उनसे समस्त ब्रह्माण्डकी झलक उठती है। मुण्डकोपनिषदमें लिखा है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २–१–२॥

वह पुरुष दिव्यः अर्थात् स्वयंज्योतिःस्वरूप हैं, अमूर्त्तः=कोई विशेष आकार-विशिष्ट नहीं हैं—तथापि सब रूप उन्हींके हैं, वह बाह्य और अभ्यन्तर—ज्ञानरूपमें बुद्धिके अभ्यन्तर तथा नामरूपादिमयरूपमें बहिर्देशमें विद्यमान हैं, वह जन्म-रहित हैं अर्थात् नित्य विद्यमान हैं, उनको प्राण नहीं है, मन नहीं है, वह शुभ्र हैं अर्थात् निर्मल, विकार-वर्जित हैं, वह अक्षर अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ २-१-३

इस पुरुषसे ही प्राण (हिरण्यगर्भ), मन, सारी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सब वस्तुओंका आधार पृथिवी (मूलाधार) उत्पन्न हुई है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

इस पुरुषका मस्तक आकाश, चन्द्र और सूर्य दो नेत्र, दिशाएँ कान, ऋगादि वेद वाक्य, वायु प्राण और यह अखिल विश्व ही मन है। सङ्कल्पसे ही जगत् उत्पन्न हुआ है और सङ्कल्प मनका धर्म है। इसके दोनों पैरोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। यह पुरुष सब भूतोंका अन्तरात्मा है॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

अन्वय—अन्तकाले च (अन्तकालमें भी) यः (जो) माम् एव स्मरन् (मेरा ही स्मरण करते-करते) कलेवरं (देहको) मुक्त्वा (त्याग कर) प्रयाति (प्रयाण करता है) सः (वह) मद्भावं याति (मेरी सरूपताको प्राप्त होता है), अत्र (इस विषयमें) संशयः न अस्ति (संशय नहीं है)॥५॥

श्रीधर—प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसीत्यनेन पृष्टमन्तकाले ज्ञानोपायं तत्फलं च दर्शयति—अन्तकाल इति। मामेवोक्तलक्षणमन्तर्यामिरूपं परमेश्वरं स्मरन् देहं त्यक्त्वा यः प्रकर्षेणार्चिरादिमार्गेणोत्तरायणपथा याति स मद्भावं मद्रूपतां याति। अत्र च संशयो नास्ति। स्मरणं ज्ञानोपायः मद्भावापत्तिश्च फलमित्यर्थः॥५॥

अनुवाद—['प्रयाणकालमें तुम किस प्रकार ज्ञेय बनते हो,' यह प्रश्न अर्जुनने पूछा था, इसीसे वह ज्ञानोपाय और उसका फल दिखला रहे हैं।] मुझको अर्थात्

अन्तर्यामी परमेश्वरको स्मरण करते हुए जो देहत्याग करके अर्चिरादि मार्ग तथा उत्तरायण पथके द्वारा प्रकृष्टरूपसे गमन करता है, वह मत्सरूपताको लाभ करता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञानका उपाय है स्मरण और उसका फल है—मद्भाव-प्राप्ति ॥५॥

अध्यात्मिक व्याख्या—अन्तकालमें कूटस्थको स्मरण करते हुए जो शरीर त्याग करता है वह मुझमें ही मन लगा रखनेके कारण मेरे ही भावमें अर्थात् मुझमें ही स्थित होकर मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है—जो लय क्रियान्वित साधकको प्रतिदिन अनुभव होता रहता है।—जो जीवन्मुक्त नहीं हो सके हैं पर दृढ़ अभ्यासी साधक हैं उनको मृत्युकालमें किस प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, यही विषय यहाँ स्पष्ट करते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुषोंके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वे देहके रहते ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। उनके प्राण ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं अतएव उनको जीवन या मृत्यु किसीकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु जो इस प्रकार सर्वोत्तम अवस्था अर्थात् नित्यस्थितिको प्राप्त नहीं कर सकते, उनका यदि स्मरणाभ्यास दृढ़ हो तो उसके फलस्वरूप मद्भावको प्राप्त होते हैं अर्थात् उस साधकका मन आत्मस्वरूपमें लीन हो जाता है। क्रियावान् लोग प्रायः प्रत्यह इस अवस्थाका कुछ न कुछ अनुभव करते हैं। तब मूलाधारसे आज्ञाचक्र तक एक खिंचाव अनुभूत होता है। जब अन्तकालमें कूटस्थकी स्मृति उदय होने पर मन उसमें लग जाता है तो उस मनसे दूसरा चिन्तन नहीं होता। दूसरा चिन्तन न होनेके कारण उसकी आत्माकारमें स्थिति होती है। उस अवस्थामें यदि प्राण उत्क्रमण करता है तो निश्चय ही मत्स्वरूपता अर्थात् परावस्था या मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसी आशासे हमारे देशमें मृत्युकालमें जीवको नाम-श्रवण कराया जाता है। यदि उसको ज्ञान रहता है तो इससे कुछ न कुछ उपकार तो होता ही है। परन्तु जो निरहङ्कारी, नित्य साधनशील, भगवदर्पितचित्त साधक हैं उनको मृत्युकालमें अज्ञान नहीं आ सकता है। यद्यपि देह-क्लेशके कारण विक्षेप आता है तथापि वह भगवान्को नहीं भूलता।

"क्षेत्रज्ञ आत्माका स्थान हृदय है। मरणके समय हृदयके अग्रभागमें ज्वलनके द्वारा दीप्ति होती है, वह तेजमाला हृदयसे चक्षु, ओष्ठ, मूर्द्धा आदि द्वारोंसे उत्क्रमण करती है। उस हृदय-प्रकाशित द्वारमें ज्ञानके बलसे परमा विद्या तत्त्वज्ञानरूप सामर्थ्य प्राप्त होता है, उसके प्रभावसे अनुस्मृति-योगके द्वारा अन्तमें ब्रह्ममें गति होती है। उस म्रियमाण पुरुषको कैवल्यकी प्राप्ति होती है, परम व्योमरूप परमात्मभाव प्राप्त होता है। पश्चात् स्मृतियोगके द्वारा हृदयस्थित परमात्मा शिवका दर्शन होता है। उस हृदयस्थ परमात्माके अनुग्रहसे १०१ नाड़ियाँ जो हृदयमें हैं उनमेंसे एक ऊर्ध्व नाड़ीके द्वारा वह ऊर्ध्व पथमें उत्क्रमण करते हैं। उस उदान वायुकी नाड़ीके द्वारा पुण्यवान् पुण्यलोक अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं और पापी मनुष्यलोकमें जाते हैं। जो मरता है उसके हृदयाग्रके आलोकके द्वारा ऊर्ध्वनाड़ी प्रकाशित होती है और उस रश्मिके द्वारा आत्मा निष्क्रमण करता है" ॥५॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) अन्ते (अन्तकालमें) यं यं वा अपि भावं (जिस जिस भावको) स्मरन् (स्मरण करते हुए) कलेवरं (देहको) त्यजति (त्याग करता है) सदा (सर्वदा) तद्भावभावित: (उस भावके द्वारा तन्मय रहनेके कारण) तं तं एव (उस उस भावको) एति (प्राप्त होता है) ॥ ६ ॥

श्रीधर—न केवलं मां स्मरन् मद्भावं प्राप्नोतीति नियमः । किं तर्हि ?—यं यमिति । यं यं भावं देवतान्तरं वाऽन्यमपि वाऽन्तकाले स्मरन् देहं त्यजति तं तमेव स्मर्यमाणं भावं प्राप्नोति । अन्तकाले भावविशेषस्मरणे हेतुः—सदा तद्भावभावित इति । सर्वदा तस्य भावो भावनाऽनुचिन्तनम्, तेन भावितो वासितचित्तः ॥६॥

अनुवाद—[अन्तकालमें मुझको स्मरण करने पर मद्भावकी प्राप्ति होती है, केवल मेरे ही विषयमें यह नियम हो, ऐसी बात नहीं है । तब क्या है ?] जो जिस भाव—देवतान्तर या अन्य किसी भावका स्मरण करते हुए देह त्याग करता है, वह उसी स्मर्यमाण भावको प्राप्त होता है । अन्तकालमें किसी एक विशेष भावके स्मरणका हेतु क्या है ?—इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति सदा उस भावना या अनुचिन्तनके द्वारा वासितचित्त या अभ्यस्त होता है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मरनेके समय जो जिस भावमें रहता है उसी भावसे युक्त उसका परजन्म होता है ।—प्रत्येकका शरीर अपने-अपने भावानुरूप ही होता है । कर्मानुरूप भाव उत्पन्न होते हैं । जो पुरुष अनुकम्पायुक्त है, उसकी देह, मन, इन्द्रियका गठन एक प्रकारका होता है और जो क्रूर है उसकी देह, मन, इन्द्रिय अन्य प्रकारके होते हैं । हम बाहरसे सदा इस बातको लक्ष्य नहीं कर सकते परन्तु सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञानीको ये सारी बातें दीख पड़ती हैं । सरलचित्त शिशु आकृतिको देखकर सहजही समझ लेता है कि कौन उसको प्यार करता है, कौन प्यार नहीं करता । भावनाके द्वारा क्षण-क्षण हमारी आकृति परिवर्तित होती रहती है, विशेषत: अन्त:प्रतिकृति । हमारे जिस प्रकारके कर्मसंस्कार या भावनाएँ होती हैं, मृत्युके पश्चात् हमको तदनुकूल ही शरीर मिलता है । जीवित अवस्थामें हमारे भावमें बहुत परिवर्तन होते हैं, परन्तु एक शरीरमें होनेके कारण देहका एक सामयिक परिवर्तन लक्षित होने पर भी उसमें स्थायी परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया जाता । परन्तु मृत्युकालमें जब हम इस देहका त्याग करते हैं जिस देहमें फिर लौटना नहीं होता तब मृत्युकालके भाव उस सूक्ष्म देहमें स्थायी हो जाते हैं । क्योंकि देहमें लौट आने पर जिस परिवर्तनकी संभावना थी, मृत्युके कारण वह नहीं हो पाता । इस कारण मृत्युकालमें चिन्तानुरूप भाव स्थायी हो जाते हैं अर्थात् मनोमय सूक्ष्म शरीर तद्भावभावित हो जाता है । मृत्युके पश्चात् परलोकमें कुछ काल रहकर जब फिर नवीन देहधारणका समय होता है, तब कर्मोंका भोगायतनरूप स्थूल देह, भावमय या मनोमय सूक्ष्म शरीरके अनुरूप भावमें रचित होती है । यही

ईश्वरीय विधान है। मरण-कालकी चिन्ताशक्ति अतिशय प्रबल होती है। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर चित्तकी व्याकुलताके वश उस समय अनेक भावनाएँ एकसाथ समुदित होती हैं। क्रमशः जब इन्द्रियोंकी शक्ति और मनकी शक्ति नहीं रहती, तब मनमें अवश भावसे कितनी ही चिन्ताओंका उदय होता है। उनको पूर्वकृत कर्मोंका अनुध्यान भी कहा जा सकता है। तब यह चिन्ता करूँगा या न करूँगा—यह अवस्था नहीं रहती। अवश भावसे कृतकर्मोंकी प्रतिकृतियोंको हम अपने मानस-पटलपर मानो अङ्कित देख पाते हैं। चिन्ताएँ क्रमशः पिण्डीकृत होकर सामने आती हैं और हम मानो उनके भीतर प्रवेश करके वही हो जाते हैं। उपनिषदमें लिखा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥

मृत्युकालमें प्राणवायुके साथ सूक्ष्म शरीर वायुरूपी सूत्रात्माको प्राप्त होवे। यह शरीर भस्ममें मिल जाय। हे शुभाशुभ चिन्ताशील मन! तुम अपने कृत कर्मोंको स्मरण करो। शङ्कराचार्य कहते हैं—"हे क्रतो सङ्कल्पात्मक! स्मर यत् मम स्मर्तव्यं, तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितः, अतः स्मर। एतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर—यत् मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म, तच्च स्मर।" हे सङ्कल्पात्मक मन! जो तुम्हारे लिए स्मरण करना उचित है उसका अब स्मरण कर, समय आ गया है। शैशवसे अबतक जिन सब कर्मोंको किया है पहले उन्हींको स्मरण कर।

इसके द्वारा जान पड़ता है कि मृत्युकालमें—जब कुछ देरके बाद ही यह देह भस्मान्त हो जायगा—जीवनके कृत कर्मोंकी प्रतिच्छाया अवश भावसे मनमें उदित होती है, उसी स्मरणकी बात यहाँ कही गयी है। क्योंकि आगामी देह तदनुरूप ही होती है। सप्तदश अवयवयुक्त लिङ्गशरीरमें ही जीवके शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार निहित होते हैं। आगे जो देह बनेगी वह इन संस्कारोंके भोगसम्पादनके लिए तदनुकूल स्थूल शरीर गठन कर लेगा।

इसी कारण देखा जाता है कि दीर्घकाल तपस्या करके भी राजा भरतको मृत्युकालमें मृगछौनेकी चिन्तामें अभिनिविष्ट होनेके कारण दूसरे जन्ममें हरिणकी देह प्राप्त हुई थी। नन्दिकेश्वर सदा शिवकी चिन्ता करते थे, इसीसे वह इसी देहसे शिवरूपको प्राप्त हुए थे। इस जन्मके गम्भीर अभिनिवेशके द्वारा इस जन्ममें ही तत्तत् भावकी प्राप्तिकी बात सुनी जाती है। देहका भी परिवर्तन होता है। मनके परिवर्तन होनेकी तो अनेक कथाएँ सुनी जाती हैं। एक शिष्य बहुत अन्यमनस्क था, पाठमें मन नहीं लगाता था, गुरुने इसका कारण जानकर उसको अपने अतिप्रिय भैंसेकी चिन्ता करनेके लिए कहा। वह चिन्तन करते-करते अपने ध्येय वस्तुमें तन्मय हो गया, उसका बाह्यज्ञान नष्ट हो गया। जब गुरुने उसे सचेत करके अपने पास आनेके लिए कहा, तब वह बोला—मैं आपके पास कैसे जाऊँ? मेरे सींग पासके वृक्षमें फँस जायँगे। तन्मयताका ऐसा ही प्रभाव होता है! जिसका मन साधनाके अभ्याससे आत्माके साथ तन्मयताको प्राप्त होता है, उसका मन आत्माराम हो जायगा इसमें सन्देह ही क्या है?॥६॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) सर्वेषु कालेषु (सर्वदा) मां (मुझको) अनुस्मर (अनुस्मरण करो) युध्य च (और युद्ध करो अर्थात् स्वधर्मका अनुष्ठान करो), मयि (मुझमें) अर्पितमनोबुद्धिः (मन और बुद्धि अर्पण करके) माम् एव (मुझको ही) असंशयः (निश्चयपूर्वक) एष्यसि (प्राप्त होगे) ॥७॥

श्रीधर—यस्मात् पूर्ववासनैवान्तकाले स्मृतिहेतुः। न तु तदा विवशस्य स्मरणोद्यमः संभवति—तस्मादिति। तस्मात् सर्वदा मामनुस्मर चिन्तय। सततं स्मरणं च चित्तशुद्धिं बिना न भवति। अतो युध्य च युध्यस्व। चित्तशुद्ध्यर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं अनुतिष्ठेत्यर्थः। एवं मय्यर्पितं मनः सङ्कल्पात्मकं बुद्धिश्च व्यवसायात्मिका येन त्वया स त्वं मामेव प्राप्स्यसि। असंशयः संशयोऽत्र नास्ति ॥७॥

अनुवाद—[क्योंकि अन्तकालमें स्मृतिका हेतु है पूर्ववासना या संस्कार और इस कारण जो मरणसमयमें विवश पड़ा हुआ है, उसके लिए नये ढंगसे स्मरणोद्यम करना संभव नहीं है]—अतएव सर्वदा मेरा चिन्तन करो, परन्तु चित्तशुद्धिके बिना सतत स्मरण नहीं हो सकता अतएव चित्तशुद्धिके लिए युद्धादि स्वधर्मका अनुष्ठान करो। इस प्रकार सङ्कल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि मुझमें अर्पित होने पर तुम मुझको ही पाओगे। इसमें कोई संशय नहीं है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कारण सदा इस आत्मामें जो स्थिर होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं अर्थात् परमात्मा, उनमें स्मरण करके क्रिया करते चलो।—कोई-कोई सोचते हैं कि यावज्जीवन भगवच्चिन्तन न करके भी मरणकालमें यदि उनका अनुचिन्तन किया जाय तो यह सारी झंझट मिट जायगी। परन्तु जीवन पर्यन्त उनको भुला कर मृत्युकालके समय तुम उनका स्मरण करके पार पा जाओगे, ऐसा मत सोचना। यद्यपि किसी-किसी आदमीके जीवनमें ऐसी घटना घटी है, यह वस्तुतः देखनेमें आता है, परन्तु उन एक-दो घटनाओंपर विश्वास करके निश्चेष्ट होकर कालक्षेप करना बुद्धिमान्का काम नहीं है। जिस एक-दो जीवनमें ऐसा प्रमाण मिलता है, उसके मूलमें पूर्व जन्मका अभ्यास और संस्कार रह सकता है, हो सकता है कि उसका जीवन पुण्य और पाप दोनों संस्कारोंसे विमण्डित हो। संभव है कि इस जीवनमें दुष्कृतिके फलस्वरूप कुकर्ममें प्रवृत्ति हुई हो, परन्तु उसके फलभोगका समय समाप्त होने पर उसकी सुकृतिके उदय होने पर वह मृत्युके समय भगवत्स्मरण करनेमें सक्षम हुआ हो। इसलिए यह समझना कि सबके लिए यह संभव है, ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा न होनेकी संभावना ही अधिक है। अतएव जो अपने लिए साध्य है, उसकी उपेक्षा करने पर वञ्चित होनेकी ही अधिक संभावना है। इसलिए इस विषयमें जो राजपथ पड़ा हुआ है, उसका अनुसरण करना सर्वतोभावेन कर्त्तव्य है। अतएव पहलेसे ही तैयार हो जाओ, मेरा सदा स्मरण करो, तभी अन्तकालमें सहस्रों शारीरिक कष्ट होने पर भी मेरी स्मृति नष्ट न होगी। जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है, वह सर्वदा

स्मरण करनेमें समर्थ नहीं होता। पूर्व संस्कारोंके वेगकी अधिकताके कारण नाना वासनाएँ मनको उत्क्षिप्त कर देती हैं, स्मरणमें मन लगानेकी इच्छा होने पर भी मनुष्य समर्थ नहीं होता। जो भगवद्-अर्पितचित्त होकर कर्म नहीं करता, उसके मनकी मैल दूर नहीं होती, उसके लिए सर्वदा भगवत्स्मरण संभव नहीं है। पूर्वकृत कर्मोंका न जाने कितना बोझ हमारे कन्धोंपर पड़ा रहता है, वह तो अनर्थ करेगा ही। उस संस्कारको नष्ट करनेके लिए प्रकृष्ट उद्यमकी आवश्यकता है। इसीलिए भगवान्ने कहा कि 'स्मरण करो,' परन्तु स्मरणमें भी अनेक विघ्न आवेंगे इसलिए युद्ध करो अर्थात् प्राणपनसे चेष्टा करो। अर्जुन क्षत्रिय हैं, क्षत्रिय-भावापन्न साधकके लिए स्वधर्म है युद्ध अर्थात् प्राणपनसे साधनाभ्यास। इस साधनाभ्याससे कभी विरत न होना, इसके द्वारा ही प्रवृत्तिपक्षीय वासनाराशि पराजित हो जायगी। जो सदा मन लगाकर क्रिया करता है, उसका मन आत्मस्थ हो जाता है। जब मन आत्मस्थ होकर विलीन हो जाता है तब फिर कोई संस्कार नहीं रहता, एक अखण्ड आत्मसत्तासे सब कुछ भर जाता है। यही परमात्माका स्वरूप है, इसमें मन, प्राण, बुद्धिका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, सब आत्माकाराकारित हो जाते हैं। इसीका दूसरा नाम आत्मसमर्पण है। यह समर्पण जिसका ठीक-ठीक हो गया है उसकी फिर बहिर्दृष्टि नहीं रहती, अतएव जगतकी कोई वस्तु उसके सामने पृथक् भावसे नहीं रहती। इसलिए साधकको इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए कि एक श्वास भी विफल न जाने पावे। जिनका सदा इस प्रकार स्वतः स्मरण चलता रहता है वही जीवन्मुक्त पुरुष हैं। उन्हें हमारे समान मनको बलपूर्वक खींच लाना नहीं पड़ता, उनका मन स्वयं ही भगवान्के चरणोंमें लोट-पोट करने लगता है। उस मनसे अपना काम या संसार-प्रपञ्च नहीं होता, वह भगवान्का हो जाता है। वह भगवान्को छोड़कर और कुछ स्मरण नहीं कर पाते। यदि वह कुछ बाहरका काम करते हैं तो वह मानो उनके द्वारा आदिष्ट होकर करते हैं। इसलिए कर्मके फलाफलमें उनका भ्रूक्षेप भी नहीं होता। साधनाके द्वारा जबतक यह अवस्था नहीं आती तबतक अहङ्कार रहता है,' मैं-मेरा' बना रहता है। इस अवस्थापर विजय प्राप्त करनेके लिए क्षत्रिय-तेजकी आवश्यकता होती है। युद्धमें अपलायन ही क्षत्रियका प्रधान धर्म है। साधन करते समय इस प्रकारका भाव मनमें न हो तो वह कदापि युद्धमें जय प्राप्तकर आत्मराज्य स्थापन नहीं कर सकता। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं, तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि॥ २-२-२

यही वह सर्वाश्रय अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाक् है और वही मन है। जो प्राणोंका प्राण है वह अक्षर ब्रह्म ही परम सत्य है, वही अमृत है, उसको विद्ध करना होगा अर्थात् मनके द्वारा ताड़ित करना होगा। उसमें मनको समाहित करना होगा। किस प्रकार विद्ध करना होगा?

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा-निशितं संदधीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥ मु० २-२-३

हे सौम्य! उपनिषद्में प्रसिद्ध महास्त्र या महामन्त्ररूपी धनुषको ग्रहण कर उसमें 'उपासा-निशित' अर्थात् अनवरत उपासनाके द्वारा तनूकृत मनरूप शरको योजित करे। शर-सन्धानके पश्चात् आयम्य—धनुष खींचकर अर्थात् इन्द्रियोंके साथ अन्तःकरणको स्व स्व विषयोंसे खींचकर 'तद्भावगतेन'—लक्ष्य विषयमें अनुरागसम्पन्न चित्तके द्वारा उस लक्ष्यस्वरूप अक्षर ब्रह्मको विद्ध करो।

इसी बातको और भी स्पष्ट करके कहते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ मु० २-२-४

प्रणव या ॐकार धनुःस्वरूप है। जिस प्रकार धनुष शरके लक्ष्य बींधनेका कारण है, उसी प्रकार प्रणव ही ब्रह्मरूप लक्ष्य वस्तुमें, आत्मा अर्थात् बुद्धिरूपी शरके प्रवेशका कारण है। उस अक्षर ब्रह्मरूपी लक्ष्यको अप्रमत्त भावसे अर्थात् बाह्य विषयोंमें तृष्णावर्जित होकर विद्ध करना होगा। शर जिस प्रकार मृग आदि लक्ष्य वस्तुमें प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चित्त भी लक्ष्यके साथ एकात्म-भावको प्राप्त हो जायगा—इस प्रकार ब्रह्मसत्तामें चिदाभास अभिन्न हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि इसी प्रकार उसमें मनको योजित करना होगा। इस प्रकार संयोगकी चेष्टाके द्वारा ही भूतशुद्धि होती है। भूतशुद्धि होने पर सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। इस अवस्थामें तुम निःसंशय मुझको प्राप्त होगे अर्थात् 'मैं' हो जाओगे, 'तुम' तब नहीं रह जायगा॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अभ्यासयोगयुक्तेन (पुनः पुनः स्मरणाभ्यासरूप योगयुक्त) [अतएव] न अन्यगामिना (अनन्यगामी) चेतसा (चित्तके द्वारा) दिव्यं परमं पुरुषं (दिव्य परम पुरुषको) अनुचिन्तयन् (चिन्तन करते-करते) [तमेव] याति (उनको ही प्राप्त होता है)॥८॥

श्रीधर—सततस्मरणस्य चाभ्यासोऽन्तरङ्गसाधनमिति दर्शयन्नाह—अभ्यासयोगेति। अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः। स एव योग उपायः, तेन युक्तं नैकाग्रेण। अतएव नान्यं विषयं गन्तुं शीलं यस्य, तेन चेतसा। दिव्यं द्योतनात्मकं परमं पुरुषं परमेश्वरमनुचिन्तयन् हे पार्थ, तमेव यातीति॥८॥

अनुवाद—[अभ्यास ही सतत स्मरणका अन्तरङ्ग साधन है, यही दिखलानेके लिए कहते हैं]—सजातीय प्रत्यय-प्रवाह ही अभ्यास कहलाता है, हे पार्थ, उस अभ्यासरूपी योग या उपायके द्वारा—एकाग्र यानी विषयान्तरमें गमनरहित चिन्तनके द्वारा—द्योतनात्मक (ज्योतिर्मय) परमेश्वरको चिन्तन करते-करते साधक उनको प्राप्त हो जाता है॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रमशः क्रियाका अभ्यास करते-करते धारणा-ध्यान-समाधिपूर्वक आत्मामें अटका रहकर—क्रियाकी परावस्था यानी जब मन अपने

आप अन्य दिशामें नहीं जाता, तब आकाशके समान ही नराकृति परम पुरुष—जो जगतके नाथ हैं—ब्रह्मके अणुमें चिन्तन करते-करते देख सकोगे।—पहले चित्तको अन्य विषयोंमें जाने न दो, साधनाभ्यास द्वारा जिससे वह एकाग्र और अनन्यगामी हो वही उपाय करना होगा। इस अभ्यासके बलसे ही ध्यानावस्था प्राप्त होगी। चित्तमें सजातीय प्रत्ययकी धारा प्रवाहित करनेके लिए पुनः पुनः प्रयास करनेका नाम ही अभ्यास है। इस प्रकारके अभ्यासके फलसे चित्त बहिर्मुखी नहीं होता, आत्मामें ही अटका रहता है। तब मन स्वयं सहज ही आत्ममुखी हो जाता है, दूसरी ओर नहीं जाता। यही क्रियाकी परावस्था या समाधि है। इस अवस्थामें योगी परम पुरुष या पुरुषोत्तम-का दर्शन करते हैं। वह पहले गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करते-करते अनेक चित्र-विचित्र रङ्गोंके आश्चर्योंको देखकर विस्मयापन्न हो जाते हैं, पश्चात् चारों ओर अग्निस्वरूप ज्योति और उसके भीतर कूटस्थको देखते हैं, वही द्योतनात्मक आदित्य है, तन्मण्डलस्थ पुरुषको ही श्रुति 'यश्चासावादित्य-पुरुषः' कहती है। कूटस्थके भीतर नक्षत्र और नक्षत्रके भीतर गुहा तथा गुहाके भीतर ज्योति और ज्योतिके भीतर कूटस्थ तथा कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुष दीख पड़ते हैं। कितने ही देव, देवी और सिद्ध पुरुष कूटस्थके भीतर दीख पड़ते हैं। आकाशकी जो मूर्त्तियाँ देखी जाती हैं वे जैसे आकाशके सिवा और कुछ नहीं हैं, उसी प्रकार चिदाकाशमें जो नराकृति परम पुरुष दीखते हैं वह भी चिदाकाश ही है। तत्पश्चात् मन सूक्ष्म ब्रह्मके अणुमें प्रवेश करता है, तब भीतर-बाहर सब एक हो जाता है। इस कूटस्थमें चित्तकी स्थितिके लिए प्रयत्न अर्थात् द्रष्टाके स्वरूपावस्थानके लिए जो पुनः पुनः प्रयास किया जाता है उसका भी नाम अभ्यास है। यह अभ्यास और ब्रह्मविचार भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। अवश्य ही मौखिक वेदान्त आदिकी आलोचनाको ब्रह्म-विचार नहीं कह सकते, ब्रह्मसत्तामें अवस्थानका प्रयत्न ही ब्रह्मविचार या ब्रह्ममें विचरण है। साधन करते-करते चित्तके वृत्तिशून्य होने पर चित्तकी जो प्रशान्तवाहिता या निरोधप्रवाह है, उसको स्थिति कहते हैं और उस स्थितिके लिए वीर्यपूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है उसीका नाम अभ्यास है। इस प्रकारके पौरुष प्रयत्न या अभ्यासके बलसे ही चित्त अनन्यगामी होता है और उस अनन्यगामी चित्तके द्वारा जीवको भगवत्प्राप्तिरूप परम कल्याण प्राप्त होता है। उपनिषद्में लिखा है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥—मुण्डक ३-२-४

यह आत्मा आत्मनिष्ठासमुत्पन्न शक्तिके द्वारा ही लभ्य है, आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिकी साधनामें जो उद्यमहीन हैं उनको वह लभ्य नहीं है। ऐहिक वित्त-पुत्रादिमें अत्यन्त आसक्तिरूप प्रमाद होनेपर वह लभ्य नहीं होता, शास्त्रविधि-बहिर्भूत तपस्यासे भी वह लभ्य नहीं। परन्तु जो विद्वान् साधक इन समस्त उपायोंके द्वारा (आत्मनिष्ठा-

समुत्पन्नबल, विषयासक्तिशून्य आत्मानुराग, शास्त्र-सम्मत तपस्या द्वारा) आत्म-साक्षात्कारके लिए प्रयत्न करता है, उसीका आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

अन्वय—यः (जो) कविं (सर्वज्ञ) पुराणं (अनादि) अनुशासितारं (नियन्ता) अणोः अणीयान् (सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर) सर्वस्य (सबका) धातारं (विधाता) अचिन्त्यरूपं (मलिन मनो-बुद्धिके लिए अगोचर) आदित्यवर्णं (सूर्यके समान भास्वर) तमसः परस्तात् (अज्ञान-मोहान्धकारके उस पारमें अवस्थित) [प्रपञ्चातीत परम पुरुषको] अनुस्मरेत् (स्मरण करता है) ॥ ९ ॥

श्रीधर—पुनरप्यनुचिन्तनीयं पुरुषं विशिनष्टि—कविमिति द्वाभ्याम् । कविं सर्वज्ञं सर्वविद्यानिर्मातारं, पुराणमनादिसिद्धम् । अनुशासितारं नियन्तारम् । अणोः सूक्ष्मादप्यणीयांसम् अतिसूक्ष्माकाशकालदिग्भ्योऽप्यतिसूक्ष्मतरम् । सर्वस्य धातारं पोषकम् । अपरिमितमहिमत्वाद-चिन्त्यरूपं मलीमसयोर्मनोबुद्ध्योरगोचरम् । तमसः प्रकृतेः परस्तात् वर्तमानम् । "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति श्रुतेः ॥ ६ ॥

अनुवाद—[फिर उस स्मरणीय पुरुषके सम्बन्धमें दो श्लोकोंमें विशेषरूपसे कह रहे हैं ।] वह स्मरणीय पुरुष सर्वज्ञ, सर्वविद्यानिर्माता, अनादि-सिद्ध, नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, अतिसूक्ष्म आकाश, काल, दिक्से भी सूक्ष्मतर है । सबका पोषक, अपरिमित महिमाके हेतु अचिन्त्यरूप अर्थात् मलिन मनोबुद्धिके लिए अगोचर तथा प्रकृतिके परे वर्तमान है । श्रुति कहती है—"महान् पुरुषको मैंने जान लिया है, वह आदित्य-वर्ण अर्थात् नित्य-चैतन्य-प्रकाशस्वरूप तथा अज्ञानरूप मोहान्धकारके परपारमें अवस्थित है ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक-व्याख्या—वह कवि होते हैं—पुराण-पुरुष अणुका अणु—(मिट्टीका अणु जलके अणुमें मिल जाता है—जलका अणु तेजके अणुमें—तेजका अणु वायुके अणुमें—वायुका अणु आकाशके अणुमें—आकाशका अणु ब्रह्मके अणुमें—ब्रह्मके अणुके एक अंशमें त्रिलोक है, इस प्रकार महादेव एक ब्रह्म हो जाते हैं) उस ब्रह्मसे सारी सृष्टि होती है—चिन्तनके द्वारा उनको पानेका उपाय नहीं है—क्योंकि दोके बिना चिन्तन नहीं होता और ब्रह्म एक हैं, अतएव क्रियाकी परावस्थामें रहकर एक हुए बिना नहीं होता । इसी कारण शास्त्र एक ब्रह्मकी बात कहता है—वह कैसे हैं, मानो सूर्यके समान प्रकाशमान—और परे तम (अन्धकार) स्वरूप (योनिमुद्रा) है, वह कूटस्थ ब्रह्म है, जिनके विषयमें वेद-वेदान्त सभी बतलाते हैं—वह गुरु-वाक्यके द्वारा लभ्य है ।—'यन्मनसा न मनुते'—मन जिसको मनन नहीं कर सकता अर्थात् मन भी उस ब्रह्माणुके सामने अति स्थूल है । स्थूल जिस प्रकार सूक्ष्मके भीतर प्रवेश नहीं कर पाता, हमारा मन भी उसी प्रकार ब्रह्माणुके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता । मन जबतक मनन-धर्मविशिष्ट

है तबतक मनके चिन्तनमें ब्रह्माण्ड वास करता है। मनका इस प्रकारका स्थूलत्व-भाव रहनेके कारण उसे 'अणुभ्योऽणुश्च' अर्थात् अणुसे भी अणु ब्रह्मका दर्शन नहीं होता।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश॥

रूप न होनेके कारण कोई उसे चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं कर सकता, अनिर्वचनीयताके कारण वह वाक्य द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, अन्य इन्द्रियोंके द्वारा भी नहीं और न तपस्या या कर्मके द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। जिस शरीरमें यह प्राण पञ्चधा विभक्त होकर सम्यकरूपसे प्रविष्ट है उसी शरीरस्थ हृदयके भीतर इस अति सूक्ष्म आत्माको जानना चाहिए। जो कुछ है सब चित्तके द्वारा व्याप्त है, उस चित्तके शुद्ध होने पर यह आत्मा स्वस्वरूपमें अपनेको प्रकट करता है। चित्तशुद्धिका उपाय क्या है, यह बतलाते हैं—गुरुके उपदेशके अनुसार प्राण-अपानकी क्रियाके द्वारा वायुको कुम्भकावस्थामें रखने पर मन अपने आप चारों ओरसे प्रत्याहृत होकर शून्यमें प्रवेश करता है और निजानन्दमें तल्लीन हो जाता है। उसमें रहते-रहते ही उत्तम पुरुष नारायण दिखलाई देते हैं, तब साधकको अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है, बुद्धिकी तीक्ष्णता होती है। अग्निके तेजके समान एक तेज दिखलाई देता है और उसके भीतर क्षुद्र चिह्नके समान एक विन्दु दीख पड़ता है, वही ब्रह्म है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये पाँच योगके धर्म हैं। प्राणायामके अभ्यासके द्वारा प्रत्याहार और उसके बाद क्रमशः धारणा, ध्यान और समाधिकी अवस्था उदय होती है। यह विश्व-भ्रमणकारी मन जब क्रियाकी परावस्थामें प्रवेश करता है तब अन्य किसी वस्तुकी ओर नहीं दौड़ता। क्रिया करते-करते अपने आप हृदयमें स्थिति होती है। तब साधक भी ब्रह्मके अणुके अंशमें रहकर अणुस्वरूप हो जाता है। ब्रह्मके इस अणुमें आसक्तिपूर्वक रहने पर उसमें चित्त अर्पित होता है। सदा ब्रह्मके अणुमें मनको लगाये रखनेसे मन ब्रह्माणुके साथ संलग्न होकर तद्रूप हो जाता है। भलीभाँति मन लगाकर उनका चिन्तन करने पर उनका ही वारंवार स्मरण होता है। तब वह अव्यक्त पूर्ण ब्रह्मस्वरूप परमात्मा क्रियाकी परावस्थामें तेजोविन्दु रूपमें दीख पड़ते हैं। उस तेजोविन्दुमें मनके लीन होने पर जो भास्वर तेजका प्रकाश होता है, साधक उस तेजरूपको देखते-देखते पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। तब सब वस्तुओंका नाश हो जाता है॥९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

अन्वय—प्रयाणकाले (अन्त कालमें) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) योगबलेन च एव (और योगबलके द्वारा) युक्तः (युक्त होकर) अचलेन मनसा (स्थिर चित्तसे) प्राणं (प्राणको) भ्रुवोः मध्ये (दोनों भ्रुओंके बीचमें) सम्यक् आवेश्य (सम्यकरूपसे आविष्ट

करके या धारणा करके) सः (वह) तं (उस) दिव्यं परं पुरुषं (दिव्य परम पुरुषको) उपैति (प्राप्त होते हैं) ॥१०॥

श्रीधर—प्रयाणकाल इति। सप्रपञ्चप्रकृतिं भित्त्वा यस्तिष्ठति, एवंभूतं पुरुषमन्तकाले भक्तियुक्तो निश्चलेन विक्षेपरहितेन मनसा योऽनुस्मरेत्। मनोनैश्चल्ये हेतुः—योगबलेन सम्यक् सुषुम्नामार्गेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्येति, स तं परं पुरुषं परमात्मस्वरूपं दिव्यं द्योतनात्मकं प्राप्नोति॥१ ॥

अनुवाद—जिन्होंने प्रपञ्चके साथ प्रकृतिको भेद किया है, वे अन्तकालमें भक्तियुक्त होकर विक्षेपरहित मनके द्वारा स्मरण करते-करते प्रयाण करते हैं, वे उस परमात्मस्वरूप द्योतनात्मक पुरुषको प्राप्त होते हैं। मनकी निश्चलताका कारण यह है कि योगबल द्वारा सुषुम्नामार्गसे भ्रुओंके बीचमें प्राणको आविष्ट करने पर मन निश्चल हो जाता है। [पूर्वं हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य चित्तं तत ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यक् अप्रमत्तः सन् स एवं बुद्धिमान् योगी तं परं पुरुषं उपैति प्रतिपद्यते। भक्त्या युक्तो भजनं भक्तिः तया युक्तो योगवलेन चैव योगस्य बलं योगवलं तेन समाधिजसंस्कारप्रचय-जनित चित्तस्थैर्यलक्षणं योगवलं तेन च युक्त इत्यर्थः।—प्रयाण करनेके पूर्वसे ही योगीको हृदयपुण्डरीकमें धारणा द्वारा चित्तको वशीभूत करना पड़ता है, उसके बाद भूमिजय (पञ्चचक्र या पञ्चतत्त्व भेद) और ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा प्राणको भ्रूमध्यमें स्थापन करना पड़ता है। इस श्लोकमें भक्ति शब्दका अर्थ भजन है। समाधि-संस्कारोंके द्वारा उत्पादित जो चित्तस्थैर्य है, वही चित्तस्थैर्यरूप योगबल है—शङ्कराचार्य]। "चित्तं हि स्वभावतो विषयेषु व्यापृतं तेभ्यो विमुखीकृत्य हृदये पुण्डरीकाकारे परमात्मस्थाने यत्नतः स्थापनीयम्। इड़ापिङ्गले दक्षिणोत्तरे नाड्यौ हृदयान्निःसृते निरुध्य तस्मादेव हृदयाग्रादूर्ध्वगमनशीलया सुषुम्नया नाड्या हार्दं प्राणमानीय कण्ठावलम्बितं स्तनसदृशं मांसखण्डं प्राप्य तेनाध्वना भ्रुवोर्मध्ये तमावेश्य ब्रह्मरन्ध्रात् विनिष्क्रम्य परमपुरुषं उपगच्छतीत्यर्थः"।—चित्त स्वभावतः ही विषयोंमें व्यापृत रहता है, उसको विषयोंसे विमुख करके हृदयमें पुण्डरीकाकार परमात्म-स्थानमें यत्नपूर्वक स्थापन करना चाहिए। हृदयसे निःसृत इड़ा और पिङ्गला नामक दक्षिणोत्तर-स्थित दोनों नाड़ियोंको निरुद्ध करके हृदयाग्रसे ऊर्ध्वगमनशील नाड़ीके द्वारा हृदयमें प्राणको लाकर कण्ठावलम्बित स्तनसदृश मांसखण्डको प्राप्तकराकर उस मार्गके द्वारा (सुषुम्नाके द्वारा) भ्रूमध्यमें प्राणको आविष्ट करके ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निष्क्रमण कराने पर परम पुरुषकी प्राप्ति होती है।—आनन्दगिरि] ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मरनेके समय मनके द्वारा गुरुवाक्यमें विश्वास करके आत्मामें अटका रह कर धारणा-ध्यान-समाधिपूर्वक बलपूर्वक सम्यक्रूपसे भ्रूमध्यमें प्राणवायुमें प्रवेश करने पर—सत्—परमपुरुषको देख सकते हैं—(गुरुवाक्यसे लभ्य)। इसी प्रकार भीष्मादिने प्राण परित्याग किया था अर्थात् एक निःश्वासमें ॐकार-क्रियाको बीस हजार सात सौ छत्तीस बार करनेपर ब्रह्मरन्ध्र फट जाता है, यह साधन करनेपर परम पदकी प्राप्ति होती है जो गुरुवाक्य द्वारा प्राप्य है।—जो सदासे ही भजन करते आ

रहे हैं तथा जिन्होंने योगविद्याका अनुशीलन किया है, मृत्युकालमें भी वे उस भजनके बलसे प्राणवायुको भ्रूमध्यमें ले जा सकते हैं। साधारण आदमीकी मृत्युमें और योगीकी मृत्युमें बहुत अन्तर होता है। व्यासजीने वेदान्त-सूत्रोंमें कहा है कि जीवका मरणकाल उपस्थित होनेपर जीवकी सारी इन्द्रिय-वृत्तियाँ और प्राणवृत्तियाँ सूक्ष्मदेहमें संपिण्डित हो जाती हैं। 'सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धे'—(ब्रह्मसूत्र)। जीव मृत्युकालमें सूक्ष्म शरीरको लेकर परलोक गमन करता है। साधारण लोग कर्मासक्त और कर्मलिप्त होनेके कारण कर्मसंस्कारको साथ लेकर शरीरसे गमन करते हैं। "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च"—विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा सब उसका अनुगमन करते हैं। जीव कर्मानुसार परलोकमें फलभोग कर भोगके क्षय होने पर इहलोकमें कर्म करनेके लिए पुनः आगमन करता है। परन्तु जो निष्काम या ज्ञानी पुरुष हैं वे मृत्युके परे दूसरे लोकोंको प्राप्त न होकर सीधे ब्रह्मलोकको गमन करते हैं। उस ब्रह्मलोक-गमनकी क्या व्यवस्था है—यही भगवान् यहाँ उपदेश करते हैं। शङ्कराचार्य कहते हैं कि मृत्युकालमें जीवन्मुक्त पुरुषकी देहसे उत्क्रान्ति नहीं होती। क्योंकि मायिक जीवके समान उनको देहेन्द्रियादिमें सत्य बोध नहीं होता। देहेन्द्रियादिमें उनको सत्यबोध न हो, फिर भी देहेन्द्रियाँ तो उनकी सचमुच होती हैं, इस प्रकारके ज्ञानी पुरुषकी देह नष्ट होनेपर उनके आत्माकी गति किस प्रकारकी होती है? जैसे कोई पदार्थ दीमक लगने पर बाहरसे रूपान्तरित नहीं दीख पड़ता परन्तु जब उसे उठाते हैं तो उस पदार्थका फिर पता नहीं लगता, उसकी जगह केवल मिट्टी हाथ लगती है, तब कहा जाता है कि ऊपरसे देखनेमें चाहे जो हो असल में वह पदार्थ मिट्टी हो गया है। इसी प्रकार देहादिके रहते हुए ब्रह्मज्ञान होनेपर बाहरसे देह-प्राण-मन-विशिष्ट मनुष्यके समान वह जान पड़ते हैं सही, परन्तु उनको परलोकमें उठानेके समय उन देहादिकी कोई पृथक् सत्ता उपलब्ध नहीं होती, देखा जाता है कि उनकी देह, मन, प्राण—सभी ब्रह्ममय हो गये हैं। इस प्रकारके जीवन्मुक्त पुरुषकी उत्क्रान्तिका निषेध है—"अत्र ब्रह्म समश्नुते"—यहाँ ही वह ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, लोकान्तरकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। शङ्कराचार्यने जो कहा है वह अयौक्तिक नहीं है। परन्तु जिनकी विदेह मुक्ति होती है अर्थात् मृत्युके पश्चात् मुक्ति होती है, वे भी ब्रह्मज्ञ पुरुष हैं। परन्तु इन सब ब्रह्मज्ञ पुरुषोंमें स्तरभेद होता है। यद्यपि पश्चात् सभी एक अवस्थाको प्राप्त होते हैं तथापि जीवितावस्थामें उनके पौरुष प्रयत्नमें भेद होता है, इसके फलस्वरूप उनकी गतिमें भी कुछ भिन्नता होती है। इन ब्रह्मज्ञ पुरुषोंका सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता, परन्तु उनके सूक्ष्म शरीरके अवयव मन, बुद्धि, इन्द्रियादि ब्रह्मभावको प्राप्त होते हैं। जैसे हिरण्यगर्भ और नारदादिके शरीर केवल बाहरसे दिखलाने-मात्रके लिए होते हैं, परन्तु उनका विश्लेषण करो तो स्थूल या सूक्ष्म किसी तत्त्वका पता न मिलेगा। इसीसे साधक लोग कहते हैं कि "ब्रह्ममयीर सकल ब्रह्ममय, तार कर चरण श्रवण नयन, भौतिकेर तो किछुइ नय।" (ब्रह्ममयीका सब कुछ ब्रह्ममय होता है, उनके कर, चरण, श्रवण, नयन कोई भी भौतिक नहीं होते)। ब्रह्मज्ञ पुरुषोंके अवयवादि जो देखनेमें आते हैं वे भी बहुत कुछ भौतिकतासे शून्य होते हैं। परन्तु उन विदेह-मुक्त पुरुषोंके भी विशिष्ट भाव-

प्रकाशके अनुकूल सूक्ष्म देहके समान एक प्रकारकी देह होती है, यह अवलम्बन न होता तो उनके लोकान्तरमें पहुँचनेकी जो विधि है उसकी संभावना कैसे होती ? परन्तु वे लोकान्तरमें पहुँचते हैं—यह श्रुतिसम्मत है। ब्रह्मलोक या सत्यलोकमें वे ब्रह्माके आयुष्काल पर्यन्त ब्रह्माके साथ रहकर ब्रह्माके लीलावसानमें उनके सहित कैवल्य-पद प्राप्त करते हैं। यदि विदेह-मुक्त अवस्थामें कोई आश्रय न होता तो वे लोग ब्रह्मलोकमें किस प्रकार रहते ? वेदान्त-दर्शनके निम्बार्क-भाष्यमें लिखा है—"ब्रह्मोपासकस्य शरीरवियोगकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि पन्था उपपन्नः कुतः ? × × परं ज्योतिरुपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति, जक्षन् क्रीड़न् रममाणा इत्यादिषु देहादिसम्बन्ध-लक्षणार्थोपलब्धेः"—ब्रह्मोपासकके शरीर-वियोगके समय सब प्रकारके कर्मोंका क्षय होने पर उनको देवयान-मार्गकी प्राप्ति सिद्ध है। क्योंकि श्रुति कहती है कि वे परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने निर्मलरूपमें प्रतिभात होते हैं, वे इच्छानुसार गमन, भोजन, क्रीड़न और आमोद कर सकते हैं—इन वाक्योंसे देहसे सम्बन्ध रखनेवाले भोगोंकी उपलब्धि होती है। वेदान्त-दर्शनका यह सूत्र भी इसका पोषक है—"सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः"—स्थूल देह विनष्ट होनेके बाद ज्ञानी पुरुषका सूक्ष्म शरीर होता है क्योंकि श्रुतिप्रमाणके द्वारा यह जाना जाता है। देवयानमार्गमें (अर्चिरादि-मार्ग) गमन करनेवाले ज्ञानी पुरुष और चन्द्रमाके कथोपकथनका श्रुतिमें जो वर्णन है वह सूक्ष्म शरीरके बिना संभव नहीं हो सकता। संवाद-बोधक श्रुति यह है—"विदुषस्तं प्रतिब्रूयात्" (विद्वान् पुरुष चन्द्रमाको प्रत्युत्तर दे) इत्यादि। (श्रीताराकिशोर शर्मा चौधरीके द्वारा निम्बार्क-भाष्यका अनुवाद)।

इससे जान पड़ता है कि सारे विदेहमुक्त पुरुष देहधारी हैं। वह देह सूक्ष्म देह ही है परन्तु साधारण सूक्ष्म देहसे उसमें कुछ विशेषता है, उनका मन और बुद्धि भी ब्रह्मरूपता या ब्रह्मभावसे भावित हो जाती हैं। साधारण सूक्ष्म देह प्राकृतिक नियमके अधीन होती है परन्तु वह ऐसी नहीं होती। जैसे तड़ित-ताड़ित पदार्थमें सर्वत्र तड़ितका सन्धान मिलता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुषके सूक्ष्मावयवके प्रत्येक अणुमें ब्रह्माणुका सन्धान मिलता है। अवश्य, ब्रह्माणु शब्दका अभिप्राय योगीके सिवा किसीकी समझमें नहीं आता।

अब विद्वान् पुरुषकी उत्क्रान्तिके विषयमें यहाँ कुछ आलोचना की जाती है। वेदान्त-दर्शनके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादमें एक सूत्र है—"तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीत-शताधिकया"—अपनी विद्याके प्रभावसे तथा सामर्थ्यके प्रभावसे अन्तिम गतिस्वरूप परमात्माके सतत स्मरणके कारण श्रीभगवान्के अनुग्रहसे उस नाड़ीका मूलस्थान अर्थात् हृदयका अग्रभाग दीप्तियुक्त हो उठता है, पश्चात् भगवत्कृपासे उसी नाड़ीका द्वार प्रकाशित होता है, उसको जानकर विद्वान् पुरुष उस नाड़ीके द्वारा निष्क्रमण करते हैं।

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

पुरुषके हृदयसे एक सौ तथा सुषुम्ना नामक एक यानी एक सौ एक नाड़ियाँ निकली हुई हैं, उनमें सुषुम्ना नामकी नाड़ी मूर्द्धदेश (ब्रह्मरन्ध्र) को भेद करके बहिर्गत होती है। अन्तकालमें आत्माको (प्राणको) वशीभूतकर अपने हृदयमें उस नाड़ीके साथ संयोजित करे। उस नाड़ीकी सहायतासे ऊर्ध्वमें उत्क्रान्त होकर आदित्य-मण्डलके द्वारा अमृतत्व प्राप्त करते हैं, दूसरी नाड़ियोंके द्वारा उत्क्रमण होने पर जीवकी अन्यान्य लोकोंमें गति होती है।

वेदान्तदर्शनमें एक सूत्र हैं—"रश्म्यनुसारी"—विद्वान् पुरुष मूर्द्धन्य नाड़ी द्वारा निष्क्रान्त होकर सूर्यरश्मिका अवलम्बनकर ऊर्ध्वगमन करते हैं।

ब्रह्मलोकमें गमन करनेवाले पुरुषोंको लोक-लोकान्तरमें ले जानेके लिए वहनकारी देवता हैं। इस प्रकार विद्युत्-लोक प्राप्त होनेके बाद एक अमानव पुरुष आकर उनको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है—ब्रह्मवित् पुरुष अर्चिरादि मार्गको प्राप्त होते हैं। (अर्चिः, अहः, शुक्लपक्ष, षण्मास, उत्तरायण, सम्वत्सर, वायु, आदित्य इत्यादि)।

बृहदारण्यकमें भी है—"स एतान् ब्रह्म गमयति"—वह इनको ब्रह्मप्राप्ति कराते हैं।

अर्चिरादि मार्गसे गमन करनेके बाद परब्रह्मको प्राप्त होकर जीव अपने स्वाभाविक रूपको प्राप्त होता है। उनको देव-शरीर या अन्य किसी धर्मसे विशिष्ट कलेवर प्राप्त नहीं होता। छान्दोग्यमें लिखा है—"एवमेवैष सम्प्रसादेऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसंपद्यते"—इस प्रकार सांसारिक दुःखसे मुक्त सम्प्रसाद-प्राप्त पुरुष इस शरीरसे सम्यक् उत्थित होकर परम ज्योतिमें प्रतिष्ठित होते हैं और अपने स्वाभाविक विशुद्धरूपमें आविर्भूत होते हैं। अब यह देखना है कि क्रियासे इसका क्या सम्बन्ध है।

क्रिया करनेपर जो क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है वह आत्माका ही ऐश्वर्य है। उस अवस्थामें मन अन्य दिशामें नहीं जाता और साधक सारे पापोंसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यह क्रियाकी परावस्था जिसकी जितनी अधिक होती है उसके सत्य-सङ्कल्पत्व और सर्वज्ञत्व आदि ऐश्वर्य उतने ही अधिक होते हैं, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें अटल प्रतिष्ठाप्राप्त योगीका कोई ऐश्वर्य नहीं होता, इसका कारण यह है कि ऐश्वर्यादिमें उनको सङ्कल्प या इच्छा होती ही नहीं। उस समय वह शुद्ध चैतन्य-मात्रमें अवस्थित होते हैं, परन्तु मुक्त पुरुष जब क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें रहते हैं उस समय उनमें सत्यसङ्कल्प आदि गुण देखे जाते हैं अर्थात् उनके सङ्कल्पमात्रसे देवता, पितर आदि उनके सामने आविर्भूत होते हैं। मुक्त पुरुषोंका कोई अधिपति नहीं होता अर्थात् वे गुणको अतिक्रम करके रहते हैं—"स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते"—वे गुणोंके अधीन नहीं होते, इस प्रकार वे 'स्वराट्' हो जाते हैं, प्रयोजन होने पर वे सङ्कल्प-शरीर निर्माण करके जगदादिके व्यापारोंमें योगदान भी दे सकते हैं। क्रियाकी परावस्थामें किसी तेज या शक्तिकी क्रिया न रहनेपर भी सब तेज या शक्तियाँ उस अवस्थासे ही उत्पन्न होती हैं। हृदयमें वायु (प्राणकी) स्थिति होनेपर ही क्रियाकी

परावस्था प्राप्त होती है। सब शरीरोंमें क्रियाकी परावस्था समभावसे ही उपलब्ध हो सकती है। वस्तुतः वह स्थिति सबके भीतर रहती है अन्यथा कोई जीवित नहीं रहता। परन्तु सबका मन साधारणतः बहिर्मुख होता है—इसी कारण यह अवस्था किसीकी समझमें नहीं आती। क्रिया करनेके पश्चात् मनका यह बहिर्लक्ष्य रुद्ध होनेपर साधकके सामने क्रियाकी परावस्था जो पहलेसे ही रहती है उसका केवल नये ढंगसे बोधमात्र होता है। क्रियाकी परावस्थामें रहनेपर 'तत्पद' दृष्ट होता है, पश्चात् उसमें रहते-रहते साधक भी देवस्वरूप सर्वत्यागी हो जाता है। इस अवस्थामें देवताकी देवमूर्ति भी देखनेमें नहीं आती। जितने देवता और आत्मा हैं सब ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। शरीरादि जो दृश्य पदार्थ दीख पड़ते हैं वे भी उसी ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं।

इस शरीरके भीतर वह सूक्ष्म नक्षत्ररूपमें विराजमान हैं। जो क्रिया करते हैं उन साधकोंके लिए गुहाके भीतर एक मार्ग प्रकाशित होता है, उसके भीतर जो विराजमान हैं वही शरीरके भीतर सत्-स्वरूप ब्रह्म हैं। क्रियाकी परावस्थामें प्राण ही ब्रह्मतेज-रूपको प्राप्त होता है, तब ब्रह्मको ब्रह्म ही प्राप्त करते हैं। क्योंकि उस समय मनमें कोई कामना नहीं रहती, सारी कामनाओंके ब्रह्ममें लीन होनेपर साधक ब्रह्मके समान हो जाता है और अमरत्वको प्राप्त करता है।

श्रेष्ठ साधक इस देहमें रहते हुए भी किस प्रकार ब्रह्मभावापन्न होते हैं यह कहा जा चुका है, वे उत्क्रान्तिके समय कैसी गति प्राप्त करते हैं यह भी आलोचित हो गया है। अब यह देखना है कि देहत्यागके समय उनकी देहके विभिन्न स्थानोंमें किस प्रकारकी क्रियाका अवलम्बन करनेपर योगीकी ब्रह्मलोक-प्राप्तिका द्वार उन्मुक्त हो जाता है। यह द्वार किस प्रकार मुक्त होता है, इसकी साधना सभी क्रियावान् जानते हैं, परन्तु अभ्यासके द्वारा इसमें पटुता प्राप्त करनी चाहिए। धारणा-ध्यानके द्वारा मनको रोकनेपर वह प्राणवायुके साथ भ्रूमध्यमें प्रवेश करता है। तब परम पुरुषका दर्शन होता है। साधनविशेष द्वारा भ्रूमध्यमें प्राणवायुको अवरुद्ध करते ही जो ज्योतिर्मय मण्डल प्रकट होता है उसके भीतर कूटस्थ और नक्षत्र दीख पड़ते हैं, योगी उसी पथको भेद करके चले जाते हैं और उसके भीतर दिव्य परम पुरुषको देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। उस योगीका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। जिस क्रियाके द्वारा यह अवस्था प्राप्त होती है उसे ओंकार-क्रिया कहते हैं। योगीको जो अभ्यास-जनित पटुता प्राप्त होती है उसके प्रभावसे वह एक निःश्वासमें बीस हजार सात सौ छत्तीस (२०७३६) बार ओंकार-क्रिया कर सकते हैं। इस प्रकार कर सकने पर ब्रह्मरन्ध्र फट जाता है। इस साधन-प्रक्रियामें जो सदा अभ्यस्त हैं उनको योगबल उत्पन्न होता है, तब उनकी दृष्टि निमेषशून्य, मन निश्चल और श्वास स्थिर होकर उनके उपर्युक्त सामर्थ्यकी सूचना देते हैं। तब आदित्यवर्ण पुरुषका अचिन्त्य दिव्य रूप स्फुटित हो उठता है, इस प्रकार तमः पार हो जाने पर वह फिर इस जगतमें नहीं लौटते। जब योगी इस अवस्थाको प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि उन्होंने योगयुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है। तब प्राण और उसके साथ मन आज्ञाचक्रमें अवस्थित होकर पहले उस ज्योतिर्मय मण्डलके साथ और फिर आज्ञा-

चक्रको भेदकर सहस्रारमें दिव्य पुरुषके साथ एक हो जाते हैं। इसीको परमपदकी प्राप्ति कहते हैं।

भीष्म आदि श्रेष्ठ योगियोंने भी इसी प्रकार देह-त्याग किया था। भागवतमें लिखा है—

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥

भीष्मने इस प्रकारसे मन, वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियों तथा इन्द्रियवृत्तियोंके द्वारा आत्मस्वरूप श्रीकृष्णमें आत्मसंयोग करके अर्थात् जीवात्माको परमात्मामें आविष्ट कर, प्राण रुद्ध करके महाप्रयाण किया था। "अन्तःश्वास" शब्दकी व्याख्या श्रीधरने इस प्रकार की है—"अन्तरेव लीनो श्वासो यस्य सः" श्वासका प्रकाश तब बाहर प्रकट नहीं होता, वह अन्तर्लीन हो जाता है—इसको ही निरुद्धावस्था कहते हैं।

ब्रह्मरन्ध्र फाड़कर योगीकी जो मृत्यु होती है उसके सम्बन्धमें प्रणवगीतामें जो विवेचना की गयी है, वही यहाँ संक्षेपमें बतलाता हूँ। सुषुम्ना नाड़ी मूलाधारसे उठकर मस्तक-ग्रन्थिमें जाकर दो शाखाओंमें विभक्त हो गयी है। एक शाखा मस्तिष्कके अधस्तलसे कुछ वक्रभावमें आकर भ्रूके पास थोड़ा ऊर्ध्वमुख होकर आज्ञाको भेद करके इड़ा-पिङ्गलाके साथ मिल जाती है। यहाँसे ऊर्ध्वदिशामें थोड़ा उठकर कपालके बीचोबीच आकर, एक अतिसूक्ष्म छिद्रको पार कर, भीतर प्रवेश करके, थोड़ा झूलते हुए, अल्प वक्रगतिसे ऊर्ध्वमुख उठकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है। दूसरी शाखा मस्तक-ग्रन्थिसे ऊपर शिखर पर्यन्त उठकर सामान्य अर्द्धवृत्ताकारकी तरह ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है। सुषुम्नाकी इस शाखाका मुँह बन्द है और दूसरीका खुला हुआ है। अतएव एक शाखाके छिद्रके साथ दूसरी शाखाके छिद्रका संयोग नहीं है। योगी जब योगबलसे प्राणत्याग करनेके लिए उद्यत होते हैं तब सुषुम्ना-स्थित ब्रह्मरन्ध्र-गत बद्ध-मुख खुल जाता है और दोनों शाखाओंके छिद्र एक हो जाते हैं, इसको ही ब्रह्मरन्ध्रका फूटना या फट जाना कहते हैं।

अवश्य ही इस प्रकार देह-त्याग करना सब योगियोंके सामर्थ्यमें नहीं है। जिनकी कुण्डलिनी-शक्ति सदा जाग्रत रहती है, उन्हींके लिए यह संभव है। कुण्डलिनी-शक्ति ही वस्तुतः प्राण-शक्ति है, 'सा देवी वायवी शक्तिः'—इस प्राणके साथ मन रहता ही है, अतएव मन और प्राणके एकत्र संयममें सूक्ष्म प्राण और स्थिर प्राणका अस्तित्व समझमें आता है। तब अनायास ही योगी प्राण-शक्तिको सुषुम्नाचालित करके ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट कराते हैं और तब तड़ित-प्रभाके समान प्राणरश्मि चतुर्दिक बिखर जाती है। उस आलोककी सहायतासे योगीके ब्रह्मरन्ध्रके सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र-पथ प्रस्फुटित आकारमें दीख पड़ते हैं, तब योगी सहज ही मन-प्राणको एक करके उनमें प्रविष्ट होकर ब्रह्मलोकमें पहुँच सकते हैं। जिस-जिस अवस्थाके भीतर जाकर योगी ब्रह्मलोकमें प्रवेश प्राप्त करते हैं, उनकी ही विवेचना 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' आदि श्लोकोंमें की गयी है। सूक्ष्मतम प्राणशक्तिके साथ जो अनन्त ब्रह्माण्डका संयोग है, उसको योगी इस

देहमें रहकर ही समझ सकते हैं, परन्तु प्राणको जय किये बिना कुछ भी सुगम नहीं होता।

भागवतमें लिखा है—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

योगशास्त्रमें है—'प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते'—प्राणवृत्तिके विलीन होने पर मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है। इसीसे "ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः"—ब्रह्मा आदि सारे देवता प्राणसंयमका अभ्यास करते हैं।

सनकाद्या वसिष्ठाद्याः कचदत्तशुकादयः।
अरुन्धतीप्रभृतयः योगात्सिद्धिमुपागताः॥

योगाभ्यास द्वारा सनकादि ऋषि, वसिष्ठ-शुकादि, अरुन्धती प्रभृतिने सिद्धि प्राप्त की है॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

अन्वय—वेदविदः (वेदज्ञ लोग) यत् (जिसको) अक्षरं वदन्ति (अक्षर पुरुष कहते हैं), वीतरागाः (अनासक्त) यतयः (यतिगण) यत् (जिसमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं), यत् (जिसको) इच्छन्तः (जाननेकी इच्छा करके) ब्रह्मचर्यं चरन्ति (ब्रह्मचर्यव्रत पालन करते हैं) तत् पदं (वह परम पद) ते (तुमको) संग्रहेण (संक्षेपमें) प्रवक्ष्ये (कहता हूँ)॥११॥

श्रीधर—केवलादभ्यासयोगादपि प्रणवाभ्यासमन्तरङ्गं विधित्सुः प्रतिजानीते—यदक्षरमिति। यदक्षरं वेदार्थज्ञा वदन्ति। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति श्रुतेः। वीतो रागो येभ्यस्ते वीतरागाः। यतयः प्रयत्नवन्तो यद्विशन्ति। यच्च ज्ञातुमिच्छन्तो गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरन्ति। तत्ते तुभ्यं, पदं—पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं संग्रहेण संक्षेपेण प्रवक्ष्ये, तत्प्राप्त्युपायं कथयिष्यामीत्यर्थः॥११॥

अनुवाद—[केवल अभ्यास-योगकी अपेक्षा प्रणवाभ्यासके अन्तरङ्ग विधानके लिए प्रतिज्ञा करते हैं]—वेदार्थके जाननेवाले लोग जिस अक्षरके विषयमें कहते हैं [सूर्य और चन्द्र इस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनसे नियमित होकर रहते हैं—बृहदारण्यक ३-८-९] वीतराग—जिनसे राग या आसक्ति विगत हो गयी है, इस प्रकारके यतिलोग प्रयत्नवान होकर जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसको जाननेकी इच्छासे गुरुकुलमें ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करते हैं, वही पद अर्थात् प्राप्य वस्तु मैं संक्षेपमें बतला रहा हूँ अर्थात् उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता हूँ॥ ११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसको वेदके जाननेवाले कूटस्थ कहते हैं—इच्छा-रहित होकर उसी पदको पाते हैं—ब्रह्ममें सदा रहकर इसमें ही रहते हैं—इस प्रकारका जो पद है—उसको सम्यक् प्रकारसे तुमको बतलाता हूँ।—माण्डूक्योपनिषद्में लिखा है—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, तस्योपव्यांख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यदन्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।" यह दृश्यमान् समस्त जगत् 'ॐ'अक्षरात्मक है, उसका सुस्पष्ट विवरण यह है कि भूत, भविष्य और वर्तमान समस्त वस्तु ॐकारात्मक है और कालत्रयातीत और भी जो कुछ है वह भी ॐकार-स्वरूप है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥—कठश्रुति।

सब वेद जिसको प्राप्तव्य बतलाते हैं, समस्त तपस्याएँ भी जिसकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अभिहित हैं, साधु लोग जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मचर्य (गुरुगृहमें वास और इन्द्रियसंयम) का आचरण करते हैं, मैं संक्षेपमें उसी पदको बतलाता हूँ—ॐ ही वह पद है।

श्रीमत् शङ्कराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं—"ॐ इत्येतत्, तदेतत् पदं यद्-बुभुत्सितं त्वया, तदेतत् ॐशब्दवाच्यम्, ॐशब्दप्रतीकञ्च"—अर्थात् जो तुमने समझनेकी इच्छा की है, 'ॐ' वह पद है। 'ॐ' शब्दमें ब्रह्म और 'ॐ' शब्द में ब्रह्मप्रतीक—इन दोनोंको उस पदके रूपमें समझो।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

अतएव यह प्रसिद्ध अक्षर (ॐकार) ही अपरब्रह्मस्वरूप (कार्यब्रह्म) है तथा यह अक्षर ही परब्रह्मस्वरूप है। क्योंकि यह अक्षर ही उपर्युक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मका प्रतीक या आलम्बन है। इस अक्षरको ही ब्रह्मरूपमें जानकर—उपासना करके जो जिस प्रकारकी इच्छा करता है—पर या अपर ब्रह्मकी, उसका वही सिद्ध होता है अर्थात् परब्रह्मका यदि आलम्बन करता है तो वह ज्ञातव्यरूपमें सिद्ध होता है और यदि अपरब्रह्मका आलम्बन करता है तो वही प्राप्तव्यरूपमें सिद्ध होता है। [निर्विशेष ब्रह्मको ही परब्रह्म कहते हैं और हिरण्यगर्भको अपरब्रह्म या कार्य-ब्रह्म कहते हैं]—शाङ्कर भाष्यका अनुवाद :

यह स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर, सप्तदश अवयवयुक्त सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर तथा तदतिरिक्त (तुरीय) नाद-विन्दु-कला और कलातीत अवस्था—सबका समूह एकत्र ॐकार होता है। इस ॐकारको स्थूल, सूक्ष्म, कारण और कारणातीत-रूपमें जान लेने पर साधक ब्रह्मरूप हो जाता है।

वेदज्ञ योगी इसको ही "कूटस्थ" कहकर जानते हैं। यह शरीर, इन्द्रिय और मन जिसके आश्रयमें अवस्थित हैं, जिसके बिना कुछ नहीं रहता, इन्द्रिय-मन नहीं रहते,

शरीर भी नष्ट हो जाता है, जिसके प्रकाशसे इन्द्रिय-मन-बुद्धि सदा प्रकाशित रहती हैं, आत्मवित् पुरुष उस ज्योतिर्मय कूटस्थको देख पाते हैं। मुण्डकोपनिषद्में है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥

ज्योतिर्मय कोश आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करनेका स्थान है। आत्मवित् पुरुष उस अविद्या-दोषरहित, निरवयव ब्रह्मको ज्योतिर्मय कोशमें अवस्थित हुआ देखते हैं। वह शुभ्र अर्थात् निर्मल है तथा समस्त ज्योतिका भी प्रकाशक है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ —ईश०॥

ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा अर्थात् सूर्यमण्डलके द्वारा उस सत्यस्वरूप आदित्य-मण्डलस्थ पुरुषका उपलब्धि-द्वार आवृत है, हे पूषन्! हे जगत्पोषक परमात्मन्! तुम उसे अपनीत करो। सत्यधर्म-परायण अर्थात् ब्रह्मानुसन्धानमें तत्पर मेरे दर्शनके लिए तुम उसे उन्मुक्त करो।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य-
व्यूह रश्मीन् समूह तेजो
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

हे एकाकी गमनशील (वहाँ दूसरा नहीं है) और जगत्-पोषक (जिसके न रहने पर जगत् नहीं रहता) हे यम (जिसको देखकर मन अन्य विषयोंकी ओर नहीं दौड़ता), प्रजापति-सम्भूत सूर्य! (ब्रह्मसे कूटस्थ और उस कूटस्थमें ब्रह्म) रश्मिसमूहको दूर करो और तीव्र तेजको सङ्कुचित करो, (अर्जुनने भी भगवान्को इसी प्रकार तेजको संयत करनेके लिए अनुरोध किया था) जिससे तुम्हारी कृपासे तुम्हारा जो कल्याणमय रूप है (पुरुषोत्तमरूप) उसे मैं देख सकूँ। उसको देखने पर जान पड़ता है कि यह जो आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष है 'सः अहं अस्मि'—वह मैं अर्थात् 'मैं' प्रकृत-स्वरूप हूँ।

इस परम पुरुषके साथ मनके संयोगका नाम ही योग है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥—कठ

पूर्वोक्त (यदा पञ्चावतिष्ठन्ते इत्यादि) इन्द्रिय समूहके स्थिरीकरणको योगी लोग योग कहा करते हैं। इस योगके आरम्भके समय साधक प्रमादरहित रहे क्योंकि योग ही प्रभव (सिद्धि) और अप्यय (विनाश)का कारण होता है। अप्रमादी पुरुषको ही योग-सिद्धि होती है, प्रमादी पुरुषको विपरीत फल प्राप्त होता है, इसीलिए प्रमाद छोड़कर योगाभ्यास करनेका उपदेश देते हैं।

प्रमादरहित होकर योगाभ्यास करने पर शीघ्र ही इच्छारहित अवस्था प्राप्त होती है। वही परम पद है—"पदं तत्परमं विष्णोः मनो यत्र प्रसीदति।"

योगी ब्रह्मके अणुमें प्रवेश करके हर्षशोकसे मुक्त हो जाता है—वही परम पद है। उस परम पदकी प्राप्तिका उपाय अब अगले श्लोकमें भगवान् बतलावेंगे ॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

अन्वय—सर्वद्वाराणि (सारे इन्द्रियद्वारोंको) संयम्य (संयत करके) मनः च (और मनको) हृदि (हृदयमें) निरुध्य (निरोध करके) आत्मनः (अपने) प्राणं (प्राणको) मूर्द्धि (मस्तकमें) आधाय (स्थापन करके) योगधारणां (योग-धारणाको अर्थात् योगाभ्यास-जनित समाधि-स्थैर्यको) आस्थितः [सन्] (आश्रय करके) ॥ १२ ॥

श्रीधर—प्रतिज्ञातमुपायं साङ्गमाह द्वाभ्याम्—सर्वेति। सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य प्रत्याहृत्य, चक्षुरादिभिर्बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन्नित्यर्थः। मनश्च हृदि निरुध्य बाह्य विषयस्मरणमकुर्वन्नित्यर्थः। मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये प्राणमाधाय। योगस्य धारणां स्थैर्य्यमास्थित आश्रितवान् सन् ॥ १२ ॥

अनुवाद—[प्रतिज्ञात उपायको अंगके साथ दो श्लोकोंमें कहते हैं] (१) सारे इन्द्रियद्वारोंको प्रत्याहृत करके अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंको ग्रहण न करते हुए, (२) मनको हृदयमें निरोध करके अर्थात् बाह्य विषयोंका स्मरण न कर, (३) भ्रूमध्यमें प्राणको स्थापन करके, स्थैर्य आश्रय करके ॥ १२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब दरवाजे बन्द कर दे, मनको हृदयमें निःशेषरूपसे अवरुद्ध करे—अपने प्राणको मस्तकमें ले जाकर ध्यान करे—उस ध्यानमें ही ॐकारकी क्रिया करे—वहाँ रहकर—समाधिस्थ होकर योगकी धारणा करे अर्थात् योनिमुद्रा।—प्रायाणकालमें योगी जिस प्रकार देहत्याग करके परमगतिको प्राप्त करते हैं उसका संक्षिप्त उपाय बतलानेकी भगवान्ने जो प्रतिज्ञा की थी, यहाँ वही संक्षिप्त उपाय बतला रहे हैं। (१) पहले शरीरके सब दरवाजोंको बन्द करना पड़ेगा, अभ्यासपटुताके द्वारा इन्द्रियों-को इन्द्रियविषयोंसे प्रत्याहृत करना होगा—जिससे विषयोंकी ओर वे न दौड़ें। यदि इस प्रकारसे संयम न कर सके तो इन्द्रियद्वारोंको बाह्य उपायों द्वारा निरुद्ध करे, जिससे बाह्य विषय इन्द्रियद्वारसे होकर मनमे प्रवेश न करें। इन्द्रियद्वार खुले रहने पर ही बाह्य विषय उसमें प्रवेश करेंगे और मनको विक्षिप्त कर देंगे। अतएव योगधारणामें सुविधा न होगी। (क्या करना होगा, यह आगे कहेंगे)। बाह्य रूपसे रोध करनेका भी विशेष फल है। इन्द्रियद्वार अधिकांश सिरमें व्यवस्थित हैं, इन द्वारोंसे बहुतसी नाड़ियाँ मस्तिष्क तक फैली हैं। मस्तिष्कमें इन नाड़ियोंके द्वारा नाना प्रकारके ज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये ज्ञान मनको बहिर्मुख करनेके कारण हैं, मनके बहिर्मुख होने पर शक्तिका अपचय होता है। परन्तु जब ये द्वार बन्द कर दिये जाते हैं तब मन विषय-ग्रहण नहीं कर पाता, अतएव उसकी शक्तिका अपचय नहीं होता। इस प्रकार जब शक्तिका अपचय बन्द हो जाता है तो

उसका बाह्यस्फुरण न होकर अन्तःस्फुरण होने लगता है। अन्तःस्फुरित होने पर उसके विद्युज्ज्वालामयी शक्तिपुञ्जका प्रकाश अनुभूत होता है! इससे सुषुम्नाका अवरोधभाव मिट जाता है और उसकी प्रकाश-शक्तिका विकास होता है, इस प्रकाशके स्फुरणको ही योगी लोग कुण्डलिनी-शक्तिका जागरण कहते हैं। कुण्डलिनी-शक्ति ही ईश्वरकी परा शक्ति जीवभूता प्राण है जो जगत्‌को धारण किये हुए है। प्राणका ही एक और रूपान्तर मन है, क्रियाके द्वारा मन अणुस्वरूप हो जाता है, तब मनके साथ प्राण सुषुम्नामें प्रवेश करता है। तभी कुलकुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है। उपर्युक्त क्रिया-विशेषके द्वारा कुलकुण्डलिनीका सामयिक जाग्रत भाव आता है, इस साधन-क्रियाको योनिमुद्रा कहते हैं। इस क्रियाविशेषके द्वारा जगद्योनि जगदम्बाका सामयिक प्रकाश अनुभूत होता है। मनके ही भीतर देवता रहते हैं। उत्तरगीतामें लिखा है—'मनस्थो देहिनां देवो मनोमध्ये व्यवस्थितः।' देहीके देवता उसके मनमें अवस्थान करते हैं। 'काष्ठाग्निवत् प्रकाशे तु आकाशे वायुवत् चरेत्।' काष्ठके भीतर जैसे अग्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार मनमें आत्माका प्रकाश देखा जाता है। जैसे वायु सदा आकाशमें विचरण करती है तथापि लोग उसे आँखोंसे नहीं देख पाते, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक जीवके हृदयाकाशमें विराजमान है। इसलिए योगी लोग हृदयाकाशमें ही ध्यान किया करते हैं।

इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्यां सर्वगं सर्वतोमुखम्॥

इड़ा और पिङ्गलाके मध्यभागमें जो सूक्ष्मरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी रहती है, उसमें ही सर्वव्यापी और सर्वतोमुखी ब्रह्मज्योति प्रकाशित होती है, इसी कारण सारा विश्व उसमें प्रतिष्ठित रहता है।

नानानाड़ीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्॥

यह सुषुम्ना नाड़ी सब जीवोंका अन्तरात्मा-स्वरूप है। इससे अनेक नाड़ियाँ उत्पन्न होकर देहके चारों ओर परिव्याप्त हैं, ऊर्ध्व भागमें अर्थात् मस्तिष्कके भीतर इसका मूल है और नीचे अनेक शाखाओंसे युक्त होकर यह वायुमार्ग द्वारा सर्वत्र व्याप्त हो रही है।

इस प्राणवायुकी सहायतासे इन सारी नाड़ियोंके भीतर गमनागमन किया जा सकता है। अमरावती, यमलोक, नैर्ऋत लोक, वरुणकी विभावरीपुरी, गन्धवतीपुरी, पुष्पवतीपुरी, मनोत्थनीपुरी और ब्रह्मपुरी सब इस मस्तकमें घिरकर अवस्थित हैं। अतएव इसके भीतर मनको संयत करने पर इन समस्त पुरोंमें रहनेवाले देव-शक्तियोंकी साक्षात्-प्राप्ति होती है। शरीरके भीतर जो ७२००० नाड़ियाँ हैं, योगी लोग प्राण-वायुकी सहायतासे उनमें प्रवेश करके ब्रह्माण्डके समस्त तत्त्वोंको जान सकते हैं।

अधश्चोर्ध्वं गतास्तास्तु नवद्वाराणि रोधयन् ।
वायुना सह जीवोर्ध्वज्ञानी मोक्षमवाप्नुयात् ॥

नाड़ियाँ सुषुम्नासे निकलकर ऊर्ध्व और अधोभागमें प्रसृत रहती हैं, नवद्वारोंका निरोध करके प्राणवायुके साथ जीवात्माके ऊर्ध्व अवस्थित होने पर जीव ज्ञान प्राप्त करता है और मोक्षका भागी होता है ।

अतएव बाह्यरूपसे अवरोध करने पर भी साधकको लाभके सिवा हानि नहीं होती । पूज्यपाद लाहिड़ी महाशयने वेदान्त-दर्शनकी व्याख्यामें एक जगह कहा है (१) वायु द्वारा क्रिया करते-करते मन तृप्त और परिष्कृत होता है, तब सूक्ष्मरूपसे प्राण सुषुम्नाके भीतर आने-जाने लगता है—ऐसा करते-करते समस्त अङ्गोंमें इस पवित्र वायुको ले जानेकी क्षमता प्राप्त होती है । इस प्रकारकी क्षमता होने पर चन्द्रका दर्शन होता है, साधक कुबेरके समान धनशाली होता है (अर्थात् जो इच्छा करता है वह कर सकता है), सब द्रव्योंका गुण देखता है, सुधारस पान करता है । ब्रह्मरन्ध्रमें जो छिद्र है, जिसे फोड़कर साधुलोग प्राण त्याग करते हैं, उस छिद्रके भीतर जब मन (प्राण) प्रवेश करता है तब सदा आनन्दानुभव होता है । (२) क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाके उर्ध्वमें आकर्षित होने पर हृदयकी एक शत नाड़ियोंके उर्ध्वमें जो नाड़ी है—उसमें जाकर साधक अखिल विश्वको ब्रह्ममय देखता है। यही नाड़ी ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ी है—"तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः" । इसको कोई-कोई सूर्यद्वार भी कहते हैं । योगी लोग सूर्यमण्डल भेद करते हैं, यह शास्त्रमें लिखा है । इस द्वारसे होकर ही अव्यय आत्माकी उपलब्धि होती है । "सूर्यद्वारे ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।" अब एक प्रश्न उठ सकता है कि यह अस्थिमांस-मेद-मज्जापूर्ण अवयवस्थ नाड़ी किस प्रकार सूक्ष्म लोकोंको उपनीत कराती है ? इसके साथ लोकान्तरका परिचय या सम्बन्ध कहाँ है ? वस्तुतः सुषुम्ना किसी रक्तवाहिका नाड़ी-सी नहीं है । वह केवल ज्योतिर्मय द्वार है । ज्ञानका प्रवाह इसके भीतरसे ही प्रवाहित होता है । इसीलिए इसको ब्रह्मबोधिका नाड़ी कहते हैं । इसका एक ज्योतिर्मय वेग (current) मेरुदण्डके भीतर भी अनुभूत होता है । परन्तु इस बोधधाराको किसी स्थूल वस्तुके समान समझकर अन्वेषण करने पर इसका सन्धान न मिलेगा । साधारणतः देखा जाता है कि मेरुकी मज्जा (Spinal cord) के न रहने पर या नष्ट हो जाने पर यह बोधधारा भी अवरुद्ध हो जाती है । आत्माकी विद्यमानता हमारे सब प्रकारके बोधका मूल है । परन्तु मेरु-मज्जा के बिना जब बोधादि रुद्ध हो जाता है तो जानना चाहिए कि आत्माके साथ देहका संयोग या सम्बन्ध इसी स्थानपर होता है । इस संयोगके होते ही देहमें प्राणका सञ्चार होता है और आत्मा प्राणरूपमें सारी देहमें अनुप्रविष्ट हो जाता है । इस धाराका प्रधान कार्यकारी केन्द्र हृदयस्थित अनाहत चक्र है । इसीसे उपनिषत्में हृत्पुण्डरीकमें आत्माका आवास-स्थान कल्पित हुआ है । शास्त्रमें अन्यत्र लिखा है—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवत् यः स्थितो हृदि।
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥

हृदयमें जो अवस्थित हैं उनकी दीपवत् अनन्त रश्मियाँ हैं, उनमेंसे एक ऊर्ध्वमें अवस्थित है जो सूर्यमण्डलको भेद करके ब्रह्मलोकको भी अतिक्रम कर गयी है, उसके द्वारा ही परमगतिकी प्राप्ति होती है।

यह ऊर्ध्वगतिशील ज्योतिर्मयी धारा ही सुषुम्ना या सूर्यद्वार है। इसके भीतर एक छिद्र या दरार है जो ब्रह्मलोक आदिके साथ संयुक्त है। अवश्य ही यह संयोग भौतिक नहीं है। इसलिए एक बात याद रखने योग्य है—मनमें हो सकता है कि हम जिस जगत्में रहते हैं, उसके साथ नाड़ीमुखके द्वारा जिन ऊर्ध्व लोकोंका सम्बन्ध बतलाया गया है, वे भी क्या इस लोकके समान स्थूलभूतमय स्थान हैं? यदि ऐसा नहीं है तो सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा लोकान्तरका योग क्या केवल गल्प-सा नहीं जान पड़ता?—परन्तु ऐसी बात नहीं है। जैसे हम एक स्थानमें बैठकर चिन्तनके द्वारा बहुत दूर चले जाते हैं, केवल कल्पनामें नहीं वस्तुतः चले जाते हैं, तो इससे समझा जा सकता है कि हमारी मनोमय या सूक्ष्मभूतमय सूक्ष्मदेह स्थूल पिण्डदेहको अतिक्रम करके लोकान्तरमें जा सकती है। जानेका मार्ग भी इसी प्रकारके सूक्ष्म पदार्थोंसे रचित होता है। जैसे स्थूल मार्ग द्वारा हमारी स्थूल देह चलती-फिरती है, उसी प्रकार इन सब सूक्ष्म तेजोमय मार्गोंका अवलम्बन करके हमारी सूक्ष्म देह भी लोक-लोकान्तरोंमें जा सकती है। प्राणकी स्थिरताके द्वारा मनका ह्रास होने पर इन्द्रियोंकी विभिन्न शक्तियाँ जब मनमें सम्पिण्डित होती हैं तब अनेक अदृष्टपूर्व लोक और जीव हमारे ज्ञानगोचर हो सकते हैं। ब्रह्मलोक यदि सत्य है और हमारे द्वारा कल्पित नहीं है तो उस देशके साथ इस देशके संयोग होनेका एक विशेष मार्ग होना आवश्यक है, यह मार्ग देवयान-मार्ग कहलाता है। ब्रह्मज्ञ पुरुषके मृत्युकालमें यह मार्ग खुल जाता है। बहुधा वैसा ब्रह्मज्ञ न होनेपर भी पुण्यकर्मकृत् लोग मृत्युके पश्चात् इस मार्गका सन्धान पाते हैं, इसका उल्लेख शास्त्रोंमें हमको स्थान-स्थान पर मिलता है। अच्छा, मान लो कि एक लम्बे पतले सूतके दोनों छोरोंमें बहुत दूरका अन्तर है, परन्तु दोनों छोरोंके सिरे जब एक जगह किये जाते हैं तो फिर वह दूरी नहीं रह जाती। इसी प्रकार साधारणतः इस लोकसे ब्रह्मलोकके बीच बहुत व्यवधान रहनेपर भी उनके दोनों छोरोंको मिला देनेका उपाय है, जिसे योगी लोग जानते हैं। उस उपायको जान लेने पर योगी अनायास ही पलमात्रमें इस लोकसे लोकान्तरमें जा सकते हैं।

और भी एक बात है, जिस प्रकार घटस्थ आकाश घटस्थ होते हुए भी महाकाशके साथ संयुक्त है, उसी प्रकार यह आत्मा पिण्डस्थ होते हुए भी पिण्डवर्जित है। यह आत्मा विभुस्वभाव अर्थात् सर्वव्यापक है, अतएव इसके लिए क्या इहलोक और क्या परलोक? अज्ञानवश देहादिमें अहंभाव युक्त होनेके कारण ही आत्मा पिञ्जरमें आबद्ध पक्षीके समान देहमें आबद्ध हो गया है। परन्तु वह ज्ञानका आवरण जैसे-जैसे हटता जाता है वैसे-वैसे इसका व्यापक भाव प्रस्फुटित होता जाता है। स्थूल

देहके कारण ही स्थान और कालका बोध होता है और उसीके कारण वस्तुके दूरत्वका या नैकट्यका बोध उत्पन्न होता है। साधनादिके द्वारा स्थूल देहसे जिसका जितना अभिमान क्षीण होता है, उतनाही उसका विभुत्व, जो सङ्कुचित था, विस्तृत होता जाता है। अतएव प्राणायामादि साधनकी सहायतासे बुद्धिका आवरण जैसे-जैसे क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे उसके सामने सूक्ष्म लोकादि प्रकट होते जाते हैं। जिसका आवरण पूरा-पूरा क्षीण हो गया है, उसके लिए फिर ब्रह्मलोकादिमें जाना कैसे असंभव हो सकता है। जब ब्रह्म और आत्मा एक हैं तब सब लोक आत्माके भीतर रहते हैं, यह निश्चित है। अतएव जो जिस प्रकार आत्मस्थ होता है उसके सामने उसी प्रकारका लोक प्रकाशित होता है। जो पूर्ण आत्मस्थ हैं वह यहाँ रहते हुए भी ब्रह्मलोकमें रह सकते हैं। अतएव 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'—यह सिद्ध हो गया ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

अन्वय—ॐ इति (ॐ इस) एकाक्षरं ब्रह्म (एकाक्षररूप ब्रह्मको) व्याहरन् (अन्तरुच्चारयन्—मन ही मन स्मरण करके) मां अनुस्मरन् (प्रणवके अर्थस्वरूप मुझ ईश्वरका अनुचिन्तन करते हुए) देहं (देहको) त्यजन् (त्यागकर) यः (जो) प्रयाति (गमन करते हैं अर्थात् ऊर्ध्वनाड़ीके द्वारा देवयान-मार्गसे ब्रह्मलोकको गमन करते हैं) सः (वह) परमां गतिं (परम गतिको) याति (प्राप्त होते हैं) ॥ १३ ॥

श्रीधर—ओमिति। ओमित्येकं यदक्षरं तदेव ब्रह्मवाचकत्वाद्वा प्रतिमादिवद्ब्रह्म-प्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म। तद् व्याहरन् उच्चारयन् तद्वाच्यं च मामनुस्मरन्नेव देहं त्यजन् यः प्रकर्षेण यात्यर्चिरादिमार्गेण स परमां श्रेष्ठां गतिं मद्गतिं याति प्राप्नोति ॥१३॥

अनुवाद—ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्दको (ब्रह्मके प्रतीक प्रतिमादिवत् ब्रह्मको) उच्चारण करके तथा ॐ शब्दवाचक मुझको स्मरण करते हुए देह-त्याग कर जो अर्चिरादि मार्गके द्वारा प्रयाण करते हैं, वह श्रेष्ठगति जो मद्गति है उसको प्राप्त होते हैं ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ॐ—यह शरीरका रूप है इसके परे कूटस्थ है—वही ब्रह्म है !!! व्याहृतिपूर्वक ब्रह्मके अणुमें स्मरण करता है—ॐ भूः—मूलाधार अर्थात् पृथिवी है—ॐ भुवः—स्वाधिष्ठान—जल अर्थात् प्रस्राव है, ॐ महः—महर्लोक—मणिपूर है (क) नाभिस्थान, जो पद्मरूपमें सब लोगोंके भीतर विराजमान है—यह मनका गोपनीय योगिगम्य स्थान है—ॐ स्वः—जिससे सबका जन्म होता है अर्थात् हृदयमें अनाहत, (ख) महादेवका स्थान—स्वयं जन्म लेते हैं, ॐ जनः—जहाँसे सब स्वरोंकी उत्पत्ति होती है, अ, आ, इ, ई, अं, अः सोलह अक्षर हैं, इसी कारण षोडशाधार विशुद्धाख्य है, (ग) शिवका स्थान—श्वेतवर्ण महादेवका रूप—उसके परे कूटस्थ है।

(क) मणिपूरमें तेजमें वायुके द्वारा सारे कथोपकथन होते हैं,—(ख) वह उपर्युक्त अग्नि प्रज्वलित होकर हृदयमें स्थिति करते हुए सारे अन्नको भस्मकर वायुमें तेजको मिला देती है,—(ग) वह वायु कण्ठमें जाकर शून्यमें मिलकर सोलह रूप श्वासको प्रकट करती है—उस सोलह रूपका अन्त—स्थिर सूक्ष्मरूप—कूटस्थ-स्वरूप—द्विदल आज्ञा-चक्रमें ब्रह्मस्वरूप है।

पश्चात् उस ब्रह्मके अणुमें प्रवेश करके ३४५६ बार ॐकारक्रिया प्रति चक्रमें एक निःश्वासमें करते-करते जो देहको त्याग करता है—वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसीको योगबलसे प्राणत्याग करना कहते हैं। और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह इस चार चक्रके कूटस्थमें ध्यान करते हुए, ब्रह्मके अणुका स्मरण करते हुए प्राणत्याग कर सके तो परम गतिको प्राप्त होता है। (ठीक होने पर जिज्ञासाका विषय नहीं रहता)।—जिस साधनाके द्वारा ब्रह्मगति प्राप्त होती है ऊपर वही साधना सुन्दररूपमें व्याख्यात हुई है, इसकी अपेक्षा सहजरूपमें साधनाकी बात करना संभव नहीं है। ॐकार—इस शरीरका रूप है (प्रथम षट्क पृ० ६६-६७ में देखिए)—इस साधनामें शरीरस्थ नवद्वारोंको बन्द करना पड़ता है, अभ्यस्त हो जाने पर साधक अपने आप बिना प्रयासके इन नवद्वारों-को रोक सकता है अर्थात् तत्तत् स्थानसे मनको हटाकर उसे अपने स्थान आज्ञाचक्रमें स्थापित कर सकने पर मनके साथ इन्द्रियोंका भी अवरोध हो जाता है। जो ऐसा नहीं कर सकते, वे बाह्य उपायोंका अवलम्बन करें, उससे भी काम हो जायगा। दोनों पैरोंकी एँड़ियोंसे गुह्यद्वारको दबाकर तथा गुरुके उपदेशके अनुसार बाह्य इन्द्रियोंके द्वारोंको संयत करके प्राणवायुको मूलाधारसे आज्ञाचक्रमें या ब्रह्मरन्ध्रमें उठा कर वहाँ ही स्थापन करे। ब्रह्माण्डके भीतर जिस प्रकार भूः आदि सात लोक विद्यमान हैं, उसी प्रकार देहब्रह्माण्डमें भी सप्त स्थान हैं वे ही सप्त लोक हैं। इन सप्त लोकोंको जय करने पर मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी-शक्ति सप्त लोक भेद करके ब्रह्मलोकमें परम शिवके साथ संयुक्त होती है। इसे ही कुण्डलिनीका जागरण कहते हैं। ब्रह्माण्डस्थ सप्त लोकोंका जैसा वर्ण और आकृति है और उन उन स्थानोंमें रहने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, जीवदेहमें भी उन सात स्थानोंमें रहने पर योगीको वही अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार षट्चक्रोंको भेद करके जो आज्ञाचक्रमें या उसके भी ऊपर सहस्रारमें प्रतिष्ठित हो सकते हैं, वे देहमें रहते हुए भी जीवन्मुक्त हैं। यही वस्तुतः भगवान्में आत्मसमर्पण है।

सहस्रारस्थित दिगम्बर परमात्माके साथ मूलाधारस्थित दिगम्बरी कुण्डलिनीका संयोजन कर सकने पर योगी कृतकृत्य हो जाते हैं। पूजाके अन्तमें जैसे हम देवताकी आरती करते हैं, उसी प्रकार साधनाकी अन्तिम अवस्थामें कुण्डलिनीके साथ परम शिवका संयोग होनेके पूर्व ही स्वर्गीय दुन्दुभी बज उठती है। तैलधाराके समान अविच्छिन्न-रूपमें प्रणव-ध्वनि ध्वनित होकर जीवकी चित्तवृत्तिको अचञ्चल कर देती है, उसे फिर नीचे उतरकर विषयरसमें लिप्त नहीं होना पड़ता। उस ध्वनिके अन्तर्गत आत्मज्योति फूटकर चारों ओर अपनी किरणोंको विकीर्ण कर देती है, तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदिका ज्ञान मिट जाता है और पाञ्चभौतिक जीवलीला समाप्त हो जाती है।

उस अश्रुतपूर्व वेदध्वनिके सम्यक् विकाशमें मनकी बहिर्मुखी वृत्तिके सङ्कुचित या लुप्त हो जाने पर 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः'-रूपी विष्णुका परम पद प्रकाशित होता है। यही परमा गति है।

श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें वर्णित है कि पृथु राजाने इसी प्रकारकी साधनाके द्वारा स्वरूपावस्था प्राप्त की थी। मैं पाठकोंकी तृप्तिके लिए भागवतके उन श्लोकोंको यहाँ उद्धृत करता हूँ।

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरः कण्ठशीर्षणि॥
उत्सर्पयंस्तु तन्मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निस्पृहः।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत्॥
खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः।
क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम्॥
इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम्।
भूतादिनामून्युत्क्षिप्य महत्यात्मनि सन्दधे॥

—भागवत ४-२३। १४-१७।

आदिराजा पृथु पहले दोनों चरणोंके गुल्फोंके अधोभागसे गुह्यद्वारको दबाकर मूलाधारसे क्रमशः वायुको ऊपर उठाकर स्वाधिष्ठानचक्रमें, फिर नाभिस्थानमें, तत्पश्चात् क्रमशः हृदयमें, वक्षःस्थलमें, कण्ठदेशमें और भ्रूमध्यमें ले गये। कामनाशून्य महाराजा पृथुने उस वायुको क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें उठाकर (अर्थात् स्थापन करके) देहारम्भक भूतोंका एकीकरण किया। देहस्थ वायुको वायुमें, शरीरको क्षितिमें, तेजको तेजमें, देहस्थित छिद्रोंको आकाशमें और जलीय अंशको जलमें संयोजित किया। इस प्रकार देह विलय करके देहके अवलम्बनरूप महाभूतोंका लय किया। पृथिवीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें लय किया। तत्पश्चात् आकाशको पंच इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको उनके उत्पत्तिक्रमसे अपञ्चीकृत पञ्च तन्मात्राओंमें विलय किया इत्यादि।

कुम्भकके द्वारा प्राणादि पञ्चवायु और उनके साथ मनोबुद्धिके एकीभूत होने पर वे एकमुखी होकर ऊर्ध्वमें जाकर स्थिति लाभ करते हैं, इसके लिए जो साधन करना होगा उस साधन-प्रक्रियाका संकेत इस आध्यात्मिक व्याख्यामें दिया गया है। आधार-पद्मसे प्राणशक्तिको किस प्रकार सहस्रारमें ले जाना होगा, यह उपदेश और साधनसापेक्ष है। जिह्वाग्रन्थि, हृदयग्रन्थि और मूलाधारग्रन्थि भेद होने पर चक्रस्थ शक्तिपुञ्ज उत्तरोत्तर चक्रोंकी शक्तिके साथ मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम तत्त्व पर्यन्त मिल जाने पर तत्त्वातीत परव्योममात्र अवशिष्ट रहता है। इस प्रकारकी अवस्थामें देहत्याग होने पर देही ब्रह्ममय हो जाता है। मन जो अजस्र चिन्तन करता है और इन्द्रियाँ जो अविश्रान्त कार्य करती हैं, उन समस्त चिन्ताओं और क्रियाशक्तियोंके मूलमें रहता है प्राण। यह प्राण सचञ्चल होकर मन और इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंमें फेंकता रहता है। प्राणायामके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर

इन्द्रिय-मनो-बुद्धिमें जो स्थैर्य दीख पड़ता है वही वस्तुतः योगधारणा है। साधक जब इस प्रकारकी योगधारणामें अभ्यस्त होता है तो फिर उसे मुँहसे ओंकार उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ दृश्य या अदृश्य है सब ओंकार ही है। उसके लिए एक स्वतन्त्र योगक्रिया है, देहत्यागके समय योगीकी वह क्रिया स्वतःसिद्ध भावसे होती है, उसके द्वारा ही योगी अन्तमें परमगति लाभ करते हैं, यही योगद्वारा देह-त्याग कहलाता है, योगीलोग इसी प्रकार देह-त्याग करते हैं ॥१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अन्वय—यः (जो) अनन्यचेताः (अनन्यचित्त होकर) नित्यशः (प्रतिदिन) सततं (निरन्तर) मां (मुझको) स्मरति (स्मरण करता है) पार्थ (हे पार्थ !) तस्य (उस) नित्ययुक्तस्य (नित्ययुक्त) योगिनः (योगीके लिए) अहं (मैं) सुलभः (सुखसे प्राप्य) [हूँ] ॥१४॥

श्रीधर—एवं चान्तकाले धारणया मत्प्राप्तिर्नित्याभ्यासरतस्य एव भवति, नान्यस्येति पूर्वोक्तमेवानुस्मारयति—अनन्येति। नास्त्यन्यस्मिन् चेतो यस्य तथाभूतः सन्। यो मां सततं निरन्तरम्। नित्यशः प्रतिदिनं स्मरति। तस्य नित्ययुक्तस्य समाहितस्याहं सुखेन लभ्योऽस्मि, नान्यस्य ॥१४॥

अनुवाद—[इस प्रकार नित्याभ्यासरत व्यक्तिको ही अन्तकालमें धारणाद्वारा मत्प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती—यह उपर्युक्त बात ही पुनः स्मरण करा रहे हैं]—जिसको किसी विषयकी चिन्ता नहीं होती, वही अनन्यचित्त है। इस प्रकार अनन्यचित्त होकर जो मुझको निरन्तर प्रतिदिन स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त अर्थात् समाहितचित्त साधकको मैं अनायास लभ्य होता हूँ, दूसरोंको नहीं। ["सततमिति नैरन्तर्यमुच्यते। नित्यश इति दीर्घकालत्वमुच्यते—न षण्मासं सम्वत्सरं वा। किं तर्हि ?—यावज्जीवं नैरन्तर्येण यो मां स्मरतीत्यर्थः। तस्य योगिनोऽहं सुलभः सुखेन लभ्यः"—'सतत' इस शब्दके द्वारा नैरन्तर्य कहा गया है। 'नित्यशः' इस शब्दका अभिप्राय दीर्घकालव्यापी है, छः मास या एक वर्ष नहीं। बल्कि जब तक जिये तब तक निरन्तर जो आदमी मेरा स्मरण करेगा—यही अर्थ है। उस योगीके लिए मैं सुलभ अर्थात् अनायास-लभ्य हूँ—शङ्कराचार्य।] ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अन्य दिशामें आत्माके सिवा नहीं देखता अर्थात् सर्वदा कूटस्थमें रहकर जो स्मरण करता है—सर्वदा—वह सुन्दररूपमें ब्रह्मको पाता है—जो व्यक्ति सर्वदा ही क्रियाकी परावस्थामें अटका रहता है—धारणा ध्यान समाधिपूर्वक—१२ प्राणायाममें प्रत्याहार—१४४ प्राणायाममें धारणा—१७२८ प्राणायाममें ध्यान—२०७३६ प्राणायाम करनेपर समाधि होती है—इस समाधिमें अचल स्थित रहनेका नाम योग है। बारह दिन यदि १७२८ बार प्राणायाम करे तो समाधिकी संख्यामात्र होती है परन्तु समाधि नहीं होती। समस्त कर्म करके प्राणायाम सदा मन ही मन करते हुए भीतरसे मूलाधारसे

मस्तिष्क पर्यन्त जिसका सदा ही एक-सा खिंचाव रहता है—उसको चैतन्य समाधि कहते हैं—वही सबके लिए कर्त्तव्य है। उस समाधिमें जड़वत् हो जाता है, इसीलिए उसको जड़समाधि कहते हैं। परन्तु १७२८ बार प्राणायाम करनेपर—जो प्रातःकालसे १० बजे रात तक हो जा सकता है, यह एक-आध दिन करके समस्त ऋतुओंको—जो इस पृथिवीका स्वभाव है—देख पाता है और अनुभव होता है—तथा जो देखनेकी इच्छा करो, वह देख सकोगे—एकाग्रचित्तसे प्राणायाम करनेपर। इसके अतिरिक्त, अनवरत प्राणायाम करते-करते अपने आप मन स्थिर हो जाता है और सत्यका अनुभव होता है (अनवरत छः मास अभ्यास करनेपर), परन्तु चेष्टा करके करनेपर नहीं होता।—अनन्य-चित्तसे उसका स्मरण करना होगा—यह सबसे अधिक आवश्यक बात है। आत्माके सिवा जो और कोई लक्ष्य नहीं रखता, संसारकी किसी वस्तुको पानेकी इच्छा नहीं करता, केवल आत्माके भीतर आत्माराम होकर रहना चाहता है, वह फिर अन्य किसी वस्तुका चिन्तन ही क्यों करेगा? वह केवल-मात्र आत्मचिन्तामें तन्मय होकर बैठा है, इस प्रकार क्रियाकी परावस्थामें जो सर्वदा रहनेकी चेष्टा करता है उसको फिर संसारकी कोई वस्तु आकर्षित नहीं कर सकती। परन्तु यह अवस्था दो-चार दिनकी चेष्टासे नहीं होती, इतना ही क्यों, दो-चार वर्षोंमें भी नहीं होती। जो दीर्घकाल तक निरन्तर उनका स्मरणाभ्यास करता है, वही इस सुदुर्लभ योगको प्राप्त होता है।* अवश्य ही उसे प्रतिदिन दीर्घकाल पर्यन्त प्राणायामादि अभ्यास करना पड़ता है, परन्तु यदि मन लगाकर न किया जाय तो कोई फल न मिलेगा। और बीच-बीचमें कमसे कम महीनेमें एक या दो बार १७२८ बार प्राणायामका अभ्यास करके देखना ठीक है। परन्तु एक और सहज उपाय है, अवसर पाकर मनको मेरुदण्डके भीतर चक्र-चक्रमें रखनेकी चेष्टा करना। इस प्रकार सर्वदा स्मरणमें जो अभ्यस्त है उसका मन पूर्ण स्थिरताके भीतर डूब जाता है। मनकी इस स्थिरावस्थामें जो आनन्द प्राप्त होता है वह अतिशय सुदुर्लभ है। 'मैं आनन्द प्राप्त करूँगा' या 'आत्मामें डूब जाऊँगा'—इस प्रकारके लोभातुर चित्तसे जो साधना करता है, उस चित्तमें रजोगुणकी अधिकता होनेके कारण वह प्रकृत शान्तिलाभ नहीं कर सकता। क्या होगा या न होगा, मैं नहीं जानता—केवल गुरुकी इच्छाके अनुसार जो मनको प्रतिक्षण स्मरणमें लगाए रखता है, एक न एक दिन अचानक वह उस परमात्माके साथ सहज ही योगयुक्त हो जाता है ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

अन्वय—परमां (परम) संसिद्धिं गताः (सिद्धि प्राप्त) महात्मानः (महात्मा लोग) माम् (मुझको) उपेत्य (प्राप्त होकर) पुनः (फिर) दुःखालयं (दुःखका

---

* स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः। (पातञ्जलदर्शन, समाधिपाद, सूत्र १४) अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक आसेवित होने पर दृढभूमि होता है। प्रबल अभ्यासके द्वारा ज्ञानकी तुर्यगा नामकी चरमभूमि प्राप्त होती है।

आलय-स्वरूप) अशाश्वतं (अनित्य) जन्म (जन्मको) न आप्नुवन्ति (प्राप्त नहीं होते) ॥ १५ ॥

श्रीधर—यद्येवं त्वं सुलभोऽसि ततः किम्? अत आह—मामिति। उक्त-लक्षणा महात्मानो मद्भक्ता मां प्राप्य पुनर्दुःखाश्रयमनित्यं च जन्म न प्राप्नुवन्ति। यतस्ते परमां सम्यक् सिद्धिं मोक्षमेव प्राप्ताः। पुनर्जन्मनो दुःखानां चालयं स्थानं ते मामुपेत्य न प्राप्नुवन्तीति वा ॥१५॥

अनुवाद—[यदि तुम भक्तोंके लिए सुलभ ही हो तो उससे क्या ?—इसीलिए कहते हैं]—उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त मद्भक्तगण मुझको पाकर पुनः दुःखके आश्रय-स्थानरूप अनित्य जन्मको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे परम संसिद्धि अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझको प्राप्त करने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता, जो जन्म केवल दुःखका ही घर है—वह भी चिरकाल नहीं रहता। उसकी प्राप्तिपद पाने पर अर्थात् ब्रह्ममें क्रियाकी परावस्थामें लीन होकर क्षुद्र आत्मामें यह—ब्रह्ममें जाकर महात्मा अर्थात् 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' इस रूपको प्राप्त कर सर्वदा सम्यक्रूपसे सब विषयोंकी सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती—आवश्यकता नहीं रहती—विशेष अनावश्यक वस्तुमें—इस प्रकारकी अवस्थामें रहते-रहते परमगति अर्थात् योनिसे मस्तक पर्यन्त वायु स्थिर रहकर लीन हो जाती है।—आवागमन ही सब दुःखोंका घर है, वह आवागमन उनको पाने पर बन्द हो जाता है। जो उनको पा जाते हैं वह महात्मा हो जाते हैं अर्थात् उनकी क्षुद्र सीमाबद्ध दृष्टि नहीं रहती, उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है। वह चराचरके भीतर उस एक आत्माको ही देखते हैं। 'मैं' कहने पर उस आत्माका ही बोध होता है, यह आत्मबोध एक बार हो जाने पर फिर नष्ट नहीं होता। यह आत्मतत्त्व जब साधकके सम्मुख प्रकट होता है तब वह समझ सकता है कि जिसको वह खोज रहा था वह विशुद्ध तत्त्व शिव-स्वरूप वह स्वयं है। वह शिव अज और विश्वव्यापक हैं, क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थामें स्थित होते ही वह विश्वव्यापक हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति और उन्हींमें सबका लय हो जाता है—यह साधकके बोधका विषय बनता है। यह क्रियाकी परावस्था ही प्राणका प्राण ब्रह्मरूप है। प्राणकी क्रियाके द्वारा ही इस प्राणके प्राणको समझ सकते हैं। निर्वात स्थानमें दीपशिखाके समान अविचल ब्रह्मतत्त्वको जानकर जीव शिव हो जाता है, तब वह सब पापोंसे मुक्त होकर शुद्ध-निर्मल हो जाता है। षट्चक्रोंमें जो क्रिया करता है उसीको स्थिति प्राप्त होती है, यह स्थिति या-परावस्था ही उसकी महिमा है, यही उसका तृतीय पाद है। कूटस्थमें जो उत्तम पुरुष देखा जाता है वह अज है, उसमें स्थित होने पर ही ब्रह्ममें स्थिति होती है, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें किसी प्रकारका दर्शन-श्रवण नहीं होता—वही 'एकमेवाद्वितीयम्' है, सर्वत्र समरूपसे सर्वव्यापक है, उसे ही योगी लोग ब्रह्मरूप कहते हैं। इस अवस्थामें जो सर्वदा रहता है वही मुक्त है। उस समय योगी कूटस्थमें अखिल विश्वको देखते हैं, और जो कुछ वहाँ देखते हैं सब

उनके सामने ब्रह्म जान पड़ता है, अतएव उनके सामने दूसरी विभिन्न वस्तुओंका अस्तित्व नहीं रहता। तब सब एक हो जाता है। जिनके सम्मुख सब कुछ एक हो जाता है वह इह लोकमें रहते हुए भी ब्रह्मलोकमें रहते हैं। ब्रह्म अज है, अतएव ऐसे योगीकी भी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। सबका निजरूप यही ब्रह्मरूप है, जब वह ब्रह्ममें मिल जाते हैं तो वह आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। तब क्षुद्रात्मा निश्चात्मा हो जाता है। तब और किसी वस्तुके प्रति आकर्षण नहीं रहता, अतएव इच्छा भी नहीं होती। इस इच्छारहित अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उस समय योगीका बाह्य श्वास नहीं रहता, योनिसे मस्तिष्क तकका सारा प्राण-प्रवाह स्थिर हो जाता है, यही सिद्धावस्था है, यही अभय अमृतपद है। जिसे इसकी प्राप्ति हो, गयी उसे फिर बन्धन नहीं रहता, अतएव उसकी फिर पुनरावृत्ति होना संभव नहीं ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) आब्रह्मभुवनात् (ब्रह्मलोक पर्यन्त) लोकाः (जीवगण) पुनः आवर्तिनः (पुनरावृत्तिशील हैं), तु (परन्तु) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) माम् (मुझको) उपेत्य (पाकर) पुनः जन्म (पुनर्जन्म) न विद्यते (नहीं होता) ॥१६॥

श्रीधर—एतदेव सर्वेष्वपि लोकेषु पुनरावृत्तिं दर्शयन् अपुनरावृत्तिं निर्धारयति—आब्रह्मभुवनादिति। ब्रह्मणो भुवनं वासस्थानं ब्रह्मलोकः तमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्त्तनशीलाः। ब्रह्मलोकस्यापि विनाशित्वात्। तत्रत्यानामनुत्पन्नज्ञानानामवश्यंभावि पुनर्जन्म। य एवं क्रममुक्तिफलाभिः उपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणा सह मोक्षः। नान्येषाम्। तथा च—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्।' परस्यान्ते ब्रह्मणः परमायुषोऽन्ते। कृतात्मानो ब्रह्मभावापादितमनोवृत्तयः। कर्मद्वारेण येषां ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तेषां न मोक्ष इति परिनिष्ठितिः। मामुपेत्य वर्तमानानां तु पुनर्जन्म नास्त्येवेति ॥१६॥

अनुवाद—[इस प्रकारके सब लोकोंसे पुनरावृत्ति होती है, यह दिखलाकर अपुनरावृत्तिका निर्धारण करते हैं]—ब्रह्माका वासस्थान ब्रह्मलोक है, उस ब्रह्मलोक तक सभी लोकोंसे पुनरावृत्ति होती है। ब्रह्मलोक भी विनाशशील है, उस लोकमें भी जिनको ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे जीवोंका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है। परन्तु जो लोग क्रममुक्ति प्रदान करनेवाली उपासनाके द्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं वे उस लोकमें रहकर ज्ञानोत्पन्न होने पर ब्रह्माके साथ मोक्षको प्राप्त होते हैं, दूसरोंको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। 'परस्य' अर्थात् ब्रह्माकी परमायुके अन्तमें जिनकी मनोवृत्ति ब्रह्मभावको प्राप्त होती है, वे परम पद अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन्होंने कर्म द्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त किया है उनको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। परन्तु हे कौन्तेय, मुझको प्राप्त होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्मसे जितने भुवनोंकी सृष्टि हुई है, सबका जन्म और मृत्यु है—मुझको पानेपर अर्थात् स्थिर होनेपर—क्रियाकी परावस्थामें सर्वदा रहनेपर पुनर्वार जन्म नहीं होगा।—समाधिवान् होनेपर ही कर्मकी निःशेष निवृत्ति हो जायगी, ऐसी बात नहीं है। समाधिभङ्ग होनेपर फिर संसार घेर लेता है। अतएव इस प्रकारके साधकोंको भी उच्चावस्थासे नीचे उतरना पड़ता है। जब साधक क्रियाकी परावस्थामें सर्वदा रह सकेगा तो फिर उसको उतरना नहीं पड़ेगा। क्रियाकी परावस्थामें जब गम्भीरता क्रमशः परिस्फुट होती है, तब अनेक देवमूर्त्तियाँ दीख पड़ती हैं, परन्तु जब क्रियाकी परावस्था सम्पूर्ण परिस्फुटित होती है, तब कोई देवमूर्त्ति भी नहीं दीख पड़ती, सारे देवता और सारे आत्मा ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। उनको यह बोध भी नहीं रहता कि उनको शरीर है या नहीं। जो सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें रहते हैं उनको फिर उतरना नहीं पड़ता, अतएव उनका जन्म भी नहीं होता। तब ऊपर, नीचे, चारों ओर—सब ब्रह्म ही हो जाता है॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

अन्वय—सहस्रयुगपर्यन्तं (देवपरिमित युगसहस्रपर्यन्त) ब्रह्मणः (ब्रह्माका) यत् अहः (जो दिन) युगसहस्रान्तां (इस प्रकार सहस्रयुगपरिमित) रात्रिं (रातको) [जो] विदुः (जानते हैं) ते जनाः (वे सब लोग) अहोरात्रविदः (अहोरात्रके वेत्ता हैं) ॥१७॥

श्रीधर—ननु च—"तपस्विनो दानशीला वीतरागास्तितिक्षवः। त्रैलोक्यस्योपरिस्थानं लभन्ते शोकवर्जितम्॥" इत्यादिपुराणवाक्यैस्त्रैलोक्यस्य सकाशान्महर्लोकादीनामुत्कृष्टत्वं गम्यते। विनाशित्वे च सर्वेषामवैशिष्ट्ये कथमसौ विशेषः स्यादित्याशङ्क्य बहुकल्पकालावस्थायित्वनिमित्तोऽसौ विशेष इत्याशयेन स्वमानेन शतवर्षायुषो ब्रह्मणोऽहन्यहनि त्रैलोक्यस्योत्पत्तिर्निशि निशि च प्रलयो भवतीति दर्शयिष्यन् ब्रह्मणोऽहोरात्रयोः प्रमाणमाह सहस्रेति। सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणो यदहः तद् ये विदुः युगसहस्रमन्तो यस्यास्तां रात्रिं च योगबलेन ये विदुः, त एव सर्वज्ञा जना अहोरात्रविदः। येषां तु केवलं चन्द्रादित्य-गत्यैव ज्ञानं ते तथाऽहोरात्रविदो न भवन्ति। अल्पदर्शित्वात्। युगशब्देनात्र चतुर्युगमभिप्रेतम्। "चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।" इति विष्णुपुराणोक्तेः। ब्रह्मण इति महर्लोकादिवासिनामप्युपलक्षणार्थम्। तत्रायं कालगणना-प्रकारः, मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रम्। तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिकल्पनया द्वादशवर्षसहस्रैश्चतुर्युगं भवति। चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनं, तावत्परिमाणैव रात्रिः। तादृशैश्चाहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशत ब्रह्मणः परमायुरिति॥ १७॥

अनुवाद—[पुराणमें लिखा है कि जो तपस्वी, दानशील, वीतराग तथा तितिक्षु हैं, वे त्रैलोक्यसे ऊपर स्थित शोकवर्जित स्थान प्राप्त करते हैं इत्यादि। पुराणोक्त वाक्यके द्वारा भूः, भुवः और स्वः—इन तीन लोकोंकी अपेक्षा महः आदि ब्रह्मलोक श्रेष्ठ लोकोंमें गिने जाते हैं। परन्तु ब्रह्मलोकसे भी यदि पुनरावृत्ति होती है तो इन

अवशिष्ट लोकोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ कैसे हुआ ?—इस आशंकाके निवारणार्थं कहते हैं कि ब्रह्मलोक अन्य लोकोंकी अपेक्षा दीर्घकालस्थायी है, उसकी तुलनामें दूसरे लोक बहुत अल्पकाल स्थायी हैं, यही अन्य लोकोंकी अपेक्षा ब्रह्मलोककी विशेषता है। शतवर्ष आयु वाले ब्रह्माके प्रतिदिनमें त्रैलोक्यकी उत्पत्ति और प्रतिरात्रिमें प्रलय होता है। यही दिखलानेके लिए ब्रह्माके अहोरात्रके सम्बन्धमें प्रमाण देते हैं]—सहस्रयुग पर्यन्त ब्रह्माका जो एक दिन है तथा सहस्रयुगपर्यन्त जो रात्रि है, उसको जो योगबलसे जानते हैं, वह सर्वज्ञ व्यक्ति ही अहोरात्रवेत्ता हैं। जो चन्द्रादित्यकी गतिके द्वारा अहोरात्रकी जानकारी रखते हैं, वे लोग अहोरात्रविद् नहीं हैं क्योंकि वे अल्पदर्शी हैं। यहाँ युग शब्दसे चारो युग अभिप्रेत हैं,ज्ञानसङ्कलिनी आदि तन्त्र-पुराणमें सहस्र चतुर्युगीका समय ब्रह्माका दिन बतलाया गया है। ब्रह्मलोक शब्द महर्लोक आदिका उपलक्षण है। कालगणनाका प्रकार इस तरह है—मनुष्योंका जो एक वर्ष है वही देवताका एक अहोरात्र है। इस प्रकार देवताओंके अहोरात्रमें पक्ष-मासादिकी गणना करके बारह हजार वर्षोंमें चतुर्युग होता है। सहस्र चतुर्युगीमें ब्रह्माका एक दिन तथा इसी परिमाणमें उनकी एक रात्रि होती है। इस प्रकार अहोरात्र-पक्षमासादि लेकर शत संवत्सर ब्रह्माका आयुष्काल है ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिन भरमें महर्षियोंके हजार वार प्रच्छर्दन और विधारण होते हैं—रात्रिमें भी इसी प्रकार होता है—इस प्रकार जिनको होता है उनको ही ब्राह्मण कह सकते हैं—अर्थात् प्राणायाम करते-करते जिनका प्रच्छर्दन-विधारण एक वार स्वभावतः ४४ सेकेण्डमें होता है।—साधारणतः सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये ही चतुर्युग हैं। इस प्रकारके चतुर्युग सहस्रवार अतिक्रान्त होने पर ब्रह्माका एक दिन होता है और इसी प्रकार सहस्र चतुर्युगीका समय ब्रह्माकी एक रात्रि होती है। इस प्रकार ब्रह्माके दिनके प्रारम्भ होने पर सृष्टि प्रारम्भ होती है और दिन भर सृष्टि वर्तमान रहती है। ब्रह्माकी रात्रि ही प्रलय-रात्रि या महाप्रलय है, उस समय समस्त चराचर विश्व प्रलीन हो जाता है। ब्रह्माका एक-एक दिनका समय एक-एक कल्प कहलाता है। एक-एक कल्प एक-एक इन्द्रका राजत्वकाल है। एक कल्पमें १४ मनु आविर्भूत होते हैं, एक-एक मनुके आविर्भाव और तिरोभावके कालको मन्वन्तर कहते हैं। इस प्रकारकी कालगणनामें ब्रह्माकी शत-वर्ष परमायु है, इसको द्विपरार्द्ध काल भी कहते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मा भी नहीं रहते, अतएव ऊर्ध्व चतुर्लोक—जन, मह, तप और सत्य लोकोंका भी अस्तित्व नहीं रहता।

अतएव सूर्यका उदय-अस्त देखकर जो दिन रातको निर्धारित करते हैं, वे अल्पज्ञ हैं। वे अल्पज्ञ पुरुष अहोरात्रवेत्ता नहीं हैं। योगीके अतिरिक्त किसीमें यह शक्ति नहीं है कि इस काल-रहस्यको समझे। परिमित काल ही मायाका स्वरूप है, इस कालका अतिक्रमण न कर सकने पर कोई मायाको अतिक्रमण नहीं कर सकता। जबतक जीवकी देहदृष्टि है तबतक वह मायाके अधीन है, तबतक वह कालके वशमें रहता है अर्थात् जन्म-मृत्यु अतिक्रमण नहीं कर सकता। महाकाल अनन्त है, वहाँ जन्म-मृत्युका खेल नहीं है। यह काल जब घटस्थ होता है तभी उसका

परिमाण होता है। कालका परिमाण जहाँ है वहाँ आरम्भ और अन्त है, साधारणतः इस आरम्भका नाम जन्म और अन्तका नाम मृत्यु है। इस प्रकारकी सृष्टि और लयके रहते हुए इसमें भोक्ता और भोग्य पदार्थकी विद्यमानता आवश्यक है। भोक्ता और भोग्यसे ही प्राणजगत् और प्राणजगत्की सृष्टिके लिए स्थूल जगत् आवश्यक है। यह भोक्ता और भोग्य ही सूर्य और चन्द्ररूप मिथुन हैं। इस मिथुनसे अनन्त प्रजाजन उत्पन्न होकर जगत्में परिपूर्ण हो रहे हैं। यह मिथुन ही क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष है। इन्हींके संयोगसे जगत्की पुनः-पुनः सृष्टि और लय होता है।

क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः
क्षरात्मनो ईशते देव एकः॥—श्वेताश्वतर उपनिषद्।

क्षर ही प्रधान (प्रकृति) है और अक्षर अमृत या हर है। जो देवता क्षर और आत्माका प्रभु है वही ईश्वर या परमात्मा है।

यह परमात्मा ही महाकाल है। "कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः"—(महानिर्वाण तन्त्र)। महाकाल सारे प्राणियोंको कलन अर्थात् ग्रास करता है, इसीसे वह महाकालके नामसे प्रसिद्ध है।

इस महाकालकी सीमाका कोई निर्धारण नहीं कर सकता—"कत चतुरानन पञ्चानन डुबि डुबि जावत न तुया आदि अवसाना," तुम्हारा आदि-अन्त ब्रह्मा-विष्णुके लिए भी अगम्य है। भक्त तुलसीदास कहते हैं—"विधि हरि संभु नचावन हारा। × × सो नहिं जानत मरम तुम्हारा।"—अर्थात् तुम विधि, हरि और शंभुको भी नचाते रहते हो, वे भी तुम्हारे मर्मको नहीं जान सकते।

इस सीमाबद्ध कालको लेकर ही नामरूपमय जगत् है—वह अनित्य वस्तु है। जो उनको जानना चाहता है उसे कालको अतिक्रम करना पड़ेगा, तभी वह मुक्त होगा और समझ सकेगा कि नित्य पदार्थ क्या है तथा तभी वह कर्मपाशको भी काट सकेगा।

विहाय नामरूपाणि नित्ये ब्रह्मणि निश्चले।
परिनिश्चिततत्त्वो यः स मुक्तः कर्मबन्धनात्॥

पहले कह चुका हूँ कि महाकाल जब घटस्थ या देहस्थ होता है तो वह सीमाबद्ध कालरूपमें प्रादुर्भूत होता है। तब उसकी संख्या या परिमाण होता है। यही जीवकी आयु है, इसे योगी लोग अजपा कहते हैं। दिन-रात अनवरत जीव श्वास फेंक और खींच रहा है। इसका परिमाण २१६०० वार है। मनुष्यका प्रति मिनट १२ से १५ वार श्वास-प्रश्वास चलता है। पूर्व कर्मोंके अनुसार जीव इस श्वासकी पूँजीको लेकर जन्म ग्रहण करता है। यह पूँजी खतम हो जानेके बाद उसकी देह नहीं रहती। योगी प्राणायाम-साधनके द्वारा इस आयुष्कालको बढ़ा सकते हैं। प्राणायामके द्वारा केवल आयुवृद्धि ही नहीं होती बल्कि विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति भी होती है। जिस प्रकार बहिःश्वासके अभावमें हमारा सांसारिक ज्ञान लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार श्वास जब सुषुम्नावाही होकर अन्तर्मुखी होता है तब दिव्य ज्ञानका उदय होता है। रात्रि अप्रकाश या

अज्ञानरूप है, दिन प्रकाश या ज्ञानरूप है। इड़ा-पिङ्गलाके भीतरसे श्वासके चलने पर जो बाह्यज्ञान समुदित होता है, वह अज्ञानका ही नामान्तर है। क्रिया करने पर जब श्वास इड़ा-पिङ्गलाको अतिक्रम करके सुषुम्नामें चलता है तो विज्ञानपदकी प्राप्ति होती है। तब किसी वस्तु या किसी आदमीके सम्बधमें अज्ञात कुछ नहीं रहता। यह ज्ञान जिनको होता है वे ही प्रकृत अहोरात्रवेत्ता हो सकते हैं। इस ज्ञानके बिना किसीको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जो प्राणायामादि अभ्यासके द्वारा २१६०० वार अजपाको कम करके २००० वार तक ला सकते हैं अर्थात् जिनका श्वास-प्रश्वास स्वभावतः प्रति ४४ सेकेंडमें केवल एक वार होता है वे ही महर्षि या प्रकृत ब्राह्मण-पद-वाच्य हो सकते हैं। इस प्रकारका ब्राह्मण हुए बिना कोई अहोरात्रवेत्ता नहीं हो सकता। उपर्युक्त २००० वार अजपामें उनकी इड़ा अर्थात् वाम नासिका द्वारा एक हजार वार तथा पिङ्गला अर्थात् दक्षिण नासिकाके द्वारा एक हजार वार प्राणायाम होता है। इस प्रकार प्रतिवारके अजपामें उनके प्राणकी स्थिति सुषुम्ना-मार्गमें होती है। सुषुम्नामें स्थितिका अर्थ यह है कि उस समय इड़ा सुषुम्नासे अथवा पिङ्गला सुषुम्नासे युक्त होती है, इसी कारण इसको युग कहते हैं। इस प्रकार सहस्र युग ब्रह्माका दिन तथा दूसरा सहस्र युग ब्रह्माकी रात्रि है। इड़ाको चन्द्रनाड़ी तथा पिङ्गलाको सूर्य नाड़ी कहते हैं। श्वास इड़ासे पिङ्गलामें तथा गिङ्गलासे इड़ामें जाते समय सुषुम्नागामी होता है। यही अव्यक्त पद है। सुषुम्नामें यह स्थितिकाल दीर्घ होने पर वही ब्रह्माका दिन तथा इड़ा-पिङ्गलामें श्वासकी गति ही रात्रि है। इस प्रकार अहोरात्रवेत्ता पुरुषोंकी ब्रह्मलोकमें स्थिति होती है। यह ब्रह्मलोक या सत्यलोक जीवके मूर्द्धा या सहस्रारमें अवस्थित है। जिनकी अजपा २१६०० के स्थानमें २००० होती है [जो देवलोकका दो सहस्र युग है वही ब्रह्माका अहोरात्र है। साधनाके प्रभावसे जिनको इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त हुई है] वे ब्रह्मलोकमें वास करते हैं। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है—

सत्यन्तु सप्तलोको वै ब्रह्मणः सदनन्ततः।
सर्वेषाञ्चैव लोकानां मूर्ध्नि सन्तिष्ठते सदा॥
ज्ञानकर्म-प्रतिष्ठानात् तथा सत्यस्य भाषणात्।
प्राप्यते चोपभोगार्थं प्राप्य न च्यवते पुनः।
तत् सत्यं सप्तमो लोकस्तस्मादूर्ध्वं न विद्यते॥

श्वासप्रश्वासकी गति बहिर्मुख होनेसे देहात्मबुद्धि उत्पन्न होती है। मायाविकृत अवस्था है। यह अवस्था जबतक है तबतक किसीको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मुक्तात्माको देहात्म-बोध नहीं रहता, उनका श्वास भी सुषुम्नावाही होकर अन्तर्मुख होकर लीन हो जाता है। उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अन्वय—अहरागमे (ब्रह्माके दिनके प्रारम्भमें) अव्यक्तात् (अव्यक्तसे) सर्वाः (सब) व्यक्तयः (व्यक्तसमूह अर्थात् चराचर भूतगण) प्रभवन्ति (उत्पन्न होते हैं)

रात्र्यागमे (ब्रह्माकी रात्रिके आनेपर) तत्र एव (जहाँसे आविर्भूत हुए थे उस उत्पत्तिके स्थानमें ही) अव्यक्तसंज्ञके (अव्यक्तस्वरूप कारणमें) प्रलीयन्ते (लयको प्राप्त होते हैं) ॥ १८ ॥

श्रीधर—ततः किम्? अत आह—अव्यक्तादिति। कार्यस्याव्यक्तरूपं कारणात्मकं तस्मादव्यक्तात् कारणरूपाद् व्यज्यन्त इति व्यक्तयश्चराचराणि भूतानि प्रादुर्भवन्ति। कदा? अहरागमे ब्रह्मणो दिनस्योपक्रमे तथा रात्रेरागमे ब्रह्मशयने तस्मिन्नेवाव्यक्तसंज्ञके कारणरूपे प्रलयं यान्ति। यद्वा तेऽहोरात्रविद इत्येतन्न विधीयते किन्तु ते प्रसिद्धा अहोरात्रविदो जना ब्रह्मणो यदहर्विदुस्तस्याह आगमेऽव्यक्ताद् व्यक्तयः प्रभवन्ति। यां च रात्रिं विदुस्तस्या रात्रेरागमे प्रलीयन्ते—इति द्वयोरन्वयः ॥ १८ ॥

अनुवाद—कार्यका जो कारण है वही अव्यक्त है। अव्यक्त ही कार्यरूपमें व्यक्त होता है। उस अव्यक्त कारणसे व्यक्त चराचर भूत प्रादुर्भूत होते हैं। कब प्रादुर्भूत होते हैं?—ब्रह्माके अहरागममें—दिनके प्रारम्भमें। उसी प्रकार ब्रह्माके रात्र्यागममें अर्थात् ब्रह्मशयनमें अव्यक्तसंज्ञक कारणरूपमें चराचर प्रलीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जब दिन-रात अर्थात् इड़ा-पिङ्गला स्थिर होकर सुषुम्नामें चलते हैं, तब इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त होता है—वह सर्वदा ही विज्ञान-पदमें रहता है—जहाँ दिन-रात नहीं—तथापि दिनके समान प्रकाशमें जैसे दीख पड़ता है उसी प्रकार समस्त मूर्तियाँ जो देखते हैं, उनके लोमकूप तक दिखलायी देते हैं। जब इस प्रकारकी अवस्थामें नहीं रहता—उस समय समुदय कुछ भी नहीं दिखायी देता—उसीका नाम रात्रि है—जब प्रकृष्टरूपसे ब्रह्मातिरिक्त अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करता है—तब अव्यक्त अर्थात् कुछ भी नहीं समझ पाता।—अहरागम अर्थात् दिवसका उपक्रम होने पर सब कुछ आलोकित हो जाता है, तब योगीके लिए कुछ अज्ञात नहीं रहता। सूर्यनाड़ी पिङ्गलामें जब श्वास प्रवाहित होता है तब दिन होता है और चन्द्रनाड़ी इड़ामें जब श्वास प्रवाहित होता है तब योगियोंकी रात होती है। इड़ासे पिङ्गलामें जाते समय तथा पिङ्गलासे इड़ामें जाते समय जो सुषुम्नामें श्वासकी गति होती है वह अव्यक्तावस्था है। वह अव्यक्तावस्था ही विज्ञानपद है। वहाँ अन्तर्जगत्के नाना प्रकारके अद्भुत दृश्य अनुभवमें आते हैं। "न चन्द्रस्य गतिस्तत्र न सूर्यस्य गतिस्तथा" वहाँ चन्द्र-सूर्यकी गति नहीं है अर्थात् इड़ा-पिङ्गलाका कार्य नहीं होता, बाह्य जगत् विलीन हो जाता है, परन्तु स्वप्रकाश अनुभवपद प्रस्फुटित हो उठता है। तब वहाँ ज्योतिका जो प्रकाश होता है उसके रश्मिपातसे वस्तुके अन्तः और बाह्य सारे ज्ञातव्य ज्ञान-गोचर हो जाते हैं। इस अवस्थामें योगीको सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होती है। योगी सर्वज्ञ हो जाते हैं। जब अन्य वस्तुमें आसक्ति होती है तब ब्रह्मदृष्टि नष्ट हो जाती है, तब अव्यक्त ब्रह्मनाड़ीसे श्वास हट जाता है—जो स्फुरित हो रहा था वह फिर नहीं रहता, सब मानो अन्धकारमें डूब जाता है। श्वास सुषुम्नासे चलने पर योगीको जो विज्ञानपद प्राप्त होता है वही योगीके पक्षमें दिन है। उस समय यह प्रत्यक्ष व्यावहारिक जगत्

मानो अव्यक्त कारणमें विलीन हो जाता है और स्वप्रकाश अनुभवपद जो अव्यक्त था वह योगीको प्रत्यक्षावगम होने लगता है। यह ज्ञान और अज्ञान, संसारातीत भाव और संसार वस्तुतः योगीके दिन और रात्रि हैं। यह स्वप्रकाश अनुभवपद ही आदि पुरुष या हिरण्यगर्भ है तथा तदन्तर्गत सर्वोत्तम विज्ञानपद ही पुरुषोत्तम भाव है। इस पुरुषोत्तम या नारायणके शरीरमें ही समस्त जीव-जगत् या बाह्य प्रकाश-समूह लीन हो जाते हैं ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) स एव (वही) अयं (यह) भूतग्रामः (समस्त भूत) भूत्वा भूत्वा (पुनः पुनः होकर) अवशः (कर्मादिके वश होकर) रात्र्यागमे (ब्रह्माकी रात्रिके आने पर) प्रलीयते (प्रलीन होता है) अहरागमे (दिनके आनेपर) प्रभवति (पुनः उत्पन्न होता है) ॥१९॥

श्रीधर—तत्र च कृतनाशाकृताभ्यागमशंकां वारयन् वैराग्यार्थं सृष्टिप्रलयप्रवाहस्याविच्छेदं दर्शयति–भूतग्राम इति। भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहः यः प्रागासीत् स एवायमहरागमे भूत्वा भूत्वा रात्रेरागमे प्रलीयते। प्रलीय पुनरप्यहरागमेऽवशः कर्मादिपरतन्त्रः प्रभवति। नान्य इत्यर्थः ॥१९॥

अनुवाद—[कर्म करके उसके फलकी प्राप्ति न होना कृतनाश कहलाता है और कर्म बिना किये फल भोगना अकृताभ्यागम दोष है। सृष्टि आकस्मिक होने पर इस प्रकारकी आपत्ति उठ सकती है—इस शङ्काका निवारण करते हुए वैराग्यार्थ सृष्टि-प्रलय-प्रवाहका अविच्छेद भाव दिखला रहे हैं]—चराचर प्राणीसमूह जो पहले थे वे ही ब्रह्माके अहरागममें जन्म लेकर उनकी रात्रि आनेपर प्रलयको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार प्रलयको प्राप्त हो जानेपर फिर ब्रह्माके दिवसारम्भमें कर्मादिके वशमें होकर जन्म लेते हैं। जो लोग कर्मके वश होते हैं वे ही जन्म लेते हैं, दूसरे नहीं।

इस श्लोकके शाङ्कर भाष्यका अनुवाद—"जिसने कर्म नहीं किया उसको फल मिला और जिसने कर्म किया उसको फल नहीं मिला—इस प्रकारके दोषोंको यथाक्रम कृतनाश और अकृताभ्यगम दोष कहते हैं। इस प्रकारके दोषोंका परिहार करनेके लिए बन्ध और मोक्षके प्रतिपादक शास्त्रको पढ़कर जो लोगोंकी प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्तिकी सफलता दिखलानेके लिए तथा अविद्यादि क्लेशोंके कारण कर्माशयके वशमें विवश प्राणियोंका जो पुनः पुनः जन्म-मरण होता है और इस कारण संसारसे वैराग्य होता है, यह भी दिखलानेके लिए भगवान् कह रहे हैं कि भूतग्राम प्राणीसमुदाय, स्थावर और जङ्गम उभयविध, जो पूर्वकल्पमें था, वही फिर इस परिदृश्यमानरूपमें उत्पन्न होता है, अन्य नहीं। दिनका आगमन होनेपर इस प्रकार भूतग्राम उत्पन्न होता है और रात्रिके आगमनमें पुनः विलीन हो जाता है। अवश अर्थात् अस्वतन्त्र होकर फिर दिनके आगमनमें उसी प्रकार उत्पन्न होता है।"

प्रत्येक कल्पके अन्तमें ब्रह्मा एक कल्प तक निद्रित रहते हैं, उस समय समस्त स्थावर-जङ्गम वस्तुएँ अव्यक्तमें लीन हो जाती हैं। कल्पान्तमें ब्रह्मा जब जगते हैं तब उनका दिवसारम्भ होता है और उस समय स्थावर-जङ्गमात्मक सारी सृष्ट वस्तुएँ अव्यक्तसे व्यक्त अवस्थामें उपनीत होती हैं। ब्रह्माकी रात्रिमें त्रिलोक और त्रिलोकस्थ सारे जीव जब ध्वंस हो जाते हैं तो बीजरूपमें ब्रह्माके प्रकृति-गात्रमें संलग्न होकर सुप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार हम निद्राके समय पूर्व दिनकी चिन्ताओं और कर्मके संस्कारों को लेकर सोते हैं और जाग्रत होनेपर फिर उन्हीं संस्कारों और चिन्ताओंके साथ जग उठते हैं उसी प्रकार सारे जीव प्रलयकालमें अपने कर्मों और चिन्ताओंको लेकर अव्यक्तमें प्रवेश करते हैं और सृष्टिकालमें उन समस्त कर्म और चिन्ताओंको लेकर अव्यक्तसे बाहर निकल आते हैं। यह घटना पुनः पुनः चलती रहती है। अवश होकर जीव इस मायाके स्रोतमें बहता जाता है। ब्रह्मा केवल कर्मके साथ जीवोंको प्रकट करते हैं। इसको ही सृष्टि कहते हैं, परन्तु इस सृष्टिमें कोई नया जीव जन्म नहीं लेता, जो जीव पहले थे वे ही आते हैं, जीवको अपने शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार वेष बदलना पड़ता है। श्रुतिमें भी यही कहा गया है—

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥"—ऋग्वेद।

सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि लोक पूर्वकल्पमें जो जिस रूपमें था पर-कल्पमें भी विधाता उसी प्रकार उसकी रचना करते हैं॥ १९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब भूत—सृष्ट होकर प्रकृष्टरूपमें लयको प्राप्त होते हैं—अन्य दिशामें रहने पर; जो अवश होकर सबको होना पड़ता है—जो क्रिया नहीं करते फिर क्रिया करने पर अन्धकारसे स्वप्रकाश स्वरूपको प्राप्त होता है।—जीव अपने निजस्वरूपको समझनेके लिए वारंवार जन्म ग्रहण करता है। दुर्भाग्यवश जीव इस बातको भूल जाता है, इसीसे बार-बार आता है और बार-बार चला जाता है। उसका जन्म-मृत्यु-प्रवाह फिर रुकना नहीं चाहता। कितनी ही बार कितनी ही शुभ कामनाएँ कीं परन्तु कभी वे कार्यमें परिणत न हुईं इसीसे जीव जलमें बुद्बुदके समान व्यक्त होकर फिर उस अव्यक्तमें ही मिल गया। यही मानो जीवका अदृष्ट है, अवशरूपसे सारे जीव इस प्रकार प्रवाहमें कितनी ही बार डूबते हैं और कितनीही बार उठते हैं। जिसको खोजते हैं उसे पा नहीं रहे हैं। सुखकी खोजमें भटकते हुए अनेक बार दुःखको गले लगाते हैं। उसके सुखका भ्रम कदापि नहीं मिटता। अज्ञानान्ध जीव अपनी इस स्थूल देहके सिवा और कुछ नहीं देख पाता है। इस स्थूल देहके भोगके लिए जीव सदा ही मानो व्याकुल रहता है। इसीसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमय विषयोंके प्रति उत्कट लालसा होनेके कारण केवल विषय-चिन्तन करते-करते जड़वत् हो गया है। वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और तज्जनित शोक-तापादिसे सदा सन्तप्त होता रहता है तथापि भोग्य वस्तुमें उसकी आसक्ति नहीं छूटती। विषयभोगके लिए लोलुपचित्त होकर अनेक वासनाएँ करता है, अनेक कर्म सृजन करता है—जिनकी कोई गणना नहीं, सीमा नहीं। वासनाके संस्कारोंसे जीवके जन्म-मरणकी तरङ्गें रुकना

नहीं चाहतीं, अतएव उसके दुःखोंका अवसान होनेकी कोई सम्भावना नहीं दिखलायी देती। यद्यपि वह क्लेशके हाथसे मुक्ति पानेके लिए छटपट करता है, परन्तु ऐसा दुर्भाग्य है कि जितना ही वह क्लेशसे बचना चाहता है उतना ही अधिक जन्ममृत्युके महापाशमें फँसता जा रहा है। जो भोग-आशा उसको घोर नरकमें डालती है, उस भोग-आशाको अति तुच्छ देखकर भी उसे मनसे परित्याग नहीं कर पाता। साधनाभ्यास करने पर प्रज्ञालोक उदित होकर उसकी मोह-रात्रिका अवसान कर सकता था, परन्तु उस साधनाभ्यासके प्रति उसका वैसा अनुराग नहीं देखा जाता। साधनाभ्यास किये बिना प्रज्ञालोकके उदय होनेकी कोई संभावना ही नहीं है। अज्ञानान्धकारमें जीव अर्द्धमृत होकर केवल विषय-लोभमें विमुग्ध होकर परस्पर एक दूसरेको निरन्तर आघात कर रहे हैं और राक्षसके समान अस्थि-मांस चबाते हुए महानन्दमें ताण्डव नृत्य कर रहे हैं !!

इतना दुःख हम क्यों भोग रहे हैं? पिशाचके समान दुर्गन्धसे भरे पङ्किल विषयरस-पानमें हम क्यों विभोर हो रहे हैं? विषयकी अग्निमयी ज्वालामें दग्ध होकर भी हम क्यों नहीं विषयोंसे दूर हट जाते? यह बड़ा ही रहस्यमय व्यापार है! इसीसे दयालु गुरु कहते हैं—"मुग्ध जीव! अब उस प्रकारसे विषयोंमें मत डूबे रहो, एक बार उठो, एक बार जागो! पागलके समान ठीकरोंकी पोटली पेटसे चिपकाये मत बैठे रहो। गुरु जो साधना देते हैं, एक बार उस साधनामें उन्मत्त हो उठो। एक बार बाहरके व्यापारको छोड़कर भीतर प्रवेश करके देखो—कैसी सुन्दर, कैसी शोभामयी अपूर्व ज्योति है! यही तो तुम्हारा स्वरूप है, तुम क्यों पिशाचके समान इस अस्थि-मांस-रक्तमय देहको लेकर बार बार चबा रहे हो? एक बार गुरु-प्रदर्शित मार्ग पर चलकर देखो कि—

"अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥"—मुण्डक०।

अन्तःशरीरमें अर्थात् शरीरके अभ्यन्तर ब्रह्मरन्ध्रमें या हृदयाकाशमें सुवर्ण-वर्ण निर्मल आत्मा विराजित है, जिसका दर्शन शुद्धहृदय योगीजन करते हैं।

इस आत्माको कैसे प्राप्त करना होगा?

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।"—मुण्डक०।

इस आत्माको जानना है तो कायमनोवाक्यसे सत्यको आश्रय करना होगा। तपस्या करनी पड़ेगी। तपस्या क्या है? "मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः"—मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् आत्मदर्शनके द्वारा और ब्रह्मचर्य अर्थात् सब प्रकारके मैथुनके परित्यागके द्वारा इनको वशमें करने पर दोष क्षीण हो जाते हैं। तब फिर कालरात्रि या अत्यन्त दारुण मोहरात्रिमें पड़कर जीवको सन्तप्त नहीं होना पड़ता। यह शरीर-दृष्टि जबतक रहेगी तबतक बार-बार जन्म और मृत्यु अवश्य होगी। यदि क्रिया नहीं करते हो, मनको आत्ममुखी न करके केवल विषयमुखी रखते हो तो अवश होकर इस

प्रकार पुनः पुनः जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ते रहोगे, यही घोर तमोमयी रजनी है। इस मोहान्धकारसे निकलकर यदि स्वप्रकाश-स्वरूपका अनुभव करना चाहते हो तो यत्न करके साधनाभ्यास करो। इस जन्म-मरणके आवागमनसे परित्राण पानेका और कोई उपाय नहीं है। जो लोग आत्मा या भगवान्को चाहते हैं केवल वे ही गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करके जन्म-मरणके आवागमनको रोक सकते हैं ॥१६॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अन्वय—तु (परन्तु) तस्मात् अव्यक्तात् (उस अव्यक्तसे) परः (भिन्न) अन्यः (अन्य) अव्यक्तः (इन्द्रियोंके अगोचर) सनातनः (चिरन्तन) यः भावः (जो भाव है) सः (वह) सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (सब भूतोंके नष्ट होने पर भी) न विनश्यति (विनष्ट नहीं होता) ॥२०॥

श्रीधर—लोकानामनित्यत्वं प्रपञ्च्य परमेश्वर-स्वरूपस्य नित्यत्वं प्रपञ्चयति—पर इति द्वाभ्याम्। तस्माच्चराचरकारणभूतादव्यक्तात् परस्तस्यापि कारणभूतो योऽन्यस्त-द्विलक्षणोऽव्यक्तश्चक्षुराद्यगोचरो भावः सनातनोऽनादिः स तु सर्वेषु कार्यकारणलक्षणेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति ॥२०॥

अनुवाद—[सब लोकोंका अनित्यत्व प्रतिपादन करके परमेश्वरके स्वरूपका नित्यत्व प्रदर्शन करते हैं]—पूर्वोक्त चराचरके कारणभूत अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ अर्थात् उसका भी कारणरूप अन्य विलक्षण 'अव्यक्त' जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर है और जो सनातन और अनादि है और जो समस्त कार्य-कारणरूप है वह भूतोंके नष्ट होनेपर भी नाशको प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इसके बाद क्रियाकी परावस्थामें रहते हुए—वहाँ कुछ भी व्यक्त नहीं है, अव्यक्त भी नहीं है, वह सर्वदा ब्रह्ममें रहते हुए अन्तमें सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है—इस प्रकार जिसका मूलमें ज्ञान हो गया है वह नाशवान होते हुए भी विनाशको प्राप्त नहीं होता—विनाश—विशेषरूपसे नाशको प्राप्त नहीं होता अर्थात् अन्तरिक्षमें अणु-स्वरूपमें रहता है ब्रह्मका रूप होकर। उस रूपमें जो इच्छा करता है, वह इच्छा करनेके पूर्व ही अपने आप सम्पन्न हो जाता है या कर सकता है, यह यथार्थ और प्रत्यक्ष है। "जो करेगा वह देखेगा, जो देखता है, वह देखता है" यह कहनेसे किसीको विश्वास न होगा, करके देखो !!!—क्रियाकी परावस्थामें ही निर्विकल्प भाव होता है क्योंकि वहाँ किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती। वह निराधार और निराश्रय है क्योंकि उस अवस्थामें कोई अवलम्बन नहीं रहता। सब प्रपञ्चोंसे रक्षा पानेका वही एकमात्र आश्रय-स्थान है। क्रियाकी परावस्थामें जब सब वस्तुओंसे चिन्ता निवृत्त हो जाती है, तब फिर प्रवृत्ति कहाँ? उस समय प्रवृत्तिमें निवृत्ति नहीं होती और निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति नहीं होती। जहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों नहीं हैं, वहाँ सारी वस्तुओंके रहते हुए भी किसीमें भाव नहीं होता—अर्थात् आसक्तिपूर्वक दृष्टि नहीं होती तथापि सब कुछ देखता है, सुनकर भी

नहीं सुनता, सूँघकर भी नहीं सूँघता, खाकर भी नहीं खाता, छूकर भी नहीं छूता—इस प्रकारकी अवस्था होती है। तब योगी सुषुम्नामें रहते हुए सदा नशेमें रहते हैं, कोई काम आसक्तिपूर्वक नहीं करते, सबको ब्रह्ममय बोध करते हैं। इस प्रकारके योगीका सब कुछ ब्रह्मलीन हो जाता है। सारे प्रवृत्तिप्रवाह, संस्कार आदिके ब्रह्मलीन हो जानेपर भी वह विशेषरूपसे नाशको प्राप्त नहीं होते। उस समय भी वह अन्तरिक्षमें अणुस्वरूपमें अवस्थान करते हैं। वह अणुस्वरूप भाव भी ब्रह्मभाव होता है। उस अवस्थामें अवस्थित होकर जो चाहते हैं वही सिद्ध हो जाता है, चाहनेके पहले ही वह सम्पन्न हो जाता है। प्राणायाम करनेपर मनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और मनकी प्रसन्नता प्राप्त होते ही क्रियाकी परावस्था उपस्थित होती है। वाम श्वास, दक्षिण श्वास और मध्यश्वास—ये तीनों ब्रह्मरूप सुषुम्नामें रहनेवाले सूक्ष्म वायुके रूप हैं जो मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म है। यही अपने आपको जाननेका मन्त्र है। इसके द्वारा ही चञ्चल मन अन्य दिशामें न जाकर क्रियाकी परावस्थामें स्थिर होता है। यही स्थिरत्व निज बोध-स्वरूपका अनुभव करा देता है। तब योगी जितेन्द्रिय हो जाते हैं, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् और मनके ऊपर आत्मा कर्तृत्व करता है। क्रियाके द्वारा आत्माके वशीभूत होने पर सारी इन्द्रियाँ रहती हुई भी न रहनेके समान हो जाती हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—कर्मसाधनकी ये पाँचों इन्द्रियाँ क्रियाकी परावस्थामें रहती हुई भी नहीं रहतीं, क्योंकि उस समय आत्मा वागादि पाँचों अङ्गोंसे कर्म करनेकी इच्छा नहीं करता, इच्छा न करने पर ये सारे अङ्ग रहते हुए भी न रहनेके समान होते हैं। योगियोंकी ऐसी ही अवस्था होती है, यह शास्त्रमें लिखा है, योगीश्वर महापुरुषोंने इसको प्रत्यक्ष किया है। यही परमावस्था है, यही ब्रह्मभाव है, यह अविनश्वर है, समस्त भूतोंके लय होने पर भी यह रहता है। "आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता"—यह अव्यक्तसे भी अव्यक्त है। योगी लोग इसको इड़ा-पिङ्गला और सुषुम्नाकी अतीत अवस्था कहते हैं। कूटस्थकी ज्योतिसे ही यह प्रत्यक्ष शरीरादि इन्द्रियवर्ग प्रकाशित हो रहे हैं, परन्तु उस कूटस्थ-मण्डलकी ज्योति सबके लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं है। समस्तके कारण-स्वरूप कूटस्थ-मण्डलसे भी विशुद्ध एक और अव्यक्त भाव है, वही क्रियाकी परावस्था है, वह समस्त भूतमण्डलके विनष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। वही सवितृमण्डलमध्यवर्ती पुरुष हैं, वही नारायण हैं ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अन्वय—यः (जो) अव्यक्तः (अतीन्द्रिय भाव) अक्षरः इति (अक्षर इस शब्दमें) उक्तः (श्रुतिमें कथित है) तं (उसको) परमां गतिं (परम गति) आहुः (कहते हैं), यं (जिसको) प्राप्य (प्राप्त करके) न निवर्तन्ते (लौटना नहीं पड़ता) तत् (वह) मम (मेरा) परमं धाम (परम धाम अर्थात् स्वरूप है) ॥२१॥

श्रीधर—अविनाशे प्रमाणं दर्शयन्नाह—अव्यक्त इति। यो भावोऽव्यक्तोऽतीन्द्रियः अक्षरः प्रवेशनाशशून्य इति। 'तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' इत्यादि श्रुतिष्वक्षर इत्युक्तः। तं परमां गतिं गम्यं पुरुषार्थमाहुः—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादि श्रुतयः। परमगतित्वमेवाह—यं प्राप्य न पुनर्निवर्त्तन्त इति। तच्च ममैव धाम स्वरूपम्। ममेत्युपचारे षष्ठी। राहोः शिर इतिवत्। अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थः ॥२१॥

अनुवाद—[भगवान्के अविनाशित्वका प्रमाण देते हैं]—जो भाव अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रिय है उसको "अक्षर" अर्थात् प्रवेश-नाश-शून्य कहकर श्रुतिमें वर्णन किया है। "अक्षर-स्वरूपसे विश्व समुत्पन्न हुआ है" यह श्रुतिवाक्य है। इसे परम-गति अर्थात् परम पुरुषार्थ बतलाया गया है। श्रुतिमें लिखा है कि उस पुरुषसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। वह परमात्मा ही काष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा हैं और परम गति अर्थात् जीवकी जन्म-मृत्युकी निवृत्तिके एकमात्र कारण हैं। उनके परम गतित्वका कारण यह है कि उनको पाकर फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। वह मेरा परम धाम या स्वरूप है। 'मेरा धाम' कहनेमें 'मैं' और 'धाम' पृथक् वस्तु नहीं है, जैसे राहुका शिर कहनेसे पृथक् वस्तुका बोध नहीं होता क्योंकि राहु एक सिरमात्र ही है। अतएव मैं ही परम गति हूँ, यही अभिप्राय है ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अव्यक्त कूटस्थ अक्षर होता है—उसके लिए उपर्युक्त जो लिखा गया वह गुरु-वक्त्रगम्य है !!—वही स्थितिका कारण है, जहाँ जाकर स्थिर होने पर क्रियाकी परावस्थासे निवृत्त होना नहीं चाहता—अर्थात् अन्य दिशामें मन नहीं जाता !!! वही मेरा परम धाम है अर्थात् वहीं अटका रहता हूँ।—यह अव्यक्त ही अक्षर पुरुष है, यही परम गति है, ऐसी स्थिति प्राप्त करनेपर फिर लौटना नहीं पड़ता। क्रियाकी परावस्थामें मन प्रविष्ट होनेपर फिर वह दूसरी ओर जाना नहीं चाहता—यह परम निवृत्तिरूप लयविक्षेपशून्य अवस्था ही मेरा परम धाम है—"तद्विष्णोः परमं पदम्"। यह चिरनित्य ध्वंसशून्य अवस्था है, इस अवस्थाका फिर परिवर्तन नहीं होता। 'मेरा परम धाम' कहनेसे यह मनमें हो सकता है कि भगवान् और उनका धाम दो वस्तुएँ हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यद्यपि लोग बातचीतमें 'राहुका शिर' कहते हैं परन्तु सभी जानते हैं कि राहु और उसका सिर पृथक् नहीं है। अतएव इस धामकी प्राप्ति ग्रामादिकी प्राप्तिके समान नहीं है। इस धामको पानेका तात्पर्य है मुझको प्राप्त करना या मैं हो जाना। भ्रमवश अर्थात् देहदृष्टि होनेके कारण मैं और आत्मा दो पृथक् वस्तुएँ जान पड़ती हैं, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें देहदृष्टि तो होती ही नहीं, बुद्धिका भी कार्य नहीं रहता, अतएव पृथक् सत्ताकी उपलब्धिरूप भ्रम भी नहीं रहता। तब जीव और आत्मा एक अभिन्न स्वरूपमें प्रतीत होते हैं। यह परमात्मा ही जीवका अवलम्बन है। जीवकी अन्य पृथक् सत्ता नहीं है। बुद्धिमें उपस्थित परमात्मा ही जीवरूपमें प्रकाशित होते हैं। क्रियाकी परावस्थामें प्राणके निरुद्ध होनेपर उसके साथ मन और बुद्धि भी निरुद्ध हो जाती हैं। तब जीवभाव मिटकर एक अखण्ड परमात्मा ही विराजमान रहते हैं। परमात्माके साथ

जीवका यह सम्बन्ध जान लेनेपर जीव समझ सकता है कि "एषाऽस्य परमा गतिः"—यही उसके अर्थात् जीवके सर्वस्व हैं ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) भूतानि (भूत समूह) यस्य (जिसके) अन्तःस्थानि (भीतर अवस्थित हैं) येन (जिसके द्वारा) इदं सर्वं (यह सारा परिदृश्यमान जगत्) ततम् (व्याप्त हो रहा है) सः (वह) परः पुरुषः (परम पुरुष) तु (केवल) अनन्यया भक्त्या (अनन्य भक्तिद्वारा) लभ्यः (प्राप्य) [हैं] ॥ २२ ॥

श्रीधर—तत्प्राप्तौ च भक्तिरन्तरङ्गोपाय इत्युक्तमेवेत्याह—पुरुष इति । स चाहं परः पुरुषोऽनन्यया—न विद्यतेऽन्यः शरणत्वेन यस्याः तयैकान्तभक्त्यैव लभ्यः । नान्यथा । परत्वमेवाह—यस्य कारणभूतस्यान्तर्मध्ये भूतानि स्थितानि । येन च कारणभूतेनेदं सर्वं जगत् ततं व्याप्तम् ॥ २२ ॥

अनुवाद—[भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका अन्तरङ्ग उपाय है यह पहले कहा गया है । यहाँ फिर कह रहे हैं]—मैं ही वह परम पुरुष हूँ । जिसका कोई अन्य आश्रय नहीं रहता, केवल भगवान् ही जिसके एकमात्र आश्रय हैं, इस प्रकारके एकान्त भक्तके द्वारा वह पुरुष लभ्य हैं, अन्य किसीके द्वारा नहीं । वह परम पुरुष क्यों हैं, यह बतलाते हैं—उस कारणभूत पुरुषके भीतर ही ये सारे भूत स्थित हैं और वही कारणरूपमें इस समस्त जगत्में व्याप्त हैं ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसके परे एक पुरुष देखा जाता है, अर्थात् कूटस्थके परे—जो सब भूतोंके भीतर है वह ईश्वर ब्रह्मस्वरूप है—जिससे यह सब कुछ—जो देखते हो—हुआ है ।—भगवत्प्राप्तिका उपाय है अनन्य भक्ति । भक्तिका लक्षण है "स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते"—अपने स्वरूपका अनुसन्धान ही भक्ति है । वह क्या केवल शास्त्रपाठ या ब्रह्मविचार द्वारा प्राप्त हो सकेगी ? "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः"—शास्त्रपाठ करके भी लोग मूर्ख रहते हैं । "यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्"—जो शास्त्रविहित और गुरुके उपदेशके अनुसार साधनाभ्यासमें मनको आत्ममुखी करते हैं वही यथार्थमें विद्वान् हैं । भजन करते-करते अनन्य भजनशील हुए बिना कोई उस परम पुरुषको नहीं प्राप्त कर सकता । अनन्य भक्तिका स्वरूप श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—"अनन्यया आत्मविषयया"—आत्मविषयके सिवा जहाँ और कुछ बोलनेकी भी इच्छा नहीं होती, सोचनेकी भी इच्छा नहीं होती, देखने, सुनने और जाननेकी भी इच्छा नहीं होती—तभी अनन्य भक्ति होती है । क्रिया करके जब मनमें खूब नशा आ जाता है तब फिर मन किसी दूसरे विषयमें नहीं जाना चाहता, तभी अनन्य भाव होता है । इसलिए मनोयोगपूर्वक क्रिया करनी पड़ती है । मनोयोगपूर्वक क्रिया करनेसे क्रियाकी परावस्था शीघ्र ही प्राप्त होती है । अन्यमनस्क होकर क्रिया करने पर क्रियाका फल प्राप्त नहीं होता । मन लगाकर क्रिया

करने पर ॐकार-ध्वनि सुननेमें आती है, तब मन सहज ही स्थिर होता है। सदा ही क्रिया करने पर ब्रह्मरन्ध्रसे सुधामृतका वर्षण होता है, तब मनमें फिर चाञ्चल्य नहीं रहता, अतएव कोई इच्छा भी नहीं रहती। जो लोग भलीभाँति क्रिया करते हैं वे अपने भीतर सूर्यके समान प्रभाविशिष्ट एक स्वर्णाण्ड देख पाते हैं, उससे पुरुषोत्तमकी अभिव्यक्ति होती है। हिरण्यवर्ण कूटस्थके भीतर एक कृष्णवर्ण गोलक देखा जाता है, वही कारण-वारि है, उसके भीतर नक्षत्र-स्वरूप बीज है। कूटस्थके इस द्वारसे होकर गमन करने पर पुरुषोत्तमरूपका अनुभव होता है। वही नारायण हैं, नराकृति है और नराकृति नहीं भी है वह इस प्रकारका एक पुरुष है। कूटस्थके कृष्णवर्ण (कारण-सलिल)के भीतर उसकी स्थिति है, इसी लिए उसको नारायण कहते हैं। इस नारायणसे ही समस्त विश्व समुद्भूत हुआ है। अनन्यचित्तसे क्रिया करने पर क्रियावान् पुरुष कूटस्थके भीतर पुरुषोत्तम नारायणको अनुभव कर सकते हैं। पश्चात् क्रियाकी परावस्थामें बुद्धि निरुद्ध होने पर द्रष्टा और दृश्यका बोध लुप्त हो जाता है, दिक्-कालका ज्ञान भी निवृत्त हो जाता है, भेद-बुद्धि तिरोहित हो जाती है और अपूर्व समरसपूर्ण शिव-भावके द्वारा सब पूर्ण बोध होता है ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ !) तु यत्र काले (जिस कालमें) प्रयाताः (प्रयाण करने पर) योगिनः (योगीजन) अनावृत्तिं आवृत्तिं च एव (अनावृत्ति तथा आवृत्तिको) यान्ति (प्राप्त होते हैं) तं (उस) कालं (कालके विषयमें) वक्ष्यामि (कहता हूँ) ॥२३॥

श्रीधर—तदेवं परमेश्वरोपासकास्तत् पदं प्राप्य न निवर्त्तन्ते। अन्ये त्वावर्त्तन्त इत्युक्तम्। तत्र केन मार्गेण गता नावर्त्तन्ते? केन वा गताश्चावर्तन्ते? इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् काले प्रयाता योगिनोऽनावृत्तिं यान्ति, यस्मिंश्च काले प्रयाता आवृत्तिं यान्ति, तं कालं वक्ष्यामीत्यन्वयः। अत्र च रश्म्यनुसारी अतश्चायनेऽपि दक्षिणे—इति सूत्रितन्यायेनोत्तरायणादि-कालविशेषमरणस्य त्वविवक्षितत्वात्। कालशब्देन कालाभिमानिनीभिरातिवाहिकीभिर्देवताभिः प्राप्यो मार्ग उपलक्ष्यते। अतोऽयमर्थः—यस्मिन् कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिन उपासकाः कर्मिणश्च यथाक्रममनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं कथयिष्यामीति। अग्निज्योतिषोः कालाभिमानित्वाभावेऽपि भूयसामहरादिशब्दोक्तानां कालाभिमानित्वात् तत्साहचर्यादाम्रवणमित्यादिवत् कालशब्देनोपलक्षणमविरुद्धम् ॥२३॥

अनुवाद—[परमेश्वरकी उपासना करनेवाले उस पदको प्राप्त करके संसारमें फिर आवागमनको नहीं प्राप्त होते, दूसरे सभी आवागमनको प्राप्त होते हैं। अब यह बतला रहे हैं कि किस मार्गसे चलने पर पुनरावृत्ति नहीं होती और किस मार्गसे चलने

पर होती है]—जिस कालमें योगीजन प्रयाण करके अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं तथा जिस कालमें प्रयाण करके आवृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालके सम्बन्धमें कहता हूँ। वेदान्त-दर्शनमें दो सूत्र हैं—'रश्म्यनुसारी'—(४।२।१८) और "अतश्चायनेऽपि दक्षिणे"—(४।२।२०)—इनका अर्थ यह है कि विद्वान् पुरुष मूर्द्धन्य नाड़ीके द्वारा निष्क्रान्त होकर सूर्यरश्मि जो इस मूर्द्धन्य नाड़ीके साथ सम्बन्धित है उसका अवलम्बन करके ऊर्ध्वगमन करते हैं (४-२-१८)। पूर्वोक्त हेतुसे दक्षिणायनमें मृत्यु होने पर भी विद्वान् पुरुषको ब्रह्मप्राप्तिमें बाधा नहीं होती। वेदान्त-दर्शनके इस सूत्रमें कथित युक्तिके द्वारा उत्तरायणादि कालविशेषमें मृत्युकी कोई विशेषता नहीं दिखायी गयी है। अतएव समझना चाहिए कि यहाँ काल-शब्दसे कालाभिमानी आतिवाहिकी देवताओंके प्राप्य मार्गकी बात कही गयी है। अतएव इसका अर्थ यह है कि उपासक और कर्मी जिस कालाभिमानी देवताके उपलक्षित मार्गसे गमन करके यथाक्रम अनावृत्ति और आवृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालाभिमानी देवताके उपलक्षित मार्गकी ही बात कहता हूँ ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिस कालमें मरने पर पुनर्जन्म नहीं होता और जिस कालमें मरने पर जन्म होता है—योगियोंका अर्थात् समाधिस्थ लोगोंका—वह बतलाता हूँ। प्रकृष्टरूपसे जो ब्रह्ममें जाना चाहते हैं मृत्युकालीन निम्नलिखित कालमें वे जायँगे। —योगबलसे मर सकनेकी शक्ति यदि प्राप्त न हो तो कोई बाह्य उत्तरायण कालमें मरने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जो लोग ज्ञानी हैं अर्थात् सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें अवस्थित रहते हैं, उनके प्राणोंकी उत्क्रान्तिका श्रुतिमें निषेध पाया जाता है, "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"—उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। क्योंकि क्रियाकी परावस्थामें शरीरस्थ इन्द्रियाँ और जीवात्मा सब परमात्मामें लीन हो जाते हैं। मन जब चिन्मात्रमें स्थिति प्राप्त करता है तो शरीर भी ब्रह्ममय हो जाता है, तब इन्द्रियोंका भी पृथक् कोई कार्य नहीं रहता, वे भी ब्रह्मलीन हो जाती हैं। इन्द्रियादिके अभावमें विषयका भी अभाव हो जाता है। तब 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'—सब वस्तुओंका ब्रह्मके साथ भाव अर्थात् मिलन हो जाता है। तब आत्मा सारी उपाधियोंसे रहित, अलिङ्ग-मात्र रहता है। इस अवस्थामें देह शुष्क पत्रके समान गिर जाती है और देही तो ब्रह्ममय अवस्थामें ब्रह्म ही हुआ रहता है। उसकी फिर देहसे उत्क्रान्ति नहीं होती। ये ही जीवन्मुक्त पुरुष होते हैं। जो जीवन्मुक्त नहीं हो सके हैं, उनको देहान्तके बाद या कुछ समयके बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है वह विदेह मुक्ति है। साधारणतः यही मुक्ति प्रयत्नशील साधकप्रवर पुरुष प्राप्त करते हैं। शास्त्रमें इसको क्रममुक्ति कहते हैं, इसके विषयमें अगले श्लोकमें कहेंगे। जीवन्मुक्ति लाखों सिद्ध साधकोंमें कदाचित् कहीं किसीको प्राप्त होती है। वह जैसे असाधारण पुरुष होते हैं उसी प्रकारकी असाधारण मुक्ति भी उनको प्राप्त होती है। विदेह मुक्ति देह रहते भी साधकोंको सामयिक रूपसे होती है, परन्तु उस अवस्थामें उनकी स्थिति सर्वदा न रहनेके कारण उनको मुक्त नहीं मान सकते। जीवन्मुक्तका आत्मा देह रहते ही स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है। ब्रह्मसूत्रमें लिखा है—'अविभागेन दृष्टत्वात्' उस अवस्थामें जीवका आत्माके साथ अविभाग अर्थात् अभेद-भाव हो जाता है। अर्थात्

मुक्तात्माको सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके कारण सारे पदार्थोंमें ब्रह्मदर्शन होता है या "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकारका अनुभव होता है। पश्चात् वह अनुभव भी नहीं रहता, तब चिदाभासके साथ चिन्मात्रका और चिन्मात्रके साथ पुरुषोत्तमका चिर-सम्मिलन हो जाता है। परन्तु इस सम्मिलनके पहले उनका ईश्वरभाव होता है। श्रुतिमें कहा है कि वह स्वराट् हो जाते हैं, सब लोकोंमें इच्छामात्रसे ही उनकी गति होती है। सङ्कल्पमात्रसे पितृगण उनके सामने उपस्थित होते हैं। सारे देवता उनका बलि आहरण करते हैं। "आप्नोति स्वाराज्यम्, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, सर्वे देवा बलिमाहरन्ति।" वेदान्तदर्शनमें लिखा है—

'सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः'—४-४-८

'अतएवानन्याधिपतिः'—४-४-६

समस्त ऐश्वर्य उनको सङ्कल्पमात्रसे प्राप्त हो जाता है, वह अनन्याधिपति हो जाते हैं अर्थात् पूर्ण स्वाधीन हो जाते हैं, उनका अधिपति और कोई नहीं रहता।

इस शरीरके भीतर जो पुरुष है, इड़ा और पिङ्गला उसके दो पद-स्वरूप हैं। इन दो पदोंकी क्रियाके द्वारा तृतीय पद प्रकाशित होता है। नाभि-देशसे सुषुम्ना ही वह तृतीय पद है। यही स्थिरत्वका पद या क्रियाकी परावस्था है। इस अवस्थामें ब्रह्म अणुस्वरूप बोधका विषय बनते हैं। यह अवस्था जबतक है तबतक वह महत् है। उस समय स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, त्रिभुवनमें व्याप्त होकर उनकी महिमा प्रकाशित होती है। उस समय वह विश्वनाथ होते हैं। यह तीनों पाद मिलकर अमृत पाद होता है, वही 'परम व्योम'-स्वरूप है। इस प्रकारके पुरुषको जो जानता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। जो कुछ हुआ है या होगा, उन सबके साथ वह युक्त हो जाता है। देहमें रहते हुए भी वह देहातीत या मुक्त होता है। इन समस्त ब्रह्मभूत पुरुषोंका किसी स्थान-विशेषमें गमनागमन सम्भव नहीं है। "अत्र ब्रह्म समश्नुते" "अत्रैव समवलीयन्ते"—यहाँ ही वह ब्रह्मको प्राप्त होते हैं—उनका प्राण उत्क्रान्त नहीं होता, ब्रह्ममें ही लय हो जाता है।

मुक्त पुरुषोंकी बुद्धि समताको प्राप्त होती है। ब्रह्म-साक्षात्कार करने पर सुख-दुःखके प्रति उनका द्वेष या राग नहीं होता। यदि उनके प्रारब्ध कर्म फलोन्मुख होकर उनके लिए सुखकर या दुःखप्रद हों तो भी इनका गतिरोध करनेकी उनमें स्पृहा नहीं होती, अतएव भोगके द्वारा क्षय न होने तक उनकी स्थूल देह तथा तदनुगामी सुख-दुःखादि पूर्णतः नष्ट नहीं होते। देहान्त होने पर या उसके पहले ही वे स्वराट् हो जाते हैं, अतएव उनके व्यक्तित्वका लोप नहीं होता। व्यक्तित्व न रहने पर स्वराट् कौन होगा? उनका वह व्यक्तित्व देहात्माभिमानयुक्त नहीं होता, ईश्वरके साथ वह ऐकात्म्य-भावसे युक्त होता है। उनका सूक्ष्म शरीर रहता है, परन्तु उस शरीरके सारे उपादान अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियादि सभी ब्रह्मभावमय हो जाती हैं। वे इच्छा करने पर बहुत दिन तक इस देहको रख सकते हैं, नहीं भी रख सकते हैं। जब रखनेकी इच्छा नहीं होती, तब वे ब्रह्मके साथ एक हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त करते हैं। देहके रहते भी उनको सामीप्य और सारूप्य मुक्तिमें बाधा नहीं होती। नारदादि मुक्त पुरुष

इसी श्रेणीके हैं। परन्तु जिनके प्राण, मन, बुद्धि सदाके लिए ब्रह्ममें लीन हो जाती हैं, उनको फिर जगत्-ज्ञान नहीं रहता, अतएव देह-बोध भी नहीं रह सकता। वे इस जगत्में फिर जाग्रत नहीं होते, यदि कभी जागते भी हैं तो इस जगत्को जगत्रूपमें नहीं समझ पाते। एकमात्र ब्रह्माकारा वृत्ति रहती है। अतएव सबमें वे ब्रह्मको ही देखते हैं, उनके सामने जगत् मिथ्या जान पड़ता है। उनकी ब्रह्म-समाधि फिर कभी भङ्ग नहीं होती। इस श्रेणीके योगी स्वयं ही ब्रह्म हो जाते हैं, उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। उनको ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अज्ञान या माया उनको स्पर्श भी नहीं कर सकती। जो लोग ब्रह्मलोकमें जाकर ज्ञान प्राप्तकर मुक्त होते हैं उनकी गति भगवान् अगले श्लोकमें कहेंगे ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अन्वय—अग्निर्ज्योतिः (श्रुतिमें कथित अर्चि-अभिमानी देवता) अहः (दिवसाभिमानी देवता) शुक्लः (शुक्लपक्षाभिमानी देवता) षण्मासाः उत्तरायणम् (छः महीने उत्तरायणरूप उत्तरायणाभिमानी देवता) [अर्थात् इनका उपलक्षित मार्ग] तत्र (उस मार्गमें) प्रयाताः (गमन करने वाले) ब्रह्मविदः जनाः (ब्रह्मज्ञ पुरुष) ब्रह्म गच्छन्ति (ब्रह्मको प्राप्त होते हैं) ॥२४॥

श्रीधर—तत्रानावृत्तिमार्गमाह—अग्निरीति। अग्निर्ज्योतिःशब्दाभ्यां 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' इति श्रुत्युक्ताऽर्चिरभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते। अहरिति दिवसाभिमानिनी। शुक्ल इति शुक्लपक्षाभिमानिनी। उत्तरायणरूपाः षण्मासाः इत्युत्तरायणाभिमानिनी। एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां संवत्सरदेवलोकादिदेवतानामुपलक्षणार्थम्। एवंभूतो यो मार्गस्तत्र प्रयाता गता भगवदुपासका जना ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। यतस्ते ब्रह्मविदः। तथा च श्रुतिः—तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्नः आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकम्—इति ॥२४॥

अनुवाद—[यहाँ अनावृत्ति मार्गके विषयमें कहते हैं]—अग्निः ज्योतिः तेजके अधिष्ठात्री देवता हैं, इसके द्वारा श्रुतिमें कथित अर्चिके अभिमानी देवता उपलक्षित हैं। अहः—दिवसाभिमानी देवता, शुक्लः—शुक्लपक्षाभिमानी देवता, उत्तरायणरूप षण्मास अर्थात् उत्तरायणाभिमानी देवता, ये सब तथा वेदोक्त संवत्सर देवलोकादि देवताओंका जो उपलक्षित मार्ग है, उससे भगवान्‌की उपासना करनेवाले साधक प्रयाण करके ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे भी ब्रह्मविद हैं। श्रुतिमें लिखा है कि उत्तरमार्गगामी पहले अर्चिदेवताको प्राप्त होते हैं, अर्चिदेवतासे अहर्देवताको, अहर्देवतासे शुक्ल पक्षके देवताको, शुक्ल पक्षके देवतासे उत्तरायणके देवताको, उत्तरायणके देवतासे संवत्सरके देवताको, संवत्सरके देवतासे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको तथा चन्द्रमासे विद्युत्देवताको प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर उनको वहाँ ले जाते हैं। (शङ्कराचार्य 'ब्रह्मविदो जनाः' का अर्थ 'ब्रह्मोपासका जनाः' करते हैं उनकी

'क्रमेणेति वाक्यशेषः'—अर्थात् क्रममुक्ति होती है। इसका कारण दिखलाते हैं—
"न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शनानिष्ठानां गतिरागतिर्वा क्वचिदस्ति 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः। ब्रह्मसंलीनप्राणाः एव ते ब्रह्ममयाः, ब्रह्मभूता एव ते।"—
जो सम्यग् दर्शननिष्ठ सद्यमुक्तिभागी पुरुष हैं, उनका किसी स्थानमें गमन या आगमन नहीं होता। श्रुतिमें कहा है कि उनका प्राण उत्क्रमण नहीं करता। उनका प्राण ब्रह्ममें संलीन होता है, वे ब्रह्मभूत या ब्रह्ममय हो जाते हैं]॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चारों ओर अग्निकी ज्वालाके समान सारी दिशायें जल उठेंगी—उसके भीतर विद्युत् होगा—उसके भीतर दिनके समान प्रकाश होगा—श्वेतवर्ण—इस प्रकार मानो कोटि सूर्य और कोटि चन्द्रका उदय एकत्र हुआ है—छः मास दिन-रात क्रिया करते-करते इस प्रकार सामने उदय होगा—उसमें रहकर जो समाधिस्थ होते हैं—श्रेष्ठ पुरुष भीष्मादिके समान ब्रह्मज्ञ, अथवा ब्रह्मको जिन्होंने जान लिया है—शरीर त्याग करके।—ज्ञानीकी इस प्रकार मुक्ति नहीं होती अर्थात् वह स्वतः मुक्त होते हैं, उनकी मुक्ति कारणान्तरकी अपेक्षा नहीं करती। दो-चार पन्ने वेदान्त पढ़कर अथवा आत्मा-अनात्माका मौखिक विचार करके कोई ऐसा ज्ञानी नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञानी होनेके लिए बहुत साधन करना पड़ता है तथा सिद्धावस्था प्राप्तिके बाद भी यह अवस्था प्राप्त होनेमें बहुत विलम्ब होता है। लाखोंमें कहीं एक-दो साधक इस मृत्युलोकमें रहते हुए इस अवस्थाको प्राप्त होते हैं। जो लोग ऐसा अधिकारी न होकर भी उच्चाधिकारी हैं, उनको शरीर-त्यागके बाद ब्रह्मलोकमें रहते-रहते इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकारके उच्चाधिकार-सम्पन्न योगी जब देहत्याग करते हैं तब वह प्रस्तुत होकर ही देहत्याग करते हैं। छः मास दिन-रात क्रिया करते-करते कोटि सूर्य और कोटि चन्द्रके समान श्वेतवर्ण ज्योतिका प्रकाश अनुभूत होता है। सारी दिशाएँ मानो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान जल उठती हैं, उसमें निरन्तर विद्युत्-विलास-सा होता रहता है, और दिवालोकके समान सर्वत्र आलोक ही आलोक छा जाता है। यही उत्तरायणका पथ है अर्थात् इस पथसे होकर जानेसे साधक उत्तीर्ण हो जाता है। जिन्होंने जीवन पर्यन्त प्राणायाम अभ्यास किया है उनका सुषुम्ना-द्वार सदाके लिए खुल जाता है, तब यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्थामें गुरुके उपदेशके अनुसार ॐकार-क्रिया करके योगी ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे प्राणको बाहर करके ब्रह्मलोकमें प्रयाण करते हैं। जो भीष्मादिके समान ब्रह्मज्ञ हैं उनको भी इसी प्रकार साधन करके देहपात करना पड़ता है। जो उस समय तक भी ब्रह्मको पूर्ण रूपसे नहीं जान पाते, वे भी योगबलसे इस प्रकारसे देह त्याग करके ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं तथा वहाँ जाकर ब्रह्मज्ञ होकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

मृत्यु होनेपर जीवके सारे करण (अन्तःकरण तथा बाह्येन्द्रिय) सम्पिण्डित होकर कार्यमें अक्षम हो जाते हैं, उस अवस्थामें एक स्थानसे अन्य स्थानमें जाना उसके लिए संभव नहीं होता। इस कारण वहनकारी देवता (जिनको आतिवाहिक देवता कहते हैं) उसको लोकान्तरमें ले जाते हैं। वे देवता अर्थात् द्युतिमान् शक्तियाँ हैं। क्रियावान् पुरुष साधनके समय जो नाना प्रकारकी ज्योतिका दर्शन करते हैं, वे भी शक्तिमान् देवता हैं। वे शक्तिमान् ज्योतिर्मय देवता सूक्ष्मलोकमें विराजते हैं और वे साधकको

साधन-मार्गमें बहुत सहायता पहुँचाते हैं। ब्रह्मलोक गमनके लिए देवयान-मार्गमें भिन्न-भिन्न अनेक देवता जीवको एक स्थानसे अन्य उच्चतर स्थानमें ले जाते हैं। परन्तु उनमेंसे कोई भी जीवको ब्रह्मलोक नहीं ले जा सकते। विद्युदधिष्ठात्री-देवलोक प्राप्त होने पर ब्रह्मलोकसे एक अमानव पुरुष आकर जीवको ब्रह्मलोकमें ले जाता है। यही छान्दोग्य उपनिषद्‌में वर्णित है। योगी कहते हैं—

दक्षिणस्था पिङ्गला नाड़ी वह्निमण्डलगोचरा।
देवयानमिति ज्ञेया पुण्यकर्मानुसारिणी॥

दक्षिण नासिकामें जिस नाड़ी द्वारा वायु प्रवाहित होती है, उसका नाम पिङ्गला है। वह पिङ्गला अग्निके समान तेजोमयी है। इसको ही देवयान मार्ग कहते हैं। जो लोग पुण्यकर्मानुसारी हैं, उनकी ही इस मार्गसे गति होती है। योगी लोग इस नाड़ीमें मनको समाहित करके साधन करते हुए ज्योतिर्मय देवपथमें उत्तरोत्तर गमन करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। क्रिया करने पर ही अग्निज्योति प्रकाशित होती है। वह क्षिति, अप्, तेजकी अग्नि या तेज है। ब्रह्मविद् इस पञ्चाग्निको (अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र और कूटस्थ ब्रह्मको) जानकर देहत्याग करते हैं। यही भीतरकी पञ्चाग्निरूपी तपस्या है। जो श्रद्धापूर्वक एक मास, एक संवत्सर कूटस्थमें रहकर तपस्या करता है वह अपने ही रूपके समान एक पुरुष देखता है। पश्चात् जो चन्द्रके भीतर और विद्युत्के भीतर भी इस प्रकार देख पाते हैं, वहीं ब्रह्ममें प्रवेश करते हैं। यही देवयान गति है। यही अभय और अमृत पद है। कूटस्थके भीतर मणिके समान जो नक्षत्र दिखलायी देता है, वही इस शरीरका कर्त्ता है, वही आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है। क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें जो ऊर्ध्व स्थिति होती है, वही अमृत ब्रह्म है। क्रिया करके जिसका चित्त इस प्रकार ब्रह्ममें रहता है, वह फिर मातृगर्भमें नहीं आता। इस प्रकार ब्रह्मलीन अवस्थामें साधक वास्तविकरूपमें राजाधिराज हो जाते हैं।

सकाम साधक इस प्रकार देहत्याग नहीं कर सकते, उनकी पुनरावृत्ति होती है। परन्तु क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी (जीवन्मुक्त पुरुषको छोड़कर) सब जीवोंका मृत्युकाल उपस्थित होने पर उनकी वाक् आदि इन्द्रियाँ मनमें और मन मुख्य प्राणमें लय हो जाता है, मुख्य प्राण सूक्ष्म भूतका आश्रय लेता है। इस अवस्था तक ज्ञानी और अज्ञानीमें कोई विशेषता नहीं होती। इसके पश्चात् अविद्वान् अपने कर्मके उपयुक्त नाड़ीके द्वारा बहिर्गत होकर अपने कर्मके अनुसार लोकको प्राप्त होता है, परन्तु विद्वान् पुरुष उत्क्रमणकालमें हृत्पुण्डरीकमें जो एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें जो एक मुर्द्धाभिमुख नाड़ी जाती है, उस सुषुम्नाको अवलम्बन करके ऊर्ध्व दिशामें गमनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं। इसका क्रम वेदान्त-सूत्रमें इस प्रकार लिखा है—"तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया"—(४-२-१७) अपनी विद्याके प्रभावसे तथा अपनी अन्तिम गतिस्वरूप परमात्माकी सदा अनुस्मृति (क्रिया-साधन) के द्वारा हृदयमें स्थित पुरुषोत्तमके अनुग्रहसे, सौ नाड़ियोंमें जो प्रधान नाड़ी

सुषुम्ना है उसका मूलस्थान अर्थात् हृदयका अग्रभाग दीप्तियुक्त हो उठता है, उसके बाद उस नाड़ीका द्वार प्रकाशित होता है। विद्वान् पुरुष इसको जानकर उस नाड़ीके द्वारा निष्क्रान्त होकर सूर्यरश्मिका अवलम्बन करके ऊर्ध्व गमन करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि सूर्यरश्मिका अवलम्बन करके ऊर्ध्व गमन होता है तो रातमें सूर्यरश्मि न होनेके कारण जो विद्वान् पुरुष रातमें मरते हैं क्या उनको ब्रह्मप्राप्ति न होगी? यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है कि देह-सम्बन्ध विच्छिन्न होते ही विद्वान् पुरुषको ब्रह्मप्राप्ति होती है। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"। श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं कि 'देहके साथ सूर्यरश्मिका सम्बन्ध नियत है'। श्रुति भी कहती है, "अहरिवैतद्रात्रौ विदधाति"—अर्थात् सूर्यदेव रातके समय भी रश्मिदान करते हैं। इस कारण विद्वान् पुरुषकी दक्षिणायनमें मृत्यु होने पर भी उसकी ब्रह्मप्राप्तिमें कोई विघ्न नहीं होता। वेदान्त-दर्शनमें इसके लिए यह सूत्र है—"अतश्चायनेऽपि दक्षिणे"। इस सूत्रकी व्याख्यामें पूज्यपाद लाहिड़ी महाशयने जो कहा है उसका भाव यह है कि हृदयाग्रमें जो प्रकाश होता है उसीके द्वारा योगीका उत्क्रमण होता है, वह दिन-रात, दक्षिणायन-उत्तरायण सब अवस्थाओंमें हो सकता है। बाह्य सूर्यालोकके द्वारा हृदयका प्रकाश नहीं होता। बाह्य सूर्यके प्रकाशमें बाह्य देश प्रकाशित होता है, उसके द्वारा अन्तर-हृदय प्रकाशित नहीं होता। हृदयके ज्वलन या प्रकाशके द्वारा ही उत्क्रमण ठीक तौर पर होता है। हृदयाग्रके प्रकाशके द्वारा ऊर्ध्व नाड़ी प्रकाशित होती है, उसीकी रश्मिका अनुसरण करके आत्माका निष्क्रमण होता है। ऊर्ध्वनाड़ी अर्थात् सुषुम्नाका प्रकाश ही कूटस्थका प्रकाश है। क्रिया करते-करते रश्मिके ऊर्ध्वमें उत्क्रमण होता है। इस प्रकारकी रश्मिमें योगी रातदिन रहते हैं। यह भी एक प्रकारका लय है। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें कोई रश्मि नहीं होती, उस समय "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। क्रियाकी परावस्थामें जहाँ कोई रश्मि नहीं है, ब्रह्मवेत्ता लोग उसे ब्रह्म कहते हैं। क्रियाकी परावस्थाको प्राप्त और उसमें नित्य अवस्थित योगी ही प्रकृत ज्ञानी हैं। अतएव इस प्रकारके ज्ञानीको रश्मि या लोकान्तरकी अपेक्षा नहीं होती। उनके लिए दक्षिणायन-उत्तरायण भी नहीं होता ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

अन्वय—धूमः (धूमाभिमानी देवता) रात्रिः (रात्रि-अभिमानी देवता) कृष्णः (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) तथा (वैसे ही) षण्मासाः दक्षिणायनं (षण्मास दक्षिणायनाभिमानी देवता) [इनका उपलक्षित जो मार्ग] तत्र (उससे) [गमन करनेवाला] योगी (कर्मयोगी) चान्द्रमसं (चन्द्र सम्बन्धी) ज्योतिः (स्वर्गलोकको) प्राप्य (पाकर) [भोगके अन्तमें] निवर्तते (लौट आता है अर्थात् संसार-गतिको प्राप्त होता है) ॥२५॥

श्रीधर—आवृत्तिमार्गमाह—धूम इति। धूमो धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यादिशब्दैश्च पूर्ववदेव रात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनरूपषण्मासाभिमानिन्यस्तिस्रो देवता उपलक्ष्यन्ते। एताभिर्देवताभिरुपलक्षितो यो मार्गस्तत्र प्रयातः कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं प्राप्य तत्रेष्टापूर्त्तकर्मफलं भुक्त्वा पुनरावर्त्तते। अत्रापि श्रुतिः—'ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति' इति। तदेवं निवृत्तिकर्मसहितोपासनया क्रममुक्तिः। काम्यकर्मभिश्च स्वर्गभोगानन्तरं आवृत्तिः, निषिद्धकर्मभिस्तु नरकभोगानन्तरमावृत्तिः। क्षुद्रकर्मणा तु जन्तूनामत्रैव पुनर्जन्मेति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—[आवृत्तिमार्गको बतलाते हैं]—धूम शब्दसे धूमाभिमानी देवता, रात्रि शब्दसे रात्रि-अभिमानी देवता, कृष्ण शब्दसे कृष्णपक्षाभिमानी देवता, षण्मास शब्दसे षण्मास दक्षिणायनाभिमानी देवता आदि उपलक्षित होते हैं। इन देवताओंके उपलक्षित मार्गसे गमन करनेवाला कर्मयोगी चान्द्रमस-ज्योति अर्थात् तदुपलक्षित स्वर्गलोकको प्राप्त होकर वहाँ इष्टापूर्त्त (इष्ट = यज्ञादि, पूर्त्त = कूप-तड़ागादि दान) कर्मोंका फलभोग करके भोगके अन्तमें पुनरावर्त्तन करते हैं। श्रुतिमें लिखा है—कर्मयोगी जन मृत होने पर पहले धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। धूमदेवतासे रात्रिदेवताको, रात्रिदेवतासे कृष्णपक्षके देवताको, कृष्णपक्षके देवतासे दक्षिणायनके देवताको, दक्षिणायनके देवतासे पितृलोकके देवताको, पितृलोकके देवतासे आकाशके देवताको, आकाशके देवतासे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमण्डलमें स्वर्गभोगके लिए उनकी जलमय देह निर्मित होती है। चन्द्रमण्डलमें जाकर वे देवताओंका अन्न अर्थात् भोग्य बनते हैं। जो फलाकांक्षा-रहित होकर कर्म और उपासना करते हैं, उनकी क्रममुक्ति होती है। सकाम उपासकोंको स्वर्गभोगके पश्चात् पुनरावृत्ति होती है। निषिद्धकर्म करनेवालोंको नरकभोगके अनन्तर पुनरावृत्ति होती है। क्षुद्र कर्म करनेवाले जन्तु अर्थात् विद्याकर्म-शून्य पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादिका लोकान्तरमें आवागमन नहीं होता, वे इहलोकमें ही पुनः पुनः जन्मग्रहण करते हैं।

[छान्दोग्य श्रुतिमें लिखा है—"अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान् नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशं आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।"—जो ग्रामवासी गृहस्थ अग्निहोत्रादि नित्य कर्म और वृक्ष, कूप, वापी, तड़ाग आदिकी प्रतिष्ठा और अन्नदानादिरूप कर्म करते हैं, वे मृत्युके बाद धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रि-देवताको, रात्रिदेवतासे कृष्णपक्षके देवताको, कृष्णपक्षके देवतासे दक्षिणायन छः मासके देवताको प्राप्त होते हैं, परन्तु वे संवत्सरके देवताको प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायनके बाद वहाँसे वे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाश-देवतामें और आकाश-देवतासे चन्द्रमण्डलमें गमन करते हैं। यह दीप्तिमान् सोम ही ब्राह्मणोंके राजा हैं, जो अन्तरिक्षमें प्रत्यक्ष होते हैं। वही देवताओंके अन्न हैं। पितृयान द्वारा जो देवलोकमें जाते हैं वे चन्द्रमाके साथ मिलकर देवताओंका उपभोग्य बनते हैं। इन्द्रादि देवता उस चन्द्ररूपी अन्नको

भक्षण करते हैं। भक्षण करनेका अर्थ खा डालना नहीं है बल्कि पशु-भृत्यके समान देवताओंका भोगोपकरण बनना-मात्र है। देवताओंका भोगोपकरण होनेपर वे देवताओंके साथ सुखसे क्रीड़ा करते हैं। उनका पहले जलमय शरीर होता है और पश्चात् चन्द्रत्वकी प्राप्ति होती है। चन्द्रमण्डलसे फिर स्थूल शरीरके उपादानके निमित्त वे उपकरण संग्रह करते हैं। जबतक यज्ञादि कर्मोंका फल भोग नहीं लेते तबतक जीव चन्द्रलोकमें ही वास करते हैं।

स्थूल इन्द्रियाँ जीवके कर्म करनेका करण (साधन) हैं, मृत्युके बाद जब वे सम्पिण्डित हो जाती हैं तो इन्द्रियाँ सूक्ष्म भूतमें विलीन हो जाती हैं अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठात्रीदेवतारूपको प्राप्त होती हैं। एक-एक इन्द्रियके एक-एक देवता होते हैं। उन देवताओंमें जीवकी इन्द्रियशक्ति अन्तर्निहित हो जाती है। यही जलरूपताकी प्राप्ति है। अन्तमें वह सारी इन्द्रियशक्तियाँ चन्द्ररूप हो जाती हैं। चन्द्र है मन, चन्द्ररूप होनेका अर्थ यह है कि वे सारी इन्द्रियशक्तियाँ मनोमय हो जाती हैं। मनके न रहनेपर भोग किसका होगा? वह मन और चन्द्रमा एक ही वस्तु है। 'चन्द्रमा मनसो जातः'। जब हम सोते हैं तो सारी इन्द्रियशक्तियाँ सुप्त हो जाती हैं अर्थात् सारी इन्द्रियशक्तियाँ तब मनमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। परन्तु उस अवस्थामें भी मनका भोग होता है। वह भोगकाल या चान्द्र शरीर तबतक रहता है जबतक भोगका क्षय नहीं होता। भोगका क्षय होने पर निम्न रीतिसे जीवका अवरोहण होता है।

"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, ते इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति"—(छा० उ० ५—१०)
"कर्मफलक्षय पर्यन्त चन्द्रमण्डलमें अवस्थान करके तत्पश्चात् यथागत भावसे (अर्थात् जीव जिस भावसे या जिस क्रमसे चन्द्रमण्डल में है) उपर्युक्त धूमादि मार्गको लक्ष्य करते हुए पुनः लौटता है। पहले वह अन्तरिक्षलोकमें, अन्तरिक्षसे वायुमें, वायुमण्डलसे धूमके आकारमें, धूमाकारसे अभ्र अर्थात् सजल मेघके आकारको प्राप्त होता है। अभ्रसे जलवर्षणमें समर्थ मेघ बनता है, मेघसे वारिधारा-रूपमें भूमि पर गिरता है। अन्तमें जीव पृथिवी पर धान्य, यव, तृण-लता, तिल, माष (उरद) आदिके रूपमें जन्म-ग्रहण करता है। इस यव-व्रीहिकी अवस्थासे जीवका निकलना बहुत ही क्लेशकर होता है। पश्चात् यव-व्रीहिरूप प्राणियोंको जो जो प्राणी भक्षण करते हैं तथा रेतः सिञ्चन करते हैं, प्रायः उनके अनुरूप ही जीवको आकृति प्राप्त होती है।"

अवश्य, उपर्युक्त देह जीवोंकी भोगदेह नहीं होती, पृथिवी पर आनेके समय इन सारी अवस्थाओंके साथ केवल सम्बन्धयुक्त होकर या इनका आश्रय लेकर आना पड़ता है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि व्रीहि-यव आदि या लता-गुल्मादिको पीसते समय तो इन जीवोंको बहुत ही कष्ट होता होगा?—परन्तु ऐसी बात नहीं होती। भोगदेह होने पर तो यह हो सकता था, परन्तु वह जीवोंकी भोगदेह नहीं है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमण्डलसे अवरोहणके समय जीव संज्ञाशून्य हो जाते हैं, केवल कर्मसूत्रमें

आबद्ध होकर प्रेरितवत् इन व्रीहि-यवादिमें प्रविष्ट होते हैं, उस अवस्थामें उनको कोई अनुभव नहीं होता। अतएव व्रीहि, यव, फल आदिको पीसने या काटनेमें क्लेश होनेकी संभावना नहीं है।]॥ २५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जब योगी क्रियासे निवृत्त होता है अर्थात् अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करके, आत्मामें ध्यान न रखकर, अन्धकारमय रातके समान मोहित होकर अल्प चन्द्रकी ज्योतिके समान—संसारमें सुखावृत होकर—जो सुख चिरस्थायी नहीं है—क्योंकि चन्द्र एकसी अवस्थामें नहीं रहता और सूर्यके समान प्रकाशित नहीं है, तदनुरूप जगत् क्रमशः ह्रास और वृद्धिको प्राप्त होता है—इस प्रकारकी अवस्थामें अर्थात् क्षणिक सुखमें रहकर दक्षिणायनमें अर्थात् यमके घरमें सचेष्टित होकर मरता नहीं अर्थात् नहीं जाता। छः मास तक थोड़ी-बहुत क्रिया करता है—और साधारणतः साधु लोग प्रायः जब सूर्य दक्षिण दिशामें छः मास रहते हैं,—तब नहीं मरते। और उत्तर दिशामें जब सूर्य रहते हैं, तभी मरते हैं। पहले छः मास क्रिया करते-करते चन्द्रमाको देखते हैं—पश्चात् योनि-मुद्रामें कूटस्थको देखते हैं—फिर छः मासके बाद—भारी ज्योतिके साथ—तब वे मरते हैं। वह अधिक दिन—अर्थात् प्रायः एक वर्ष परिश्रम करके देख पाते हैं—तब व्याहृतिपूर्वक, योनिमुद्रामें ॐकारकी क्रियामें जिसका विस्तार १२वें श्लोकमें है।—योगियोंका मन जब भौतिक वस्तुकी ओर जाता है तभी उनका जगद्-व्यापार आरम्भ होता है, ऐश्वर्य विकसित होता है और उसके साथ-साथ मान-प्रतिष्ठाके प्रति आसक्ति होती है। जो इस प्रकार जगद्-व्यापारमें मग्न हो जाते हैं, उनके ज्ञानकी प्रतिभा न्यून हो जाती है। वे अल्प सुखमें मोहित होकर संसारीके समान विवेकभ्रष्ट हो जाते हैं। यह सुख भी चिरस्थायी नहीं होता, थोड़े दिनोंके भीतर सारी विभूतियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्थामें योगीकी मृत्यु होने पर वह स्वर्गादि लोकोंमें उपनीत होकर वहाँ कुछ दिन सुख भोग करते हैं, पश्चात् वहाँसे जगत्में फिर लौट आते हैं। उनको भी साधनशक्तिके प्रभाव से कुछ ज्ञान रहता है, परन्तु सूर्यके आलोक और चन्द्रके आलोकमें जो पार्थक्य दीख पड़ता है, प्रकृत सिद्धज्ञानीके साथ उनका भी वही पार्थक्य होता है। चन्द्र जैसे सम अवस्थामें नहीं रहता, वैसे ही विमूढ़ योगियोंका सुख सदा स्थिर नहीं रहता, चन्द्रके समान ह्रास-वृद्धिको प्राप्त होता है। परन्तु जो उत्तम योगी हैं, जो साधनमें सचेष्ट रहकर भगवत्कृपासे साधनामें सिद्धि प्राप्त करते हैं, उनको मृत्युके लिए कोई आतङ्क नहीं होता, मृत्युके लिए वह सदा ही प्रस्तुत रहते हैं। २४वें श्लोकमें जो गति कही गयी है, वही गति उनको प्राप्त होती है। अर्थात् देहत्याग करनेके बाद वे ब्रह्मलोकको उपनीत होते हैं। इस प्रकारका देहत्याग योगबलके बिना नहीं होता। उनकी दक्षिणायनमें इच्छापूर्वक मृत्यु नहीं होती। मृत्यु मानो उनको खींच ले जाती है। जो लोग थोड़ी-थोड़ी क्रिया करते हैं उनको इस प्रकारकी गति नहीं हो सकती। उनको कूटस्थ-ज्योतिका वैसा प्रकाश अनुभूत नहीं होता। मन चञ्चल रहता है, उस अवस्थामें रात्रिके अन्धकारके समान तामसी शक्तिका विकास होता है। विषयासक्ति-रूप अज्ञानान्धकार उनके मनको सदा घेरे रहता है। बहुत थोड़े समयके लिए जो कुछ ज्ञानका विकास होता है, वह भी क्षणस्थायी और स्वल्प-प्रकाशयुक्त होता है। यह

उत्तरायणके ठीक विपरीत मार्ग है। इस समयमें देहत्याग होने पर स्वर्गादि भोगके बाद फिर मर्त्यलोकमें लौट आना पड़ता है। इस महामार्गको पितृयान मार्ग भी कहते हैं। भक्तिमान् प्राज्ञ योगी जब देखते हैं कि अपने मनमें अब भी विषयकी छाया पड़ रही है, अतएव कूटस्थ-दर्शन वैसा स्पष्ट नहीं हो रहा है, तब वह और भी परिश्रम करके छः मास दिन-रात प्राणायाम करते हैं। इसके फलस्वरूप वह योनिमुद्रामें सुस्पष्ट रूपसे कूटस्थको देख पाते हैं। यदि उनकी आयु और शक्ति रहती है तो और भी छः मास परिश्रम करके क्रिया करनेपर उनको अति बृहत् कूटस्थ-ज्योतिका प्रकाश अनुभूत होता है, उस समय यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो फिर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥

अन्वय—जगतः (जगत्के) हि एते (ये) शुक्लकृष्णे (शुक्ल और कृष्ण दोनों) गती (मार्ग) शाश्वते मते (अनादि करके प्रसिद्ध हैं), एकया (इन दोनों गतियोंमें एकके द्वारा) अनावृत्तिं याति (मोक्ष प्राप्त होता है) अन्यया (अन्य गतिके द्वारा) पुनः आवर्त्तते (पुनरावर्त्तन करना पड़ता है) ॥२६॥

श्रीधर—उक्तौ मार्गावुपसंहरति शुक्लेति। शुक्लाऽर्चिरादिगतिः, प्रकाशमयत्वात्। कृष्णा धूमादिगतिः तमोमयत्वात्। एते गती मार्गौ ज्ञानकर्माधिकारिणो जगतः शाश्वते अनादी संमते संसारस्यानादित्वात्। तयोरेकया शुक्लयाऽनावृत्तिं मोक्षं याति। अन्यया कृष्णया तु पुनरावर्त्तते ॥ २६ ॥

अनुवाद—[उपर्युक्त दोनों मार्गोंका उपसंहार करते हैं]—शुक्ल अर्थात् प्रकाशमय होनेके कारण अर्चि आदि गति, तथा कृष्ण अर्थात् तमोमय होनेके कारण धूमादि गति—ये दोनों गतियाँ जगत्में ज्ञान और कर्मके अधिकारियोंके लिए अनादि-रूपसे प्रसिद्ध हैं। संसारके अनादि होनेके कारण ये दोनों गतियाँ भी अनादि हैं। इनमें एक यानी शुक्ला गतिके द्वारा मोक्ष-प्राप्ति होती है, दूसरी अर्थात् कृष्णा गतिके द्वारा पुनरावृत्ति होती है ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उज्ज्वल और काली—ये दो जगत्की नित्य गतियाँ हैं; उज्ज्वल अर्थात् दिन; काली अर्थात् रात—जिसका विस्तार २४ वें श्लोकमें है। परन्तु दिनमें अर्थात् उत्तरायण, भारी ज्योतिके साथ देखकर मरनेसे आवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता—और केवल चन्द्रको देखकर मरने पर पुनर्जन्म होता है, इसी कारण साधु लोग कोटि चन्द्र और कोटि सूर्यका प्रकाश, चारों ओर अग्निमें विद्युत् उसके बाद कूटस्थ ब्रह्म पुरुषोत्तमको देखकर मृत्यु—जिन सब साधुओंकी होती है, वे उस कूटस्थके सामने मृत्यु होने पर भी बैठे रहते हैं, जो लोग इस क्रियाको करते हैं भली-भाँति योनिमुद्रामें, अनेकको समस्त साधुओंके साथ दर्शन हुआ है। अतएव उनको सालोक्य-प्राप्ति हुई है, यह अनेकोंने देखा है।—अब भगवान् इन दोनों मार्गोंका उपसंहार करते

हैं। हे जीव! उद्देश्य यह है कि इस अनावृत्ति और पुनरावृत्तिके दोनों मार्गोंको अच्छी तरह समझ लो। जीव यदि इन दोनों मार्गोंको समझकर सावधान न हुआ तो उसको कृष्णागति या उसकी अपेक्षा भी निकृष्ट गति प्राप्त हो सकती है। उत्तरायण उत्तीर्ण होनेका मार्ग है तथा दक्षिणायन उसके विपरीत है। जो गुरुके उपदेशके अनुसार साधनमें सचेष्ट हैं और उत्साहयुक्त हैं, वे इस पथका साक्षात्कार इसी जन्ममें अनेक वार करते हैं। तथा जो साधु लोग पार हो गये हैं वे भी इस ज्योतिर्मय कूटस्थ-मण्डलके भीतर ज्योतिर्मय मूर्तिमें बैठे हुए दीख पड़ते हैं। इसको ही सालोक्य मुक्ति कहते हैं, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति इसके बाद होती है। इस प्रकारके साधकोंके मृत्यु-कालमें मानो कोटि चन्द्र और कोटि सूर्यका प्रकाश होता है। चारों ओर प्रज्वलित अग्निके समान दीप्ति देखते हैं, उसके भीतर स्थिर विद्युत्के समान ज्योति प्रकाशित होती है। उसके भीतर परम सुन्दर पुरुषोत्तम नारायण विराजमान हैं। उस मण्डलके भीतर कितने ही सिद्ध पुरुष, कितने ही मुक्त पुरुष रहते हैं। उन सभी सालोक्य-प्राप्त मुक्त पुरुषोंको साधक लोग नित्य चिन्मय देहमें कूटस्थके भीतर अवस्थित देखते हैं॥ २६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एते सृती (इन दोनों गतियोंको) जानन् (जानते हुए) कश्चन योगी (कोई भी योगी) न मुह्यति (मोहको प्राप्त नहीं होते) तस्मात् (अतएव) अर्जुन (हे अर्जुन!) सर्वेषु कालेषु (सब समयमें) योगयुक्तः भव (योगयुक्त हो)॥ २७॥

श्रीधर—मार्गज्ञानफलं दर्शयन् भक्तियोगमुपसंहरति—नैते इति। एते सृती मार्गौ मोक्षसंसारप्रापकौ जानन् हे पार्थ कश्चिदपि योगी न मुह्यति। सुखबुद्ध्या स्वर्गादिफलं न कामयते। किन्तु परमेश्वरनिष्ठ एव भवतीत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥ २७॥

अनुवाद—[मार्गज्ञानका फल दिखलाते हुए भक्तियोगका उपसंहार करते हैं]—मोक्ष और संसारको प्राप्त करानेवाले इन दोनों मार्गोंको जानकर कोई भी योगी मुग्ध नहीं होते अर्थात् सुख-बुद्धिके वश होकर स्वर्गादिकी कामना नहीं करते, बल्कि परमेश्वरनिष्ठ होकर ही रहते हैं। अतएव हे अर्जुन, तुम सदाही योगयुक्त हो॥ २७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योगी लोग कभी मुग्ध नहीं होते अर्थात् समाधिस्थ होने पर अन्य वस्तुमें कभी दृष्टि नहीं होती—इस कारण सदा समाधिस्थ होकर ब्रह्ममें अटके रहते हैं।—समाधिमें स्थिति हुए बिना विषयका मोह नहीं कटता, समाधिस्थ पुरुषकी विषयान्तरमें दृष्टि नहीं जाती। वारम्वार तुम भलीभाँति समझते हो तथापि चित्त विषयोंके लोभमें दौड़ जाता है, ऐसा ही विषयोंका आकर्षण है तथा विषयको स्वादिष्ट मानकर विषयके प्रति मनका इतना दृढ़ संस्कार है! अतएव उससे

बचनेका उपाय क्या है ? इसीसे जगद्गुरु कहते हैं कि अशुभ कर्म करके नरकका मार्ग प्रशस्त मत करो, शुभ कर्मके अनुष्ठानसे स्वर्ग प्राप्ति तो होती है, परन्तु वह स्थान भी सदाके लिए नहीं होता। कर्मक्षय होने पर भोगके अन्तमें फिर संसारमें लौटकर आना पड़ेगा। यहाँ आकर फिर वे ही शुभाशुभ कर्म और फिर उसी स्नेह-ममतासे जड़ित होकर कितने दुःख, कितनी दुर्गतिको प्राप्त होना पड़ेगा! फिर उससे अव्याहति किस प्रकार मिलेगी ? इसलिए योगाभ्यास करो, योगाभ्यासके फलसे धारणा-ध्यान आयत्तीकृत होगा, पश्चात् ध्यानकी गम्भीरावस्थामें अपनेको भूल जाओगे, मायाके स्पर्शकी सीमासे बाहर चले जाओगे। वहाँ जो चित्त होगा वह कामदोषसे दूषित न होगा। योगदर्शनमें लिखा है—'तत्र ध्यानजमनाशयम्'—(योगदर्शन-कैवल्यपाद)—सिद्ध चित्तके भीतर ध्यानज चित्त अनाशय होता है अर्थात् उसमें रागादि प्रवृत्ति नहीं होती। शुद्ध अस्मिता-स्वरूपमें प्रत्ययका बहुत्व नहीं होता, अतः वहाँ सजातीय और विजातीय भेदका ज्ञान लुप्त हो जाता है। उस अवस्थामें काम्य कर्म विद्यमान नहीं रह सकते। अतएव वारंवार कूटस्थमण्डलको देखो, उस ज्योतिके भीतर पुरुषोत्तमको देखकर जीवन सार्थक करो। तुम्हारा वारंवारका आवागमन छूट जायगा ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः।

अन्वय—वेदेषु (वेदाध्ययनमें) यज्ञेषु (यज्ञसम्पादनमें) तपःसु (तपस्याके अनुष्ठानमें) दानेषु च (तथा सत्पात्रको दान करनेमें) यत् एव (जो) पुण्यफलं (पुण्यफल) प्रदिष्टम् (शास्त्रमें उपदिष्ट है) इदं (यह तत्त्व) विदित्वा (जानकर) तत्सर्वं (उस समस्त फलको) योगी अत्येति (योगी अतिक्रम करते हैं) च (और) आद्यं (जगत्का मूलस्वरूप) परं स्थानं (परम स्थान अर्थात् विष्णुके परम पदको) उपैति (प्राप्त होते हैं) ॥२८॥

श्रीधर—अध्यायार्थमष्ट-प्रश्नार्थनिर्णयं सफलमुपसंहरति—वेदेष्विति। वेदेष्वध्ययनादिभिः, यज्ञेष्वनुष्ठानादिभिः, तपःसु कायशोषणादिभिः; दानेषु सत्पात्रेऽर्पणादिभिः; यत्पुण्यफलमुपदिष्टं शास्त्रेषु तत्सर्वमत्येति, ततोऽपि श्रेष्ठं योगैश्वर्यं प्राप्नोति। किं कृत्वा ? इदमष्टप्रश्नार्थनिर्णयेनोक्तं तत्त्वं विदित्वा। ततश्च योगी ज्ञानी भूत्वा परमुत्कृष्टमाद्यं जगन्मूलभूतस्थानं विष्णोः परमं पदं प्राप्नोति ॥ २८ ॥

अष्टमेऽष्टविशिष्टेष्टसंपृष्टार्थाष्टनिर्णयैः।
अक्लिष्टमिष्टधामाप्तिः स्पष्टिताष्टमवर्त्मना ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां तारकब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[अध्यायार्थ अष्ट प्रश्नोंके अर्थ-निर्णयका फलके साथ उपसंहार कर रहे हैं]—वेदाध्ययनके द्वारा, यज्ञानुष्ठानके द्वारा, कायशोषणादि तपस्याके द्वारा, सत्पात्रमें अर्पणादि दानके द्वारा प्राप्त जो पुण्यफल शास्त्रोंमें उपदिष्ट है, योगी उस समस्त पुण्यफलको अतिक्रमण करते हैं अर्थात् उसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ योगैश्वर्यको प्राप्त करते हैं। किस प्रकार वे उस समस्त पुण्यफलको अतिक्रमण करते हैं? इस अध्यायमें कथित अष्ट प्रश्नोंके निर्णयके द्वारा जो तत्त्व निर्दिष्ट हुआ है उस तत्त्वको जानकर। तत्पश्चात् योगी ज्ञानी होकर उत्कृष्ट, जगत्के मूलभूत, विष्णुके परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सम्पूर्ण देखता सुनता है—सम्पूर्ण क्रिया करता है—सब लोगोंको क्रिया देकर कूटस्थमें सर्वदा रहकर जो फल होता है—इस सबको अतिक्रम करके योनिमुद्रामें इस प्रकार कूटस्थ, समस्त साधु मानो सामने बैठे हैं देखने पर फल होता है। पश्चात् क्रिया करते-करते प्रायः बीच-बीचमें बीस हजार सात सौ छत्तीस (२०७३६) बार प्राणायाम एकासनमें बैठकर क्रमशः अभ्यास करते-करते ऐसा एकासन प्राप्त होता है अर्थात् क्रियाकी जो परावस्था है उसी अवस्थामें सदा रहता है—जिसके परे कोई और स्थान नहीं है अर्थात् परम स्थान ब्रह्म—उसमें लीन होकर रहता है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति होती है—जो सबका आदि है—क्रियाकी परावस्था ही सर्वोच्च अवस्था है, उस समय 'मैं' या 'मेरा' कुछ भी नहीं रहता। सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। क्रिया करनेपर बीच-बीचमें साधककी यह अवस्था होती है, परन्तु वह अधिक समय तक स्थायी नहीं होती। जो सर्वदा क्रिया करते हैं तथा बीच-बीचमें एकासन पर २०७३६ बार प्राणायाम करते हैं उनकी यह ध्यानावस्था सुदीर्घ होती है। इस अवस्थामें जो सर्वदा रहते हैं वही मुक्त पुरुष हैं। इस अवस्थाको ही विष्णुका परम पद कहते हैं। इस अवस्थाकी प्राप्तिका मूलभूत कारण है प्राणायामका अभ्यास और उसमें पटुताकी प्राप्ति। इस अभ्यासके द्वारा ही प्राण ऊर्ध्वगति प्राप्त करके स्थिर होता है, प्राणकी इस स्थिरावस्थासे ध्येय वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इन्द्रिय और मनकी चपलता दूर होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इस प्रकारके शुद्धान्तःकरणमें ही परम पद प्रकाशित होता है जिसे प्राप्तकर योगी कृतकृत्य हो जाते हैं। इनके सामने दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि विभूतियाँ अथवा अनेक विषयोंका ज्ञान तुच्छ है। जो जीवके कल्याणके लिए क्रियाका उपदेश करते हैं या कूटस्थमें रहनेका प्रयत्नरूप तप करते हैं, उससे जो पुण्य होता है उसकी अपेक्षा भी अधिकतर फल वह प्राप्त करते हैं जो क्रियाकी परावस्थामें सर्वदा रहते हैं। यह क्रियाकी परावस्था ही विष्णुका परम पद है ॥ २८ ॥

इति श्रीश्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका नामक गीताके अष्टम अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

नवमोऽध्यायः

(राजविद्या राजगुह्य योगः)

श्रीभगवानुवाच

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले), इदं तु (यह) गुह्यतमं (अति गूढ़) विज्ञानसहितं ज्ञानं (विज्ञानके सहित ज्ञान) अनसूयवे (असूया-रहित, दोष-दृष्टि-विहीन) ते (तुमको) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा), यत् ज्ञात्वा (जिसे जानकर) अशुभात् (संसार-बन्धनसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे) ॥१॥

श्रीधर—परेशः प्राप्यते शुद्धभक्त्येति स्थितमष्टमे ।
नवमे तु तदैश्वर्यमत्याश्चर्यं प्रपञ्च्यते ॥

एवं तावत् सप्तमाष्टमयोः स्वीयं पारमेश्वरं तत्त्वं भक्त्यैव सुलभं नान्यथेत्युक्त्वेदानीमचिन्त्यं स्वकीयमैश्वर्यं भक्तेश्चासाधारणं प्रभावं प्रपञ्चयिष्यन् श्रीभगवानुवाच—इदमिति । विशेषेण ज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानमुपासनम् । तत्सहितं ज्ञानमीश्वरविषयम् । इदं त्वनसूयवे पुनः पुनः स्वमाहात्म्यमेवोपदिशतीत्येवं परमकारुणिके मयि दोषदृष्टिरहिताय ते तुभ्यं वक्ष्यामि । तु शब्दो वैशिष्ट्यो । तदेवाह—गुह्यतममित्यादिना । गुह्यं धर्मज्ञानं, ततो देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं; ततोऽपि परमात्मज्ञानमतिरहस्यत्वाद् गुह्यतमम् । यज्ज्ञात्वाऽशुभात् संसारान्मोक्ष्यसे सद्य एव मुक्तो भविष्यसि ॥१॥

अनुवाद—[शुद्धा भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह आठवें अध्याय में कहा गया है, अब इस नवम अध्यायमें उनके अत्याश्चर्य ऐश्वर्यका वर्णन किया जायगा] ।

[स्वकीय पारमेश्वर तत्त्व भक्ति द्वारा ही सुलभ है, अन्य उपायसे नहीं—यह सप्तम और अष्टम अध्यायोंमें कहा गया है, अब स्वीय अचिन्त्य ऐश्वर्य और भक्तिका असाधारण प्रभाव ,वर्णन करनेके लिए] श्रीभगवान् बोले, जिसके द्वारा विशेषरूपसे भगवान् जाने जाते हैं वही विज्ञान अर्थात् उपासना है । उसके साथ-साथ ईश्वरविषयक ज्ञान तुमको बतलाऊँगा क्योंकि तुम असूयारहित हो अर्थात् मैं जो पुनः पुनः स्वमहात्म्यका उपदेश कर रहा हूँ, इस प्रकारके परम कारुणिक मुझमें तुम दोषदृष्टिसे रहित हो । 'तु' शब्द द्वारा यहाँ वैशिष्ट्य निर्धारण किया गया है । [वह विशिष्ट ज्ञान क्या है, बतलाते हैं] धर्मज्ञान ही गुह्य है, देहादि-व्यतिरिक्त आत्मज्ञान उससे गुह्यतर है और परमात्मज्ञान उसकी अपेक्षा भी रहस्यमय होनेके कारण गुह्यतम है । इस गुह्यतम ज्ञानको

जानकर तुम संसार-बन्धनसे सद्य ही मुक्त हो जाओगे। [विज्ञानसहितमनुभवयुक्तम्—साक्षात्कार या अनुभवयुक्त—शङ्कराचार्य] ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—इस समय मैं तुमको ज्ञान-विज्ञान बतला रहा हूँ जिसे जानकर उत्तमरूपसे सहज ही मङ्गलमय मोक्षपद पाओगे।—

आठवें अध्यायमें साधना द्वारा किस प्रकार क्रममुक्ति प्राप्त हो सकती है, यह भगवान्ने बतलाया है। सातवें अध्यायमें अनुभवके सहित ज्ञान, जिसे जान लेने पर कुछ जाननेके लिए बाकी नहीं रहता, वह उन्होंने अर्जुनको बतलाया है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि वह ज्ञान भी दुर्लभ है। इस स्वानुभव ज्ञानको सभी नहीं समझ सकते, इसी कारण शास्त्र कहते हैं कि उपयुक्त अधिकारीको ही ज्ञान देना चाहिए, अनुपयुक्तको नहीं। गुह्य विषय सुननेका विशेष अधिकारी वही है जिसमें गुरुके प्रति अचला भक्ति हो, जो गुरुके वाक्यमें दोष ढूँढ़नेकी इच्छा न करता हो। इसीसे भगवान् अर्जुनको विशेष अधिकारी समझकर उनके सामने गुह्यसे गुह्यतर बात प्रकट करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं।

भगवान्की जो ईश्वरीय मायाशक्ति जगदादिरूपमें उत्पन्न हुई है, उसका मूलतत्त्व भी अतिशय रहस्यमय है। उस तत्त्वको न समझ सकनेके कारण संसारके असंख्य जीव मोहपाशमें आबद्ध हो रहे हैं। सत्सङ्ग, शास्त्रावलोकन और साधु-सन्तकी कृपासे हमारे चित्तमें ये श्रुत्युक्त प्रश्न उठते हैं—

"किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता, जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥"

—(श्वेता० उप०)

इस श्रुत्युक्त ज्ञेय वस्तुको जाननेके लिए जो मनका उद्योग है वही 'ज्ञान' कहलाता है और जीवभूता क्षेत्रज्ञरूपा जो प्रकृति है—जो प्राणशक्तिके रूपमें प्राणियोंमें प्राणधारणका कारण बन रही है, जो अन्तःप्रविष्ट होकर इस जगत्को विधृत कर रही है, वह परमात्माकी उत्कृष्ट प्रकृति क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा है, उसको जान सकना ही गुह्यतर ज्ञान है। शास्त्र और गुरुके उपदेश द्वारा जो आत्मबोध विकसित होता है वही प्रथमोक्त ज्ञान है। पश्चात् साधनकी सहायतासे उस वस्तुके अनुभवका नाम विज्ञान है। क्रियाके द्वारा नाड़ी और उसके साथ प्राणके शुद्ध होनेपर तथा उसके साथ चित्तके स्थिर होने पर भगवान्की परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका परिचय प्राप्त होता है। उसको जान लेने पर जीव कृतार्थ हो जाता है। इस बार उसकी अपेक्षा भी रहस्यजनक गुह्यतम ज्ञानकी बात कहनी है, इसलिए अपने शिष्य अर्जुनको आश्वासन देते हैं। यह गुह्यतम बात किसको कही जाती है?—साधनके द्वारा जिस शिष्यका चित्त शुद्ध हो गया है और अज्ञान भी निवृत्त होना ही चाहता है। जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वह सहजही संयमशील और सरल होगा। उसने प्रकृतिके रहस्यका उद्घाटन किया है, इस बार उसके सामने आत्माका रहस्य बतलायेंगे। यह उच्च अधिकार उत्पन्न हुए बिना गुह्यतम ज्ञानकी बात नहीं कही जा सकती, कहने पर भी विपरीत फल होता है, इसी कारण अनधिकारीको रहस्यकी बात बतलानेका शास्त्रने निषेध किया है। श्रीमदाचार्य शङ्कर

कहते हैं—"वासुदेवः सर्वमिति" "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकमेवाद्वितीयम्" "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानः ते क्षय्यलोका भवन्ति"—"वासुदेव ही सब कुछ हैं, यह सब आत्मा ही है, वह आत्मा एक और अद्वितीय है, जो साधारण राजा लोग इस आत्मामें भेद-दृष्टि करते हैं वे पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं ।"—इस अद्वैत ब्रह्मज्ञानके सिवा अन्य कोई उपाय मोक्ष-प्राप्तिका साधन नहीं हो सकता । इसी अनुभवयुक्त ज्ञानकी बात भगवान् अर्जुनको इस बार सुनायेंगे । वह कह रहे हैं कि आत्माके सम्बन्धमें यह ज्ञान प्राप्त करने पर फिर संसार-बन्धन नहीं रहता ।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ३।६
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ ३।१०
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ ३।११
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ २।१७—श्वेताश्वतर उ०

जिनसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है, जिनसे छोटी या बड़ी कोई वस्तु नहीं है, वह परमात्मा वृक्षके समान निश्चल भावसे आकाश (चित्) में विराज रहे हैं। वही एकमात्र हैं और कुछ नहीं है, उस पुरुषके द्वारा यह अखिल भुवन परिव्याप्त हो रहा है। जो जगत्का कारण (मूल प्रकृति) है, उससे भी यह श्रेष्ठ हैं। जो सर्वोपाधिरहित तथा तापत्रयरहित हैं, उस क्लेश-शून्य अर्थात् शान्ति-पूर्ण पुरुषको जो जानते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं और दूसरे लोग अर्थात् जो उनको नहीं जानते, वे संसार-दुःखको प्राप्त होते हैं। सब जीवोंका मुख, मस्तक और ग्रीवा जिनका मुखमण्डल है अर्थात् जीवमात्रमें जो विराजित हैं, जो सब प्राणियोंकी बुद्धिरूपी गुहामें अवस्थित हैं, वह सर्वव्यापी और सर्व ऐश्वर्योंसे युक्त हैं। वह सर्वत्र विराजमान और शिव-स्वरूप हैं। जो देवता अग्निमें, जलमें, ओषधि और वनस्पति-समूहमें तथा समस्त निखिल भुवनमें प्रविष्ट है उस देवताको वारंवार नमस्कार ।

यह ज्ञान केवल पुस्तक पढ़नेसे नहीं होता। इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए धारणा-ध्यान और समाधि-साधनाकी आवश्यकता है। दूसरे उपायोंसे चित्तका मल नहीं दूर होता। चित्तका मल दूर नहीं हुआ तो प्रकृत शुद्धा भक्तिका उदय न होगा और शुद्धा भक्तिके बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जिसको ज्ञान-प्राप्ति न हुई उसको भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती, अतएव संसारसे छुटकारा नहीं मिल सकता ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय—इदं (यह आत्मज्ञान) राजविद्या (सर्वश्रेष्ठ विद्या) राजगुह्यं (अति गुह्यतम, सब रहस्योंका सार) उत्तमं (परमोत्कृष्ट) पवित्रं (परम पवित्र) प्रत्यक्षावगमं (प्रत्यक्ष फलप्रद) धर्म्यं (धर्मानुकूल) कर्तुं सुसुखं (अतिशय सुखसाध्य) अव्ययं च (और अक्षय फलप्रद है) ॥ २ ॥

श्रीधर—किञ्च, राजविद्येति । इदं ज्ञानं राजविद्या विद्यानां राजेति राजविद्या च । राजगुह्यं गुह्यानाञ्च राजा । विद्यासु गोप्येषु च रहस्यं अतिश्रेष्ठमित्यर्थः । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परत्वम् । राज्ञां विद्या राज्ञां गुह्यमिति वा । उत्तमं पवित्रमिदमत्यन्तपावनम् । ज्ञानिनां प्रत्यक्षावगमं च । प्रत्यक्षः स्पष्टोऽवगमोऽवबोधो यस्य तत् प्रत्यक्षावगमं दृष्टफलमित्यर्थः । धर्म्यं धर्मादनपेतम्, वेदोक्तसर्वधर्मफलत्वात् । कर्तुं सुसुखं च । सुखेन कर्तुं शक्यमित्यर्थः । अव्ययं चाक्षयफलत्वात् ॥ २ ॥

अनुवाद—यह ज्ञान राजविद्या अर्थात् विद्याका राजा, तथा राजगुह्य, गोप्य विषयोंमें सर्वापेक्षा रहस्यमय अर्थात् श्रेष्ठ है, यह अत्यन्त पवित्र है, ज्ञानियोंके लिए प्रत्यक्षावगम, स्पष्ट अवबोध होनेवाला है अर्थात् इसका फल प्रत्यक्ष दृष्ट है । यह धर्मसे अनपेत अर्थात् धर्म के विरुद्ध नहीं है, वेदोक्त सर्वधर्म-फलोंको प्रदान करनेवाला है । करनेमें भी अत्यन्त सुकर है तथा फल भी अक्षय है । शङ्कराचार्यने कहा है—"अतः श्रद्धेयमात्मज्ञानम्"—इसलिए इस आत्मज्ञानके प्रति तुम्हारी श्रद्धा होनी चाहिए ॥ २ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—राजविद्या—गुप्त, बड़ी विद्या है; बहुत गुप्त है, जहाँ जाने पर मन ब्रह्ममें रहकर पवित्र होता है—चक्षुके सामने कूटस्थको रोके रखकर सहज फलके बिना इच्छासे धर्म होता है। अर्थात् जो क्रिया गुरुवक्त्रगम्य है तथा सुन्दर सुखसे—कलियुगमें की जाती है ।—प्राणकी चञ्चलतासे सारी इन्द्रियाँ और मन चञ्चल रहते हैं। चञ्चल इन्द्रियाँ निरन्तर एक विषयसे दूसरे विषयमें दौड़ती रहती हैं। जितनी देर तक विषय सामने है और मन इन्द्रियोंके द्वारा उन विषयोंमें दौड़ता है, तबतक मनको विश्राम नहीं, शान्ति नहीं। परन्तु ये विषय भी आत्मासे पृथक् स्वतन्त्र वस्तु नहीं हैं। अज्ञानके निवृत्त न होनेके कारण आत्माको ही मन विषयाकारमें देखता है। चञ्चल मन स्वरूपबोधमें बाधक है। अतएव मनके स्थिर होने पर ही इन्द्रियाँ विषय-ग्रहणसे निवृत्त होती हैं। विषयोंसे निवृत्त मन जब आत्माकारमें स्थित होता है तब परम शान्तिमय अवस्था उदित होती है। यह अवस्था ही प्रकृत ज्ञानकी अवस्था या स्व-स्वरूपावस्था है। स्वरूपमें स्थिति होने पर ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, अभय परम पद प्राप्त करता है।

जिसके द्वारा यह अवस्था प्राप्त होती है या इसके निकट पहुँच सकते हैं, वही धर्म है। इसलिए धर्मतत्त्व बड़ा ही रहस्यमय है। धर्मतत्त्व लौकिक और अलौकिक

भेदसे दो प्रकारका है और दोनों ही रहस्यमय है। कहीं किसी एक पुण्यकर्मके द्वारा जीव सुकृति सञ्चय करता है वह सुकृति जबतक फलीभूत नहीं हो जाती तबतक वह सञ्चित रहती है, दूसरे जन्ममें जीवके देह-मन-प्राणमें सर्वत्र उस पुण्यकी छाप लगी रहती है, वह पूर्वकृत पुण्य उस जीवको दैवीसम्पत्तिसे युक्त कर देता है। यह कैसे होता है, कौन करता है, यह जीव-बुद्धिके अगोचर है। परन्तु किसी अदृष्ट शक्तिके नियन्तृत्वमें धर्मका यह अमोघ फल फलता ही है। दुष्कृतिका फल भी इसी प्रकारके नियमसे संघटित होता है। इसलिए जो कर्म जीवको बहुत दिनोंके बाद भी सुख-दुःखका भागी बनाता है, क्या वह एक असाधारण शक्तिका खेल नहीं है। इसलिए धर्म अतिशय गुह्य और रहस्यमय है। यह तो साधारण पुण्य-पापकी बात है, अतएव अविद्याका विषय है। और जो अध्यात्म विद्या है, जिस विद्याकी सहायतासे जीव अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त करता है, जड़त्वके प्रभावको अतिक्रम करके चिन्मय भावमें अनुरञ्जित होता है, वह साधना और उसका फल क्या और भी गुह्यतर, दुर्लभतर रहस्य नहीं है? परन्तु आत्मज्ञानके सामने यह सब भी अति तुच्छ हैं। इसलिए आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है और इसीलिए वह गुह्यतम है। इससे प्रत्यक्षावगम होता है और इसकी साधना भी कष्ट-साध्य नहीं, बल्कि सुख-साध्य है—यही भगवान्‌ने कहा है। बहुतोंकी यह धारणा है कि आत्मज्ञान-प्राप्तिका उपाय जो भक्ति है, उसीकी बात यहाँ भगवान् कहेंगे। उनके विचारसे भक्ति ब्रह्मविद्या नहीं कहला सकती। उनके मतसे ब्रह्मविद्यासे भक्ति पृथक् वस्तु है। परन्तु यह ठीक नहीं है। जिससे भगवत्-प्राप्ति होती है, आत्मदर्शन प्राप्त होता है, वही ब्रह्मविद्या है। इस कारण भक्ति भी ब्रह्मविद्याके अन्तर्गत है। शुद्ध ज्ञानमार्ग या योगमार्ग ही ब्रह्मविद्याका मार्ग नहीं है। जिसके द्वारा परमानन्दरूप ब्रह्मका प्रत्यक्षानुभव होता है, तदनुरूप साधन-भजनमें प्रवृत्तिका होना ही भक्तिका लक्षण है। भगवान्‌के भजनमें सुख और शान्ति-बोध होने पर वह चाहे ज्ञान, योग या कर्म द्वारा हो, वही भक्ति-लक्षणसे युक्त ब्रह्मविद्या है। भागवतमें लिखा है—

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

श्रद्धालु होकर जो साधनामें प्रवृत्त होते हैं वे मननशील पुरुष शास्त्रानुमोदित भक्तिके द्वारा तथा उसके साथ यदि ज्ञान और वैराग्य मिलित हों तो उस प्रकारकी साधनाके द्वारा उस विश्वात्मा भगवान्‌को अपने चित्तमें अनुभव करते हैं। ब्रह्म या परमात्माको जीवात्माके साथ अभेद भावसे अनुभव करने पर ही जीव ब्रह्मके साथ योगयुक्त होता है। इस योगयुक्त अवस्थामें सब कुछ चित्तमें परमानन्द द्वारा परिव्याप्त जान पड़ता है और उस आनन्दमें हमारी बुद्धि मिलकर -एक हो जाती है। इससे जीवको आनन्द होता है, अतएव भगवान्‌को भी आनन्द होता है। क्योंकि उस समय दोनों एक हो जाते हैं और दोनोंका आनन्द एकका ही आनन्द होता है। यही वस्तुतः भागवतोक्त 'हरितोषणं' है। उत्तम रीतिसे धर्म अनुष्ठित होने पर उसका फल होता है—भगवान्‌को सन्तोष और भक्तको आनन्द। यही प्रकृत आत्मज्ञान है।

अतएव आत्मज्ञानके द्वारा उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। भगवान

कहते हैं कि यह आत्मज्ञान क्लेशसाध्य नहीं है। आत्मज्ञानके द्वारा परमानन्दकी उपलब्धि सुख-साध्य तो है, परन्तु जो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके उपयुक्त नहीं हैं, वे यदि उसकी प्राप्तिकी चेष्टा करें तो उनके लिए वह सुख-साध्य न होगा। ध्यान द्वारा चित्तकी शुद्धि होने पर अज्ञानकी निवृत्ति होती है, पश्चात् ध्येय वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही प्रकृत ज्ञान है। जिस विद्याके द्वारा साधक इस ध्येय वस्तुको जानता है वही विद्या श्रेष्ठ विद्या है और गुह्य विद्याओंमें वही सर्वश्रेष्ठ है।

योनिमुद्रामें ज्योतिर्मय कूटस्थ-मण्डल दीख पड़ता है, उसके भीतर कितने ही देवता, ऋषि, मुनि बैठे दीख पड़ते हैं। उस कूटस्थके कृष्णवर्ण कारण-वारिके भीतर पुरुषोत्तम नारायणका दर्शन होता है। क्रियाभ्यास करते-करते जो देवता हो गये हैं, वे समस्त नर-देवता उनको प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। वे देखते हैं कि आज्ञाचक्रकी त्रिकुटीके भीतर ज्योतिर्मय सनकादि ऋषिगण, नारदादि देवर्षिगण सभी उनका स्तवन कर रहे हैं। तुम भी मुक्त होने पर उसमें अपनेको देख पाओगे। यह अत्यन्त रहस्यमय साधना है, गुरु इसे सहज ही किसीको नहीं प्रदान करते। अत्यन्त रहस्यमय होनेके कारण ही इसको राजविद्या और राजगुह्य कहते हैं तथापि यह साधना बहुत कठिन नहीं है। इसका फल प्रत्यक्ष और स्थायी है। सद्गुरुसे इस साधनाको जानकर साधन करने पर साधक कृतार्थ हो सकता है, परन्तु सौभाग्य उदय हुए बिना किसीको सद्गुरुकी प्राप्ति नहीं होती।

प्राणायामरूपी आत्मकर्मके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर मन अवरुद्ध हो जाता है। उस अवस्थामें जो बोध होता है वह साधारण बुद्धिके लिए गम्य नहीं। उस बुद्धिका उदय होने पर अनेक गुह्यसे गुह्यतर विषयोंका सन्धान मिलता है। इस साधनामें परिपक्व होने पर जो परावस्थाका प्रकाश होता है और उसमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वही परा बुद्धि है। ब्रह्म उसी बुद्धिसे गम्य हैं। उस समय ये अनन्त दृश्य एकके भीतर लय होकर एक हो जाते हैं। हृदय, प्राण और मन—ये तीनों क्रियाके अधिष्ठान-क्षेत्र हैं, इन तीनोंके विभिन्न कार्य और शक्तियाँ जब ब्रह्ममें स्थिति लाभ करती हैं तब साधक ब्रह्ममय हो जाता है। तब मन नशेबाजके समान निश्चेष्ट हो जाता है। वह जगा रहता है, देखता है सब कुछ परन्तु कुछ भी उसके मनको स्पर्श नहीं करता। इस अवस्थामें जो रहता है, उसको ही अमरपद प्राप्त होता है। इस अवस्थामें जो सर्वदा रहता है, उसको आत्माकारमें अवस्थित समझना चाहिए। इस अवस्थाको प्राप्त किये बिना 'अद्वय ज्ञानतत्त्व क्या है'—यह समझमें नहीं आता। इस अवस्थामें अवस्थित साधक क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योमके भीतर जो निरञ्जन ब्रह्म रहते हैं उनका अनुभव कर सकता है। उस समय साधक भी ब्रह्मरूप हो जाता है—"ब्रह्ममयीकी पूजाका पुजारी ब्रह्ममय" होता है। स्वयं ब्रह्ममय हुए बिना यह बोध होना सम्भव नहीं है। ब्रह्म इन्द्रिय-बोधगम्य पदार्थ नहीं है, वह निजबोध-मात्र है। जो इस अवस्थाको प्राप्त होता है वही कृतकृत्य हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

२।१४—१५

जिस प्रकार मृत्तिकाके द्वारा अनुलिप्त स्वर्ण भलीभाँति प्रक्षालित होनेपर तेजोमयरूपको धारण करता है, उसी प्रकार देही आत्मतत्त्वका दर्शन करके द्वितीय-रहित (अर्थात् एक) होकर शोकहीन और कृतार्थ हो जाता है। [जीव शोकरहित अवस्थाको कैसे प्राप्त होता है? यही बतलाते हैं]—जब जीव दीप-सदृश प्रकाशयुक्त आत्मतत्त्वसे युक्त होकर अपने आत्मामें ब्रह्मतत्त्वका दर्शन करता है, तब अज, ध्रुव, सर्व तत्त्वोंसे विशुद्ध या तत्त्वातीत ब्रह्मको जानकर सर्वपाशोंसे मुक्त हो जाता है।

श्रीविष्णुधर्ममें भी यही बात मिलती है—

पश्यत्यात्मानमन्यन्तु यावद्वै परमात्मनः।
तावत् स भ्राम्यते जन्तुर्मोहितो निजकर्मणा॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु परं ब्रह्म प्रपश्यति।
अभेदेनात्मनः शुद्धं शुद्धत्वादक्षयो भवेत्॥

जन्तु अर्थात् अज्ञ जीव जबतक अपनेको परमात्मासे अन्य या पृथक् देखता है, तबतक अपने कर्मफलसे विमोहित होकर संसारमें परिभ्रमण करता है। परन्तु जो निःशेषरूपसे कर्मक्षय करते हुए अपने साथ अभिन्नरूपमें विशुद्ध परब्रह्मको देखते हैं, वह स्वयं शुद्ध हो जाते हैं और उनका मृत्यु-भय दूर हो जाता है।

बृहदारण्यकमें भी इसी प्रकार भेद-दर्शनका अशुभ फल वर्णित है-—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति, स इदं सर्वं भवतीति, तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीतिं, न स वेद, यथा पशुरेव स देवानाम्"—जो इस प्रकार जानते हैं कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही सर्वमय होते हैं। देवता लोग भी उनका अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं होते क्योंकि वह उनके भी आत्मस्वरूप हो जाते हैं। [आत्माका अनिष्ट करनेमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती] और जो लोग मैं अन्य हूँ, हमारे उपास्य देवता अन्य हैं, इस भावसे अन्य देवताकी उपासना करते हैं, वे नहीं जानते। वे अज्ञ लोग, जैसे गृहस्थके लिए पशु होता है उसी प्रकार, देवताओंके सामने पशु-तुल्य होते हैं। भगवान्के स्वरूपमें द्वैतभाव नहीं है। क्रियाकी परावस्थामें जिनका द्वैतभाव मिट जाता है, उनको ही यथार्थ अद्वैत ज्ञान प्राप्त होता है। यही आत्मज्ञान है। साधना द्वारा भगवान्के विशुद्ध स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना किसीका अज्ञान निवृत्त नहीं होता। प्राणायामके द्वारा चञ्चल चित्तके निरुद्ध हुए बिना भगवान्का स्वरूप (ज्ञान) किसीके बोधका विषय नहीं बनता, अतएव उच्च साधकोंके लिए यह सुख-साध्य होने पर भी अयोगी पुरुषके लिए निश्चय ही सुख-साध्य नहीं है॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप !) अस्य धर्मस्य (इस धर्ममें) अश्रद्दधानाः (अश्रद्धाकारी) पुरुषाः (पुरुष) मां (मुझको) अप्राप्य (न प्राप्तकर) मृत्युसंसार-वर्त्मनि (मृत्युमय संसार-पथमें) निवर्त्तन्ते (परिभ्रमण करते हैं) ॥ ३ ॥

श्रीधर—नन्वेवमस्यातिसुकरत्वे के नाम संसारिणः स्युः ? तत्राह—अश्रद्दधाना इति । अस्य भक्तिसहितज्ञानलक्षणस्य धर्मस्य इति कर्मणि षष्ठी । इमं धर्ममश्रद्दधाना आस्तिक्येनास्वीकुर्वन्त उपायान्तरैर्मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्युयुक्ते संसारवर्त्मनि निवर्त्तन्ते । मृत्युव्याप्ते संसारमार्गे परिभ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद—[अच्छा, ज्ञान जब इतना सुकर है तो जीव क्यों संसारी बनता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं]—इस भक्तियुक्त ज्ञानलक्षण धर्ममें जिनकी आस्तिक्य-बुद्धि नहीं है, वे मुझको प्राप्त करनेके लिए दूसरे उपायोंके द्वारा कृतप्रयत्न होनें पर भी मुझको न पाकर मृत्युयुक्त संसार-मार्गमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो पुरुष ब्रह्ममें नहीं रहता, वह क्रिया नहीं करता—अतएव मुझको नहीं पाता, न पाकर आत्मासे निवृत्त होकर अन्य वस्तुमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि रखते हुए विषय-भोगमें अर्थात् फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करके तिजारत करते हैं—उनके भोगके लिए मृत्यु और जन्म होता है।—द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध जब संघटित होता है तो वह द्रष्टाका भोग कहलाता है। जब इस जगत् आदि विषयोंके साथ 'मैं' का सम्बन्ध होता है तभी जगदादि विषय 'मैं' के भोगके रूपमें सम्बन्धित होते हैं। उनमें कुछ विषय सुखरूपमें और कुछ दुःखरूपमें प्रकाशित होते हैं। चित्तमें इनका संस्कार निहित रहता है, इसीसे दुःखके प्रति द्वेष और सुखके प्रति आसक्ति होती है। इस आसक्ति और द्वेषभावके कारण ही जीवका बन्धन होता है।—यद्यपि पुरुष (आत्मा) में केवल द्रष्टृत्व-भाव है, तथापि वह बुद्धिका प्रतिसंवेदी होनेके कारण बुद्धिके बन्धनसे अपनेको बन्धनग्रस्त समझता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा जिस प्रकारके विषय ग्रहण किये जाते हैं, चित्तमें उसी प्रकारकी उनकी धारणा होती है। उस धारणासे सुख-दुःखका संस्कार उत्पन्न होता है। इससे कुछ विषयोंको त्याग और कुछ विषयों को ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति पैदा होती है। व्युत्थित चित्तमें ये संस्कार जाग्रत होकर ग्रहण और त्याग बुद्धिको प्रवृत्त करते हैं। मलिन बुद्धिमें द्रष्टा और दृश्यका भेद-ज्ञान होता है और उस बुद्धिमें निश्चयात्मिका वृत्ति होनेके कारण भेदज्ञान तिरोहित नहीं होता। अतएव संसार-प्रवाह अविराम गतिसे चलता रहता है। इस चित्तसे धर्म-साधन करने पर भी वह धर्मकी तिजारत ही होती है, यथार्थ भगवन्मुखी प्रवृत्तिका उदय नहीं होता। इस अवस्थामें सांसारिक विषयभोग हेय नहीं जान पड़ते, बल्कि उपादेय जान पड़ते हैं। सत्सङ्ग और शुद्ध बुद्धिके प्रभावसे द्रष्टा और दृश्यका पार्थक्य निश्चित हो जाने पर मनोवेगका ह्रास तो होता है, परन्तु पूर्वसञ्चित विषयज्ञानके संस्कार

प्राणके भीतर निहित होते हैं इसलिए चञ्चल प्राणके गमनागमनके साथ वे सारे संस्कार मनमें और वहाँसे इन्द्रियोंमें पुनरावर्त्तन करते हैं। अतएव चित्तको शुद्ध करना हो तो प्राणको शुद्ध करना पड़ेगा। क्रियाके द्वारा प्राणके ये सारे संस्कार क्षीण किये जाते हैं। प्राणके भीतरसे किसी भी चिन्तनका संस्कार नष्ट होने पर वह फिर मनमें नहीं आ सकता। इसी कारण शुद्ध प्राणमें विषयासक्ति नहीं होती, उस समय चित्तका स्पन्दन भी नहीं रहता। इस प्रकारका निरुद्ध चित्त ही जीवके जन्ममरणका बाधक होता है। प्राणको शुद्ध करना या चित्तको स्पन्दनरहित करना ही साधनाका एकमात्र उद्देश्य है। जो क्रिया-साधन नहीं करता, उसका चित्त एकाग्र होकर आत्मामें नहीं बैठ सकता, अतएव वह आत्माके साथ योगयुक्त न हो सकनेके कारण विषयान्तरमें मनको बैठानेकी चेष्टा करता है, इस प्रकारके श्रद्धाभक्ति-शून्य जीव परमानन्दके लाभसे वञ्चित होकर पुनः पुनः आवागमनके चक्करमें पड़ते हैं। जीवका प्राण-प्रवाह बहिर्मुख होनेके कारण ही जीवकी विषयासक्ति दूर नहीं होती, इसी कारण उसका अज्ञानान्धकार बना ही रहता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ कठ उप०।

विवेकहीन मनुष्यके सामने साम्पराय प्रतिभात नहीं होता। परलोकमें सद्गति-प्राप्तिके निमित्त साधना-विशेषको 'साम्पराय' कहते हैं। जो प्रमादी अर्थात् पुत्रधनादिमें आसक्त-चित्त है, जो वित्तजनित मोहसे विमूढ़ हो रहा है, इस प्रकारके मनुष्यके सामने भी साम्पराय प्रकट नहीं होता। और जो यह माने बैठे हैं कि यह परिदृश्यमान जगत् ही है और अप्रत्यक्ष कोई लोक नहीं है, वे अभिमानग्रस्त जीव वारंवार मृत्युरूपी मेरी वश्यताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके जन्ममरणके दुःख-प्रवाहका अन्त नहीं होता। वे ही आत्मप्रवञ्चित जीव हैं। वे आस्तिक्य-बुद्धिसे युक्त होने पर भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिका मार्ग न जानकर इस जन्म-मरण-सङ्कुल सुख-दुःखकी अग्निमयी ज्वालामें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

अन्वय—अव्यक्तमूर्त्तिना मया (मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा) इदं (यह) सर्वं जगत् (सारा जगत्) ततं (व्याप्त है); सर्वभूतानि (सारे चराचर भूत) मत्स्थानि (मुझमें अवस्थित हैं) अहं च (परन्तु मैं) तेषु (उनमें) न अवस्थितः (अवस्थित नहीं हूँ) ॥ ४ ॥

श्रीधर—तदेवं वक्तव्यतया प्रस्तुतस्य ज्ञानस्य स्तुत्या श्रोतारमभिमुखीकृत्य तदेव ज्ञानं कथयति—मयेति द्वाभ्याम्। अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य। तादृशेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तम्। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—इत्यादि श्रुतेः।

अतएव कारणभूते मयि तिष्ठन्तीति मत्स्थानि सर्वाणि भूतानि चराचराणि। एवमपि घटादिषु स्वकार्येषु मृत्तिकेव तेषु भूतेषु नाहमवस्थितः। आकाशवदसङ्गत्वात् ॥ ४ ॥

अनुवाद—[अब वक्तव्य ज्ञानकी स्तुति करते हुए श्रोताके चित्तको उपदिष्ट ज्ञानके प्रति अभिमुख करके अर्थात् श्रोताको प्रस्तुत करके दो श्लोकोंमें उस ज्ञानको बतला रहे हैं]—जिसका स्वरूप अतीन्द्रिय है, वह मैं कारणरूपमें इस समस्त जगत्‌को व्याप्त करके अवस्थान करता हूँ। श्रुतिमें लिखा है कि वह ब्रह्म समस्त विश्वकी सृष्टि करके उसमें प्रविष्ट हो गये हैं। अतएव कारणभूत मुझमें समस्त चराचर भूत अवस्थित रहते हैं। यद्यपि घटादिरूप कार्यमें जिस प्रकार मृत्तिका वर्तमान रहती है उस प्रकार भूतोंमें मैं अवस्थित नहीं हूँ, आकाशके समान असङ्ग होनेके कारण ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तब इस जगत्‌की कोई बात समझ नहीं पाता—उस समय मैं इन सबमें रहता हूँ—मुझमें ही सब रहते हैं—मैं सबमें नहीं रहता अर्थात् मुझमें वे रहते हैं, परन्तु मैं उनके भीतर नहीं रहता। जैसे सब आत्मामें तो हैं—परन्तु आत्माको न देखनेके कारण उनका रहना नहीं होता। क्योंकि दृष्टि अन्य वस्तुमें रहती है—श्वासमें दृष्टि नहीं रहती।—जब जीवकी जगत्-दृष्टि रहती है, तब जीवसमूहके भीतर आत्मारूपमें अवस्थित मुझको कोई नहीं जान पाता। मेरे साथ सम्बन्धयुक्त होनेके कारण ही वस्तुएँ चैतन्यवान् या अस्तित्ववान् जान पड़ती हैं। समस्त चराचर भूत आत्माको आश्रय करके जब प्रकाशित हो रहा है, तो मेरे (आत्माके) भीतर सब रहता है, यह कहा जा सकता है, परन्तु मैं सबके भीतर नहीं रहता। क्यों ? यदि वस्तुमात्रका ही मैं आश्रय हूँ तो वे भी मुझमें आश्रितरूपमें रहेंगे ही; क्योंकि कारण कार्यके भीतर व्याप्त रहता ही है। यह सत्य तो है, परन्तु मैं आकाशके समान अपरिच्छिन्न हूँ, अतएव कोई वस्तु मेरा अवलम्बन अथवा मैं किसी वस्तुका आश्रय नहीं हो सकता। दुग्धके दही बनने पर यदि कहो कि दहीमें दुग्ध है, तो उस प्रकारका यह नहीं है। रज्जुमें सर्प-बोध होने पर सर्प जिस प्रकार रज्जुमें नहीं रहता, मैं भी उसी प्रकार अपने कार्यरूप इस जगत्‌में नहीं रहता। इससे ही समझा जा सकता है कि रज्जुमें सर्पके समान जगत् सत्य नहीं है, वह मनःकल्पित-मात्र है। सारा चराचर विश्व इस प्रकार केवल प्रकट-सा प्रतीत होता है। जबतक भान हो रहा है कि सब वस्तुएँ हैं, तबतक वह कूटस्थ चैतन्य ही सर्वत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। कूटस्थ चैतन्यको छोड़कर यदि किसी वस्तुकी सत्ता रहती, तो समझा जाता कि ये सारी वस्तुएँ आत्मानिरपेक्ष भी रह सकती हैं, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार स्वर्णको छोड़कर स्वर्ण-वलयका अस्तित्व सम्भव नहीं है। अतएव समस्त वस्तुओंका जब कूटस्थ चैतन्यके बिना अस्तित्व ही नहीं है, तब उनके भीतर कूटस्थका न रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? आत्माको लेकर ही तो मैं, तुम और यह अनन्त जगत् हैं। समुद्रकी अनन्त तरङ्गोंका जैसे समुद्र ही एकमात्र आश्रय है, समुद्रके न रहने पर वे नहीं होतीं, उसी प्रकार मैं, तुम और अनन्त जगत आत्माके बिना नहीं रहते। समुद्रके बिना जैसे तरङ्ग

की पृथक् सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार आत्माके बिना मैं, तुम या और किसीका भी कोई अस्तित्व नहीं है।

वह अव्यक्तमूर्ति हैं अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर हैं, उस सूक्ष्म ज्ञेय आत्माको जान लेने पर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। अतएव द्रष्टा और दृश्य इन दोनोंमें दृश्य द्रष्टाके भीतर विलीन हो जाता है। दृश्य पदार्थके अभावमें द्रष्टाके लिए पृथक् दृश्य-ज्ञानका होना सम्भव नहीं है। अतएव मैं, तुम और यह अनन्त जगत् आत्मारूपी समुद्रमें बुद्बुद्के समान फूट उठते हैं और बुद्बुद्के समान उसमें डूब जाते हैं। यह बुद्बुद्का उठना-डूबना ही जगत-लीला अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लयका चक्र है।

इस प्रकाशका कारणभूत ब्रह्म प्राणरूपमें सबके भीतर रहकर भूतजात वस्तु-मात्रको प्रकाशित कर रहे हैं। प्राणके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता। इसीसे ब्रह्माण्ड प्राणरूपी सूत्रमें गुँथा हुआ है। हम वस्तुमात्रके नाम-रूपको देख पाते हैं, परन्तु अव्यक्त प्राण-सूत्रका कोई सन्धान हमें नहीं मिलता। व्यक्त प्राण श्वासको हम देखते तो हैं परन्तु उसमें लक्ष्य न होनेके कारण हमारा दृष्टिभ्रम दूर नहीं हो रहा है। प्राण अव्यक्तरूपमें स्थिर है, और इस स्थिरत्वमें लक्ष्य न होनेके कारण आत्मा जो सबका सर्वस्व है बोधगम्य नहीं हो रहा है। बाह्य वस्तुओंमें ही लक्ष्य रहता है, श्वासमें दृष्टि नहीं होती, इसी कारण इन जगदादि अनन्त तरङ्गोंको देखकर हम वारम्वार मुग्ध हो रहे हैं। परन्तु यह चाञ्चल्य और तरङ्ग जिसके हैं, उस प्राणमें लक्ष्य रखने पर प्राणका चाञ्चल्य यानी श्वास स्थिर हो जायगा। तरङ्ग-चाञ्चल्य जब आत्म-समुद्रमें गोपन करेगा तो यह जगद्व्यापार भी मनसे दूर हो जायगा। क्रियाकी परावस्थारूपी परम अव्यक्त भाव द्वारा परमात्मा चराचरमें व्याप्त हैं—वह सदा निःसङ्ग हैं, वही फिर घटस्थ होकर देहादि समस्त पदार्थोंके साथ संयुक्त हो जाते हैं। यद्यपि वह घटस्थ होकर घटरूपमें अपनेको प्रकट करते हैं तथापि घट वह सद्वस्तु नहीं है। अपरिच्छिन्न महाकाश घटद्वारा परिच्छिन्न होने पर घटाकाश उपाधि धारण करता है। यह घटस्थ आकाश का संयोग ही प्राणकी व्यक्तावस्था है। प्राणकी इस व्यक्तावस्थामें ही इसका स्पन्दन अनुभूत होता है। स्पन्दनसे वासना और वासनासे जन्ममृत्युरूप संसार-चक्रका खेल आरम्भ होता है। अस्पन्दित अव्यक्त स्थिर भाव ही महाप्राण है—'स उ प्राणस्य प्राणः'। यही ज्ञेय पदार्थ है। 'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्'। क्रियाकी परावस्था ही वह ज्ञेय पदार्थ है, परन्तु वह महाभाव कूटस्थ चैतन्यरूपमें जब घटस्थ होकर बिम्बित होता है तब वह ध्येय होता है और साकार भी होता है॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

अन्वय—मे (मेरा) ऐश्वरं (ईश्वरीय अर्थात् असाधारण) योगं (अघटन-घटनापटुत्व—योगमायाका प्रभाव) पश्य (देखो); भूतानि (सब भूत) मत्स्थानि न

(मुझमें अवस्थित नहीं हैं) [तथापि] मम आत्मा (मेरा स्वरूप) न भूतस्थः (भूतोंमें अवस्थित नहीं है) च भूतभृत् भूतभावनः (तथापि भूतोंको धारण और पालन करनेवाला है) ॥ ५ ॥

श्रीधर—किञ्च—न चेति। न च मयि स्थितानि भूतानि असङ्गत्वादेव मम। ननु तर्हि व्यापकत्वमाश्रयत्वं च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—पश्येति। मे मम ऐश्वरमसाधारणं योगं युक्तिमघटितघटनाचातुर्यं पश्य। मदीय योगमायावैभवस्यावितर्क्यत्वान्न किञ्चिद्विरुद्धमित्यर्थः। अन्यदप्याश्चर्यं पश्येत्याह—भूतेति। भूतानि बिभर्त्ति धारयतीति भूतभृत्। भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः। एवंभूतोऽपि ममात्मा परं स्वरूपं भूतस्थो न भवति। अयं भावः—यथा जीवो देहं बिभ्रत् पालयंश्चाहंकारेण तत्संश्लिष्टस्तिष्ठत्येवमहं भूतानि धारयन् पालयन्नपि तेषु न तिष्ठामि। निरहंकारत्वादिति ॥ ५ ॥

अनुवाद—सब भूत मुझमें अवस्थित नहीं हैं क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। परन्तु मेरे सर्वव्यापकत्व और सर्वाश्रयत्वकी बात जो पहले कही गयी है उससे लोग विरुद्ध आशङ्का कर सकते हैं, इसीलिए कह रहे हैं कि मेरे ईश्वरीय असाधारण अघटन-घटना-पटुत्व-रूप योगको देखो, मेरी योगमायाके वैभवके सामने कुछ भी असम्भाव्य नहीं है, अतएव कुछ भी विरुद्ध आशङ्काका कोई अवसर नहीं है। और भी आश्चर्य देखो, मैं भूतभृत् हूँ अर्थात् सारे भूतोंको धारण किये रहता हूँ, मैं भूतभावन हूँ अर्थात् समस्त भूतोंका पालन करता हूँ। मैं इस प्रकारका हूँ तो भी मेरा आत्मा अर्थात् 'परस्वरूप' भूतस्थ नहीं है। इसका भाव यह है कि जीव देह धारण और पालन करते हुए भी अहङ्कारवश उसमें संश्लिष्ट हो जाता है, परन्तु मैं सब भूतोंको धारण और पालन करते हुए भी निरहंकार होनेके कारण उनसे संश्लिष्ट नहीं होता ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरा रूप ईश्वर है—उनसे अन्य दिशामें दृष्टि करना।—इसके ही ऊपर लक्ष्य करो—जिससे वैसा न हो, अर्थात् अन्य दिशामें दृष्टि न करो—सबके भीतर रहते हुए भी—सब अवस्थाओंमें—सब भूतोंमें वर्तमान रहता है, तथापि मुझमें नहीं, आत्मा चञ्चल मनसे युक्त होकर अन्य दिशामें दृष्टि करता है।—इस श्लोकका उपदेश पूर्वोक्त श्लोकके विरुद्ध है, ऐसा मनमें हो सकता है। 'सारे भूत मुझमें अवस्थित नहीं हैं, मैं भूत-समूहमें नहीं रहता, तथापि मैं भूतोंका उत्पादक और पालक हूँ'—यह बात कैसे सङ्गत हो सकती है? भूतगण यदि हैं, तो उनको प्रकाशित और पालन कौन कर रहा है? यदि भूतगणका होना ठीक है और वे तुममें नहीं हैं, तो फिर रहते कहाँ हैं? वस्तुतः एक आत्मा ही सत्य है, और जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह पारमार्थिक सत्य नहीं है। कनकमें कुण्डलका स्वरूप-बोध होनेके समान यह दृश्य जगत् उनमें प्रतिष्ठितसा भासमान होता है। रज्जुमें सर्प भ्रम होने परे भी वस्तुतः सर्पत्व रज्जुमें नहीं रह सकता, अतएव रज्जुमें जो सर्प दीखता है, वह केवल कल्पित सर्प है, वास्तविक नहीं। सर्पविषयक अज्ञान तिरोहित होने पर जब रज्जुज्ञान प्रकाशित होता है तब उसमें सर्पबोध रह ही नहीं सकता, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका उदय होने पर ब्रह्ममें नाना प्रकारकी कल्पना या भ्रान्तिका विनाश हो जाता है। अतएव संसार जो आपात-दृष्टिसे सत्य

बोध हो रहा है, वह सत्य नहीं है। तभी तक संसार सत्य है, जबतक आत्मज्ञान प्रकाशित नहीं होता। श्रुति कहती है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ (कठ—२।११)

यत्=जो आत्मचैतन्य, इह=इस देहस्थ अन्तःकरणमें या इहलोकमें प्रकाशित है, तत् एव=वह आत्मचैतन्य ही, अमुत्र=वहाँ अर्थात् परलोकमें भी वर्तमान है, अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान कार्योपाधि देहादिमें जो चैतन्य वर्तमान है, अदृश्य कारणोपाधि मायामें भी वही एक चैतन्य अनुस्यूत रहता है। जो लोग इस चैतन्यमें नाना प्रकारके पृथक्-पृथक् भावोंको देखते हैं वे मृत्युके बाद मृत्युको प्राप्त होते हैं। एकमात्र विवेकयुक्त और ध्यानसमाहित मनके द्वारा ही ब्रह्म और आत्माका एकत्व बोध प्राप्त होता है। ब्रह्ममें कुछ भी भेद या नानात्व नहीं है। जो इस प्रकारके भेद या नानात्वको देखते हैं वे मृत्युके बाद मृत्युको अर्थात् वारंवार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं।

यह मूढ़ोंकी धारणा है कि मैं प्राणियोंके देहादिका आश्रय करके रहता हूँ। पहले विचार करके देखो कि यह देह और दृश्य जगत् है या नहीं, यदि ये हैं ही नहीं तो इनको अवलम्बन करके रहना या इनके साथ आत्माका संश्लिष्ट होना कैसे संभव हो सकता है? इसीसे भगवान् कहते हैं कि यह दृश्यमान् जगत् अज्ञानीके लिए वर्तमान होते हुए भी ज्ञानीके लिए अस्तित्व नहीं रखता। जो वस्तु कभी है और कभी नहीं है—वह नहीं है यही समझना ठीक है। समुद्र-तरङ्गके समान पृथक् दीखने पर भी समुद्रदृष्टिसे उनमें अभेद है। इस जगत्को जो क्षण-क्षण भेदाभेद रूपमें दिखला सकता है, वह जादूगरके जादूके सिवा और क्या हो सकता है? यही भगवत्-लीला या माया है। यही भगवान्‌की अघटनघटनापटीयसी शक्ति या ऐश्वर योग है। अतएव दृश्य जगत् या यह भूतग्राम जो समुद्रमें तरङ्गके समान उनके भीतर प्रतीत हो रहा है, उसकी कुछ भी सत्ता नहीं है। स्वप्नका आश्रय-वस्तु सत्य है, इसीसे जब स्वप्नका अनुभव होता रहता है तब प्रकृत सत्ताके साथ तदाश्रित वस्तु भी सत्य कही जाती है—इसी कारण "भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः" कहा गया, परन्तु जगने पर जब देखा गया कि स्वप्नका आश्रय तो सत्य है परन्तु स्वप्न सत्य नहीं, तो भूतगणका प्रकाश और प्रतिपालन सब ही स्वप्नप्रसङ्ग-मात्र हैं। अवश्य ही जबतक 'इदं सर्वं'की प्रतीति रहती है तबतक आश्रय-वस्तुके साथ जगदादिका आधार और आधेयरूप सम्बन्ध स्वीकार करना ही पड़ता है, तभी उसे कहा जाता है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४—१

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ २ ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं
कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वाः ॥ ४ ॥
सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥
स एव काले भुवनस्यास्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥
यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ ४—१८ ॥ श्वेता० उ०

जो अद्वितीय वर्णरहित प्रच्छन्नाभिप्राय (स्वार्थ-निरपेक्ष) परमात्मा नाना प्रकारकी शक्तियोंके योगसे विषयादिकी सृष्टि करते हैं, जिनसे सारा जगत् पहले उत्पन्न होता है और अन्तकालमें जिनमें प्रतिगमन करता है, वह देवता हमको शुभ बुद्धि प्रदान करें ।

वही अग्नि हैं, वही आदित्य हैं, वही वायु हैं, वही चन्द्रमा हैं, वही आप् हैं, वही प्रजापति हैं, वही अपरब्रह्म हैं और वही परब्रह्म हैं ।

तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो । तुम्हीं जराग्रस्त होकर दण्ड हाथमें लेकर चलते हो, तुम्हीं विश्वतोमुख होकर जन्म ग्रहण करते हो ।

तुम्हीं नील पतङ्ग हो, लोहितचक्षु शुक आदि हो, तुम्हीं तड़िद्गर्भ मेघमाला हो, तुम्हीं ऋतु और सागर-समूह हो। अनादि-स्वरूप तुम्हीं व्यापकरूपमें रहते हो, जिससे समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं।

तुम सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हो। अविद्यारूपी गहनके भीतर तुम्हीं स्थित हो। तुम विश्वके स्रष्टा हो, तुम्हारे अनेक रूप हैं। विश्वके इस अद्वितीय परिवेष्टिता शिवस्वरूपको जानने पर अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है।

वही कालमें (अर्थात् स्थिति-कालमें) इस भुवनका रक्षक हैं, वह विश्वाधिप हैं और समस्त भूतोंमें गूढ़ रूपसे वर्त्तमान हैं। जिनसे ब्रह्मर्षिगण और देवगण भी युक्त होकर रहते हैं, उनको जान लेने पर ही मृत्यु-पाशको छेदन कर सकते हैं।

यह महात्मा विश्वकर्मा ईश्वर सर्वदा सबके हृदयमें सन्निविष्ट रहते हैं। संशयरहित बुद्धि और मननके द्वारा जो ध्यान करते हैं उनके सामने वह प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार जो उनको जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं अर्थात् मोक्षलाभ करते हैं।

जब अतमः अर्थात् ज्ञानका प्रकाश होता है तब न दिन होता है और न रात्रि, सत् नहीं रहता और असत् भी नहीं रहता, तब केवल उनका मङ्गलमय रूप प्रकाशित होता है। वह जगत्के प्रसविताके वरणीय हैं, अक्षर पुरुष हैं, जिनसे यह पुरातनी प्रज्ञा प्रसृत हुई है।

इस अपरिच्छिन्न आत्माके साथ किसी परिच्छिन्न वस्तुका संयोग होना असम्भव है। और वही जब "सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्" हैं तब उनमें अन्य वस्तुका उत्पन्न होना सम्भव नहीं। इसीसे श्रुति कहती है कि यदि मोहवश अन्य किसी वस्तुको देखते हो तो भी वह अन्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है, उसको उनके ही प्रकाशमात्र-रूपमें समझनेकी चेष्टा करो। "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।"

देवतासे लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, उद्भिद् आदि समस्त प्राणी प्राणसूत्रमें मालाके समान उनमें ग्रथित हैं। प्राण ही वह सूत्र है, उस सूत्ररूपी प्राणमें लक्ष्य न रहनेके कारण जीव उसको पकड़ नहीं पा रहा है। जबतक जगत्-दृष्टि अवरुद्ध नहीं होती, आत्माका स्वप्रकाश-भाव अनुभवमें नहीं आ सकता। इसलिए हे साधक! तुम्हारी दृष्टिका सदा जाग्रत होना आवश्यक है। आत्मामें लक्ष्य न रहने पर बाहरी वस्तुमें लक्ष्य रहेगा। बाहरी वस्तुमें लक्ष्य होने पर ही मन उसमें बँध जायगा। इसलिए जगत्-दृष्टिको अवरुद्ध करो। मन लगाकर क्रिया करने पर ही साधककी आत्मलक्ष्यमें स्थिति होती है, तब संसार-चक्ररूपी उनकी घोर मूर्त्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। गुरुके उपदेशके अनुसार प्राणापनसे साधनाभ्यास करो। अबतक कर ही क्या रहे हो? केवल क्षिप्त और अन्धेके समान दोनों हाथोंसे नरक सींच रहे हो!! अब भी जगकर साधन करो, गुरुकी कृपासे एक ऐसी अवस्थाका सन्धान मिलेगा, जिस अवस्थामें स्थित होने पर बाहरी लोग देखेंगे कि तुम संसारी भाव धारण करके संसार चलाते हो, संसारके सारे सम्बन्ध तुम्हारे

साथ जड़ित हैं, परन्तु तुम्हारा मन आत्मस्थ होकर अहङ्कार-शून्य हो गया है। ऐसी अवस्थामें साधक सबमें रहकर भी सबके साथ असंयुक्त (पृथक्) रहता है—यही युक्तावस्था है।

यह युक्तावस्था कैसे प्राप्त हो सकती है? जो कुछ है सब भगवत्-रूप है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—समस्त वस्तु ब्रह्मरूप है, परन्तु अज्ञानीके सामने वे विभिन्न रूपोंमें भासमान होती हैं। बद्ध जीवोंकी जगद्-दृष्टि होती है, ब्रह्मदृष्टि नहीं होती। इसलिए साधकको प्रयत्न करना पड़ेगा जिससे ब्रह्मदृष्टि हो और जगद्-दृष्टि न हो। परन्तु मनको आत्मामें न रक्खें तो वह अन्य वस्तु देखेगा ही। अन्य वस्तु देखने पर ब्रह्मदर्शन न होगा। ऐसा होता क्यों है? इसका कारण यह है कि मन स्वभावतः चञ्चल है अतएव अन्य दिशामें उसकी दृष्टि रहेगी ही और तब उसके सामने अनेक दृश्य पदार्थ रहेंगे ही। यदि साधक साधनके द्वारा मनके चाञ्चल्यको दूर कर स्थिर हो सके तो उसकी अन्य वस्तुमें दृष्टि दूर हो जायगी और तब उसके सामने एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी वस्तुका अस्तित्व न रहेगा। मनके चञ्चल होने पर बोध भी चञ्चल हो जाता है, इसी कारण एक वस्तु अनेक वस्तुओंके रूपमें जान पड़ती है। परन्तु श्रुतिमें अनेक वस्तुओंका निषेध देखनेमें आता है, अतएव अनेक पदार्थ सत्य नहीं हैं। सत्य केवल वह एक परमात्मा हैं। यह एकत्वदर्शन तब होता है जब मनकी चञ्चलता नहीं रहती, अतएव मनके विक्षेपको रोकना ही सर्वप्रधान साधना है॥ ५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥६॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) आकाशस्थितः (आकाशमें अवस्थित) महान् वायुः (महावायु) सर्वत्रगः (सर्वत्रगामी है) तथा (वैसेही) सर्वाणि भूतानि (सारे भूत) मत्स्थानि (मुझमें अवस्थित हैं) इति (यह) उपधारय (जानो)॥ ६॥

श्रीधर—असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाह—यथेति। अवकाशं विनाऽवस्थानानुपपत्तेर्नित्यमाकाशस्थितो वायुः सर्वत्रगोऽपि महानपि नाकाशेन संश्लिष्यते। निरवयवत्वेन संश्लेषायोगात्। तथा सर्वाणि भूतानि मयि स्थितानीति जानीहि॥ ६॥

अनुवाद—[असंश्लिष्ट दो पदार्थोंका आधाराधेयभाव दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं]—अवकाश विना अवस्थान असम्भव है। सर्वत्रगामी और महान् वायु नित्य आकाशस्थित होने पर भी आकाशके साथ संश्लिष्ट नहीं होती। निरवयवत्वके कारण संश्लेष असम्भव है। इसी प्रकार सारे भूत असंश्लिष्ट भावसे आकाशस्वरूप मुझमें अवस्थित हैं, यह जानना चाहिए॥ ६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वायुके समान सर्वव्यापक और सर्वभूतोंमें मैं हूँ।—वायु आकाशमें सर्वत्र बहनेवाली होकर भी जिस प्रकार असीम आकाशको लिप्त नहीं करती, उसी प्रकार भूत-समूह आत्मामें सञ्चरण करते हैं, तथापि आत्मा उनके समूहसे

निर्लिप्त रहता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि यद्यपि मैं सर्वत्र हूँ, परन्तु चाञ्चल्यके कारण जीव मुझको लक्ष्य नहीं कर पाता। इससे मुझमें रहते हुए भी उसका रहना नहीं होता। आकाशके बिना वायु सञ्चरण नहीं कर सकती, परन्तु निरवयव होनेके कारण आकाशरूपी आधारमें रहते हुए भी वायु उसके साथ मिल नहीं जाती। जिस प्रकार वायु सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार अनन्त जीवात्मा ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं, आकाशमें वायु रहकर भी जैसे आकाशमें मिल नहीं सकती, उसी प्रकार देहादि आत्माके साथ युक्त होकर भी आत्माके साथ मिल नहीं सकते। वायु आकाशमें सर्वत्रगामी होने पर भी जैसे पृथक् भावमें रहती है, उसी प्रकार ये भूत-समूह निर्लिप्त आत्मचैतन्यमें अवस्थित होकर भी उसके साथ संश्लिष्ट नहीं होते।

तुरीय ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म हैं, वह शान्त हैं, अपने आपमें स्तब्ध और मग्न हैं। उस समय उनमें किसी विषयका स्फुरण या सृष्टि नहीं होती। यद्यपि इनकी प्रकृति उनमें स्वतः विद्यमान होती है, तथापि तुरीयावस्थामें वह ब्रह्ममें संलीन रहती है, उसका कोई कार्य देखनेमें नहीं आता। यह निःसङ्ग ब्रह्म जब मायाको अङ्गीकार करते हैं, तब वह सगुण ब्रह्म या महेश्वरी बनते हैं। तभी उनके भीतर सृष्टिकी इच्छा उदय होती है। तब "स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्"—उस ईक्षणसे ब्रह्मशक्ति-प्राण स्पन्दित हो उठता है। तब जो प्रकृति इनके साथ अङ्गाङ्गी भावसे मिलकर एक हो गयी थी, वह मानो उनसे कुछ पृथक् हो जाती है। यही शिवशक्ति-रूपमें प्रकाशभाव है, यही उस सद्वस्तुका प्रकृति-पुरुषरूपमें परिणाम है। अन्तमें असंख्य परिणाम और असंख्य जीव हो जाते हैं। परन्तु मूलतः ये असंख्य उस एकके ही परिणाम-मात्र हैं। ज्ञान-दृष्टिसे उस एकको अनुभव करने पर बहुत्वका विकास रुद्ध हो जाता है, तब जो एक था वही एक रह जाता है। इसी कारण मध्यावस्थामें जो असंख्य परिणाम और असंख्य जीवोंकी उत्पत्ति होती है, उसको ज्ञानी लोग माया कहते हैं।

अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः। ४।९
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ ४।१०
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ४।११ श्वेताश्वतर

मायाधीश्वर परमेश्वरने इस विश्वको अक्षर ब्रह्मसे सृजन किया है, अन्य अर्थात् जीव उस विश्वमें माया द्वारा बद्ध हो गया है।

मायाको प्रकृति जानो और मायीको महेश्वर समझो। उनके अङ्गभूत वस्तुओंके द्वारा यह समस्त जगत व्याप्त हो रहा है।

जो अद्वितीय देवता प्रत्येक कारणका अधिष्ठाता है, जिससे यह सब उत्पन्न होता है और जिसमें लौट जाता है, उस नियन्ता, वरद और पूज्य देवताको दर्शन करके साधक अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है।

इस शिव-शक्ति-युक्त ईश्वरभावके सामने भीत और व्याकुल जीव परित्राणके लिए आकुल चित्तसे प्रार्थना करता है—

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रतिपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।।श्वेता० ४।२१

हे रुद्र, तुम जन्म-मरणादि दुःखसे रहित हो, अतएव जरा-मरणसे कातर होकर जीव तुम्हारी शरण लेता है। अतएव कृपा करके अपने अनुकूल दक्षिण मुखके द्वारा मेरी रक्षा करो ।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।७।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) कल्पक्षये (प्रलयकालमें) सर्वभूतानि (सारे भूत) मामिकां (मेरी) प्रकृतिं यान्ति (प्रकृतिको प्राप्त होते हैं या प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं) पुनः (फिर) कल्पादौ (कल्पके आदिमें या सृष्टिकालमें) अहं (मैं) तानि (उनको) विसृजामि (सृजन करता हूँ) ।।७।।

श्रीधर—तदेवमसङ्गस्यैव योगमायया स्थितिहेतुत्वमुक्तम्। तयैव सृष्टिप्रलयहेतुत्वं चाह—सर्वेति। कल्पक्षये प्रलयकाले सर्वाणि भूतानि मदीयां प्रकृतिं यान्ति। त्रिगुणात्मिकायां मायायां लीयन्ते। पुनः कल्पादौ सृष्टिकाले तानि विसृजामि विशेषेण सृजामि ।। ७ ।।

अनुवाद—[असङ्ग भगवान्‌की योगमायाके द्वारा ही संसारकी स्थिति होती है, यह कह चुके हैं, वही फिर सृष्टि और प्रलयके हेतु हैं, यह बतलाते हैं]—प्रलयकालमें भूतगण मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायामें लीन हो जाते हैं। पुनः सृष्टिकालमें उन समस्त भूतोंको मैं विशेष रूपसे सृजन करता हूँ ।। ७ ।।

आध्यात्मिक व्याख्या—समस्त भूत अष्ट प्रकृतिमें जाते हैं—कोई कर्म सम्पन्न होने पर फिर अन्य कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।—भगवत्प्रकृतिसे जगत् उत्पन्न हुआ है। जगत्‌के विनष्ट होने पर सारे सृष्ट पदार्थ मूल कारणरूपा प्रकृतिके भीतर लीन हो जाते हैं। जब जगद् आदि वस्तुओंकी सृष्टि और लय होता है, तो उसको नितान्त असत् कैसे कह सकते हैं? जगद् आदिकी सृष्टि और लयका कारण है माया। मायाके द्वारा ही यह जगत् पुनः पुनः सृष्ट और ध्वंस-प्राप्त हो रहा है। यह माया अनिर्वचनीया है, इसको न तो सत् कह सकते हैं और न असत्। घट मृत्तिकासे उत्पन्न हुआ है और वह मृत्तिकामें ही लीन होता है, उसी प्रकार यह जगत् अनिर्वचनीया मायासे उत्पन्न होता है और उसमें ही लय होता है। यदि माया ही जगत्‌की उत्पत्तिका हेतु है तो फिर भगवान्‌को हेतु क्यों कहते हैं? हाँ, माया हेतु तो है, परन्तु वह निमित्त कारण है। निमित्त कारण हुए बिना जगत्‌रूपी परिणाम हो नहीं सकता। जगत्-रूप जो विकृति है उसका उपादान हेतु भी माया है। परन्तु माया स्वयं सत्य नहीं है, अतएव उसके परिणाम-स्वरूप ये जगदादि भाव भी असत्य हैं। परन्तु जिसका अवलम्बन

करके यह मायिक परिणाम होता है, वह मूल कारण नित्य सत्य है, वह सत्य वस्तु ही जगत्का विवर्त कारण है। रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, यह सर्पबोध भ्रमज्ञान है अतएव मिथ्या है, परन्तु जिस रज्जुको आश्रय करके यह सर्पज्ञान होता है, वह रज्जु सत्य है। रज्जु ही मानो विवर्तित होकर सर्परूपताको प्राप्त होती है। इसी प्रकार भगवान्को ही सबका कारण कहते हैं क्योंकि माया भी भगवान्की ही शक्ति है और उनसे अभिन्न है। यदि उनसे माया भिन्न होती तो जगत्का निमित्त कारण भी सत्य होता और ब्रह्मके सिवा यह प्रकृति भी परम सत्यरूपमें परिगणित होती। परन्तु श्रुति कहती है—"नेह नानास्ति किञ्चन"—नानात्व नहीं है, अतएव निमित्त कारण भी उनसे अभिन्न है। जैसे समुद्रका जल ही तरङ्ग रूपमें, या स्वर्ण ही कुण्डलरूपमें विवर्त्तित होता है, परन्तु समुद्रसे तरङ्ग किंवा स्वर्णसे कुण्डल कोई पृथक् वस्तु नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मसे माया कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यदि उसकी प्रतीति हो रही है तो वह ब्रह्म ही तद्रूपमें प्रतीत हो रहे हैं, अन्य कोई नहीं। श्रीराम-तापनी उपनिषदमें लिखा है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिके भीतर जो प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है, वह भी सब ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ, यह जानकर बन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रकृति अर्थात् क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम, मन, बुद्धि और अहङ्कार—यह अष्ट प्रकृति है। देहान्त होनेपर भी जीव इस अष्ट प्रकृतिसे अलग नहीं होता। यह अष्ट प्रकृति अणुरूपमें देहीका अनुगमन कर फिर जीवरूपमें उत्पन्न होती है। जीवा-वस्थामें जीव शत-शत कल्पनाएँ करता है, कल्पनाके अनुसार कर्म सम्पन्न हो जाने पर फिर अन्य कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। कल्पना परित्यागका समय है जीवकी मृत्यु, परन्तु वह परित्याग सामयिक है। फिर जीवके अदृष्टके कारण भोगका समय उप-स्थित होने पर कल्पनाके अनुसार जीवका जन्म होता है। इस प्रकार जीवका वारम्वार जन्म और मृत्यु होती रहती है। क्रियाकी परावस्थामें जीवकी यह कल्पनां निवृत्त होती है, उसे ही कल्पक्षय कहते हैं। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें पूर्ण स्थिति न होने पर जीव विवश होकर वहाँसे अवतरण करता है, तब फिर उसकी सांसारिक प्रवृत्तिका उदय होता है—यही है "कल्पादौ विसृजाम्यहम्"—यह भगवान्की प्रकृतिका खेल है और उस प्रकृतिके वशमें समस्त जीव हैं। क्योंकि तत्त्वातीत क्रियाकी परावस्थामें कुछ भी नहीं रहता, अतएव यह जीवभाव और इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीन अवस्थाएँ ही प्रपञ्च हैं। जीव पञ्चतत्त्वमें रहकर देहादिमें अभिमान करता है, परन्तु तत्त्वातीत अवस्थामें प्रपञ्च नहीं है। वही ब्रह्मस्वरूप है और उसीसे यह प्रपञ्च प्रकाशित होता है। क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थामें उस निर्मल ब्रह्मका ज्ञान होता है, तब मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका ज्ञान होनेसे जीव सर्व बन्धनसे विमुक्त हो जाता है क्योंकि ब्रह्ममें लीन होने पर अन्य वस्तु नहीं रहती। वस्तुके द्वारा ही आकृष्ट होकर मन बद्ध होता है, जब कोई वस्तु ही

नहीं, सब कुछ ब्रह्म हो गया तब कौन किसको बन्धन करेगा ? चित्त अन्य-मनस्क होने पर ही मायामें मुग्ध होता है, इसलिए क्रिया अधिकाधिक करनी पड़ती है, क्रिया करने पर नशा चढ़ जाता है, तब फिर चित्त अन्य वस्तुमें नहीं जाता, अतएव फिर कल्प या कल्पनाकी सृष्टि नहीं होती। इस प्रकार जब चित्त चित्तमें ही रहता है, अन्यत्र कहीं नहीं जाता, तब वह 'चिन्मात्र' हो जाता है। यह चिन्मात्ररूप ही भगवद्रूप है, यही क्रियाकी परावस्था है। इसे ही चित्तमें चित्त रखना या मनमें मन रखना कहते हैं। क्रियाकी परावस्थामें चित्तमें चित्त मिल जाता है, इस अवस्थामें जो रहता है वही सदाशिव है। तब भीतर ही भीतर श्वास चलता है और भ्रूमध्यमें दृष्टि रहती है, प्राण और अपान समानरूपमें अवस्थिति करते हैं, वायु नासिकाके भीतर विचरण करती है। यही निष्कल अवस्था है। क्रिया करते-करते यह अवस्था अपने आप आती है। सदा चित्स्वरूप कूटस्थमें रहते-रहते ब्रह्ममें रहता है और ब्रह्ममें रहकर ब्रह्म हो जाता है। सब ब्रह्म होने पर ब्रह्म अद्वितीय हो जाते हैं। इसको जाननेका नाम कैवल्य है। सर्वदा क्रिया करने पर कैवल्य-पद प्राप्त होता है। जिसको कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है उसके लिए फिर सृष्टि या लय नहीं रहता। इस अवस्थाको प्राप्त साधक ही जीवन्मुक्त पुरुष हैं ॥७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अन्वय—स्वां (अपनी) प्रकृतिं (प्रकृतिको) अवष्टभ्य (आश्रय करके या वशीभूत करके) प्रकृतेः वशात् (प्रकृतिके या स्वभावके वश) अवशं (कर्मादिके वश) इमं (इस) कृत्स्नं (समस्त) भूतग्रामं (भूत-समूहको) पुनः पुनः (वारम्वार) विसृजामि (सृष्टि करता हूँ) ॥८॥

श्रीधर—नन्वसङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसीत्यपेक्षायामाह प्रकृतिमिति। स्वां स्वीयां स्वाधीनां प्रकृतिमवष्टभ्याधिष्ठाय। प्रलये लीनं सन्तं चतुर्विधमिमं सर्वं भूतग्रामं कर्मादिपरवशं पुनः पुनः विविधं सृजामि। विशेषेण सृजामीति वा। कथं ? प्रकृतेर्वशात् प्राचीनकर्मनिमित्ततत्स्वभाववशात् ॥८॥

अनुवाद—[अच्छा, तुम तो असङ्ग और निर्विकार हो तब फिर तुम किस प्रकार सृष्टि करते हो ? इस अपेक्षामें कह रहे हैं]—मैं अपनी अधीन प्रकृतिमें अधिष्ठान करके प्रलयमें लीन चतुर्विध (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन सारे) कर्मादि-परवश भूतग्रामको पुनः पुनः सृजन करता हूँ क्योंकि ये सारे भूतग्राम प्राक्तन कर्मोंके कारण तत्तत् स्वभावके वश लाचार हैं ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकृतिमें अटका रहकर वारम्वार अर्थात् इच्छा करता है—इस कारण वारम्वार जन्म-मृत्यु होती है—परन्तु पञ्च भूतोंकी जो पञ्च इन्द्रियाँ हैं, वे भूत उन इन्द्रियोंके वश हैं—सब इन्द्रियोंको—प्रकृति अर्थात् शरीरके भीतर रहकर, शरीर जो स्वयं अवश है उसको वशमें रखना दुष्कर है—अतएव इन्द्रियाँ उसी घर की हैं, वे भी वशमें नहीं रहतीं—परन्तु क्रिया करने पर रहती हैं।—भगवान् निर्लिप्त और निर्विकार होकर कैसे

जगत्‌की सृष्टि करते हैं, इसमें उनका प्रयोजन क्या है—इस प्रकारके प्रश्नोंका मनमें उठना स्वाभाविक है। इसीलिए भगवान् अर्जुनका संशय मिटानेके लिए कह रहे हैं, देखो, प्रलयकालमें सारे भूत प्रकृतिमें विलीन रहते हैं, उस प्रकृतिका मैं अधीश्वर हूँ, मुझको इच्छा-अनिच्छा कुछ नहीं है क्योंकि मैं स्वयं पूर्ण हूँ, मुझे कोई अभाव नहीं रह सकता, अतएव अभावकी पूर्त्तिके लिए जगत्‌की सृष्टि करनेका कोई कारण नहीं है। मैं चिरमुक्त-स्वभाव हूँ, मेरा बन्धन नहीं हो सकता, फिर मुक्तिके लिए मैं क्यों जन्म-ग्रहण करूँगा ? तब सृष्टि होती क्यों है, यही प्रश्न है। अपनी प्रकृतिके बारेमें जो मैंने कहा है, वह प्रकृति मेरी माया है। उसके भीतर अनेक अघटित घटनाएँ होती रहती हैं, परन्तु मैं उसका प्रभु हूँ, मैं ही उसका आश्रय हूँ, अतएव उसमें जो खेल होते हैं, वे मेरी शक्तिसे ही होते हैं। इसी कारण जान पड़ता है मानो मैं ही सब करता हूँ, परन्तु मेरा कोई प्रयोजन न होनेके कारण मैं उन सारे खेलोंसे सदा निःसङ्ग रहता हूँ। ये सारे प्रकृतिके खेल मिथ्या होने पर भी सत्यवत् प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि माया मिथ्या होते हुए भी सत्यस्वरूप मुझको आश्रय करके रहती है, इसी कारण उसको कोई असत्य नहीं समझ पाता। इस माया-दर्पणमें जो मेरा प्रतिविम्ब पड़ता है वह स्वरूपतः असत्य होते हुए भी सत्यवत् भासित होता है। इस प्रतिविम्बको लेकर ही मायाके खेल हैं। उसमें कितनी ही वार सृष्टि स्थिति और लय होते रहते हैं। प्रतिबिम्ब होते हुए भी वह चैतन्यका प्रतिबिम्ब है, वह चेतनमय प्रतिविम्ब ही अनेक रूपोंमें खेल करता है, इस खेलका मानो अन्त ही नहीं है, कब आरम्भ हुआ है यह कोई कह नहीं सकता। क्योंकि यह प्रकृति अनिर्वचनीया सदसद्रूपा और अनादि है। यह प्रकृति जब पुरुषके वक्षःस्थलमें सो जाती है तब जगत्‌का प्रलय हो जाता है। परन्तु प्रकृति फिर जगती है। इस प्रकृतिके जागरणके साथ उसके सारे खिलौने भी जग उठते हैं। पुरातन कर्मोंके कारण भूतोंके जिस स्वभावकी सृष्टि होती है, उस स्वभावके वश वे लाचार होकर खेलने आते हैं। वे पुरातन कर्मोंके अनुसार कर्ममें आबद्ध होकर तत्तत् रूपमें सृष्ट होते हैं। अतएव इस प्रकारकी सृष्टि भी जैसे मायामय और मिथ्या है, वैसे ही हमारा सृष्टिसङ्कल्प और रचना भी मायामय और मिथ्या है। मैं इन सारे व्यापारोंका साक्षीमात्र हूँ, मेरे अधिष्ठानके वश प्रकृतिमें इस प्रकारकी सृष्टिका विकास होता है। जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुषको आश्रय करके स्वप्न उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मुझको आश्रय करके मायामें सृष्टि परिकल्पित होती है। स्वप्नावस्था जैसे द्रष्टा पुरुषकी मिथ्या कल्पना है, उसी प्रकार जगदादि रचना द्रष्टा पुरुषकी मायासे कल्पित-मात्र है।

भूतग्राम मायाको वशीभूत नहीं कर सकता, यह माया ही जीवकी इच्छा या कल्पना है। इसके ही वश होकर प्रकृतिके भीतर जीव अटका रहता है और उसके फलस्वरूप वारम्वार जन्ममृत्युका अभिनय होता है। पञ्च इन्द्रियाँ चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पञ्चभूत क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योमके वशीभूत हैं, अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि द्रष्टाका दृश्य बनकर अविरत

चक्कर मार रहे हैं। प्रकृतिरूपी यह शरीर स्वयं अवश है, पञ्चभूतोंका क्रीड़ागृह है, पञ्च इन्द्रियाँ उसी क्रीड़ागृहके झरोखे और द्वार-स्वरूप हैं। पञ्चभूतोंके चाञ्चल्यसे शरीर चञ्चल, शरीरके चाञ्चल्यसे इन्द्रियाँ चञ्चल और इन्द्रियोंके चाञ्चल्यसे मन चञ्चल होकर ५×५=२५ तत्त्वोंमें चक्कर लगाते हुए व्याकुल हो रहा है।* परन्तु यह भूतग्राम और इन्द्रियादि इन्द्रजालके दृश्यके समान अद्भुत तथा मिथ्या हैं। जो मन लगाकर प्रतिदिन साधनाभ्यास करता है उसका प्राण जो सब प्रपञ्चोंका मूल है, स्थिर हो जाता है। प्राणकी स्थिरताके साथ मन और उसके साथ इन्द्रियाँ स्थिर होकर देवोंके देव उस परमात्माकी आरती करती हैं। तब एकके भीतर बहुत्वकी परिसमाप्ति होती है और इस इन्द्रजालरूपी विश्व-खेलका अवसान हो जाता है। वही एक देवता स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, कीट, स्थावर—जङ्गमादिरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। इस खेलमें बहुत्वका खेल तो है परन्तु अभिनेता अनेक नहीं हैं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय !) तेषु कर्मसु (उन कर्मोंमें) असक्तं (अनासक्त) उदासीनवत् च (और उदासीनके समान) आसीनं (आसीन या अवस्थित) मां (मुझको) तानि कर्माणि (वे कर्म) न निबध्नन्ति (बन्धन नहीं कर सकते) ॥ ६ ॥

श्रीधर—नन्वेवं नानाविधानि कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद्बन्धः कथं न स्यादिति ? अत आह—न च मामिति। तानि विश्वसृष्ट्यादीनि कर्माणि मां न निबध्नन्ति। कर्मासक्तिर्हि बन्धहेतुः। सा चाप्तकामत्वान्मम नास्ति। अत उदासीनवद्वर्त्तमानस्य

---

* परिव्राजक श्रीकृष्णानन्द स्वामीने यह तत्त्व अपने निम्नलिखित सङ्गीतमें भलीभाँति खोल दिया है—

मन करिस्ने गण्डगोल—
ओरे, पाँच हावा पाँच छावा घरे
पाँच भूते तुलेछे रोल;—
यदि पाँचे पाँचे पँचिसेर मानुष
देखबि तबे दुआर खोल।
छेड़े खुँटी नाटी मयला माटि मन्टा खाँटि करे तोल;—
देख् पाँच पथे एक रङ्गेर मानुष करतेछे लीला केवल।
ओरे कालो धलो यत बल पुरुष मेये सेइ सकल;—
येमन नाना बुलि बाजाय ढुली बाजे किन्तु एकइ ढोल ॥

अर्थात् अरे मन, गड़बड़ मत कर। अरे, पञ्च वायु पञ्च भूतोंके घरमें शोर मचा रही हैं। यदि ५×५=२५ का मनुष्य देखना हो तो द्वार खोल दे। अरे मन, कूड़ा-करकट, कचरा-मैला छोड़कर अपनेको शुद्ध कर ले। देख, पाँच मार्गोंमें केवल एक ही रङ्गका मनुष्य लीला कर रहा है। अरे, काले धवले जितने कहो स्त्री पुरुष सब वही हैं। जैसे ढोलकिया नाना प्रकारके बोल क्यों न बजाये, पर उनमें बजता है केवल एक ही ढोल।

मे बन्धं नापादयन्ति। उदासीनत्वे कर्त्तृत्वानुपपत्तेः। कर्त्तृत्वे चोदासीनत्वानुपपत्तेरुदासीनवत् स्थितमित्युक्तम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—[अच्छा, तुम तो नाना प्रकारके कर्म करते रहते हो, तब जीवके समान तुम्हारा बन्धन क्यों नहीं होता, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—हे धनञ्जय, वे सब विश्व-सृष्टि आदि कर्म मुझको बन्धनमें नहीं डाल सकते। बन्धनका हेतु है कर्मासक्ति। मैं आप्तकाम हूँ, इस कारण मुझमें कर्मासक्ति नहीं है। अतएव उदासीनवत् रहनेके कारण मेरा कर्म-बन्धन नहीं होता। उदासीनके लिए कर्त्तृत्व उपपन्न नहीं होता। कर्त्तृत्वमें उदासीनत्वकी अनुपपत्ति अर्थात् अभाव होता है, इसी कारण "उदासीनवत्" अवस्थित कहा है ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रकृतिके और इन्द्रियके वशके द्वारा सारे कर्म हो रहे हैं—परन्तु मैं उन सब कर्मोंसे पृथक् हूँ—वे कर्म मुझको आबद्ध नहीं कर सकते—क्योंकि मैं अपने आत्मामें ही हूँ मस्तकके ऊपर आरूढ़—अथवा आरूढ़के समान अन्य दिशामें दृष्टि न होनेके कारण अन्य वस्तुमें आसक्ति नहीं है—मैं आत्मामें ही रहता हूँ इस कारण आत्मामें ही आसक्त रहता हूँ।—माया जब तुम्हारी ही है और उससे जब कुछ कर्म होगा ही, तब अन्यान्य जीवोंके समान तुम्हारा बन्धन क्यों न होगा? इसीसे भगवान् कहते हैं—देखो धनञ्जय! कर्मबन्धनका हेतु क्या है जानते हो? आसक्ति और कर्त्तृत्वका अभिमान ही कर्मबन्धनका हेतु है। मैं उदासीन होनेके कारण किसी कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता। अतएव कर्त्तृत्वाभिमान-रूप विकार मुझमें होना सम्भव नहीं। अनासक्त होनेके कारण कर्मके शुभाशुभ फलके प्रति मेरी आसक्ति भी नहीं रह सकती। अतएव मायायुक्त होने पर भी मैं मायाके कार्यमें आबद्ध नहीं हूँ। फलासक्तिका अभाव ही अबन्धनका हेतु है, अन्यथा कर्म अभिनिवेशयुक्त मूढ़ पुरुषको रेशमके कीड़ेके समान आबद्ध किये रखता है। मैं पर्जन्यके समान हूँ। जिस प्रकार पर्जन्य वृक्ष आदिके ऊपर समभावसे वारिवर्षण करता है, परन्तु बीजकी प्रकृतिके अनुसार मीठे या कड़ुए फल हुआ करते हैं, उसके लिए पर्जन्य उत्तरदायी नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् जीवके सुख-दुःखके उत्पादक नहीं हैं। सुख-दुःख जीवके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही हुआ करते हैं। जीवके कर्मफलोंकी उत्पत्तिके लिए उनका प्रभाव अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। बीजके भीतर चाहे जो शक्ति हो, पर्जन्यकी वृष्टिके बिना कोई बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार उनके अधिष्ठानके बिना माया अकेली कुछ नहीं कर सकती। परन्तु वह उदासीनवत् साक्षी-स्वरूप हैं, इसलिए मायाके कार्य द्वारा वह बद्ध नहीं हो सकते। तब यहाँ एक प्रश्न मनमें उठ सकता है कि इस प्रकारके उदासीन भगवान्का भजन करके जीवको क्या लाभ होगा?—लाभ होता है। जिस प्रकार अग्निके पास जाने पर अग्निकी इच्छा न रहते हुए भी अग्निका स्वतःस्फुरित तेज अग्निसेवीका शैत्य-निवारण कर देता है, उसी प्रकार भगवत्-उपासनासे उपासकको कल्याणकी प्राप्ति होती ही है। जिस प्रकार तटस्थित व्यक्तिके प्रार्थना न करने पर भी समुद्रकी वायु

उसका ताप निवारण करती है, उसी प्रकार भगवान्में स्थित उनकी स्वाभाविक ताप-प्रशमिनी शक्ति उनके भक्त सेवककी त्रिताप-ज्वालाको निवारण करती है। इसके लिए साधककी इच्छाकी आवश्यकता नहीं होती और भगवान्को भी सङ्कल्प करनेका प्रयोजन नहीं होता। इसी प्रकार निर्विकार भगवान् भक्तोपासकका कल्याण करते हैं।

जगत्के जो कुछ कर्म हैं सब प्रकृतिके वश इन्द्रियोंके द्वारा हुआ करते हैं, परन्तु आत्माको वे सारे कर्म लिप्त नहीं कर सकते। आकाशके समान निरवयव आत्माको कदापि कोई लिप्त नहीं कर सकता। वह इनसे सदा ही पृथक् है। यह तभी समझमें आता है जब अभ्यासके प्रभावसे योगीका प्राण ऊर्ध्व (सहस्रारमें) स्थिति लाभ करता है। बाह्य श्वास नहीं रहता अतएव दूसरी ओर दृष्टि या आसक्ति नहीं होती। इसीसे कर्म करने पर भी उस समय वह कर्म योगीको बद्ध नहीं करता। यही प्राणमें प्राणका मिलन है। बाह्य श्वास चञ्चल प्राण है, वह जब स्थिर-श्वास-अव्यक्तमें मिल जाता है, तब दोनों एक हो जाते हैं। इस प्रकार एक हो जानेके बाद फिर जगत्-दृष्टि नहीं रह जाती। जब कुछ न रहेगा तो आसक्ति होगी कहाँ ? जिस प्राणने चञ्चल होकर जगत्की सृष्टि की थी, उस चाञ्चल्यका अभाव होने पर योगीके सामने जगत्-व्यापारका फिर अस्तित्व ही नहीं रहता। कर्तृत्व-भोक्तृत्व न रहने पर जगत् रहते हुए भी नहीं रहता। यही गुणातीत भाव है। इस अवस्थामें रहने पर गुण-कर्म योगीको स्पर्श नहीं कर सकते। जब स्पर्श ही नहीं कर सकते तो फिर उनको बद्ध कैसे कर सकते हैं ?

आत्मा मन-वाणीके अगोचर है अतएव अव्यक्त है, देह-इन्द्रिय-मनोबुद्धिसे युक्त भाव ही व्यक्तावस्था है। समुद्रकी असीम जलराशिसे जैसे बुद्बुद् उठते हैं, उसी प्रकार असीम अव्यक्तावस्थाके भीतरसे व्यक्तावस्था वारम्वार उत्पन्न हो रही है। बुद्-बुदाकारमें परिणाम-स्वरूप व्यक्तावस्था प्रकृतिके अधीन है। अव्यक्त भाव प्रकृतिके वशमें नहीं है। इसी कारण वहाँ बन्धन या मोक्ष नहीं है। अव्यक्त प्राणशक्ति देहे-न्द्रियोंके आकारमें परिणत होकर जिस आत्मसमुद्रमें जलबिम्बके रूपमें खेल करती है, वही जीवका जीवन या चञ्चल श्वास है। उस चञ्चल श्वासको साधनाके द्वारा जो सहस्रारमें स्थिर कर सकता है, वही सम्यक्-भावसे समझ सकता है कि यह अव्य-क्तावस्था क्या है ?॥९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अन्वय—अध्यक्षेण मया (मेरी अध्यक्षताके कारण) प्रकृतिः (प्रकृति) सचरा-चरं जगत् (चराचर विश्वको) सूयते (प्रसव करती है), कौन्तेय (हे कौन्तेय!) अनेन हेतुना (इस कारणसे) जगत् विपरिवर्तते (जगत् पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करता है) ॥१०॥

श्रीधर—तदेवोपपादयति—मयेति। मयाध्यक्षेणाधिष्ठात्रा निमित्तभूतेन प्रकृतिः सचराचरं विश्वं सूयते जनयति। अनेन मदधिष्ठानेन हेतुनेदं जगद्विपरिवर्त्तते पुनःपुनर्जायते। सन्निधिमात्रेणाधिष्ठातृत्वात् कर्त्तृत्वमुदासीनत्वं चाविरुद्धमिति भावः ॥१०॥

अनुवाद—[उसीको प्रमाणित करते हैं]—मेरे अधिष्ठानवश अर्थात् मैं निमित्त-भूत हूँ इस कारण प्रकृति सचराचर विश्वको उत्पन्न करती है। इस प्रकार मेरे अधिष्ठान के कारण यह जगत् वारम्वार उत्पन्न हो रहा है। सन्निधिमात्रसे मेरे अधिष्ठातृत्वके कारण प्रकृति जगत्-कार्यमें समर्थ हो रही है, अतएव सृष्टिकार्यमें कर्तृत्व और उदासी-नत्व विरुद्ध नहीं हैं ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं बुद्धिपूर्वक—इस शरीरमें—अर्थात् प्रकृतिमें दृष्टि करते हुए चर और अचरमें हूँ इस कारण जगत् उलटे रास्ते चल रहा है—इसका कारण यह है कि डाल-पत्ते नीचे हैं और जड़ सिरके ऊपर हैं।—पूर्वश्लोकमें कहा है कि भगवान् प्राणियोंकी सृष्टि भी करते हैं और उदासीनके समान भी रहते हैं, परन्तु ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध प्रतीत हो सकती हैं। इस अशङ्काके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं—"मया सर्वतो दृशिमात्र-स्वरूपेणाविक्रियात्मनाऽध्यक्षेण मम माया त्रिगुणात्मिकाऽविद्यालक्षणा प्रकृतिः सूयत उत्पादयति सचराचरं जगत्। तथा च मन्त्रवर्णः—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।"—श्वेताश्वतरोपनिषत् (शङ्कर)। मैं सर्वत्र एकमात्र ज्ञानस्वरूपमें विराजमान हूँ, मुझमें किसी प्रकारका विकार नहीं है, मैं अध्यक्षरूपसे प्रेरणा करता हूँ इस कारण मेरी माया—त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृति—इस चराचर जगत्को प्रसव करती है। वेदमें इसी प्रकारका एक मन्त्र है—वही एक अद्वितीय देवता सब प्राणियोंमें गूढ़भावसे अवस्थित हैं, वह सर्वव्यापक और सब जीवोंके अन्तरात्मा हैं, वह यावतीय कर्मोंके अध्यक्ष हैं, सर्वभूत उनको आश्रय करके विद्यमान हो रहे हैं, वह साक्षी चैतन्य-स्वरूप एक और प्राकृतिक गुणसम्बन्धसे रहित हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है—"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्"—इस परिदृश्यमान् प्रपञ्चके जो अध्यक्ष हैं, वह परम आकाशमें विराजमान हैं। मायावश ब्रह्मचैतन्यके विपर्यय-ज्ञानमें जीव-भाव विकासको प्राप्त होता है। परन्तु भगवान्की अध्यक्षता न रहने पर यह चराचरात्मक व्यक्त और अव्यक्त जगत् नाना अवस्थाओंमें परिवर्तित नहीं हो सकता। इसीलिए ब्रह्मको जगत्का कारण कल्पित करते हैं। परन्तु जब दूसरी और कोई सत्य वस्तु नहीं है, एकमात्र वही सत्य हैं, तो परमार्थतः उनका किसी भोगके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता और उनके सिवा जब कोई भोक्ता या चेतन सत्ता भी नहीं है तो इस जगत्को किसने उत्पन्न किया? इसीसे समझा जाता है कि यह सृष्टि, स्थिति और प्रलय केवल मिथ्या-मात्र हैं। तव इस प्रकार हमको सत्यबोध क्यों हो रहा है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"—अज्ञानके द्वारा ज्ञान आवृत है, इस कारण जीव मोहको प्राप्त होते हैं। आत्माका चैतन्य-भाव देहेन्द्रियादिमें लिप्त होकर देहेन्द्रियको भी चेतनवत् दिखलाता है। देहेन्द्रियादिके चैतन्यमें ही जिसकी दृष्टि है वह इस बातको न विचारकर कि चैतन्य किसका है केवल इस जड़चेनात्मक दृश्य जगत्को ही देखता है। जहाँसे चैतन्य आ रहा है उस मूल केन्द्रमें लक्ष्य नहीं कर सकता,

अतएव उलटे रास्ते चलता है। जगत्-दर्शन होता है पर ब्रह्म-दर्शन नहीं होता। वह चैतन्य-स्वरूप हैं, उस चैतन्यको वह विपरीत भावसे देखता है। वृक्षका मूल रहता है नीचे, शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं ऊपर। परन्तु यहाँ मूल ऊपर है क्योंकि मस्तकके ब्रह्मरन्ध्रमें वह परम कारणोंका कारण विद्यमान रहता है, वही शक्ति नाना प्रकारके देहेन्द्रियादिके रूपमें परिणत हुई है। मूल स्थानमें एकमात्र चिद्रूपमें शिव और शक्ति एकाकारमें मिलित हैं, वही मस्तकसे असंख्य प्रवाहिकाओंके भीतरसे होकर अवतरण करते-करते पूर्णतः स्थूल भूतमय व्यापारमें परिणत हो गये हैं। उस एकको यदि प्राप्त करना हो तो विविध नाड़ियोंके भीतरसे होकर अन्तमें सहस्रारमें परम व्योममें आकर मिलना पड़ेगा। तब फिर सब एकाकार हो जायगा। वह जो अध्यक्ष अर्थात् अधि+अक्ष, अक्षिस्थ पुरुष हैं, यही पुरुष सबके भीतर सब कुछ हैं, इनके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता, फिर भी प्राकृत व्यापारके शुभाशुभ कर्मोंके वह भोक्ता नहीं केवल द्रष्टामात्र हैं। प्रकृति सब कुछ बनाती-बिगाड़ती है, परन्तु इस अध्यक्ष पुरुषके रहने पर ही प्रकृतिका सब कुछ करना सम्भव हो रहा है। वस्तुतः यह प्रकृति भी वही बन गये हैं, यही है उनका अवतरण या जगद्-रूपमें परिणामको प्राप्त होना ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अन्वय—मम (मेरे) भूतमहेश्वरं (सर्वभूतोंका महेश्वर) परं भावं (परम भावको) अजानन्तः (न जानकर) मूढ़ाः (मूढ़ लोग) मानुषीं तनुं (मनुष्य देहधारी) मां (मुझको) अवजानन्ति (अवज्ञा करते हैं) ॥११॥

श्रीधर—नन्वेवंभूतं परमेश्वरं त्वां किमिति केचिन्नाद्रियन्ते ? तत्राह—अवजानन्तीति द्वाभ्याम्। सर्वभूतमहेश्वररूपं मदीयं परं भावं तत्त्वमजानन्तो मूढ़ाः मूर्खाः मामवजानन्ति मामवमन्यन्ते। अवज्ञाने हेतुः—शुद्धसत्त्वमयीमपि तनुं भक्तेच्छावशान्मनुष्याकारमाश्रितवन्तमिति ॥११॥

अनुवाद—[तुम इस प्रकारके परमेश्वर हो, फिर तुमको कुछ लोग आदर क्यों नहीं करते, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—सर्वभूत-महेश्वर-रूप मेरे परमतत्त्वको न जानकर मूर्ख लोग मेरी अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा करनेका हेतु यह है कि मैं शुद्धसत्त्वमय होकर भी भक्तकी इच्छाके वश मनुष्याकार देह धारण करता हूँ ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मूर्खोंने यह विशेष स्थिर कर लिया है कि मैं मनुष्य हूँ, मेरा जो परम भाव अर्थात् क्रियाकी स्थिति है उसको नहीं जानकर—मैं परम पदार्थ ब्रह्म-स्वरूप हूँ। मेरा नाश भी नहीं है, जन्म भी नहीं है !!!—प्राण चञ्चल होकर ही देहादिरूपमें परिणामको प्राप्त हो रहा है, अतएव प्राणके कार्य—देहेन्द्रियादिका स्वभाव भी—अत्यन्त चञ्चल है। इस चञ्चल स्वभावके कारण देहेन्द्रियादिमें नाना प्रकारके विकार और नाना परिणाम उत्पन्न हो रहे हैं, जिस उत्ससे प्राणका यह प्रवाह बहिर्मुख फूट निकलता

है, उस उत्सका केन्द्र अत्यन्त स्थिर और चिर निर्मल है। यह परम-स्थिर अवस्था ही आत्माका परम भाव या स्वरूप है और इस अवस्थाका आरम्भ या नाश नहीं है। इसको कोई पकड़ या जान नहीं सकता, परन्तु इससे उत्पन्न प्राणका वेग नाना प्रकारके आकारोंमें अपनेको प्रकट करके जगद्-व्यापारको सम्पन्न करता है, मूर्ख लोग इस आकारयुक्त जीवभावको असल समझकर इस नामरूपको प्राणपनसे पकड़े रहते हैं, मानो इस नामरूपके न रहने पर कुछ भी न रहेगा। शिशु जिस प्रकार माताके स्तन्यपीयूष-प्रवाहक स्तनको असल समझकर छोड़ना नहीं चाहता, उसके मूल उत्सकी ओर लक्ष्य नहीं कर सकता, उसी प्रकार जीव अपने मूल अव्यक्त उत्सकी धारणा नहीं कर पाता, सामने जिस नामरूपमय कार्यकारणके संघातरूप देह-प्रकृतिको देखता है, उससे पृथक् अव्यक्तावस्थाको कदापि नहीं समझ पाता। सब रूपोंके भीतर जो वह अरूप महेश्वर रहते हैं, वह हमको दीख नहीं पड़ते क्योंकि हम अज्ञानान्ध हैं। क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थाकी परिस्थिति समझ लेने पर जान पड़ता है कि वही हमारे 'मैं' हैं, वही परम पदार्थ ब्रह्मस्वरूप आत्मा हैं, उनका जन्म भी नहीं, विनाश भी नहीं है॥ ११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

अन्वय—मोघाशाः (विफल आशावाले) मोघकर्माणः (निष्फल कर्ममें रत) मोघज्ञानाः (विफल ज्ञान सम्पन्न) विचेतसः (विक्षिप्त चित्तवाले व्यक्ति) मोहिनीं (बुद्धि-भ्रंश करनेवाली) राक्षसीं (हिंसाप्रवण तामसी) आसुरीं च (तथा दम्भदर्प-कामादिप्रवण राजसी) प्रकृतिं (प्रकृतिको) एव श्रिताः (आश्रय करते हैं]॥१२॥

श्रीधर—किञ्च, मोघाशा इति। मत्तोऽन्यद्देवतान्तरं क्षिप्रं फलं दास्यतीत्येवंभूता मोघा निष्फलैवाशा येषां ते। अतएव मद्विमुखत्वान्मोघानि निष्फलानि कर्माणि येषां ते। मोघमेव नानाकुतर्काश्रितं शास्त्रज्ञानं येषां ते। अतएव विचेतसो विक्षिप्तचित्ताः। सर्वत्र हेतुः—राक्षसीं तामसीं हिंसादि-प्रचुराम्। आसुरीं च राजसीं कामदर्पादिबहुलां, मोहिनीं बुद्धिभ्रंशकरीं प्रकृतिं स्वभावं श्रिता आश्रिताः सन्तः मामवजानन्तीति पूर्वेणैवान्वयः॥१२॥

अनुवाद—दूसरे देवता शीघ्र फल प्रदान करेंगे, इस प्रकारकी निष्फल आशासे युक्त अतः मद्विमुख होकर निष्फल कर्म करनेवाले, जिनका शास्त्रज्ञान नाना प्रकारके कुतर्कोंके आश्रित होनेके कारण निष्फल है, तथा इन कारणोंसे जो विक्षिप्तचित्त हैं, वे बुद्धिभ्रंश करनेवाली हिंसादिपूर्ण तामसी राक्षसी प्रकृति तथा कामदर्पादिबहुल राजसी आसुरी स्वभावका आश्रय लेकर मेरी अवज्ञा करते हैं॥ १२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह नष्टकर्मा है जो आत्मामें रहकर कूटस्थका दर्शन नहीं करता, आँखोंसे देखता है अन्य वस्तुमें लोभ करता है—**क्रिया नहीं करता भूलता करता है। (कूटस्थ ही पुरुष, ज्योति प्रकृति है)।—जो अत्यन्त संसारासक्त तथा मूर्ख**

हैं उनमेंसे भी कोई-कोई मुझको पानेकी आशा करते हैं। उनकी धारणा है कि वे चाहे जितना ही कुकर्म करें या अन्यान्य जीवोंके प्रति जितना ही निर्मम व्यवहार करें, वे जो प्रतिदिन थोड़ा-सा जप करते हैं या भगवान्‌की प्रतिमाके सामने कुछ भोग लगाते हैं—उसीके जोरसे अपने कलुषित कर्मजनित यमदण्डको फांकी दे सकेंगे। परन्तु वे नहीं जानते कि यमराज उनके कर्मचारी नहीं हैं जो किसी प्रकार प्रभुकी खुशामदसे सन्तुष्ट होकर अपने कर्त्तव्य-सम्पादनसे विमुख हो जायँगे। यम मैं स्वयं हूँ—"यमः संयमतामहम्"—धर्माधर्मके फल-प्रदानरूप निग्रहानुग्रहकारियोंमें मैं यमराज हूँ। उन लोगोंकी सारी चेष्टाएँ निष्फल होती हैं, वे यमदण्डसे मुक्त होंगे यह व्यर्थ आशा किये बैठे हैं। उनके कर्म भी निष्फल हैं क्योंकि वे मद्विमुख हैं। मुझको नहीं चाहते परन्तु मेरे दिये हुए धनादिके प्रति उनका विशेष लोभ है, उस लोभको चरितार्थ करनेके लिए वे कभी-कभी मेरी या अन्य देवताकी पूजा करते हैं, यागयज्ञ करते हैं। मेरे प्रति ममत्वके अभावमें उनकी तपस्या या क्रिया आदि भी व्यर्थ है और जिनको शास्त्रज्ञान है, खूब अध्ययन भी किया है, परन्तु कुतर्कका आश्रय लेते हैं, वे इच्छानुसार अन्याय कार्य करेंगे और उसको शुभ कर्म तथा शास्त्रानुमोदित कर्म प्रमाणित करनेके लिए कुतर्क द्वारा चेष्टा भी करेंगे। उनका परिणाम बड़ा शोकपूर्ण होता है, उनका भविष्य अत्यन्त ही अन्धकारमय होता है। यदि उनसे कहा जाय कि अमुक स्थानमें एक अच्छे साधु-महात्मा आये हुए हैं तो यह सुनकर वे प्रमाणित करनेकी चेष्टा करेंगे कि वह पुरुष साधु या भगवद्भक्त नहीं है। यदि अन्ततः कोई त्रुटि न मिली तो कहेंगे, "उस प्रकार पेट भरकर जो दो बेला भोजन करता है वह फिर साधु कैसा? जो उपवास नहीं करता, फूँक मारकर आग बाहर नहीं निकाल सकता, वह फिर साधु कैसा?" ऐसे लोग मेरे भक्तकी भी अवज्ञा करते हैं और मेरी भी अवज्ञा करते हैं। उनमेंसे कोई-कोई भगवान्‌को भी मानना नहीं चाहते। कुछ लोग किसी व्यक्ति-विशेषका साधारण ऐश्वर्य देखकर उसको ही भगवान् कहनेके लिए तैयार हैं। इन सारे अल्पज्ञ पुरुषोंको उनका माहात्म्य ज्ञात नहीं। भगवान्‌के अवतीर्ण होने पर भी यदि उनको केवल लीलापुरुष-मात्र समझा जाय तो यह ज्ञान व्यर्थ है। वह दृश्यमें आते हैं, तो भी दृश्यमान् रूपमात्र ही उनका स्वरूप नहीं है। उनका रूप कोई आकृति नहीं है, परन्तु समस्त आकृतियोंमें जो सच्चिदानन्द-स्वरूप भासित होता है, वही उनका रूप है। जो अपने भीतर इस सच्चिदानन्द-रूपसे अवगत होते हैं, वह भी तद्रूप हो जाते हैं। जो लोग देहके सिवा और कुछ नहीं देख पाते, देहके भीतर जो कूटस्थ ब्रह्म और उनकी ज्योति सदा विकीर्ण हो रही है उसको देखने या समझनेकी चेष्टा नहीं करते, जिन्होंने सारी इन्द्रियोंको कुछ सांसारिक लाभकी प्रत्याशामें नियुक्त कर दिया है, ब्रह्ममार्गकी क्रिया बतला देने पर भी हठकारिताके वश जो उसमें प्रविष्ट नहीं होना चाहते, या उसके लिए कुछ परिश्रम नहीं करना चाहते, वे समस्त मूढ़ विक्षिप्त चित्तवाले लोग भगवान् से प्रीति नहीं कर सकते, उनको राक्षस या असुर ही जानना चाहिए ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) दैवीं प्रकृतिं (दैवी प्रकृतिको) आश्रिताः (आश्रय करनेवाले) महात्मानः (महात्मा लोग) तु (किन्तु) अनन्यमनसः (अनन्यचित्त होकर) भूतादिं (भूतोंके आदि) अव्ययं (अविनाशी) मां (मुझको) ज्ञात्वा (जानकर) भजन्ति (भजन करते हैं) ॥१३॥

श्रीधर— तर्हि त्वामाराधयन्तीति ? अत आह—महात्मान इति। महात्मानः कामाद्यनभिभूतचित्ताः। अतएव—अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिना वक्ष्यमाणां दैवीं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिताः। अतएव मद्व्यतिरेकेण नास्त्यन्यस्मिन्मनो येषां ते तु भूतादि जगत्कारणमव्ययञ्च मां ज्ञात्वा भजन्ति ॥१३॥

अनुवाद—[तब किस प्रकारके आदमी तुम्हारी आराधना करते हैं, इस विषयमें कहते हैं]—जो महात्मा हैं, जिनका चित्त कामादि द्वारा अभिभूत नहीं है, और इस कारण अभय-सत्त्वशुद्धि आदि दैवी स्वभावको जिन्होंने आश्रय किया है, अतएव मेरे सिवा अन्य विषयोंमें जिनका मन नहीं जाता, वे मुझको जगत्का कारण तथा अव्यय समझकर भजन करते हैं ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिनको इस प्रकार ज्ञान होकर—जो सर्व ब्रह्ममयं जगत् और ब्रह्ममें प्रकृति अर्थात् पञ्चतत्त्वकी क्रिया—इसका ही आश्रय लेकर रहते हैं। समस्त भूत उनके आदि जो ब्रह्म हैं न. अर्थात् षष्ठचक्र—अविनाशीको जानकर।—उत्तम रीतिसे पञ्चतत्त्वकी क्रिया करके जिन्होंने देहादिरूप प्रकृतिके माया-आवरणको हटाकर यथार्थ 'मैं' को समझ लिया है वे ही महात्मा हैं। ये समस्त महात्मा लोग सारात्सार परब्रह्मको आश्रय करके रहते हैं तथा सर्व जीवोंके परम आश्रयसे विच्युत न होना पड़े इसलिए उनकी दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। प्राण ही भगवान्की प्रकृति है, उसका ही अवलम्बन करके यह जगत्-क्रीड़ा होती है। जबतक प्राण चञ्चल होकर बहिर्मुखी रहता है, तभी तक वह रज-तमसे अभिभूत होकर राक्षसी और आसुरी भावोंसे मनको अनुप्राणित करता है; परन्तु जो क्रिया करके महात्मा होते हैं, वे जगत्के स्थिरप्राणरूपी आदि कारणका आश्रय करके रहते हैं। यही दैवी प्रकृति है। यह स्थिर प्राण ही आत्मा है। श्रद्धाके साथ षट्चक्रमें क्रिया करने पर षष्ठचक्र-स्थित महाशक्ति उद्बुद्ध होती है। वही अविनाशी ब्रह्म हैं। यह अव्यक्त अचञ्चल महास्थिर रूप ही परब्रह्म वासुदेव हैं। महात्मा लोग इस सर्वमय वासुदेवको ही भजते हैं। ये महात्मा तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) जिन्होंने इस दुर्लभ अवस्थाका आस्वादन प्राप्त किया है तथा इस कारण जगत्के अन्य सारे व्यापारोंको तुच्छ जानकर जो उनकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, (२) जो शुद्धचित्त होकर आत्मसंस्थित हो गये हैं, जिनका चित्त स्वभावतः एकाग्र होकर निरुद्ध हो गया है, बुद्धि सारावलोकिनी होनेके कारण जिनकी ज्ञानदीप्ति पूर्ण परिस्फुटित हो गयी है, यह दुर्लभतर अवस्था है और (३) दुर्लभतम अवस्था है वह

जब कि आत्माके सिवा और किसी वस्तुका ज्ञान ही नहीं रहता, तब जीवभाव परमात्म-भावमें डूब जाता है। यही इन्द्रियोंकी अगोचर अव्यक्तावस्था या क्रियाकी परावस्था है। यह एक विचित्र दशा है जिसके सम्बन्धमें कुछ कहनेका कोई उपाय नहीं है, उस समय यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्म हैं। जिसके पाने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है वही कारण-वारिका स्वरूप है। उसके भीतर सब विश्व-संसार है भी और नहीं भी है। जिस प्राणाग्निके तेजसे यह विश्व-संसार उत्पन्न होता है, वह प्राण जब क्रियाकी परावस्थामें ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें गमन करता है तो सारे सांसारिक विषय निवृत्त हो जाते हैं। प्राणके रहने पर ही अन्तर और वाह्य विषयोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारकी जगत्-दृष्टि ही भवरोग है। कारण-वारि ब्रह्म है, उसमें रहना ही भवरोगकी औषधि है। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिए क्रियारूपी औषध सेवन करने पर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है और क्रियाकी परावस्थामें अन्तर और वाह्य विषयोंसे चित्त प्रत्यावृत्त होकर ब्रह्ममें प्रकृष्ट रूपसे लीन हो जाता है। क्रियाकी परावस्था ही सद्भाव या आदिभाव है, इसका कभी विनाश नहीं होता ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अन्वय—[केचित्—कोई-कोई] सततं कीर्तयन्तः (सर्वदा कीर्तन करके) [केचित्—कोई-कोई] दृढव्रताः (दृढ़-नियमस्थ होकर) यतन्तः च (प्रयत्नपूर्वक) [मां उपासते—मेरी उपासना करते हैं], [केचित्—कोई-कोई] भक्त्या नमस्यन्तः च (भक्तिपूर्वक प्रणाम करके) [अन्ये केचित्—दूसरे कोई-कोई] नित्ययुक्ताः (सर्वदा समाहित होकर—'सोऽहं' चिन्तन द्वारा) मां उपासते (मेरा भजन करते हैं) ॥ १४ ॥

श्रीधर—तेषां भजनप्रकारमाह—सततमिति द्वाभ्याम्। सतत सर्वदा स्तोत्र-मन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः केचिन्मामुपासते सेवन्ते। दृढानि व्रतानि नियमाः येषां तादृशाः सन्तः। यतन्तश्चेश्वरपूजादिष्विन्द्रियोपसंहारादिषु च प्रयत्नं कुर्वन्तः। केचिद्भक्त्या नमस्यन्तः प्रणमन्तश्च। अन्ये नित्ययुक्ता अनवरतमवहिताः सेवन्ते। भक्त्येति नित्ययुक्ता इति च कीर्तनादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥१४॥

अनुवाद—(उनकी भजन-प्रणाली दो श्लोकोंमें कहते हैं) (१)—कोई-कोई सर्वदा स्तोत्र-मन्त्रादि द्वारा कीर्तन करके मेरी उपासना करते हैं। (२) कोई-कोई दृढ़ नियमयुक्त होकर इन्द्रियादि संयत करके सगुण ईश्वरोपासनामें प्रयत्न करते हैं। (३) कोई-कोई भक्तिके साथ प्रणामपूर्वक उपासना करते हैं और (४) दूसरे कोई-कोई अनवरत अवहित चित्तसे मेरी सेवा करते हैं ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरा ही कीर्तन अर्थात् क्रिया—आँख, कान बन्द करके खूब मजबूत होकर मुझको ॐकार-क्रिया द्वारा नमस्कार करता है, गुरुवाक्यमें विश्वास करके सदा अटका रहता है—ऊर्ध्वमें बैठकर।—भगवान्के भजनके लिए चाहे जो मार्ग

हम अवलम्बन करें उसमें हमारी श्रद्धा होनी जरूरी है। यह मार्ग अतिशय दुर्गम है। इसलिए श्रद्धाके साथ उस लक्ष्यके प्रति तथा वहाँ पहुँचनेके उपायकी वारंवार आलोचना करनी आवश्यक है। इसके विना बहिर्मुख चित्त अन्तर्मुख नहीं होता। इसके लिए एक ओर जहाँ साधकको विक्षेपरहित होना पड़ता है, उसी प्रकार चित्त-संयमके लिए दृढ़ व्रत अवलम्बन करना पड़ता है। वाणीके द्वारा वारंवार भगवच्चिन्तन-सम्बन्धी आलोचना निश्चय ही बहुत अच्छी होती है, परन्तु यह साधना वहिरङ्ग है। इससे मनको अन्तर्मुख करना कठिन होता है, इसीलिए कुछ-कुछ अन्तरङ्ग साधना भी आवश्यक है। भगवच्चर्चा वारंवार करनेके समान, प्राणायामके साथ अनुलोम-विलोममें जो भगवत्स्मरण होता है, उससे मनका बहिर्मुख भाव और भी आसानीसे निवारित हो जाता है। मन अन्तर्मुख होने पर ही निरुद्ध होता है और निरुद्ध चित्तमें आत्मचैतन्यका स्वरूप-साक्षात्कार होता है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए प्रणत होना पड़ेगा, प्रकृष्ट रूपमें नत होना ही प्रणत भाव है। मनको नत कहाँ किया जाय? —आत्माके सामने। इस प्रकारका प्रणत चित्त ही आत्मामें अवस्थान करनेमें समर्थ होता है। उपासनाका अर्थ और उद्देश्य भी यही है। उप अर्थात् समीपमें, आस धातुका अर्थ है स्थापना—अपनेको भगवान्‌के पास स्थापित करना ही उपासनाका लक्ष्य है। इस प्रकार प्रणत होनेका उपाय है गुरूपदिष्ट ॐकार-क्रिया। इस ॐकार-क्रियाकी साधनासे हृदयग्रन्थि छिन्न हो जाती है, परमाकाश प्रकाशित होता है। प्राणवायु ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें स्थिर होकर आत्माकाशमें अटक जाती है। योगी लोग योगाभ्यास-जनित धारणाके द्वारा कूटस्थको भेद करके पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त करते हैं। क्रियाकी परावस्थामें ही ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है, उसमें रहने पर ब्रह्म या आत्माकी सारी शक्तियोंका अनुभव होता है। इस प्रकारका अनुभव होते रहने पर प्रत्येक अनुभवमें उनकी महिमाका कीर्तन होता है। सुषुम्ना-मार्गमें स्थित स्तम्भस्वरूप वायु जो इस शरीरको धारण की हुई है, उसमें जो रहता है तथा शरीरके नवद्वार (दो आँख, दो कान, नासिका, मुँह, लिङ्ग, गुह्यद्वार और मन) में ब्रह्मका स्वरूप अनुभव करता है, उसीकी निरन्तर भगवत्सेवा होती है और उसीका भगवत्समीपमें अवस्थान होता है ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वय—अपि च अन्ये (और कोई-कोई) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानरूपी यज्ञ द्वारा) यजन्तः (पूजा करते हुए) माम् उपासते (मेरी उपासना करते हैं) [तेषां मध्ये केचित्—उनमें कोई-कोई] एकत्वेन (अभेद भावनाके द्वारा) पृथक्त्वेन (पृथक् भावनाके द्वारा—मैं दास हूँ और भगवान् प्रभु हैं) विश्वतोमुखं (कोई-कोई सर्वात्मक-भावसे) बहुधा (अनेक प्रकारसे शिव-शक्ति-विष्णु आदि नाना रूपोंमें) माम् उपासते (मेरा भजन करते हैं) ॥१५॥

श्रीधर—किञ्च—ज्ञानेति। वासुदेवः सर्वमित्येवं सर्वात्मत्वदर्शनं ज्ञानं, तदेव यज्ञः तेन ज्ञानयज्ञेन मां यजन्तः पूजयन्तोऽन्येऽप्युपासते। तत्रापि केचिदेकत्वेन

एकमेव परं ब्रह्मेति परमार्थदर्शनरूपाभेदभावनया। केचित् पृथक्त्वेन पृथक्भावनया दासोऽहमिति। केचित्तु विश्वतोमुखं सर्वात्मकं मां बहुधा ब्रह्मरुद्रादिरूपेणोपासते ॥१५॥

अनुवाद—कोई तो 'सब कुछ वासुदेव ही हैं', यह जो सर्वात्मदर्शनरूप ज्ञान है, इस ज्ञानरूप यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करते हैं। इस प्रकार ज्ञान-यज्ञके भीतर भी कोई-कोई 'एकमात्र परब्रह्म ही हैं'—इस प्रकारकी परमार्थ-दर्शनरूपी अभेद-भावनाके द्वारा, कोई पृथक् भावनाके द्वारा—'तुम प्रभु हो मैं दास हूँ' और कोई सर्वात्मक मुझको ब्रह्मरुद्रादि विविध रूपोंमें भजते हैं ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कोई योनिमुद्रा और क्रिया दोनों करता है—दोनों ही एक है—अनेक प्रकारकी क्रिया, यानी सबका मतलब एक है।—जो महात्मा हो गये हैं, उन्होंने साधनके बलसे ही इस अवस्थाको प्राप्त किया है। पूर्व श्लोकोंमें भी अनेक साधनाकी बातें कही गयी हैं, यहाँ विशेष करके ज्ञानयज्ञकी बात कह रहे हैं। जैसे यज्ञकालमें अग्निमें हवि प्रक्षेप करना पड़ता है और फलस्वरूप अग्निसे सुन्दर ज्योति फूट निकलती है, उसी प्रकार आत्मक्रियारूप जो यज्ञ है, उसमें मन और इन्द्रियोंको हविरूपमें प्रक्षेप करने पर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इस ज्ञानाग्निके अनेक रूप हैं—प्रथमतः निजबोधरूप—मुख्य आत्मसाक्षात्कार है। यही स्वरूप-स्थिति है जिस अवस्थाके उदय होने पर एक 'मैं' के सिवा और कुछ नहीं रहता।

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम्।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः ॥
आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते।
अस्ति नास्ति कथं ब्रूयां विस्मयः प्रतिभाति मे ॥
यो वै सर्वात्मको देवो निष्कलो गगनोपमः।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः ॥
—अवधूतगीता।

मरीचिकामें जिस प्रकार जल-भ्रम होता है, उसी प्रकार यह पञ्चभूतात्मक विश्व भी वस्तुतः नहीं है, केवल बोध-मात्र होता है। जहाँ एकमात्र निरञ्जन 'अहं' ही विद्यमान है, वहाँ दूसरा है कौन जिसको नमस्कार करें? सब कुछ केवल आत्मा ही है, भेदाभेद नहीं है, अतएव विश्व है या नहीं—यह कैसे कहा जा सकता है? यह सब कैसा विस्मयजनक जान पड़ता है! वही सर्वात्मक देव जो निष्कल और गगन-सदृश हैं, जो स्वभावतः निर्मल और शुद्ध हैं, वही मैं हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सबके भीतर परव्योमस्वरूप वही आत्मदेव रहते हैं, वही विश्वेश्वर हैं। क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मस्वरूपमें उनका अनुभव होता है। क्रियाकी परावस्थामें एक विचित्र दशा होती है, वह निष्कल-स्वरूप हैं, उस समय बाहरकी वायु बाहर ही रहती है, दृष्टि

भ्रूमध्यमें तथा प्राण और अपानकी गति समान हो जाती है अर्थात् निःश्वास नाकके भीतर रहता है, बाहर नहीं आता। ब्रह्म परव्योमरूप हैं, गगनके समान स्वभाव होनेके कारण ही गगनोपम कहलाते हैं, परन्तु वह गगनकी अपेक्षा भी दस गुना निर्मल हैं। वहाँ जाने पर मनकी कोई वासना नहीं रहती, मन मनमें लीन होकर मिल जाता है, अतएव वह अवस्था अत्यन्त विशुद्ध है, संसारकी कोई भावना उसे स्पर्श नहीं कर सकती। वह ब्रह्म ही 'मैं' है, उस समय 'मैं' भी नहीं रहता। बात समझानेके लिए 'मैं' कहना पड़ता है, वह 'मैं' ब्रह्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। जब कुछ भी नहीं रहता, तब वहाँ 'एक' कहनेवाला भी कोई नहीं रहता, अतएव संशय होगा किसको ? यही आत्मसाक्षात्कार या ज्ञानाग्निका सर्वोत्तम स्वरूप है।

द्वितीय प्रकारका बोध है अपूर्व ज्योतिर्मण्डल, उसके भीतर नीलाकाशके समान श्यामसुन्दररूप—उसके चारों ओर नक्षत्र झिलमिल करते हैं, जिसे देखकर वस्तुतः मन मुग्ध हो जाता है। रत्नमय-मणिमय सिंहासनपर पुरुषोत्तम विराजमान हैं। कितने ही ऋषि, मुनि, देवता, कितने ही अपूर्वदर्शन-ज्योतिर्मय जीव उनका स्तवन-कीर्तन करते हैं, उनको मुग्ध नेत्रोंसे देखते हैं—इस प्रकारका बोध होता है।

तृतीत प्रकारका बोध वह है जिसमें अनाहत नादकी अपूर्व झंकार मन-इन्द्रियको मुग्ध करके मनको मानो किसी अनन्तके साथ मिला देती है।

इन सब अनुभवोंके बाद योगीकी त्रिताप-ज्वाला छूट जाती है, योगीके भीतर विशोका ज्योति फूट पड़ती है। परन्तु प्राणके प्रच्छर्दन-विधारण (अर्थात् प्राणायाम) के द्वारा ही प्रधानतः यह विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, इस विषयवती प्रवृत्तिके उत्पन्न होने पर चित्त स्थैर्य लाभ करता है। योगदर्शनमें लिखा है—"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।" विषयवती प्रवृत्ति क्या है, यह बतलाता हूँ। शब्द-स्पर्शादि विषयोंकी प्रत्यक्षस्वरूपा सूक्ष्म वृत्ति ही विषयवती प्रवृत्ति है। परन्तु यह लौकिक वृत्ति नहीं है, दिव्य शब्दस्पर्शादिका अनुभव ही यह प्रवृत्ति है। नासिकाग्रमें चित्तकी धारणा करने पर जो दिव्य गन्धका ज्ञान होता है वह गन्ध-प्रवृत्ति है। जिह्वाग्रमें धारणा करने पर दिव्य रसका ज्ञान होता है। इसको प्रवृत्ति कहनेका कारण यह है कि साधारणतः जो शब्द, गन्ध आदिकी वृत्ति उदय होती है, उससे यह प्रकृष्ट होती है और इसीलिए इसको 'प्रवृत्ति' कहते हैं। इस प्रवृत्तिके उदय होने पर साधकको आनन्द प्राप्त होता है, साधनामें विश्वास पैदा होता है, योगाभ्यासमें दृढ़ श्रद्धा होती है तथा बाह्य विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि तदनन्तर "विशोका वा ज्योतिष्मती।"—पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्तिके उत्पन्न होने पर विशोका या ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका उदय होता है। इससे भी चित्त स्थिति प्राप्त करता है। इस परम सुखमय भावके द्वारा चित्तसे सब प्रकारके दुःख अपगत हो जाते हैं। इसी कारण इसको 'विशोका' कहते हैं और ज्ञानालोककी अधिकताके कारण इसको 'ज्योतिष्मती' भी कहते हैं।

चित्त स्थिर होने पर आकाशके समान स्थिर, शुभ्र, स्वच्छ ज्योति या प्रकाशका अनुभव होता है। सुषुम्नाका मुख खुलने पर ये लक्षण प्रकट होते हैं।

श्रुति कहती है, "अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः"। इस आकाश-सदृश ज्योतिमें आत्म-भावना करने पर परमानन्द प्राप्त होता है। जो योगारूढ़ होते हैं, उनमें ही यह पूर्वलक्षणके रूपमें प्रकट होता है।

यही द्वितीय प्रकारकी ज्ञानाग्निका प्रकाश है। प्राणायाम-अभ्यास और योनिमुद्रामें नाना प्रकारकी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। प्रथम प्रकारके ज्ञानमें एकत्वका अनुभव होता है, द्वितीय प्रकारके द्वारा पृथक् बोध और नाना विषयोंका बोध होता है अर्थात् जो जानने या करनेकी इच्छा होती है वह सब जाना जाता है और किया जाता है। परन्तु यह ज्ञान भी कोई बाह्य विषयक ज्ञान नहीं, यह भी अन्तर्मुख ज्ञान है। इसका परिणाम है सबके भीतर ब्रह्मका बोध। अन्तमें ब्रह्मके भीतर सबका प्रवेश होता है। इस प्रकारका ज्ञान जो ब्रह्मनाड़ी-मुख द्वारा साधकको होता है उसे ही भगवान्ने उत्तरगीतामें अर्जुनको बतलाया है—

इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्मिन् सर्वगं सर्वतोमुखम्॥

इड़ा और पिङ्गलाके बीच सूक्ष्मरूपिणी सुषुम्ना विराजमान है। उसमें ही समस्त तथा सर्वतोमुखी ब्रह्म प्रतिष्ठित रहते हैं।

नानानाड़ीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः।
अधश्चोर्ध्वं गतास्तास्तु नवद्वाराणि रोधयन्।
वायुना सह जीवोर्ध्वं ज्ञानी मोक्षमवाप्नुयात्॥

शरीरके भीतर बहत्तर हजार नाड़ियाँ विद्यमान हैं, ये नाड़ियाँ ऊर्ध्व और अधो-दिशामें फैली हुई हैं। इन्द्रियरूपी नव द्वारोंका अवरोध करके वायुके साथ जीवको ऊर्ध्वगामी करने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

अन्वय—अहं (मैं) क्रतुः (अग्निष्टोमादि श्रौत यज्ञ हूँ), अहं यज्ञः (मैं ही वैश्वदेवादि स्मार्त्त यज्ञ हूँ), अहं स्वधा (मैं ही श्राद्धादि पितृयज्ञ हूँ), अहं औषधम् (मैं ही भेषज या अन्न हूँ), अहं मन्त्रः (मैं ही मन्त्र हूँ), अहं एव आज्यं (मैं ही होमादि-साधन घृत हूँ), अहं अग्निः (मैं ही अग्नि हूँ) अहं हुतम् (और मैं ही होम हूँ)॥१६॥

श्रीधर—सर्वात्मतां प्रपञ्चयति—अहमिति चतुर्भिः। क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः। यज्ञस्तु स्मार्त्तः पञ्चमहायज्ञादिः, स्वधा पित्रर्थे श्राद्धादिः। औषधमोषधिप्रभवमन्नं, भेषजं वा। मन्त्रो याज्यपुरोनुवाक्यादिः। आज्यं होमादिसाधनम्, अग्निराहवनीयादिः। हुतं होमः। एतत् सर्वमहमेव॥१६॥

अनुवाद—['अहं क्रतुः' इत्यादि चार श्लोकोंमें अपनी सर्वात्मताका वर्णन करते हैं]—मैं क्रतु अर्थात् अग्निष्टोमादि श्रौत यज्ञ हूँ, मैं स्मृत्युक्त पञ्चमहायज्ञ हूँ, मैं स्वधा अर्थात् पितरोंके निमित्त श्राद्धादि हूँ, मैं ओषधिसे उत्पन्न अन्न या औषधि हूँ, मैं यजन-क्रियाका वाक्यादि मन्त्र हूँ, मैं ही होमादिका साधन घृत हूँ, मैं ही आहवनीय आदि अग्नि हूँ और मैं ही होम हूँ। यह सब कुछ मैं हूँ ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—(अहं क्रतु और अहं यज्ञ) मैं तो कर्त्ता हूँ—य करनेके लिए यज्ञकर्त्ता—यज्ञ कर्म भी तो मैं ही हूँ—क्रियाकी परावस्था भी मैं ही हूँ—औष भी मैं ही हूँ, क्योंकि उसके भीतर ब्रह्म है, ब्रह्ममें रहनेसे बढ़कर औषधि और कोई नहीं है। मैं मन्त्र हूँ अर्थात् अपने आपमें रहनेसे मन प्राणको पाता है, इसका उपाय गुरुमुखसे जाना जाता है। होमका घृत मैं हूँ—मैं ही अग्नि हूँ—मुझको ही होम करता है।—(१) क्रतु वेदविहित यज्ञ जो सोमरससाध्य है। क्रियावान् लोग जो सुरापान करते हैं वही सोमरस है। "सोमधारा क्षरेत् या तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने"—(आगमसार)। क्रिया करते-करते ब्रह्मरन्ध्रसे सुधाधारा क्षरित होती है, उसको पान करके योगी उन्मत्त हो जाते हैं। उनका देह-बोध तक नहीं रहता। यह सुधा शरीर और मनके प्रत्येक अणुको तृप्ति प्रदान करती है। तब फिर बाह्य रसोंके प्रति चित्तकी लोलुपता नहीं रहती। सहस्रारमें स्थित त्रिकोणमण्डलके भीतर यह सुधारस सञ्चित रहता है। इस त्रिकोणके तीनों मुखोंमें क्रमशः इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना सम्मिलित हुई है। इड़ा ही चन्द्रनाड़ी या मन है। उपर्युक्त रस इड़ा-नाड़ीमें प्रवाहित होने पर मनको पुष्टिदान करता है और यह रस जब पिङ्गलामें बहता है तब उसे सूर्यदेव ग्रहण करते हैं, पश्चात् वह वृष्टिके रूपमें पृथिवी पर गिरता है अर्थात् क्षेत्ररूप इस देहकी उसके द्वारा पुष्टि होती है। सुषुम्नामें जो अंश प्रवाहित होता है वह अमृत है, कुण्डलिनी उस अमृतका पान करती है, वह फिर बाहर नहीं आता। साधक जब साधनकी सहायतासे इस परम शक्तिको चैतन्ययुक्त कर पाता है तब वह सहस्रारमें परम शिवके साथ युक्त हो जाता है, तब जीवभावका अवसान हो जाता है। कुलकुण्डलिनी या सुषुम्नास्थित शक्ति शरीरके भीतर मूलाधारमें सुप्तावस्थामें पड़ी हुई है, क्रिया-साधनके द्वारा उसीको जाग्रत करना पड़ता है। इस शक्तिके जाग्रत होने पर अति सूक्ष्मरूपमें शरीरके भीतर मेरुदण्डस्थ पञ्चतत्त्वमें स्थिति लाभ होती है अर्थात् तत्त्व-तत्त्वमें प्रवेश करनेकी शक्ति साधकको प्राप्त होती है।

(२) यज्ञ ही विष्णु हैं जो समस्त विश्वमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। यही स्थिर प्राण हैं, इनके न रहने पर देहेन्द्रिय तथा सारा -विश्व अचल हो जाता है अर्थात् विलुप्त हो जाता है। इनको अवलम्बन करके ही अनन्त चाञ्चल्यमय यह विराट् विश्व चक्राकारमें सदा परिभ्रमण कर रहा है तथापि केन्द्रच्युत नहीं हो सकता। यही जीवकी चैतन्यसत्ता हैं। प्रज्वलित अग्निके समान यह आज्ञाचक्रमें सदा दीप्ति युक्त होकर रहते हैं। यही जठरस्थ अग्निके रूपमें अन्नादि सारे भुक्त द्रव्योंको पाक करके शरीरमें सर्वत्र जीवन सञ्चार करते हैं। यही नाभिमण्डलमें समान-वायुके रूपमें

अवस्थान करके प्राण और अपानकी गतिको संयमित करके रहते हैं, इसीलिए विष्णुको पालनकर्त्ता कहते हैं।

(३) स्वधा—सब प्राणियोंका अन्न। 'सर्वप्राणिसाधारणमन्नम्'—(शङ्कर) विभिन्न अन्नोंके द्वारा जीवका स्थूल और सूक्ष्म शरीर पुष्ट होता है। स्वधा है अग्निकी स्त्री—यही तेजरूपा ओजःधातु है, इस धातुके अपक्षयसे जीवका शरीर और उसके साथ मन सूख जाता है। इसको ब्रह्मतेज भी कहते हैं। साधन करने पर प्राण ऊर्ध्वगामी होता है, तब जो तेजः या ज्ञान प्रस्फुटित होता है वही स्वधा है।

(४) औषध—तेरहवें श्लोककी व्याख्यामें कहा गया है कि 'जगत्-दृष्टि ही भव-रोग है'। जगत्=जो गमन करे अर्थात् चञ्चल। यह चाञ्चल्य मिटता है प्राणके स्थिर होने पर। प्राणके स्थिर होने पर ब्रह्ममें स्थिति होती है, इससे बढ़कर कोई भवरोगकी दूसरी औषधि नहीं है।

(५) मन्त्र—यानी मनका जिससे त्राण हो। मनका त्राण होता है अपने आपमें रहनेसे। अपने आपमें रहनेका उपाय है क्रिया करना। "निःश्वास-श्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्त्तते प्रिये।" "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य"।

(६) आज्य—घृत, इसके द्वारा हवन किया जाता है, इससे ही यज्ञ-कार्य सम्पन्न होता है, यज्ञेश्वर प्रसन्न होते हैं। हवनका अर्थ है प्रक्षेप या त्याग। किस प्रकारका त्याग करें? हम बाह्य तत्त्वोंमें पड़कर तत्त्वातीतको भूल गये हैं, अहंज्ञान या देहाभिमानको लेकर जगत्के साथ बँध गये हैं तथा इतना बड़ा संसार फैला रक्खा है। यह आत्मशक्ति है परन्तु विपरीत दिशामें कार्य कर रही है, गता-नुगतिक भावसे जगत्-चक्रका अनुवर्तन करती है और उसमें जो सामान्य सुख मिल रहा है उसे ही लोलुपके समान ग्रास करनेके लिए उद्यत है—इस अज्ञान-पाश, इस अभिमान, इस देहात्मबोधको समेटना पड़ेगा और ब्रह्माग्निमें शिवशक्ति-समरसके भीतर इसको पाक कर लेना होगा। इसका फल क्या होगा? 'त्यागात् शान्तिरनन्तरम्'। जिस अहंसे वृत्ति उठकर अज्ञानके मार्गमें चलते-चलते इस विश्व-संसारकी रचना कर डालती है, उसे ही समेटते-समेटते फिर उस 'सर्वातीतोऽहं' के भीतर इस 'देहोऽहं'-बुद्धिको डुबा देना होगा। इस 'देहोऽहं' बुद्धिका मूल कारण प्राणका बहिर्मुखी भाव है। क्रियाके द्वारा प्राणको ऊर्ध्वमें रखने पर आत्म-ज्योतिका दर्शन होता है। उसमें लक्ष्य स्थिर करने पर आत्मसंयम-अग्नि प्रज्वलित होती है, उस प्रज्वलित अग्निमें इन्द्रियोंको होम करने पर परम स्थिर भावका उदय होता है, वही आत्मसाक्षात्कार है। जैसे दुग्ध मन्थन करनेसे घृत उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चञ्चल प्राणको मन्थन करने पर स्थिर प्राणरूप घी उससे उत्पन्न होता है। ज्ञान-सङ्कलिनी तन्त्रमें लिखा है—

न होमं होम इत्याहुः समाधौ तत्तु भूयते।
ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणो होमकर्मस्तदुच्यते॥

ब्रह्माग्नि में प्राणको होम करना ही प्रकृत होम कर्म है, अन्य होम होम नहीं है।

(७) अग्नि—यह आत्मा ही अग्नि है। यही सबका 'अहं' है, जिसके न रहने पर किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहता। यही सबकी एकमात्र प्रियतम अभीष्ट वस्तु है। यह 'मैं' ही विश्वरूपमें विविध नाम-रूपमें अपनेको प्रकाशित कर रहा है। यह अग्नि सभीके भीतर है, परन्तु सर्वत्र इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। इसका स्वरूप प्रकाशित होने पर जिस वस्तुके भीतरसे इसका प्रकाश होता है, उसको यह खा डालती है। इसी कारण अग्निका नाम 'स्वयोनिभुक्' है। यह आत्मा अनन्त नाम-रूपोंके भीतर विद्यमान है, जब किसी विशेष नामरूपयुक्त वस्तुसे इसका प्रकाश होता है, तब उस वस्तुके पूर्व नाम-रूप नहीं रहते, नाम और रूप मिटकर उस अग्नि या आत्माके रूपमें वर्त्तमान रहते हैं।

(८) होम—हवन कार्य भी 'आत्मा' या 'मैं' है। 'मैं' न रहने पर होम किस प्रकार होगा? क्रिया जो हम करते हैं वह भी आत्माके रहनेसे ही। प्राणकी जो बहिर्मुख वृत्ति मनरूपमें परिकल्पित होती है, आत्मक्रियाके द्वारा प्राणके स्थिर होने पर वह मन अपने कारण—स्थिर प्राणके भीतर विलीन हो जाता है। यह साधना सद्गुरुके उपदेशसे ही जानी जाती है। यह सद्गुरुके उपदेशसे प्राप्त क्रिया ही यथार्थ होमकर्म है। आत्माके रहने पर ही क्रिया करना संभव होता है, अतएव आत्मा ही सब कुछ है ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥१७॥

अन्वय—अहं (मैं) अस्य जगतः (इस जगत्का) पिता (जनक) माता (जननी या अव्यक्ता प्रकृति) धाता (कर्मफल-विधाता) पितामहः (पिताके भी पिता अर्थात् परमेश्वर) वेद्यं (एकमात्र ज्ञेय वस्तु) पवित्रं (शोधक या पावन) ॐकारः (प्रणव) ऋक्सामयजुः एव च (तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद स्वरूप हूँ) ॥१७॥

श्रीधर—किञ्च—पितेति। धाता कर्मफल-विधाता। वेद्यं ज्ञेयं वस्तु। पवित्रं शोधकं, प्रायश्चित्तात्मकं वा। ॐकारः प्रणवः। ऋग्वेदादयो वेदाश्चाहमेव। स्पष्टमन्यत् ॥१७॥

अनुवाद—मैं इस जगत्का जनयिता, जनयित्री तथा पिताका भी पिता अर्थात् पितामह हूँ। मैं ही कर्मफल-विधाता हूँ। मैं ज्ञेय वस्तु हूँ। मैं शोधक अथवा प्रायश्चित्त-स्वरूप हूँ। मैं प्रणव हूँ तथा ऋगादि चारों वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पितामह ब्रह्म मैं हूँ—जगत्की अर्थात् चलायमान वस्तुकी, जो मुझसे निकली हैं, मैं रक्षा करता हूँ और मैं ही सबका पितामह हूँ, जो गुरु-वक्त्रगम्य है—जाननेकी वस्तु मैं हूँ—मेरे समान पवित्र कुछ भी पृथिवी पर नहीं है—मेरे ही कारण यह शरीर ॐकार-रूप है। ऋक्, साम, यजु—तीनों मिलकर अथर्व है। यह चारों ओर मेरा रूप है।—मैं जगत्का माता-पिता हूँ क्योंकि मुझसे ही सारे चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं। मैं ही जगत्का आधारभूत एकमात्र शक्ति हूँ, जिसका अवलम्बन करके यह विशाल विश्व प्रकाशित हो रहा है। इसी कारण मैं विश्वकी

जननीरूप हूँ। मैं जगत्की रक्षा करनेवाला विधाता हूँ। 'मैं' न रहने पर क्या कुछ रह सकता है? इस अहं अभिमान या अहङ्कारसे ही जगत्की सृष्टि होती है, इसी कारण मैं ही जगत्का जनयिता या पिता हूँ। मैं पितामह अर्थात् सबके प्रभुका प्रभु हूँ यानी जगत्का मूल कारण हूँ। कूटस्थको देखते-देखते जो उत्तम पुरुष दीख पड़ता है उसको परमात्मा कहते हैं। कूटस्थके भीतर अन्धकारकी अपेक्षा कुछ हलका-सा (क्षीण अन्धकार) दीख पड़ता है—वह भलीभाँति नहीं जाना जाता, उसका कोई चिह्न भी नहीं है। उसके आगे षड् ऐश्वर्योंसे युक्त व्यक्त-स्वरूप है जो अपने आप हुआ है, जिसे कूटस्थके भीतर देख भी सकते हैं और नहीं भी देख सकते। अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह इन्द्रियादिके लिए ग्राह्य नहीं, चित्तके द्वारा भी उसकी धारणा नहीं की जा सकती तथापि वह अपने आप प्रकाशित होता है।

यह अवस्था सृष्टिके पूर्वकी अवस्था है, उस समय 'माया' या प्रकृति उससे पृथक् नहीं होती। पश्चात्—"अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्"—पहले जलकी सृष्टि की जिसको कारण-वारि कहते हैं (कूटस्थके भीतर जो कृष्ण वर्ण देखनेमें आता है) उसके भीतर बीज (नक्षत्र-स्वरूप) का सृजन किया।

> तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
> तस्मिन् यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥—मनु०।

वह स्वर्ण-सदृश अण्डा सूर्यके समान प्रभाविशिष्ट था, उससे पुरुषोत्तम उत्पन्न हुए जो समस्त लोगोंके पितामह हैं।

> आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
> ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥—मनु०।

जलको नारा कहते हैं, जल अर्थात् कूटस्थ—उसमें नराकृति और नराकृति नहीं—इस प्रकारका एक पुरुष है, वही पुरुषोत्तम हैं। कूटस्थके द्वारा ही उनका आगमन होता है, उस द्वारसे गमन करने पर ही पुरुषोत्तमका अनुभव होता है। कूटस्थके काले वर्णके भीतर उनकी स्थिति है। इसी कारण उनका नाम नारायण है। सबका वास्तविक 'मैं' उस उत्तम पुरुषका ही रूप है जो शरीरके समान है। इसीसे अर्जुनने कहा है—"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं" अर्थात् जो अङ्गुष्ठमात्र ज्योति-स्वरूप भ्रूमध्यमें दीख पड़ता है। और जो केशके एक सहस्र भागोंके एक भाग जैसा सूक्ष्म है वही जीव है, यह सुषुम्नाके भीतर सूत्र-रूपसे आता जाता है और सूक्ष्म नक्षत्रके समान ज्योतिमें दीख पड़ता है। यही ऋक्, यजु और साम है—यही सृजन, स्थिति और मृत्यु है—इसको अवलम्बन करके ही यह साढ़े तीन हाथका शरीर और यह अखिल विश्व है। इसी कारण कहा जाता है कि वेदसे विश्व उत्पन्न होता है। मनु कहते हैं—"दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋक्यजुःसामलक्षणम्।" अर्थात् क्रियारूप यज्ञकी सिद्धिके लिए ऋक्, यजुः और साम लक्षण-रूप—सृजन, स्थिति और मृत्युलक्षण-रूप इस साढ़े तीन हाथ प्रमाणके अवयवकी सृष्टि की। यह शरीर ही ॐकाररूप है।

ऋक्—ऋच् अर्थात् स्तुति करना, क्रिया अर्थात् प्राणायाम द्वारा स्तव, जिसको करनेसे मन प्रसन्न होता है। वाम श्वास, दक्षिण श्वास और मध्य श्वास, ये तीनों ब्रह्मरूपी

सुषुम्ना हैं जो मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म वायु है। वही ऋक् है अर्थात् अपनेको आप जाननेका मन्त्र है, यह चञ्चल मनको अन्य दिशामें न जाने देकर क्रियाकी परावस्थामें स्थिरत्व प्रदान करता है और निज बोधस्वरूपको अनुभव करा देता है। यही वेदमन्त्र गायत्री है जिसका वारंवार गान करने पर क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है और उसके द्वारा मनके चाञ्चल्यरूप विषम दुःखसे छुटकारा मिल जाता है।

यजुः—यज अर्थात् पूजा करना—दक्षिण दिशामें वायुको ले जाने पर ॐकार-क्रियाके द्वारा जो वायुकी स्थिति होती है, उस समय मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अटका रहता है, कभी श्वेत वर्ण और कभी कृष्ण वर्ण देखनेमें आता है, वही शुक्ल और कृष्ण यजुः है।

साम—पश्चिम दिशामें वायुको ले जाने पर ॐकार-ध्वनि सुन पड़ती है, इस वेदको जानने पर साधक ब्राह्मण हो जाता है। तब सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्व-शक्तिमान् हो जाता है ॥१७॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

अन्वय—[अहं—मैं ही] गतिः (कर्मफल) भर्त्ता (पोषणकर्त्ता) प्रभुः (नियन्ता) साक्षी (द्रष्टा) निवासः (भोगस्थान) शरणं (रक्षक) सुहृत् (हितकारी) प्रभवः (उत्पत्तिका कारण या स्रष्टा) प्रलयः (संहर्त्ता) स्थानं (आधार) निधानं (लयस्थान) अव्ययं (अविनाशी) बीजं (कारण हूँ) ॥१८॥

श्रीधर—किञ्च—गतिरिति। गम्यते इति गतिः फलम्। भर्त्ता पोषणकर्त्ता, प्रभुः नियन्ता। साक्षी शुभाशुभद्रष्टा। निवासो भोगस्थानं। शरणं रक्षकः। सुहृत् हितकर्त्ता। प्रकर्षेण भवत्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा। प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्त्ता। तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमाधारः। निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं लयस्थानं। बीजं कारणं। तथाप्यव्ययमविनाशि। न तु व्रीह्यादि बीजवत् नश्वरमित्यर्थः ॥१८॥

अनुवाद—मैं इस जगत्की गति अर्थात् कर्मफल हूँ। मैं पोषणकर्त्ता, नियन्ता, शुभाशुभद्रष्टा हूँ। मैं भोगस्थान हूँ। मैं शरण अर्थात् रक्षक या प्रपन्न जनकी आर्त्तिको नष्ट करने वाला हूँ। मैं हितकारी हूँ। मैं स्रष्टा, संहर्त्ता हूँ। मैं आधार और लयस्थान हूँ। मैं अव्यय बीज अर्थात् अविनाशी कारण हूँ, व्रीहि-यव आदि बीजोंके समान मैं नश्वर नहीं हूँ ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं गति—मैं भरण-पोषण-कर्त्ता—मैं ही एक पुरुष हूँ अपनी दृष्टिमें—मुझमें ही सब रहते हैं—सबके स्मरण-योग्य मैं हूँ अर्थात् सबको मेरा स्मरण करना उचित है—सुन्दर देह होने पर ही प्रकाश मुझसे ही सब प्रकृष्टरूपसे हो रहा है अर्थात् उत्पत्ति मेरे मनसे तथा उसमें ही लय भली-भाँति—निधानं—सबके विशेषरूपसे स्थिति-स्वरूपमें रहनेकी जगह—सविशेष उत्पत्तिस्थान अर्थात् बीज ब्रह्म है। उसका नाश नहीं होता।—जीव जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है,

तदनुसार उसकी गति होती है। वह प्रत्येक कर्मके कर्मफल-रूपमें रहकर जीवकी शुभाशुभ गतिका विधान कर रहे हैं। वही भरण-पोषण-कर्त्ता हैं। जीवके अपने अपने कर्मोंके द्वारा कर्मफल उत्पन्न होकर फिर उसी कर्म करनेवाले जीवके अदृष्टरूपमें संयुक्त होता है। इससे जीवका भरण-पोषण होता है, जीवके कर्मानुसार वारि-वर्षण होता है, कर्मानुसार क्षेत्रमें शस्यादि उत्पन्न होते हैं और कर्मानुसार जीवको पुत्र-वैभव आदिकी प्राप्ति होती है—इसके व्यवस्थापक वही हैं। वह प्रभु हैं, उनके ही आदेशसे सूर्य-चन्द्र नियमपूर्वक अपना-अपना कर्म कर रहे हैं, उनके ही आदेशसे मेघ यथासमय वारि-वर्षण करते हैं, कर्म यथासमय फलोत्पादनमें समर्थ होता है। वही जीवके कृत-अकृत कर्मोंके द्रष्टा हैं। देहके विना कर्मफलका भोग नहीं होता। प्रपञ्चके अधिष्ठान इस देहरूपी पुरमें जीव वास करता है, इस देहका प्रकाश मुझसे ही होता है, इसी कारण वह निवास हैं। वही जीवके आश्रय हैं। स्थिर प्राणको अवलम्बन करके ही जीवकी बहिर्मुख प्राणवृत्ति प्रवाहित हो रही है। अतएव वही जीवके आश्रय तथा एकमात्र स्मरणयोग्य हैं। जो उनको स्मरण करता है उसकी सारी विपत्तियोंसे वह शरणागत-वत्सल रक्षा करते हैं, क्रिया करने पर क्या शारीरिक, क्या मानसिक सब प्रकारकी विपत्तियोंसे परित्राण पाया जा सकता है। अतएव जीवका इस प्रकारका आश्रय दूसरा कोई नहीं है। जीव नाना प्रकारके शोक और दुःखके सन्तापोंसे सदा सन्त्रस्त रहता है। इन सारे सन्तापोंका मूल है देहात्मबोध। देहचिन्ताके समान जीवका दूसरा कोई विषम ज्वर नहीं है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—"संसारमूलं हि किमस्ति? चिन्ता"। यह चिन्ता ही मनको सतत उत्क्षिप्त करती है। यह चञ्चलभाव ही मन नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ चाञ्चल्य नहीं है अर्थात् मन नहीं है, वहाँ संसार भी नहीं है। चिरस्थिर आत्मा इसी कारण जीवकी एकमात्र गति है। जो साधक प्राणपनसे चेष्टा करके प्राणायामादि योगक्रिया द्वारा मनकी चञ्चलताके निवारण करनेमें समर्थ होते हैं वही अपने परमाश्रयका सन्धान पाते हैं। यह आश्रय जो प्राप्त करते हैं, उनको फिर जन्मजरामरणरूपी क्लेशोंके अधीन होना नहीं पड़ता। वह सुहृत् हैं, वह मेरे कल्याणकामी हैं। मेरे न चाहने पर भी जो मुझको चाहते हैं, मेरे न पुकारने पर भी जो मेरे पास आते हैं, संसारके धूल-खेलमें अन्धा होकर उन्मत्त भावसे हम दिन-यापन कर रहे हैं तथापि जो गुरु कर्णधार बनकर परित्राणका उपाय हमको बतलाते हैं, उनकी अपेक्षा जीवका हितार्थी या परम सुहृद् और कौन हो सकता है? सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कर्त्ता वही हैं। प्रलयके बाद भी जीवसमूह सूक्ष्म बीजरूपमें उनमें ही अवस्थान करते हैं। समाधि-कालकी निश्चल स्थिति भी उनमें ही होती है। क्रियाकी परावस्थारूप उन्हींकी है। समाधि-भङ्गके बाद जीवकी जब फिर संसार-प्रवृत्ति होती है तो उस उत्पत्तिका स्थान और सर्वजीव तथा सर्वभावका बीज-स्वरूप वही हैं। उस ब्रह्मरूपी बीजका कभी नाश नहीं होता ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन !) अहं तपामि (मैं ताप देता हूँ), अहं (मैं) वर्षं निगृह्णामि (जल आकर्षण करता हूँ), उत्सृजामि च (और फिर उसका वर्षण करता हूँ), अहं (मैं) अमृतं एव च मृत्युः (अमृत और मृत्यु—सबका जीवन और मृत्यु हूँ), सत् असत् च (सत् असत् अर्थात् कारण और कार्य-स्वरूप अथवा वर्त्तमान स्थूल दृश्यरूप सद्वस्तु मैं हूँ, सूक्ष्म अदृश्यरूप असद्वस्तु भी मैं हूँ) ॥१६॥

श्रीधर—किञ्च—तपाम्यहमिति। आदित्यात्मना स्थितत्वात् निदाघकाले तपामि जगतस्तापं करोमि। वृष्टिसमये च वर्षमुत्सृजामि विमुञ्चामि। कदाचित्तु वर्षं निगृह्णामि आकर्षामि। अमृतं जीवनं। मृत्युश्च नाशः। सत् स्थूलं दृश्यम्। असच्च सूक्ष्ममदृश्यम् एतत्सर्वमहमेवेति मत्वा मामेव बहुधोपासत इति पूर्वेणैवान्वयः ॥१६॥

अनुवाद—हे अर्जुन, निदाघ-कालमें आदित्यरूपमें जगत्को मैं ही परितप्त करता हूँ। वृष्टिके समय मैं ही वारिवर्षण करता हूँ, कदाचित् वृष्टिको आकर्षण करता हूँ। मैं ही जीवन हूँ, मैं ही नाश हूँ। मैं सत् अर्थात् स्थूल दृश्य हूँ, मैं ही असत् अर्थात् सूक्ष्म अदृश्य हूँ। यह सब मैं हूँ, मुझको इस प्रकार जान करके लोग अनेक रूपोंमें मेरी उपासना करते हैं। [पूर्वोक्त १५ वें श्लोकके साथ इसका अन्वय है] ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छाके द्वारा अर्थात् मनमें सोचते न सोचते सृष्टि होती है—जब आदमीकी इस प्रकारकी क्षमता होती है—तब अमरपदमें लक्ष्य होता है। वही ब्रह्म है !!! मृत्यु होना मेरा रूप है—क्योंकि जीवित रहने पर मरे बिना मुक्ति नहीं होती। शुभ भी मैं हूं, अशुभ भी मैं हूँ।—मैं ही तपस्या-रूपी ताप हूँ, इस तापके द्वारा ही मैं जीवके कर्म-वारिका शोषण करता हूँ। कष्ट-सहिष्णु होना ही तपस्याका उद्देश्य है, परन्तु "तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति"—प्राणायामकी अपेक्षा श्रेष्ठ तपस्या दूसरी नहीं है क्योंकि प्राणायाममें यह शोषण-कार्य होता है। मन बहुधा विक्षिप्त होकर विषयोंमें दौड़-धूप करता है, मलयुक्त मनका ही यह कार्य है। प्राणायामके द्वारा इस मलकी विशुद्धि होती है और ज्ञानकी दीप्ति होती है। किसी-किसीके मनमें यह सन्देह हो सकता है कि प्राणायामके द्वारा ज्ञानकी दीप्ति किस प्रकार होगी ? अज्ञानका नाश हुए बिना क्या ज्ञान हो सकता है ? अच्छा, अज्ञान है क्या वस्तु ? अनात्म-वस्तुमें आत्मबोध यानी देहका 'मैं' ज्ञानही तो अज्ञान है। देहके साथ 'मैं' इस प्रकार जड़ित हो गया है कि उसके वियुक्त हुए बिना—देहसे 'मैं' पृथक हूँ—इस ज्ञानका उदय हो ही नहीं सकता। प्राणायामके द्वारा इस शरीरसे 'मैं'-पनका ज्ञान नष्ट होता है, इसलिए प्राणायाम ज्ञानोत्पादक क्रिया है। अतएव प्राणायाम ही सर्वश्रेष्ठ तपस्या है। तपस्या भी भगवान्का रूप है। इस प्राणायामरूपी तपस्याके तापसे अज्ञानरूपी वारि शुष्क हो जाता है—यही 'निगृह्णामि' है तथा क्रियाकी परावस्थारूप शान्तिवारि-वर्षण होने लगता है—यही 'उत्सृजामि' है। उस अवस्थाका

भोग करते-करते साधकका अमृतपदमें लक्ष्य होता है और अन्तमें साधक स्वयं अमृत बन जाता है। यही प्रकृत जीवन है। यह जीवन मेरी ही शक्ति या रूप है और मृत्यु भी मेरा ही रूप है। देह छोड़कर चले जानेसे ही तो मृत्यु नहीं होती, 'मैं' तो रह ही जाता है, अतएव इस देहका नष्ट हो जाना ही मृत्यु नहीं है। तब मृत्यु है क्या?—'यस्य पुनर्न जन्म', जिसका फिर जन्म नहीं होता, जिसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। जीते जी भी इस प्रकारकी मृत्यु हो सकती है—यही क्रियाकी परावस्था है। यह 'मैं' जब क्रिया करके आत्मस्थ हो जाता है तब अपनेको सत्-स्वरूपमें समझ सकते हैं, यही 'शुभ मैं' है। जब क्रिया न करके संसार-चिन्तामें मन मग्न हो जाता है तब देहमें आत्मबुद्धि होती है, परन्तु देह चिरस्थायी नहीं है इसलिए देहमें आत्मबुद्धि भी असत् है, यही 'अशुभ मैं' है। इस 'मैं' के अनन्त रूप हैं—सर्वात्मक रूपमें यह 'मैं' ही सर्वत्र प्रकाशित है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽह्यपरोऽपि दृष्टः॥
—श्वेता० उप०।

जगत्-सृष्टिके प्रारम्भमें बुद्बुदावस्थाके पूर्व सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म कलिलावस्था होती है, उसके भीतर रहकर वह अनन्त रूपोंमें प्रकाशमान हैं अर्थात् क्रियाकी परावस्थारूप अत्यन्त सूक्ष्मावस्थासे ही यह असीम व्यक्त जगत् प्रकाशित हुआ है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत्के अद्वितीय भोगविधाता आनन्दमय शिव-स्वरूपको जान लेने पर आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और कर्मजनित वासनात्मक गुणोंके साथ जिसका अन्वय या सम्बन्ध है वही 'गुणान्वय'-पद-वाच्य हैं। वही फलोद्देश्यसे विहित कर्मके कर्त्ता हैं तथा अधर्म और स्वकृत कर्मफलके उपभोक्ता हैं। वही सत्त्व, रज, तम गुणोंके अनुसार धर्म-अधर्म और ज्ञानरूपी त्रिविधि मार्गोंमें गमन करते हुए प्राणाधिपरूपमें संसारका परिभ्रमण करते हैं।

अङ्गुष्ठ-प्रमाण हृदय-गुहामें रहनेके कारण जीव अङ्गुष्ठमात्र है, उसका रवितुल्यरूप है अर्थात् सूर्यके समान वह ज्योतिर्मय है, और वह सङ्कल्प और अहङ्कारादि धर्मोंसे युक्त है तथा बुद्धि और देहके धर्मोंसे युक्त होकर किसी अन्य वस्तुके रूपमें दृष्ट होता है अर्थात् जीव परमात्मासे पृथक्-सा जान पड़ता है॥१६॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥२०॥

अन्वय—त्रैविद्याः (वेदत्रयोक्त कर्मपरायण—ऋक्, यजुः और साम मिलकर वेद हैं, अतएव वेदको त्रयी कहते हैं, इस ऋक्-यजुः-साम वेदत्रयको जाननेवाले त्रैविद्य कहलाते हैं) यज्ञैः (यज्ञोंके द्वारा) मां इष्ट्वा (मेरी उपसना करके) सोमपाः (सोम पान करनेवाले) पूतपापाः (पापमुक्त पुरुष) स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते (स्वर्ग जानेकी अभिलाषा किया करते हैं) ते (वे) पुण्यं (पवित्र) सुरेन्द्रलोकं (इन्द्रादि देवलोकको) आसाद्य (प्राप्तकर) दिवि (स्वर्गमें) दिव्यान् (दिव्य) देवभोगान् (देवभोग्य वस्तुओंको) अश्नन्ति (भोग करते हैं) ॥२०॥

श्रीधर—तदेवं 'अवजानन्ति मां मूढा' इत्यादि श्लोकद्वयेन क्षिप्रफलाशया देवतान्तरं भजन्तो मां नाद्रियन्त इत्यभक्ताः दर्शिताः। 'महात्मानस्तु मां पार्थ' इत्यादिना च मद्भक्ता उक्ताः। तत्रैकत्वेन पृथक्त्वेन वा परमेश्वरं श्रीवासुदेवं ये न भजन्ति तेषां जन्ममृत्युप्रवाहो दुर्वार इत्याह—त्रैविद्या इति द्वाभ्याम्। ऋग्यजुःसामलक्षणास्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्याः। त्रिविद्या एव त्रैविद्याः। स्वार्थे तद्धितः। तिस्रो विद्या अधीयन्ते जानन्तीति वा त्रैविद्याः वेदत्रयोक्तकर्मतत्परा इत्यर्थः। वेदत्रयविहितैर्यज्ञैर्मामिष्ट्वा ममैव रूपं देवतान्तरमित्यजानन्तोऽपि वस्तुत इन्द्रादिरूपेण मामेवेष्ट्वा संपूज्य, यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपाः। तेनैव पूतपापाः शोधितकल्मषाः सन्तः स्वर्गतिं स्वर्गं प्रति गतिं ये प्रार्थयन्ते, ते पुण्यफलरूपं सुरेन्द्रस्य लोकं स्वर्गमासाद्य प्राप्य। दिवि स्वर्गे। दिव्यानुत्तमान् देवानां भोगान्। अश्नन्ति भुञ्जते ॥२०॥

अनुवाद—['अवजानन्ति मां मूढा' इत्यादि दो श्लोकोंमें "क्षिप्र फलकी आशासे जो देवतान्तरकी उपासना करते हैं, मेरा समादर नहीं करते, वे अभक्त हैं", यह कहा गया है तथा 'महात्मानस्तु मां पार्थ' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा 'भक्त कौन हैं,' यह बतलाया है। इनके समान अभेदभावना द्वारा या पृथक् भावना द्वारा जो परमेश्वरका भजन नहीं करते उनके लिए जन्म-मृत्युका प्रवाह अनिवार्य है, यह दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—ऋक्, यजुः और सामलक्षण तीन विद्याएँ त्रिविद्या नामसे अभिहित हैं, इस त्रिविद्याको जो अध्ययन करता या जानता है वह त्रैविद्य है अर्थात् वेद-त्रयोक्त कर्मपरायण व्यक्ति। वेदत्रय-विहित यज्ञ द्वारा, मेरे ही स्वरूप अन्य देवता हैं इसको न जानते हुए जो इन्द्रादिरूपमें वस्तुतः मेरी ही पूजा करके, यज्ञशेष सोमपानके द्वारा विगत-कल्मष होकर स्वर्ग-गतिकी प्रार्थना करते हैं वे पुण्यफल-स्वरूप सुरेन्द्रलोकको प्राप्तकर स्वर्गमें दिव्य देवभोगोंका भोग करते हैं ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस ॐकार-स्वरूप शरीरके भीतर—तीन विद्या जानना—मेरा स्वरूप है; जिह्वाग्रन्थि—हृदयग्रन्थि—मूलाधारग्रन्थि-भेद पूर्णचन्द्रकी दृष्टि वह भी मेरा रूप है—जहाँ जानेसे पवित्र होता है वह यज्ञ ही यज्ञ है—वहाँ जानेका नाम सद्गति है—उस पुण्यसे—अपने शुभ कर्म करके इन्द्रिय अर्थात् चक्षु जो सबमें है वही कूटस्थ-स्वरूप स्वयं होकर उसके भीतर नक्षत्र दर्शन करते हुए नाना प्रकारके दिव्य रूपोंका दर्शन और आनन्द भोग, इस देहमें होता है।—ॐकार-स्वरूप यह देह है

(देखिये प्रथम खण्ड पृ० ६६-६७)। शरीरके भीतर कूटस्थ और कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुष रहते हैं। पश्चात् साधक शुद्ध निर्मल रश्मि, जिसमें कोई रङ्ग नहीं, देख पाता है। उसको जानकर सब विद्याओंका तात्पर्य समझ पाता है। पश्चात् एक विद्युत्-शक्ति इस शरीरमें उत्पन्न होती है, जो अनिर्वचनीय शक्ति है। वह शक्तिरूपा ब्रह्मस्वरूपिणी गायत्री है। उसकी उत्पत्तिके पूर्व ॐकार-ध्वनि और अनाहत शब्द सुननेमें आते हैं। तब अन्न (मन) ब्रह्मस्वरूप होता है। प्राणके न रहने पर कोई भूत नहीं रह सकता, प्राणके अन्नब्रह्ममें मिलनेपर समस्त भूत ब्रह्ममें मिल जाते हैं, इस ज्ञानका नाम वेद है। वेदको त्रयी कहते हैं, उक्त प्रकारका ज्ञान होनेपर त्रयीविद्या जानी जाती है। प्राण, अपान और व्यानकी क्रिया त्रयीविद्या है। क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति है, जिसको तुरीय अवस्था कहते हैं और जो व्यानकी क्रियासे होती है उसको जाननेका नाम वेद है। प्राणस्वरूप गायत्रीमें अर्थात् ॐकार-क्रियामें त्राण पाता है, इसलिए इस क्रियाका नाम गायत्री है। जिस अवस्थामें तीनों लोक मिलकर एक हो जाते हैं, वही ब्रह्मरूप है। 'भूर्भुवस्व:' यही त्रिपदा गायत्री है। जब मस्तकमें वायु स्थिर होगी तब प्रथम पद होगा। जब बाहुमें वायु स्थिररूपमें प्रतिष्ठित होगी तब गायत्रीका (क्रियाका) द्वितीय पद होगा और सबमें ब्रह्म देखना तृतीय पद है। मस्तकमें, बाहुमें वायु स्थिर होनेपर ब्रह्मदर्शन होता है। यही वास्तविक कराङ्गन्यास है। हम हाथके द्वारा बाहु, चक्षु और सर्वाङ्ग स्पर्शमात्र करते हैं, परन्तु इस प्रकार हाथके द्वारा शरीरके स्थानोंको स्पर्श करनेसे अङ्गन्यास नहीं होता। क्रियाके द्वारा जब मस्तकमें, बाहुमें वायु स्थिर होगी, तभी ब्रह्मदर्शन होगा, इसीको गायत्रीके तीन पद कहते हैं। दुःखकी बात है कि अब हम न्यासके वास्तविक उद्देश्यको न समझकर केवल स्थानोंको ही स्पर्श करते हैं। जिस प्राणायामके द्वारा अनिलके स्थिर होनेपर परमा स्थिति प्रकाशित होती है, वही अमृत है। उस अमृत-पानसे कृतार्थ होकर साधक परमानन्द-रूप ब्रह्ममें लीन होता है। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें इसका अनुभव होता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
पूषन्नेकर्षे यमसूर्यप्राजापत्यव्यूह
रश्मीन् समूह, तेजो यत्ते रूपं
कल्याणतमं तत्ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईशोपनि०।

दुग्धके भीतर घृत नहीं दीख पड़ता, परन्तु दुग्धको मन्थन करनेसे जैसे घृत निकलता है, उसी प्रकार देहके प्रत्येक अणुके भीतर ब्रह्म रहते हैं, प्राणायामरूपी मन्थन द्वारा उस ब्रह्मका अनुभव होता है। जिस प्रकार पाषाणमें काञ्चन लिप्त रहता है, अग्निके द्वारा उस जोड़को गलाये बिना अर्थात् ग्रन्थिभेद किये बिना जैसे पाषाणसे स्वर्ण नहीं निकलता, उसी प्रकार मृत्तिका-स्वरूप यह देह है, इसकी तीन ग्रन्थियाँ हैं—जिह्वा, हृदय, नाभि या मूलाधार—प्राणायामके द्वारा इन सब

ग्रन्थियोंका भेद किये बिना सर्व ज्योतियोंकी ज्योति वह ब्रह्मस्वरूप अग्नि प्रकाशित नहीं होती। कूटस्थके भीतर सुन्दर ज्योतिविशिष्ट आकाशमण्डल है, उस आकाशमण्डलके भीतर प्रदीपकी वर्त्तिकाके समान आलोक जलता है, उसीके भीतर त्रिलोक है। इस प्रकार दर्शन करते-करते सारा चराचर ब्रह्मरूप बोध होता है। समस्त ब्रह्म हो जानेके बाद फिर कुछ अपवित्र नहीं रह जाता। जिस क्रियाके द्वारा इस पवित्र भावका उदय होता है, वही प्रकृत यज्ञ है। उस यज्ञका उद्देश्य सद्गति अर्थात् ब्रह्मगति या क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति है। जो आठों पहर क्रियामें लगा रहता है वही 'सुर' है। यह देवत्व या सुरत्व किसकी शक्तिसे होता है? हमारे भीतर जो कूटस्थ रहता है उसकी ही शक्ति है, वह कूटस्थ मैं हूँ। वह सबसे श्रेष्ठ है, इस कारण सुरेन्द्र है। उस सुरेन्द्र-लोकमें अर्थात् ज्योतिर्मय कूटस्थमण्डलमें नाना प्रकारके दिव्य दर्शन और दिव्य श्रवण प्राप्त होते हैं तथा परमानन्द भोग होता है।

अनाहतं च यत् शब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥—ध्यानविन्दु।

अनाहतमें दस प्रकारके शब्द होते हैं। वे शब्द हृदयस्थ द्वादश पद्ममध्यस्थित हैं। यहाँ जीवात्मा वास करता है। इस शब्दको सुननेके बाद जो स्थिरत्व बोध होता है, उस स्थिरत्वके परे जो धाम प्रकाशित होता है, जहाँ चन्द्र-सूर्य नहीं होते तथापि सब कुछ देखा जाता है—वह परम धाम जिसके सामने प्रकाशित होता है, उस योगीके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं अर्थात् प्रकृत ज्ञानका उदय होता है॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

अन्वय—ते (वे) तं (उस) विशालं स्वर्गलोकं (विपुल स्वर्गलोकको) भुक्त्वा (भोगकर) पुण्ये क्षीणे (पुण्यक्षय होने पर) मर्त्यलोकं विशन्ति (मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं)। एवं (तथा) त्रयीधर्मं (वेदत्रयविहित धर्मके) अनुप्रपन्नाः (अनुष्ठान करने वाले) कामकामाः (भोगकामी होकर) गतागतं (गतागति अर्थात् संसारको) लभन्ते (प्राप्त होते हैं)॥२१॥

श्रीधर—ततश्च—ते तमिति। ते स्वर्गकामास्तं प्रार्थितं विपुलं स्वर्गलोकं तत्सुखं भुक्त्वा भोगप्रापके पुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति। पुनरप्येवमेव वेदत्रयविहितं धर्ममनुसृताः कामकामाः भोगान् कामयमाना गतागतं यातायातं लभन्ते॥२२॥

अनुवाद—वे (समस्त स्वर्गकामी) अपने प्रार्थित विपुल स्वर्गलोक तथा उनके सुखोंको भोग करके अपने भोगप्रदायक पुण्यके क्षय होने पर मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वेदत्रयविहित धर्मके अनुष्ठानमें लगे रहने वाले कामकामी पुनः पुनः आवागमन अर्थात् संसार-गतिको प्राप्त करते हैं॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वे स्वर्गलोकसे मर्त्यलोकमें फिर आते हैं पुण्यक्षय होने पर—इस प्रकार धर्म अर्थ काम तिगारती धर्म करके जो जो कामना करते हैं उसे पाते हैं।—विक्षेपशून्य अवस्था ही पुण्य है, तद्विपरीत अवस्था पाप है। क्रियाकी परावस्था निस्तरङ्ग भाव है, वहाँ विक्षेप या चाञ्चल्य नहीं है। वही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान कहलाता है। परन्तु यह पुण्यमय अवस्था सब साधकोंके भाग्यमें चिरस्थायी नहीं होती। जिनका चित्त गम्भीर ध्यान-युक्त होकर समाधिस्तरमें जा पहुँचा है, जिनका चित्त चाञ्चल्य-शून्य हो गया है, उनको फिर देहाभिमान नहीं आ सकता, वह त्रिगुणमयी मायाकी अधिकार-सीमाको पारकर बहुत ऊँचे पहुँचे हुए होते हैं। उनकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है, परन्तु जो लोग साधनाभ्यासमें पारदर्शी और इच्छुक हैं तथापि पुराकृत पापोंके वश कुछ अन्तराय उनके गन्तव्य पथमें विघ्न उपस्थित करते हैं, वे योगफलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाते हैं। ध्यानभङ्ग होनेके बाद सांसारिक प्रवृत्ति बढ़कर फिर उनको अविद्याके मुखमें डाल देती है, तब फिर देहाभिमान लौट आता है और दो-एक निम्नस्तरकी सिद्धियाँ आकर उनको वञ्चित करती हैं। जो उच्चकोटिके योगी हैं अर्थात् जो योगमें आरूढ़ हैं, उनकी जिह्वाग्रन्थि, हृदयग्रन्थि और मूलाधारग्रन्थि भेद हो जाती है। ग्रन्थिभेद होनेसे साधककी आज्ञाचक्रके ऊपर सहस्रारमें स्थिति होती है। फिर उनके पतन होनेकी आशङ्का नहीं रहती। परन्तु जो इतना उच्च अधिकार प्राप्त नहीं कर पाते, वे आज्ञाचक्र (स्वर्ग) पर्यन्त उठकर फिर नीचे उतर पड़ते हैं। स्वर्ग तक जाकर वहाँ बहुत समय तक रहकर योगैश्वर्यजनित आनन्दलाभ तो करते हैं, परन्तु वह गुणातीत अवस्थाका आनन्द नहीं होता और न वह चिरस्थायी होता है। योगैश्वर्यमें आसक्तिके वश फिर उनकी अधोगति होती है, नाभिके नीचे उनका मन विचरण करता है। इस अवस्थामें मृत्यु होनेपर कामनाशून्य न होनेके कारण साधकको फिर जन्मग्रहण करना पड़ता है। योगदर्शनमें ऋषि योगकी नव अन्तरायोंका वर्णन करते हैं—"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि विक्षेपास्तेऽन्तरायाः"—(समाधिपाद, योगदर्शन)। (१) व्याधि—शरीरगत धातुओंके वैषम्यके कारण इन्द्रियादिकी विकलता तथा उसके साथ शारीरिक अस्वस्थता। शरीरमें पीड़ा रहनेपर योगकी प्राप्तिके लिए सम्यक् प्रयत्न नहीं हो सकता, आहारके असंयम और इन्द्रियोंके असंयमसे सारी पीड़ाएँ उत्पन्न होती हैं, जो इस विषयमें जितना अधिक सावधान होता है उसे अस्वास्थ्यका कष्ट उतना ही कम भोगना पड़ता है। (२) स्त्यान—चित्तका अवसाद। मनमें पर्याप्त श्रद्धा-भक्ति रहनेपर भी साधनमें चित्त बैठना नहीं चाहता। यह राक्षसी बहुतेरे साधकोंको खा डालती है। साधन अप्रीतिकर जान पड़नेपर भी चेष्टा करनेवाला एक न एक दिन उसके पञ्जेसे छुटकारा पा ही जा सकता है। (३) संशय—साधनामें सिद्धि मिलेगी या नहीं यह सन्देह, अपने सामर्थ्यके प्रति सन्देह, मेरे द्वारा यह काम अन्त तक हो सकेगा या नहीं यह सन्देह तथा भगवान्की करुणाके प्रति सन्देह कि वह चेष्टाशीलके ऊपर दया करते हैं या नहीं। गुरु और शास्त्रके प्रति जिसकी श्रद्धा है उसके मनमें इस प्रकारका संशय प्रायः उपस्थित नहीं होता। (४) प्रमाद—जो आत्मविस्मृत हैं

और साधन करते समय किसी एक विषयमें आसक्तिके कारण साधनाकी चेष्टामें शिथिलता करते हैं, साधनामें उनका वैसा उद्यम नहीं रह जाता, बल्कि बाह्य विषयोंमें ही मग्न रहते हैं—इसीको प्रमाद कहते हैं। इसी प्रकार राजा भरतने हिरणके प्रति आसक्त होकर तपस्यामें शिथिलता प्रदर्शित की थी। इसी कारण आत्म-स्मृतिको जागृत करनेके लिए मनोयोग देनेकी विशेष आवश्यकता है। (५) आलस्य—आहार आदिमें अनियम होनेके कारण शरीर और मनकी जड़ता। इससे शरीर और मन परिश्रम करना नहीं चाहता। गरिष्ठ भोजन और अधिक सोनेसे आलस्य पैदा होता है। अनेक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ आदमी इस आलस्यके वशीभूत होकर अपने जीवनमें उन्नति करनेसे वञ्चित हो गये हैं। (६) अविरति—विषय-भोगकी आसक्तिका दूर न होना। मनको सर्वदा अनावश्यक चिन्तासे दूर रखने, विषयोंके हेयत्वका विचार करने तथा मनको अन्ततः श्वास-श्वासके जपमें अभ्यस्त करानेसे अविरति कम की जा सकती है। (७) भ्रान्तिदर्शन—जो सत्य वस्तु नहीं है उसे सत्य समझना, सामान्यको असामान्य समझना तथा अविवेक-वश साम्प्रदायिक संस्कार द्वारा बुद्धिको संस्कारावद्ध करके आत्म प्रसाद प्राप्त करना। चित्तको उदार बनाने तथा शास्त्रोज्ज्वला बुद्धि द्वारा विचार करके सब विषय समझनेकी चेष्टा करने पर भ्रान्ति-दर्शन मिट जाता है। (८) अलब्धभूमिकत्व—ठीक स्थान पर न पहुँच पाना। यथेष्ट साधन करके भी कुछ प्रत्यक्ष लाभ न कर पाना। यह पूर्वकर्म-जनित अन्तराय है। इसके लिए धैर्यपूर्वक साधनामें स्थिर होकर चलना होगा। (९) अनवस्थितत्व—साधनाके द्वारा किसी भूमिकाको प्राप्त करके भी उसमें स्थितिलाभ न कर पाना।

उपर्युक्त विषय योगके विघ्न हैं। इन सब अन्तरायोंको दूर करनेके लिए जो उपाय कहे गये हैं, उनका सम्यक् पालन करने पर विघ्न दूर हो जा सकते हैं। जो सम्यक् चेष्टा करनेवाले उद्यमी पुरुष हैं वे एक न एक दिन सफलता प्राप्त करेंगे ही और जो चेष्टा नहीं करते उनके लिए इस मार्गमें पैर रखना विड़म्बना-मात्र है॥२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

अन्वय—ये जनाः (जो लोग) अनन्याः (अनन्य-चित्तसे) मां (मुझको) चिन्तयन्तः (चिन्ता करते हुए) पर्युपासते (उपासना करते हैं) तेषां (उन लोगोंका) नित्याभियुक्तानां (नित्य युक्त पुरुषोंका) योगक्षेमं (योग और क्षेम) वहामि (मैं वहन करता हूँ)॥२२॥

श्रीधर—मद्भक्तास्तु मत्प्रसादेन कृतार्था भवन्तीत्याह—अनन्या इति। अनन्याः—नास्ति मद्व्यतिरेकेणान्यत् काम्यं भजनीयं देवतान्तरं येषां तथाभूता ये जनाः मां चिन्तयन्तः सेवन्ते, तेषां नित्याभियुक्तानां सर्वदा मदेकनिष्ठानां योगं धनादिलाभं, क्षेमं च तत्पालनं, मोक्षं वा। तैरप्रार्थितमप्यहमेव वहामि प्रापयामि॥२२॥

अनुवाद—[परन्तु मेरे भक्तगण मत्प्रसादसे कृतार्थ होते हैं, इसके विषयमें कहते हैं]—जिनको मेरे सिवा कोई दूसरा काम्य या भजनीय देवता नहीं है, वे मेरा चिन्तन करते हुए सेवा या उपासना करते हैं, सदा ही एकमात्र मुझमें निष्ठा रखते हैं, उनके धनादिकी प्राप्ति तथा उसकी रक्षा बिना उनके माँगे हुए ही मैं वहन करता हूँ अर्थात् प्राप्त कराता हूँ। [श्रीधर कहते हैं कि योगक्षेमका अर्थ मोक्ष भी हो सकता है। शङ्कराचार्यने कहा है—"योगोऽप्राप्तस्य प्रापणं, क्षेमस्तद्रक्षणम्। × × नन्वन्येषामपि भक्तानां योगक्षेमं वहत्येव भगवान्। किन्त्वयं विशेषः—अन्ये ये भक्तास्ते स्वात्मार्थं स्वयमपि योगक्षेममीहन्ते। अनन्यदर्शिनस्तु नात्मार्थं योगक्षेममीहन्ते। न हि ते जीविते मरणे वात्मनो गृद्धिं कुर्वन्ति। केवलमेव भगवच्छरणास्ते। अतो भगवानेव तेषां योगक्षेमं वहतीति"—अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग और उस लब्ध वस्तुके रक्षणको क्षेम कहते हैं। यह सत्य है कि दूसरे भक्तोंके योगक्षेमको भी भगवान् वहन करते हैं, किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि दूसरे भक्त अपने लिए योगक्षेम सम्पादन करनेका स्वयं प्रयत्न करते हैं, परन्तु जिन्होंने भगवान्को आत्मभावमें प्राप्त किया है वह कभी अपनी भोगेच्छासे योगक्षेम प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करते। क्या जीवन और क्या मरण—वह अपने लिए भोग-कामना नहीं करते क्योंकि भगवान् ही उनके एकमात्र शरण या आश्रय होते हैं। इसलिए भगवान् ही उनका योगक्षेम वहन किया करते हैं—शङ्कराचार्य।] ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई सर्वदा आत्मामें रहता है अन्य दिशामें दृष्टि न करके—प्रत्यह अटका रहता है—उनकी समाधिका कल्याण जिससे होता है वह मैं मन ही मन आपही उदय करा देता हूँ।—जो सारी चिन्ता छोड़कर केवल-मात्र आत्मामें सदा अभिनिविष्ट-चित्त होनेके लिए समस्त पुरुषार्थको लगा देते हैं उनकी देहादिकी रक्षा तथा संसारका प्रतिपालन किस प्रकार होगा, जीवके मनमें ऐसी आशङ्काका उठना संभव है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि इसकी कोई चिन्ता नहीं। जो देहकी चिन्ता न करके, परिवारकी चिन्ता न करके केवल आत्मकर्ममें लगे रहते हैं, अन्य किसी चिन्तामें जिनका मन जाता ही नहीं, उनको फिर अपने संसारकी चिन्ता कैसे हो सकती है, इसके लिए उनको विशेष क्लेश या अभाव नहीं होता। भगवान् ही उसकी व्यवस्था कर देते हैं। भगवान् ऐसे ही भक्त-वत्सल हैं!! यहाँ योगक्षेमके विषयमें और भी कुछ विचार करना है। मान लीजिए कोई आत्मनिष्ठ पुरुष हैं, प्रतिदिन नियमित भावसे बहुत देर तक उत्साहपूर्वक साधना किया करते हैं, ऐसे साधक भी समय-समय पर नाना प्रकारके योग-विघ्नोंके आ पड़ने पर व्याकुल हो उठते हैं, उनके योगाभ्यासमें भी शैथिल्य आ उपस्थित हो सकता है, उनके लिए भगवान् जिस प्रकारका योगक्षेम वहन करते हैं, वह बतलाता हूँ। योग अर्थात् ऐकान्तिकता और क्षेम अर्थात् विघ्न-निवारणकी शक्ति भगवत्कृपासे यत्नशील साधकको हुआ करती है। परन्तु उनका स्मरण होना चाहिए अनन्य-चित्तसे, तभी योग-धारणा प्राप्त होगी तथा उसके विविध अन्तराय दूर होंगे। योगधारणाके द्वारा प्राण, मन और बुद्धि सभी अपना कार्य

त्यागकर आत्मस्थ हो जाते हैं, यही अटकना या अवरोध-भाव कहलाता है। हमारे मनः प्राण साधारणतः विषयोंमें आबद्ध रहते हैं, प्रकृत साधकके मनःप्राण भगवान्‌में सन्निरुद्ध होते हैं। यह निरोध ही योग है। यह अप्राप्त वस्तु है, भगवत्कृपासे साधक इसको प्राप्त करता है। वह आत्मसंस्थ होकर अविच्छेदरूपमें ब्रह्मानन्दका भोगकर कृतकृत्य होता है। परन्तु अविच्छेदरूपमें योगयुक्त होना कोई साधारण बात नहीं है। बहुत दिनोंमें और बहुत परिश्रम करके साधक इसको प्राप्त करता है। इसमें विघ्न भी होते हैं। उन विघ्नोंके द्वारा चित्त चलायमान भी हो सकता है, अतएव बहुत चेष्टा और बहुत साधनाके फल-स्वरूप जो समाधि सम्पन्न होती है या आसन्न होती है, उसको यदि विघ्नराशि आकर नष्ट करने पर उतारू हों तो भगवान् समाधिरूपी कल्याणकी प्राप्तिका उपाय साधकके मनमें जागृत कर देते हैं। शरणागत साधकके प्रति भगवान्‌की जो करुणा होती है, उसका ही स्मरण यहाँ भगवान् करा रहे हैं, जिससे हमको भगवान्‌की इस बातमें अविश्वास न हो और हम भक्तिविनम्र चित्तसे इस बातको स्मरण करके अभय हो सकें। पातञ्जल दर्शनके समाधिपादमें एक सूत्र है—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा"। प्रणिधान शब्दका अर्थ है भगवद्भक्ति या भगवदाश्रय। भगवान्‌को अपने आश्रयरूपमें समझ लेना ही जीवका सर्वोत्तम कल्याण है। भगवान्‌के प्रति यह ममत्व हुए बिना कोई उनके साथ योगलाभ नहीं कर सकता। भगवान्‌को पानेके लिए मनका तीव्र संवेग चाहिए, तभी उनके साथ मिलन आसन्न होगा। इसीलिए ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है। इस सूत्रके भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—"प्रणिधानाद् भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति।" भक्तिविशेषके कारण आवर्जित या अभिमुखीकृत होकर ईश्वर उस योगीके प्रति अभिध्यानके द्वारा अनुग्रह करते हैं। उनके अभिध्यानसे योगीको समाधिलाभ और उसका फल कैवल्य आसन्न होता है। भक्तिपूर्वक जो उनको चाहता है, वह उनका भजन करेगा ही। भजनके द्वारा चित्त ईश्वरमुखी होता है और यह समझमें आता है कि ईश्वर ही मेरे प्रभु हैं तथा मैं जो कुछ करता हूँ सभी उनकी ही शक्तिसे होता है, यह समझने पर कर्म ईश्वरार्पित हो जाता है। हठपूर्वक देहके जोरसे नहीं बल्कि ईश्वरार्पितचित्तसे जो योगी साधन करते हैं, उनका चित्त ईश्वरमुखी होनेके कारण ईश्वरका चित्त भी तदभिमुखी हो जाता है। भक्तकी ओर भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही साधकके समस्त विघ्न विनष्ट हो जाते हैं, साधनाका फल समाधि या आत्माके साथ मिलन भी उस साधकको शीघ्र प्राप्त हो जाता है। सुचारु रूपसे सांसारिक कर्म करने पर जैसे कर्मीको सांसारिक सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार ईश्वर-प्रणिधानरूप कर्मके द्वारा साधकको पारमार्थिक सुख या ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञान समाधिजनित प्रज्ञा है, वैषयिक ज्ञान नहीं है। सब कर्मोंसे प्राणकर्म ही श्रेष्ठ है। मनःसंयोगपूर्वक यह प्राणकर्म करने पर साधकके प्राण अपने प्राणोंके प्राणको आकर्षित करते हैं। वह प्राणोंका प्राण ही आत्मा है, वह चिर स्थिर चिदानन्दमय है। "स उ प्राणस्य प्राणः"॥ २२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अन्वय—ये अपि (और जो) अन्यदेवताभक्ताः (अन्य देवताके भक्त) श्रद्धया अन्विताः (श्रद्धाके साथ) यजन्ते (अन्य देवताकी उपासना किया करते हैं) कौन्तेय (हे कौन्तेय !) ते अपि (वे भी) अविधिपूर्वकं (अविधिपूर्वक) माम् एव (मुझको ही) यजन्ति (भजते हैं) ॥२३॥

श्रीधर—ननु च तद्व्यतिरेकेण वस्तुतो देवतान्तरस्याभावादिन्द्रादिसेविनोऽपि त्वद्भक्ता एवेति कथं ते गतागतं लभेरन् ? तत्राह—येऽपीति । श्रद्धयोपेताः भक्ताः सन्तो ये जना यज्ञेन अन्यदेवता इन्द्रादिरूपा यजन्ते तेऽपि मामेव यजन्तीति सत्यम् । किन्त्वविधि-पूर्वकम् । मोक्षप्रापकं विधिं विना यजन्ति । अतस्ते पुनरावर्तन्ते ॥२३॥

अनुवाद—[तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे देवताओंका वस्तुतः अभाव होनेके कारण इन्द्रादि देवताके पुजारी भी तो तुम्हारी ही पूजा करते हैं, फिर क्यों उनको आवागमनकी प्राप्ति होती है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं]—ठीक तो है, श्रद्धान्वित और भक्तियुक्त होकर जो यज्ञमें इन्द्रादि अन्य देवताकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु वे अविधिपूर्वक उपासना करते हैं अर्थात् मोक्षप्रदान करनेवाली विधिके बिना पूजा करते हैं, इसी कारण उनकी पुनरावृत्ति होती है ॥ २३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई आत्माके सिवा अन्य देवताका भजन करता है श्रद्धापूर्वक, बिना आत्माको विशेषरूपसे स्थिर करके—वह मेरा ही भजन करता है—क्योंकि उसकी दृष्टि मनमें कुछ देर तक उस देवतामें ही रहती है—परन्तु विशेषरूपसे बुद्धि स्थिर रखते हुए सर्वदा नहीं रहती—विधि अर्थात् विशेषरूपसे बुद्धिमें रहनेका नाम विधि है।—जब आत्माके बिना और कुछ नहीं है, तब जिसकी भी पूजा की जाय वह आत्माकी ही पूजा होगी। पूजा तो ठीक होगी परन्तु अविधिपूर्वक होगी। अविधि ही अज्ञान है। आत्माके सिवा अन्य देवताकी पूजा गौण पूजा है, अज्ञानकी पूजा है। मनके भीतर जबतक सुख-ऐश्वर्य आदिकी कामना रहती है, तबतक जीव गुणमें पड़ा रहता है, त्रिगुणातीत भावको ग्रहण नहीं कर सकता। मनके चाञ्चल्य-विक्षेपादि, गुणके ही खेल हैं, इस चञ्चलता (अज्ञान) के वशमें होकर जो पार्थिव वस्तुकी प्राप्तिके लिए देवतान्तरकी उपासना करते हैं, उनके उस भजनका अन्तिम फल क्रियाकी परावस्थाके समान शान्तिप्रद नहीं होता। कामना रहनेपर बुद्धि स्थिर नहीं रहती और बुद्धिके स्थिर हुए बिना आत्मदर्शन नहीं होता। यदि कहें कि फलकामना करके जब अन्य देवताकी उपासना करते हैं तब मन उस देवतामें ही रहता है, अतएव उस देवतामें कुछ समयके लिए तो मन निश्चय स्थिर हो जाता है। यह ठीक है, कुछ स्थिरता आती ही है, बिना उसके काम्य फलकी प्राप्ति कैसे होती ? परन्तु उनकी बुद्धि विशेषरूपसे स्थिर नहीं होती क्योंकि उनका मन चञ्चल होनेके कारण उनकी वासनाका अन्त नहीं होता, इसी कारण मनको भी एक स्थानमें वे स्थिर करके नहीं रख सकते।

मनका यह चञ्चल भाव ही अज्ञान है। परन्तु जब लक्ष्य स्थिर होता है, तब बुद्धि भी स्थिर होती है। स्थिर बुद्धिवाले असंमूढ़ होते हैं, इसलिए वे चिरस्थिर सुनिर्मल आत्माको छोड़कर अन्य विषयमें मनको नहीं लगाते। उनकी ही आराधना विधिपूर्वक आराधना है, दूसरी आराधना अविधिपूर्वक है ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अन्वय—हि (क्योंकि) अहं एव (मैं ही) सर्वयज्ञानां (सब प्रकारके यज्ञोंका) भोक्ता च प्रभुः च (भोक्ता और प्रभु हूँ), तु (किन्तु) ते (वे) मां (मुझको) तत्त्वेन (स्वरूपतः) न अभिजानन्ति (नहीं जानते), अतः (इस कारण) च्यवन्ति (पुनरागमन करते हैं) ॥ २४ ॥

श्रीधर—एतदेव विवृणोति—अहमिति। सर्वेषां यज्ञानां तत्तद्देवतारूपेण अहमेव भोक्ता प्रभुश्च स्वामी फलदाता चाप्यहमेवेत्यर्थः। एवंभूतं मां ते तत्त्वेन यथावन्नाभिजानन्ति। अतश्च्यवन्ति प्रच्यवन्ते पुनरावर्त्तन्ते। ये तु सर्वदेवतासु मामेवान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ति ते तु नावर्त्तन्ते ॥२४॥

अनुवाद—[पूर्वोक्त बात ही स्पष्ट करके कहते हैं]—सब यज्ञोंके तत्तत् देवतारूपमें मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही स्वामी और फलदाता हूँ। इस रूपमें मुझको वे यथावत् नहीं जान सकते, इसीसे उनकी पुनरावृत्ति होती है। जो सब देवताओंमें अन्तर्यामीरूपसे मुझको देखकर उपासना करते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं सब यज्ञोंका भोक्ता हूँ—यज्ञ अर्थात् कर्म, मैं ही प्रकृष्ट रूपसे हो गया हूँ, जो क्रिया नहीं करते—अर्थात् पञ्चतत्त्वमें न रहकर षष्ठचक्रमें नहीं रहते—वे मुझको सर्वतोभावेन नहीं जान सकते।—मैं अर्थात् आत्मा ही सब कर्मोंका कर्ता और फलदाता है। यद्यपि इन्द्रियाँ सब कर्म करती हैं परन्तु यदि आत्मा न होता तो वे कोई कर्म नहीं कर सकतीं, इसलिए सब यज्ञोंका अधिपति आत्मा ही है। जो कुछ हो रहा है या होगा, सब आत्माके आश्रयमें रहकर ही होता है। इसलिए वही प्रभु हैं। जो कुछ जगत्में जीवरूपमें उत्पन्न होता है, सब 'मैं'का प्रकाश है। जीव अपने भीतर इस 'अहं' तत्त्वको न जाननेके कारण ही अज्ञानान्ध होकर परिभ्रमण करता है। कूटस्थ अक्षर अव्यक्त है। ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्रमें लिखा है—'अव्यक्ताज्जायते प्राणः'। यह स्थिर प्राण ही महेश्वर है। यह स्थिर प्राण सर्वव्यापी है, इसी कारण यह सर्वगत शिव है। प्राणके चञ्चल होने पर ही उसकी क्रिया होती है, यह क्रिया ही श्वास-प्रश्वासरूपी प्राणयज्ञ है। इस प्राण-यज्ञसे मन तथा मनके सङ्कल्पसे इस विश्वका प्रकाश होता है। जैसे तिलके भीतर तेल रहता है, दहीके भीतर घृत रहता है और काष्ठके भीतर अग्नि होती है, उसी प्रकार देहेन्द्रियादिके प्रत्येक अणुके भीतर वह आत्मा व्याप्त हो रहा है। काष्ठके प्रत्येक अणुके भीतर अग्नि रहने पर भी जैसे बिना घर्षणके अग्निका प्रकाश नहीं होता, उसी प्रकार प्राणापान या श्वासप्रश्वासके

घर्षणके बिना उस आत्माग्निका प्रकाश नहीं होता। अग्निसे जिस प्रकार स्फुलिङ्ग प्रकट होता है उसी प्रकार अखण्ड चैतन्यसे सृष्टि-प्रसविनी महाशक्तिरूप प्राणकी उत्पत्ति होती है। इस प्राणसे मन और मनसे जीवसमूहकी उत्पत्ति होती है। योगवासिष्ठमें लिखा है—"चित्तकारणमर्थानां तस्मिन्नस्ति जगत्त्रयम्"—चित्त ही समस्त विषयोंका हेतु है, उसमें मानो तीनों जगत् गुँथे हुए हैं। अतएव यह मन जबतक रहेगा तबतक संसार रहेगा ही। यह मन प्राणकी चञ्चलतासे उत्पन्न होता है। अतएव प्राणकी चञ्चलता दूर हुए बिना जगद्दर्शन भी दूर न होगा, आवागमनका भी अन्त न होगा। 'मैं' ही सब है और सबका मूल 'मैं' है, इस 'मैं' का सन्धान करनेके लिए पञ्चतत्त्वमें अर्थात् प्रकृतिमें मन लगाकर पड़े रहनेसे काम न चलेगा। प्राण-क्रियाकी सहायतासे मनको षष्ठ चक्रमें ले जाना होगा। षष्ठ चक्रमें मनकी गति होते ही मनको असीम स्थिरता प्राप्त होती है, वहाँ प्राणकी उस असीम स्थिरताका अनुभव करने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। कूटस्थमें रहना ही आत्माको जाननेका मूल है। जो क्रिया करके षष्ठ चक्रमें स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते, वे केवल प्रकृतिको अर्थात् आत्माके कार्यको ही देख पाते हैं, परन्तु सर्वतोभावेन आत्मा क्या है, यह नहीं जान पाते ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

अन्वय—देवव्रताः (देवोपासक लोग) देवान् (देवताओंको) यान्ति (प्राप्त होते हैं) पितृव्रताः (पितरोंके उपासक) पितॄन् यान्ति (पितरोंको प्राप्त होते हैं) भूतेज्याः (भूतोपासक) भूतानि यान्ति (भूतोंको प्राप्त होते हैं) मद्याजिनः अपि (और मेरे उपासक) मां यान्ति (मुझको प्राप्त होते हैं) ॥२५॥

श्रीधर—तदेवोपपादयति—यान्तीति। देवेष्विन्द्रादिषु व्रतं नियमो येषां ते अन्तवन्तो देवान् यान्ति। अतः पुनरावर्त्तन्ते। पितृषु व्रतं येषां श्राद्धादिक्रियापराणां ते पितॄन् यान्ति। भूतेषु विनायकमातृकादिष्विज्या पूजा येषां ते भूतेज्या भूतानि यान्ति। मां यष्टुं शीलं येषां ते मद्याजिनः। ते तु मामेवाक्षयं परमानन्दस्वरूपं यान्ति ॥२५॥

अनुवाद—[उसी विषयका प्रतिपादन कर रहे हैं]—इन्द्रादि देवतामें जिनका व्रत अर्थात् नियम-परायणता है, वे अन्तवान् देवलोकको प्राप्त होते हैं; इसलिए उनकी पुनरावृत्ति होती है। जो पितृव्रत हैं अर्थात् श्राद्धादिक्रियारत (अग्निष्वात्तादि—शङ्कर) वे पितृलोकको प्राप्त होते हैं। जो लोग विनायक और मातृकादिके उपासक हैं वे सब भूतोपासक भूतलोकको प्राप्त होते हैं और जो मेरे उपासक हैं वे अक्षय परमानन्दरूप मुझको प्राप्त होते हैं ॥२५॥

["समानेऽप्यायासे मामेव न भजन्तेऽज्ञानात्। तेन तेऽल्पफलभाजो भवन्तीत्यर्थः"—प्रयास समान होने पर भी लोग अज्ञानवश मुझको नहीं भजते हैं, अतएव वे अल्पफलके भागी होते हैं।—शङ्कर]

आध्यात्मिक व्याख्या—देवताका भजन करने पर देवताको पाता है—पितृलोकका भजन करने पर पितृलोकको पाता है—भूतलोकका भजन करने पर भूतलोकको जाता है—मेरा भजन करने पर मुझको पाता है।—जो देव-व्रत हैं वे मरनेके बाद देवलोकको प्राप्त होते हैं। देवता लोग इन लोकोंके अधिनायक हैं, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं, उनकी उपासना करने पर मृत्युके बाद उनकी सालोक्य-प्राप्ति तो होगी ही, जीते जी भी उपासक उनके दिये हुए ऐश्वर्यका भोग करते हैं। साधकको उन इन्द्रियोंकी विशिष्ट शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। वे देवोपासक लोग सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। जिस उपासकका जो गुण प्रबल होता है, वह देवलोकमें अपने उसी गुणके अनुसार ही विशिष्ट स्थान प्राप्त करता है। जो श्रद्धापूर्वक श्राद्ध-तर्पणादिके द्वारा पितरोंकी आराधना करते हैं, वे पितृलोकको प्राप्त होते हैं। ये सब पितृगण स्थूलभूतादिके पितृस्थानीय हैं, ये तन्मात्राओंके अधिष्ठात्री देवता हैं। जो इनके उपासक हैं, उनको तन्मात्राके द्वारा सूक्ष्मलोकमें गति प्राप्त होती है। जो स्थूल भूतकी उपासना करते हैं वे जरामरण-सङ्कुल इस स्थूल भौतिक जगत्में भोगके लिए लौट आते हैं। उनको इस स्थूल भोगादिके प्रति ऐसी आसक्ति होती है कि वे मरण-मूर्च्छाके भङ्ग होने पर इन स्थूल वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए आकुल हो जाते हैं। सब छोड़कर जो आत्मचैतन्यकी उपासना करते हैं, उनकी मृत्युके समय ब्रह्मनाड़ी दीप्त हो उठती है, वे उस ब्रह्मरश्मिके द्वारा उद्भासित मार्गसे प्रयाण करके ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं और वहाँ ब्रह्मसायुज्य लाभ करके अनन्त ब्रह्म-चैतन्यके साथ एक हो जाते हैं। मद्याजी अर्थात् जो 'अहं'-पद-वाच्य आत्माकी उपासना करते हैं, वे परमानन्दरूप आत्मा हो जाते हैं। कबीर कहते हैं—"तू तू करते तू भया तुझमें रहा समाय" ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

अन्वय—यः (जो) मे (मुझको) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) पत्रं पुष्पं फलं तोयं (पत्र, पुष्प, फल और जल) प्रयच्छति (अर्पण करता है) अहं (मैं) प्रयतात्मनः (संयतचित्त व्यक्तिके) भक्त्युपहृतं (भक्तिपूर्वक उपहृत) तत् (उस वस्तुको) अश्नामि (भक्षण करता हूँ) ॥ २६ ॥

श्रीधर—तदेवं स्वभक्तानामक्षयफलत्वमुक्तम्। अनायासत्वं च स्वभक्तेर्दर्शयति—पत्रमिति। पत्रपुष्पादिमात्रमपि मह्यं भक्त्या प्रीत्या यः प्रयच्छति तस्य प्रयतात्मनः शुद्धचित्तस्य निष्कामभक्तस्य तत् पत्रपुष्पादिकं भक्त्या तेनोपहृतं समर्पितमहमश्नामि प्रीत्या गृह्णामि। न हि महाविभूतिपतेः परमेश्वरस्य मम क्षुद्रदेवतानामिव बहुवित्तसाध्ययागादिभिः परितोषः स्यात्। किन्तु भक्तिमात्रेण। अतो भक्तेन समर्पितं यत्किञ्चित् पत्रादिमात्रमपि तदनुग्रहार्थमेव अश्नामीति भावः ॥ २६ ॥

अनुवाद—[भक्तोंके अक्षय फल लाभकी बात कही जा चुकी है, अब यहाँ अपनी भक्तिका अनायासत्व दिखलाते हैं]—जो प्रीतिपूर्वक पत्रपुष्पादि-मात्र मुझको

अर्पण करते हैं, मैं उस शुद्धचित्त निष्काम भक्तके भक्तिपूर्वक समर्पित पत्रपुष्पादिको प्रीतिके साथ ग्रहण करता हूँ। मैं महाविभूतिपति परमेश्वर हूँ, क्षुद्र देवताओंके समान बहुधन-साध्य यागादिकोंके द्वारा मुझको सन्तुष्ट करना नहीं होता, परन्तु केवल भक्तिके द्वारा मैं सन्तुष्ट हो जाता हूँ। अतएव भक्तके द्वारा समर्पित यत्किञ्चित् पत्रादिको भी उसके अनुग्रहार्थ मैं ग्रहण करता हूँ॥ २६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—विल्वपत्र फूल फल जल जो कोई गुरुवाक्यमें विश्वास करके मुझको देता है वह मैं समस्त ग्रहण करता हूँ, परन्तु भलीभाँति समाधिस्थ होकर देनेपर। मिथ्याको सत्य ज्ञान जैसे प्लीहा झाड़नेके समय बोलता है—'बोलो नहीं' फिर 'बोलो नहीं' परन्तु जो बोलता है वह मिथ्या जानकर भी सत्य उद्देश्य करके बोलता है उसी प्रकार इस जगत्‌के सारे कर्म (पूजा-अर्चना) मिथ्या जानकर भी सत्य उद्देश्यसे बोलता है और करता है।—फल-फूल जो कुछ दो वह ग्रहण करेंगे ही, परन्तु देना चाहिए शुद्ध चित्तसे। चित्तको शुद्ध करना हो तो चित्तका अवरोध करना पड़ेगा। मनमें अनेक कल्पनाएँ रहनेसे चित्त शुद्ध नहीं होता। कल्पनाशून्य चित्त जब एकाग्र होकर लक्ष्याभिमुख होता है तब उसमें अन्य वासनाकी तरङ्ग नहीं उठती। उस चि का लक्ष्य होता है एकमात्र आत्मा, दूसरी कोई सांसारिक वस्तु नहीं। इसका ही नाम 'निरोध अवस्था' है। मनकी इस निरुद्ध अवस्थामें ध्येय वस्तुके सिवा अन्य कोई प्रत्यय उदित नहीं होता। परन्तु इस अवस्थामें क्या 'पत्रं पुष्पं' देना सम्भव है? नहीं। तब प्रयतात्मा होकर 'पत्रं पुष्पं' अर्पण करनेकी बात क्यों कही गयी, यही बतलाते हैं। निरुद्ध अवस्थामें चित्त आत्ममय होकर आत्मा ही बन जाता है। अतएव वहाँ सब कुछ अपने आप अर्पण हो जाता है। परन्तु समाधिभङ्ग होनेके बाद भी योगीकी स्मृति जाग्रत रहती है, अतएव वह देखते हैं कि समाधि-अवस्थामें एक आत्मा ही था और अब जागृतावस्थामें वही आत्मा ही सब कुछ हो गया है। इस कारण उस आत्मचैतन्यकी प्रसन्नताके लिए योगी फल-फूल-जल-दुग्ध स्वयं ग्रहण करके भी सोचते हैं कि इससे उस आत्मचैतन्यको ही तृप्ति मिल रही है। उसके सिवा दूसरा कौन है जो तृप्तिलाभ करेगा? जो इतने उन्नत नहीं हैं, परन्तु साधुप्रकृतिके लोग हैं, ईश्वरपरायण हैं, प्रतिदिन ध्यान-सन्ध्या पूजा-पाठ करते हैं, भगवान्‌में प्रीति रखते हैं और विश्वास करते हैं कि वह सर्वमय हैं, वे भक्तिपूर्वक अपने प्राणके देवताको जो नैवेद्य आदि अर्पण करते हैं उसको भी वह ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं, प्रभो! यद्यपि तुमको मैं ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर पाता हूँ तथापि तुम्हारी बातोंमें मेरा विश्वास है। तुम कहते हो—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

इसीसे भक्त जब रोकर कहता है—"प्रभो! तुम इस क्षुद्र उपहारको ग्रहण करो" तो उसको वह सुन लेते हैं और ग्रहण भी करते हैं। यही उनका अपने भक्तके प्रति स्नेह और वात्सल्य है। परन्तु देना है केवल इसीलिये जो लोग भगवान्‌की प्रतिमाके सामने द्रव्यादि लाकर इकट्ठा कर देते हैं और मन्त्र पढ़कर अश्रद्धाके साथ नैवेद्य अर्पण

करते हैं तथा यदि पुरोहित मनही मन सोचता है कि आज उसको यथेष्ट लाभ हुआ, और यजमान समझता है कि 'इतना द्रव्य मैं भगवान्‌को देता हूँ, इस स्थानको छोड़कर भगवान् और कहाँ जायँगे, तो दोनों ही भ्रान्तिमें हैं। भगवान् द्रव्य ग्रहण नहीं करते, द्रव्यके साथ जो भक्ति मिली रहती है, अर्पणके मन्त्रके साथ जो प्राण अर्पित होता है जिससे देवता और मन्त्र चैतन्ययुक्त होते हैं, वह भक्ति-प्राण-समन्वित भाव ही उनके लिए ग्राह्य होता है। जो भगवान्‌के सामने खड़े होकर दर्शकोंको ठगते हैं, वे स्वयं जानते हैं कि हम मिथ्या बोलते हैं और जिसको बोलते हैं वह भी जानता है कि भगवान् कुछ ग्रहण नहीं करते, पर एक रीति चली आती है—'ठाकुरका भोग दो पाँच चवन्नी'—इस भावसे देने पर वह उनको ग्राह्य नहीं होता। भगवान्‌के श्रद्धालु भक्त सर्वभूतास्थित भगवान्‌की पूजा करके अपने हृदयको पवित्र करते हैं। इसीकारण वे पीड़ितकी सेवा करके, अभावग्रस्तके अभावको दूर करके, अपने धन-ऐश्वर्य और सामर्थ्यको सफल करते हैं। भक्त जानते हैं कि भगवान्‌के वैभवकी सीमा नहीं है तथापि वे दरिद्रका वेष धरकर लोगोंके द्वारपर हाथ फैलाते हैं, उद्देश्य होता है भक्तके धनको सफल करना और उसके चित्तको पवित्र कर डालना, अन्यथा भगवान्‌को क्या कमी है। जो उनको जानता है वह लोगोंकी दृष्टिमें अत्यन्त अभावग्रस्त होने पर भी वस्तुतः राजा है। इसीसे प्रेमी भक्त गाता है—

विभव कौन ? छाय छाय देय भुवन सिन्धु सारे।
दैन्य कौन ? भीख माँगतु है दीनन दीन द्वारे ॥—२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय !) यत्करोषि (तुम जो कुछ करते हो) यत् अश्नासि (जो खाते हो) यत् जुहोषि (जो होम करते हो) यत् ददासि (जो दान करते हो) यत् तपस्यसि (जो तपस्या करते हो) तत् (वह) मदर्पणं (मुझको अर्पण) कुरुष्व (करो) ॥ २७॥

श्रीधर—न च पत्रपुष्पादिकमपि यज्ञार्थं पशुसोमादिद्रव्यवन्मदर्थमेवोद्यमैरापाद्य समर्पणीयम्। किं तर्हि ?—यदिति। स्वाभवतः शास्त्रतो वा यत् किञ्चित् कर्म करोषि। तथा यदश्नासि, यज्जुहोषि, यद्ददासि, यच्च तपस्यसि तपः करोषि। तत्सर्वं मय्यर्पितं यथा भवत्येवं कुरुष्व ॥ २७॥

अनुवाद—[पत्रपुष्पादि भी यज्ञार्थं पशुसोमादि द्रव्योंके समान मेरे निमित्त उद्यमके साथ संग्रह करके समर्पण करनेकी आवश्यकता नहीं है, तब फिर क्या करना पड़ेगा, एतदर्थं कहते हैं]—स्वभावतः या शास्त्रके अनुसार जो कुछ कर्म तुम करो, जो कुछ भक्षण करो, जो कुछ होम करो, जो कुछ दान करो और जो कुछ तप करो, वह इस प्रकार करो कि सबके सब मुझको समर्पित हो सकें ॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कुछ भोजन करते हो, जो देते हो तथा जो क्रिया करते हो सब मुझमें अर्पण करो अर्थात् ब्रह्म ही करते हैं ब्रह्मका कर्म—मैं नहीं करता—इसका ही नाम अर्पण है—वह ब्रह्म मैं हूँ यह सर्वदा न जानकर अर्थात् अपने आप ऐसा ज्ञान हुए बिना क्रिया करते रहनेसे, इस प्रकार अर्पण नहीं होता—कौन किसको अर्पण करता है—ब्रह्म ब्रह्ममें अर्पण करते हैं। अर्थात् स्वरूपस्थिति।—श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ (स्कन्ध ११)

काय, मन, वाक्य, इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा द्वारा या स्वभाववश जो कर्म किया जाय वह सब परम पुरुष नारायणको समर्पण करे। केवल पूजा-अर्चना ही नहीं, लौकिक कर्म आहार-विहारादि भी नारायणमें समर्पण करके करना चाहिए। सकामी पुरुष कर्मफलकी आशाका त्याग करके कर्म करनेमें उत्साह नहीं पाता। निष्कामी अर्थात् भगवदर्पितचित्तकी विशेषता यही है कि वह कर्मफलकी आशाका त्याग करके भी कर्म कर सकता है। इस प्रकारसे कर्म करनेमें भी उसके उद्यम या उत्साहकी कमी नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि भगवानका ही सब कुछ है और सब कुछ भगवान हैं। भगवान् ही यह सब हैं, यह दृष्टि स्फुटित होनी चाहिए। अन्यथा, केवल मुखसे 'अर्पण किया' कहनेसे अर्पण नहीं होता। इस शरीरके भीतर जो नारायण हैं उनका अनुभव करना चाहिए और वही मेरे सर्वस्व हैं, यह बोध होना चाहिए। एकमात्र वही चराचर जगत्में व्याप्त हैं, यह देखनेके लिए आँख और समझनेके लिए प्रज्ञा होनी चाहिए। हमारे भीतर वही पुरुषोत्तम नारायण रहते हैं यह ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो अपने आपको मनुष्य उनसे पृथक् बोध नहीं करता।

कर्तृत्वका अभिमान जब नहीं रहता तब उनको सर्वस्व अर्पण करनेके सिवा कोई चारा नहीं रह जाता। सबके भीतर 'मैं' रहता है, यह 'मैं' भी उसी एक अखण्ड अनन्त 'मैं' के अन्तर्गत है, ऐसी धारणा हुए बिना कोई यथार्थ निष्कामी नहीं हो सकता। एक अनादि 'अहं' ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है, इसको समझनेमें प्रधान बाधा है अपना काम-सङ्कल्प। यही है जीवका अज्ञान या हृद्रोग। काम-सङ्कल्प पूर्णतः निवृत्त हो जाने पर जीव यह समझ पाता है कि वह स्वयं अमृत-स्वरूप है। कठोपनिषद्में लिखा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अन्तःकरणमें अवस्थित सारी कामनाएँ जब विनष्ट हो जाती हैं, तब मनुष्य जन्म-मृत्युके परे हो जाता है और परलोकमें न जाकर यहाँ ही ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ कठ० उप०।

जब इस जीवनमें ही हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब मरणधर्मशील जीव अमृतत्वको प्राप्त करता है, यहाँ तक ही अनुशासन है। आत्मदर्शनके बाद और किसी उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती।

इस अवस्थामें देहाभिमानयुक्त 'मैं' नहीं रहता, अतएव सारे कर्म ब्रह्मकर्म जान पड़ते हैं। इससे ही अभिमानात्मक 'मैं' के साथ सारे कर्मोंका संसर्ग मिट जाता है। वह 'मैं' तब उस परम 'मैं' के साथ मिलकर एक हो जाता है। तब द्वितीय वस्तु या दृश्यके अभावमें 'मैं' का और कोई कार्य नहीं रह जाता। क्रिया करते-करते इस प्रकारका ज्ञान होने पर ही वास्तविक अर्पण होता है। तब केवल एक 'मैं' रह जाता है, अतः उस समय यदि कुछ अर्पण होता है तो वह 'मैं' को ही अर्पण करता है। यही ब्रह्मार्पण या स्वरूपस्थिति है॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) शुभाशुभफलैः (शुभाशुभ फलरूप) कर्मबन्धनैः (कर्मबन्धनोंसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे), विमुक्तः (कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर) संन्यासयोगयुक्तात्मा (मुझमें कर्म समर्पणरूप योगसे युक्त होकर) मां (मुझको) उपैष्यसि (प्राप्त करोगे) ॥२८॥

श्रीधर—एवं च यत् फलं प्राप्स्यसि तच्छृणु—शुभाशुभेति। एवं कुर्वन् कर्मबन्धनैः कर्मनिमित्तैरिष्टानिष्टफलैर्मुक्तो भविष्यसि। कर्मणां मयि समर्पितत्वेन तव तत्फलसम्बन्धानुपपत्तेः। तैश्च विमुक्तः सन्। संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः कर्मणां मदर्पणं स एव योगः तेन युक्त आत्मा चित्तं यस्य। तथाभूतस्त्वं मां प्राप्स्यसि ॥२८॥

अनुवाद—[ऐसा करने पर जो फल प्राप्त होगा, वह सुनो]—इस प्रकार मुझमें कर्म समर्पण करने पर कर्मनिमित्त इष्टानिष्ट फलसे तुम मुक्त हो जाओगे। कर्म मुझमें समर्पित होने पर तुम्हारा फल-सम्बन्ध कैसे रहेगा? कर्मफलसे मुक्त होकर मुझमें कर्मार्पणरूप योगसे युक्तचित्त तुम मुझको ही प्राप्त करोगे ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार करनेसे शुभ और अशुभ फलसे मुक्त हो जाता है—अर्थात् फलाकांक्षाके साथ कर्म करके बन्धनको प्राप्त नहीं होता—किसी वस्तुमें दृष्टि जाने पर उसमें इच्छा न करना समाधिस्थ होकर—अटका रहकर—विशेषरूपसे मुक्त होकर अर्थात् स्थिर होकर मेरी उपासना करता है अर्थात् मस्तकके ऊपर रहता है।—जो लोग त्याग-कौशल जानते हैं, उनको मालूम है कि क्रियाकी परावस्थामें किस प्रकार अपना 'मैं-भाव' गिर जाता है। मानो उस महान् 'मैं' में यह छोटा 'मैं' कूदकर अपने आपको विलीन कर देता है। अतएव 'अहं-मम' बुद्धि नहीं रह जाती। पहले देहाभिमान-युक्त 'मैं' देहेन्द्रियादिके साथ मिलकर कर्म भी करता था और कर्मफल भी भोगता था। अब वह 'मैं' जब महान् 'मैं' के भीतर डूब गया, तब देहके साथ संयोग न रहनेके कारण उसको देहादिके साथ फिर फलभोग नहीं करना पड़ता। यही

संन्यास है—सं = सम्यक्, न्यास अर्थात् त्याग। इस त्यागके द्वारा परम 'मैं' के साथ इस 'मैं' की योगयुक्त अवस्था होती है। जिसको इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होती है उसको देहाभिमान नहीं रहता। यह देहाभिमानका पाश ही तो हमको आबद्ध किये रखता है। देहाभिमान न रहने पर ही 'विमुक्ति' अर्थात् विशेष भावसे मुक्ति होती है। देहमें अहंज्ञान जबतक है तबतक फलभोग करना पड़ता है। क्रियाकी परावस्थामें सर्वकर्म समर्पित हो जाने पर साधक 'मैं' हो जाता है। देहाभिमानके अभावमें साधकके सब काम करते रहने पर भी कुछ कर्तृत्व नहीं होता। क्रियाकी परावस्थामें जब अन्य किसी वस्तुमें दृष्टि नहीं रहती, तब साधकको सामयिक मुक्ति प्राप्त होती है, परन्तु जब मस्तिष्कके ऊपर श्वास चढ़कर दीर्घकाल तक अटका रहता है तब वह विशेष रूपसे मुक्त होता है। यह स्थिर भाव जिसका कदापि विचलित नहीं होता, वह सारी इन्द्रियोंके द्वारा विषयका स्पर्श प्राप्त करे भी तो उसके मनमें किसी वैषयिक सङ्कल्पका उदय नहीं होता। उस समय इन्द्रियोंके द्वारा किया हुआ कोई भी शुभाशुभ कर्म उसको उस चिरस्थिर अटल आसनसे कदापि नीचे नहीं उतार सकता ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अन्वय—अहं (मैं) सर्वभूतेषु (सब जीवोंमें) समः (समान हूँ) मे (मेरा) द्वेष्यः न (द्वेष्य नहीं है) न च प्रियः अस्ति (और प्रिय भी नहीं है), तु (किन्तु) ये (जो लोग) मां (मुझको) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) भजन्ति (भजन करते हैं) मयि ते (मुझमें वे रहते हैं) तेषु च (उनमें) अहं अपि (मैं भी रहता हूँ) ॥ २९ ॥

श्रीधर—यदि भक्तेभ्य एव मोक्षं ददासि नाभक्तेभ्यस्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वैषम्यमस्ति ? नेत्याह—समोऽहमिति। समोऽहं सर्वेष्वपि भूतेषु। अतो मे मम प्रियश्च द्वेष्यश्च नास्त्येव। एवं सत्यपि ये मां भजन्ति ते भक्ता मयि वर्त्तन्ते। अहमपि तेष्वनुग्राहकतया वर्त्ते। अयं भावः—यथाऽग्ने स्वसेवकस्येव तमःशीतादिदुःखमपाकुर्वतोऽपि न वैषम्यं। यथा वा कल्पवृक्षस्य। तथैव भक्तपक्षपातिनोऽपि मम वैषम्यं नास्त्येव। किन्तु मद्भक्तेरेवायं महिमेति ॥ २९ ॥

अनुवाद—[यदि भक्तगणको ही मोक्ष देते हो, अभक्तगणको नहीं देते, तो क्या तुममें भी रागद्वेषकृत वैषम्य है, इसके उत्तरमें कहते हैं]—मैं सब भूतोंमें समान हूँ, अतएव मेरा प्रिय या द्वेष्य नहीं है। ऐसा होने पर भी जो मुझको भजते हैं वे भक्तिके कारण मुझमें रहते हैं और मैं भी अनुग्राहक रूपमें उनके भीतर रहता हूँ। इसका भाव यह है कि अग्नि-सेवकके तमः शीत आदि दुःखोंको दूर करने पर भी जिस प्रकार अग्निमें वैषम्य नहीं आता, अथवा अपने सेवकके सम्बन्धमें कल्पवृक्षमें जैसे वैषम्य नहीं आता, उसी प्रकार भक्त-पक्षपाती मुझमें भी वैषम्य नहीं है। मेरी भक्तिकी महिमा ही ऐसी है। [कल्पवृक्ष किसीको बुलाता नहीं, परन्तु जो कल्पवृक्षकी सेवा करता है उसको वह फल प्रदान करके तृप्त कर देता है। अग्नि निकटस्थ व्यक्तिका शीत दूर करती है, दूरस्थ व्यक्तिका नहीं। जैसे यह कल्पवृक्ष और अग्निकी महिमा

है, उसी प्रकार यद्यपि मेरा द्वेष्य-प्रिय कोई नहीं है, तथापि जो भक्तिद्वारा मेरी सेवा करता है अर्थात् समीपस्थ होता है, वह मेरे सन्निकट आत्मस्थित होनेके कारण मुझमें स्थित परम शान्तिको प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब भूतोंमें मैं समान रूपसे विराजमान हूँ—जैसे मालामें समान रूपसे सूत्र गुथा रहता है—न मैं किसीकी हिंसा करता हूँ, न किसीको प्यार करता हूँ—जो भक्तिपूर्वक मुझको भजता है अर्थात् क्रिया करता है—उसको मैं भी भजता हूँ—अर्थात् उसके भीतर रहकर मैं भी क्रिया करता हूँ।—भक्तपर भगवान् दया करते हैं, अभक्तका विनाश करते हैं, तब तो भक्ति और अभक्तिके फलोंका विषम तारतम्य होता है। परन्तु तुम जो कहते हो कि तुम सब भूतोंमें समान हो, तुम्हारा द्वेष्य या प्रिय कोई नहीं है, यह कैसे संभव हो सकता है? वस्तुतः भगवान् सबके लिए समान हैं, भगवान्के अच्छे लगने या न लगनेका कारण जीवोंके अपने-अपने कर्मोंकी प्रतिक्रिया ही है। शान्त और दुष्ट सब प्रकारके जीवोंके हृदयमें भगवान् विराजमान हैं, इसमें कोई वैषम्य नहीं है, परन्तु जीवकी प्रकृतिके तारतम्यके वश भगवान्का शान्त शुद्ध आनन्दमय भाव या भीषणसे भी भीषण भाव प्रकाशित होता है। इससे भगवान्का वैषम्य प्रमाणित नहीं होता। स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ और निर्मल होनेपर भी रक्त कुसुमके सन्निधानसे जैसे रक्ताभ दीख पड़ता है, वस्तुतः स्फटिक रक्तवर्ण नहीं होता, उसी प्रकार जो जीव उनके साथ जिस प्रकारका सम्बन्ध रखेगा, वह भी उसके सामने तद्रूप ही सम्बन्ध या भाव लेकर प्रकाशित होंगे। जो उनके साथ प्रेमका सम्बन्ध रखेगा, उसके सामने वह भक्तपक्षपाती परम प्रेमिकके रूपमें प्रकाशित होंगे, जो उनको द्वेषभावसे देखेगा, उस द्वेष्टाकी आँखोंमें उनका दुष्टविमर्दन भीषण भाव ही प्रकटित होगा।

मेघ वारिवर्षण करके अमृतवृक्ष और विषवृक्ष दोनोंको ही समभावसे पोषण करता है, इसमें मेघका पक्षपात नहीं है, क्षेत्रके और बीजके उत्कर्षापकर्ष पर यह सब निर्भर करता है। यदि कहो कि क्षेत्र और बीजके स्रष्टा भी तो वही हैं, उन्होंने सृष्टिकालमें इस प्रकारके विषम गुणयुक्त पदार्थोंकी सृष्टि क्यों की?—यह नानात्व या भेद उनकी गुणमयी प्रकृतिके खेल हैं, उनकी प्रकृति जब उनके भीतर विलीन रहती है तो प्रकृतिकी उस साम्यावस्थामें किसी गुणका स्फुरण नहीं होता, परन्तु प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें जब प्रकृतिमध्यस्थ गुणमयी शक्ति नृत्य करते-करते बहिर्मुखी होकर फूट पड़ती है तो उसके भीतर विचित्र गुण और तज्जनित विचित्र कर्म, सागरमें तरङ्गके समान स्फुरित होते हैं। यह शक्ति उनकी स्वशक्ति है और शक्तिके इस खेलके दर्शक भी स्वयं वही हैं। जब द्रष्टा जीव स्वरूप-विस्मृत होकर शक्तिके खेलको 'मैं ही खेलता हूँ' ऐसा अभिमान करता है, तभी उसका कर्म उत्पन्न होता है और तज्जनित जन्म-मृत्युके विभिन्न भोगोंमें उसको सन्त्रस्त होना पड़ता है। जब जीव नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगकर फिर आत्मस्थ होनेके लिए साधना आरम्भ करता है, तब धीरे-धीरे फिर उसकी पूर्वावस्था लौट आती है। तब भगवान्की मायाशक्ति स्वभावतः ही सङ्कुचित हो जाती है, नानात्वका ह्रास हो जाता है। तब जीवके विचित्र और विविध व्यापाररूप स्वप्न-दर्शनका

अवसान हो जाता है, तब जीव जग उठता है। यह जाग्रत भाव ही जीवका स्व-स्वरूपमें अवस्थान है। तब फिर भगवत्-शक्ति या प्रकृति भगवत्-स्वरूपके साथ मिलकर एक हो जाती है। यह जीवका स्वप्नदर्शन तो है परन्तु यह स्वप्नदर्शन सहज ही नहीं मिटता, इसके लिए भजनकी आवश्यकता है। जो आत्मा चिर स्थिर निर्मल और अविनाशी है, चञ्चल होने पर उसको भी जन्म-मृत्युका अभिनय करना पड़ता है तथा तज्जनित विविध दशा और सन्ताप भी भोग करना पड़ता है। आत्माका यह चाञ्चल्य-भाव ही मानो उसके चिरस्थिर कूटस्थ-भावको आच्छादित कर रखता है। यही है आत्माका प्रकृति-भाव प्राप्त होना या गुण-युक्त होना। प्रकृतिके इस सचञ्चल नृत्यमय भावको जबतक स्थिर नहीं किया जाता, तबतक आत्माका कोई भी सन्धान नहीं मिलता। प्रकृति जब अपने नृत्यको रोककर स्थिर होती है तो वह आत्मामें लीन हो जाती है, तब वह फिर पृथक् भावमें नहीं दीख पड़ती। यह स्थिर भाव जबतक नहीं होगा, तबतक जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखका अभिनय पुनः पुनः होता ही रहेगा। आत्मा प्रकृति-भावको प्राप्त होकर प्राणत्व-भावको प्राप्त होता है, यही जीवभाव है। इस जीवभावसे जो मुक्त होना चाहता है उसे सबसे पहले प्राणको स्थिर करना पड़ेगा। आत्मचैतन्य प्रकृति-भावको प्राप्त होकर जिस प्राणरूपमें प्रकाशित हो रहा है, वह प्राण ही साधनाका प्रधान अवलम्बन है। इसका आश्रय लिये विना कदापि आत्मस्वरूपके समीप पहुँचना संभव नहीं है। प्राण ही वस्तुतः सूत्रात्मा है। सूत्र जैसे मालाके भीतर अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार आत्मा प्राणरूपमें भूतसमूहमें व्याप्त हो रहा है और सब जीवोंको चैतन्य सम्पादन करता है। जो कोई इस प्राणकी उपासना करता है, उसका प्राण स्थिर हो जाता है और उस स्थिर प्राणमें आत्मचैतन्यके स्वरूपकी उपलब्धि होती है। यह आत्मचैतन्य सर्वत्र समभावमें विराजमान है, जो भक्तिके साथ भजन या क्रिया करता है उसके सामने वह अपने सच्चिदानन्दमय नित्य चैतन्य-भावको प्रकाशित करता है। आत्मा स्नेहवश या द्वेषवश किसीके सामने अपने स्वरूपको प्रकट करता हो या गोप्य रखता हो, ऐसी बात नहीं है। चाञ्चल्य और स्थिरत्व उसमें स्वतःसिद्धभावसे विद्यमान हैं। जो साधनशक्तिके बलसे प्राणको स्थिर करते हैं उनको उस स्थिर प्राणमें ब्रह्मका सच्चिदानन्दमय नित्य चिन्मय भाव उपलब्ध होता है। जो साधना नहीं करता उसके सामने इस भावका प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। चञ्चल प्राणके भीतर स्वतः ही इस भावका स्फुरण नहीं हो सकता, इसके लिए प्राणको स्थिर करना आवश्यक है। प्राणके स्थिर होने पर आत्माके सच्चिदानन्द-भावका स्वतः प्रकाश आवरणहीन हो जाता है। जो भगवान्के भक्त हैं, वे इसे जानते हैं और जाननेके कारण ही भजनसे कभी निवृत्त नहीं होते। आत्मचैतन्य ही प्राण-रूपमें वर्तमान रहता है, अभक्त लोग इसका विश्वास नहीं कर सकते, इसी कारण वे प्राणकी उपासना न कर केवल विषय-भोगके लिए आकुल रहते हैं, इसके फलस्वरूप विविध दुःखोंकी ज्वालामें जलकर खाक होते रहते हैं और शान्तिका मुख कभी नहीं देख पाते ॥२६॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

अन्वय—सुदुराचारः अपि (अत्यन्त दुराचारी भी) चेत् (यदि) मां (मुझको) अनन्यभाक् (अनन्यचित्त अर्थात् एकाग्र होकर) भजते (भजन करता है) सः (वह आदमी) साधुः एव (साधु ही) मन्तव्यः (समझा जाना चाहिए) हि (क्योंकि) सः (वह) सम्यक् व्यवसितः (साधुनिश्चय-सम्पन्न है अर्थात् वह जो कुछ निश्चय करता है वह निश्चय भी मंगलमय होता है) ॥३०॥

श्रीधर—अपि च मद्भक्तेरवितर्क्यः प्रभाव इति दर्शयन्नाह—अपि चेदिति। अत्यन्तं दुराचारोऽपि नरो यद्यप्यपृथक्त्वेन पृथग्देवता अपि वासुदेव एवेति बुद्ध्या देवतान्तरभक्तिमकुर्वन् मामेव परमेश्वरं भजते तर्हि साधुः श्रेष्ठ एव स मन्तव्यः। यतोऽसौ सम्यग् व्यवसितः परमेश्वरभजनेनैव कृतार्थो भविष्यामीति शोभनमध्यवसायं कृतवान् ॥३०॥

अनुवाद—[अपनी भक्तिका अवितर्क्य प्रभाव दिखलाते हुए कहते हैं]—अत्यन्त दुराचारी आदमी भी यदि (स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी) पृथक् देवताको देवतान्तररूपमें भक्ति न करके, वह भी वासुदेव ही हैं, इस बुद्धिसे परमेश्वर-स्वरूप मुझको भजता है, तो उसे साधुश्रेष्ठ समझना चाहिए। क्योंकि उसने "परमेश्वरके भजनके द्वारा कृतार्थ हो जाऊँगा" यह शोभन अध्यवसाय किया है [अनन्यभागनन्यभक्तिः—शङ्कर] ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनन्त ब्रह्ममें न रहकर—दुष्ट आचार जो करता है—वह यदि स्यात् अनन्यचित्त होकर आत्मामें रहता है—उसको साधु ही समझना ठीक है, सम्यक्रूपसे व्यवसित अर्थात् फलाकाङ्क्षाके साथ कर्म करने पर भी।—अत्यन्त पापासक्त आदमीको भी अभय देकर भगवान् कहते हैं—हे जीव, तुमने अबतक बहुत गर्हित कर्म किये हैं, इस समय क्या तुमको अपने कृत कर्मोंके लिए पश्चात्ताप हो रहा है? तुम्हारे लिए कोई उपाय नहीं है, तुम्हारी रक्षा करनेवाला और कोई नहीं है, इस बार क्या तुम मेरे शरणापन्न हो सकोगे? यदि मेरे शरणापन्न और अनन्य भजनशील हो सको तो तुमको फिर कोई भय नहीं रहेगा। इससे जान पड़ता है कि भजनशील होना आवश्यक है, क्योंकि जो भजनशील होता है वही अभय प्राप्त करता है। अतएव भगवद्भजन ही परित्राण पानेका एकमात्र उपाय है।

वस्तुतः जिसका चित्त आत्मामें रमण नहीं करता, वह दुष्ट कर्म करेगा ही। परन्तु इस प्रकारके दुष्टबुद्धि जीवका कभी उद्धार न होगा, ऐसी बात नहीं है। कोई चाहे कैसा ही कुकर्मी क्यों न हो, एक न एक दिन उसको जगना ही पड़ेगा, सत्य-पथ ग्रहण करके चलनाही पड़ेगा, यही ईश्वरीय नियम है। यदि कहो कि अत्यन्त कुकर्मी उनका भजन करेगा कैसे? क्या वह इच्छा होने पर भी सहज ही भगवान्में मन लगा सकेगा? अनन्यभक्तिका होना तो दूरकी बात है, उसके लिए साधारण रूपसे

भी भजन करना दुरूह है। ठीक है, पहले पहल ऐसा वह न कर सकेगा और यह भी ठीक है कि वह अनन्य भजनशील न हो सकेगा तथापि यदि किसी प्रकार उसका मन भगवान्की ओर जाय तो वह एकदम निराश्रय न रहेगा। जैसे, मानलो कोई दुराचारी कुकर्म करके कुत्सित रोगसे ग्रस्त है। वैसी अवस्थामें उसके लिए एक सद्वैद्यका आश्रय लेनेके सिवा दूसरा उपाय क्या है? उसके शरीरके भीतरके निदारुण रोगकी यातना ही उसको चिकित्सकके द्वारपर पहुँचा देगी। मनुष्य जब अपने किये हुए पापोंकी ज्वालासे दग्ध होने लगता है. तब जो निराश्रयोंके आश्रय हैं, जो भगवान् हैं, जो जीवोंके आत्मा हैं, उस आत्माकी शरण ग्रहण करनेमें क्या वह उपेक्षा कर सकेगा? जो उसकी शरण लेता है, शरणागतवत्सल कभी उसके आवेदनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। परन्तु वास्तविक शरणागत होना पड़ेगा, मन लगाकर क्रिया करते-करते मनको निश्चल करना पड़ेगा। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि कुकर्ममें रत पुरुष उनका शरण लेते ही उनके वैकुण्ठका पार्षद बन जायगा। परन्तु उसका मन जो अबतक उलटे रास्ते पर जा रहा था, वह उस उलटे रास्तेसे हट जायगा। उसके चित्तकी गति बदल जायगी। इस प्रकार सुमार्ग ग्रहण कर जो चलना आरम्भ करता है, उसके मनकी धीरे धीरे उन्नति होती है और आगे चलकर उसका चित्त अनन्यभावसे आत्मामें रमण करता है। इसलिए दुराचारी आदमी भी जब आत्मनिष्ठ होकर भजन आरम्भ कर देता है और भजनसे आनन्द प्राप्त करता है तब उसकी गणना साधुओंमें होनी चाहिए। क्योंकि वह आत्मनिष्ठ क्रियावान् व्यक्ति शीघ्र ही दुष्कृतिसे मुक्त हो जायगा और फिर कुकर्ममें उसकी आसक्ति या प्रवृत्ति न रहेगी। कर्म तभी अशुभ कर्म होता है जब वह जीवको जन्म-मृत्युके पाशमें आबद्ध करता है। इस जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकते रहना ही पापका फल है। शुभाशुभ वासनाके द्वारा ही जीव इस कर्मचक्रमें जड़ित हो जाता है। भगवानसे उदासीन होकर रहनेकी अपेक्षा सकाम भावसे भी उनका भजन करना अच्छा है, परन्तु जबतक सकाम भाव रहता है तबतक आत्माभिमुख लक्ष्य नहीं होता, तबतक यथार्थ रूपसे अग्रसर भी नहीं हो सकता। परन्तु जो आत्मनिष्ठ व्यक्ति प्रतिदिन नियमित रूपसे क्रिया करता है, वह यदि पूर्व प्रकृतिसे अवश होकर बीच बीचमें कुकर्म भी कर बैठे तब भी उसको कोई भय नहीं, वह शीघ्र ही अशुभ संसर्ग त्याग करनेमें समर्थ होगा। इसका कारण यह है कि जो व्याकुल प्राणसे प्रतिदिन नियमितरूपसे साधन करता है उसे भजनानन्दका रस मिलेगा ही। भजनानन्दका रस पाने पर विषयानन्द विरस जान पड़ेगा। प्राचीन इतिहासमें भी देखा जाता है कि रत्नाकर दुराचारी होते हुए भी साधुसङ्गकी महिमासे जब अपनी वास्तविक दुरावस्थासे अवगत हुआ तब वह साधुके शरणापन्न होकर भजनमें चित्तको लगानेकी चेष्टा करने लगा। क्रमिक चेष्टा और बहुत दिनोंके परिश्रमसे उसका चित्त शान्त हो गया और फिर उसकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति बन्द हो गयी। उसका मन निश्चल होकर आत्मामें बैठ गया। इस प्रकार डाकू रत्नाकर महामुनि बाल्मीकि बन गये। अनन्यभजनका यही फल है।

अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

अत्यन्त पापासक्त व्यक्ति भी यदि अनन्यचित्तसे निमेषमात्र भी भगवान्‌का ध्यान या चिन्तन करता है तो वह तपस्वी हो जाता है और वह आदमी जिस पंक्ति या लोगोंकी मण्डलीमें रहता है उसे पवित्र कर देता है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

अन्वय—[सः—वह] क्षिप्रं (शीघ्र) धर्मात्मा भवति (धर्मात्मा बनता है) शश्वत् (सर्वदा) शान्तिं निगच्छति (शान्तिको प्राप्त करता है) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मे भक्तः (मेरा भक्त) न प्रणश्यति (प्रनष्ट नहीं होता) [यह] प्रतिजानीहि (तुम सबके सामने घोषणा कर सकते हो) ॥ ३१ ॥

श्रीधर—ननु कथं समीचीनाध्यवसायमात्रेण साधुर्मन्तव्यः ? तत्राह—क्षिप्रमिति । सुदुराचारोऽपि मां भजन्क्षिप्रं धर्मचित्तो भवति । ततश्च शश्वच्छान्तिं शाश्वतीमुपशान्तिं चित्तोपप्लवोपरमरूपां परमेश्वरनिष्ठां नितरां गच्छति प्राप्नोति । कुतर्ककर्कशवादिनो नैतन्मन्येरन्निति शङ्काकुलचित्तमर्जुनं प्रोत्साहयति—हे कौन्तेय, पटहादि (काहलादि) महाघोषपूर्वकं विवदमानानां सभां गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु । कथं ? मे परमेश्वरस्य भक्तः सुदुराचारोऽपि न प्रणश्यति । अपि तु कृतार्थ एव भवतीति । ततश्च ते त्वत्प्रौढिविजृम्भविध्वंसितकुतर्काः सन्तो निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—[समीचीन अध्यवसाय करने पर कैसे उनको साधु मान सकते हैं, इसका उत्तर देते हैं]—अति दुराचारी भी मेरा भजन करने पर शीघ्र ही धर्मचित्त होता है । उसके बाद शाश्वती उपशान्ति अर्थात् चित्तके उपप्लव (तरङ्ग)के उपरामरूप एकान्त परमेश्वरनिष्ठा प्राप्त होती है । 'कुतर्ककर्कशवादी इसे न मानेंगे', इस प्रकारके शङ्काकुल अर्जुनको प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं—हे कौन्तेय, तुम विवदमान सभामें जाकर नगाड़ा बजाकर महाघोषपूर्वक बाहु ऊपर उठाकर निर्भय होकर प्रतिज्ञा कर सकते हो कि मेरा भक्त सुदुराचार होने पर भी प्रनष्ट नहीं होता बल्कि कृतार्थ हो जाता है । इससे तुम्हारे (प्रौढ़ि विजृम्भ द्वारा) उत्साहवाक्यसे उनका कुतर्क विध्वंसित हो जाने पर निःसन्देह वे तुमको ही गुरुरूपमें वरण करेंगे ॥ ३१ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शीघ्र वह धर्मात्मा हो जायगा अर्थात् क्रिया करेगा—तथा क्रियाकी परावस्थामें रहकर शान्तिपदको पावेगा । मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जो कोई गुरुवाक्यमें विश्वास करेगा और सर्वदा अच्छी तरहसे क्रिया करेगा उसका कभी विनाश न होगा ।—पूर्वश्लोकमें कह चुके हैं कि दुराचारी भी यदि भगवान्‌का भजन करता है तो वह साधु गिना जाता है, क्योंकि उसने उत्तम मार्ग ग्रहण किया है; परन्तु साधुमार्गका अवलम्बन करके भी वह धर्मात्मा हो सकेगा, यह समझमें नहीं आता । क्योंकि पाप-प्रवृत्तिके संस्कार भी खूब प्रबल होते हैं । उसके

इच्छा न करने पर भी पूर्व संस्कार उसको पाप कार्यमें प्रेरणा देंगे ही, वह अवश होकर अन्याय करेगा और अशुभ चिन्ता करेगा। इसीसे भगवान् उत्साहित करके कहते हैं कि पूर्वाभ्यस्त दुष्कर्म उसको फिर विनाशके मार्गमें न ले जा सकेंगे, वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा अर्थात् क्रिया करके धर्मशील बन जायगा। धर्म है क्या ? "धारणात् धर्ममित्याहुः"—प्राणके अविरत चाञ्चल्यमें मन सतत उत्क्षिप्त हो रहा है, चञ्चल मनके लिए अकरणीय कुछ भी नहीं रहता, वह चञ्चल मन क्रियाभ्यासके द्वारा स्थिर होगा या अटक जायगा—यह योगधारणा ही धर्म है और मनका चाञ्चल्य-विक्षेप ही अधर्म है। यह योगधारणारूप स्थिरावस्था ही वास्तविक धार्मिककी अवस्था है। यह अवस्था जिसकी होती है वह अनन्यभाक् होकर शाश्वत शान्तिपद प्राप्त करता है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि यह बात प्रतिज्ञापूर्वक कही जा सकती है कि 'जो कोई गुरु-वाक्यमें विश्वास करके भक्तिपूर्वक क्रिया करेगा, वह विनाशको प्राप्त न होगा।' देहमें आत्मबोध ही यथार्थ मृत्यु है। जो उत्तम क्रियावान् है वह क्रिया करके क्रियाकी परावस्था निश्चय प्राप्त करेगा। यह अवस्था प्राप्त होनेपर फिर देहात्मबोध नहीं रहता, अतएव उसके जन्म-मरणका खेल भी बन्द हो जाता है॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ !) ये (जो लोग) पापयोनयः (पापयोनिमें उत्पन्न) स्युः (होते हैं) स्त्रियः (स्त्रियाँ) वैश्याः (वैश्य लोग) तथा शूद्राः (और शूद्र लोग) मां (मुझको) व्यपाश्रित्य (आश्रय करके) ते अपि (वे भी) हि (निश्चय ही) परां गतिं (परम गतिको) यान्ति (प्राप्त करते हैं)॥ ३२॥

श्रीधर—स्वाचारभ्रष्टं मद्भक्तः पवित्रीकरोतीति किमत्र चित्रम्? यतो मद्भक्तिर्दुष्कुलानप्यनधिकारिणोऽपि संसारान्मोचयतीत्याह—मां हीति। येऽपि पापयोनयः स्युर्निकृष्टजन्मानोऽन्त्यजादयो भवेयुः। येऽपि वैश्याः केवलं कृष्यादिनिरताः। स्त्रियः शूद्रादयश्चाध्ययनादिरहिताः। तेऽपि मां व्यपाश्रित्य संसेव्य परां गतिं यान्ति। हि निश्चितम्॥ ३२॥

अनुवाद—[मेरी भक्ति आचारभ्रष्ट आदमीको पवित्र करती है, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि मेरी भक्ति दुष्कुलमें उत्पन्न और अनधिकारी पुरुषको भी संसारसे मुक्त करती है, इस विषयमें कहते हैं]—जो निकृष्ट जन्मवाले अन्त्यज आदि हैं, जो केवल कृष्यादिमें रत रहनेवाले वैश्य हैं तथा अध्ययनादि-रहित स्त्री-शूद्र आदि हैं, वे भी मेरी सेवा करके निश्चय ही परम गतिको प्राप्त होते हैं॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्माको आश्रय करके—कोई भी पापयोनि हो—स्त्री-वैश्य-शूद्र—वे भी परम गतिको प्राप्त होते हैं—अर्थात् क्रियाकी परस्थिति होता है।—जो साधक आत्मस्थ होनेका प्रयत्न करता है, वह चाहे जिस योनिमें उत्पन्न हुआ हो, मुक्ति प्राप्त करता है। क्रिया-साधनमें सभीको अधिकार है, क्रिया करने पर ही क्रियाकी परस्थिति जो शान्तिपद है वह सबको प्राप्त हो

सकती है। इसमें अन्त्यज जाति, स्त्री, शूद्र, वैश्य भेदसे कोई तारतम्य नहीं होता। जो कोई आत्माका आश्रय लेकर गुरुके उपदेशके अनुसार साधन करता जायगा, वह निश्चय ही परम पदको प्राप्त होगा। अनुगीतामें लिखा है कि "स्वधर्म-निरत ब्राह्मण और क्षत्रियकी बात तो दूर रहे, पापनिरत स्त्री, वैश्य और शूद्र भी इस आत्मदर्शनरूपी धर्मका आश्रयकर अनायास ही परमगति प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। छः मास योग-साधन करनेसे ही योगफल प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।" चाञ्चल्य ही मनका मल है। इस मलके दूर हुए बिना मन शुद्ध नहीं होता, चित्तके निश्चल होने पर ही परमपद-साक्षात्काररूप विमल ज्ञान समुदित होता है और साधक कृतार्थ हो जाता है। प्राणायामके द्वारा इस मलकी विशुद्धि होती है, पश्चात् शुद्धहृदय साधक जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्तकर परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं अर्थात् परब्रह्मके साथ अभिन्नभावसे अवस्थान करते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

अन्वय—पुण्याः (पवित्र) भक्ताः (भक्त लोग) ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः (ब्राह्मण और राजर्षिगण) [परम गतिको प्राप्त करेंगे] किं पुनः (इसमें फिर कहना ही क्या है ?) [अतएव] इमं (इस) अनित्यं (अनित्य) असुखं (सुख-वर्जित) लोकं (मनुष्य-लोकको) प्राप्य (पाकर) मां (मुझको) भजस्व (भजन करो) ॥ ३३ ॥

श्रीधर—यदेवं तदा सत्कुलाः सदाचाराश्च मद्भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं वक्तव्य-मित्याह—किमिति। पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणाः। तथा राजानश्च ते ऋषयश्च क्षत्रियाः। एवंभूताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः। अतस्त्वमिमं राजर्षिरूपं लोकं देहं प्राप्य लब्ध्वा मां भजस्व; किञ्चानित्यमध्रुवमसुखं सुखरहितमिमं मर्त्यलोकं प्राप्यानित्यत्वाद्विलम्बम-कुर्वन् असुखत्वाच्च सुखार्थमुद्यमं हित्वा मामेव भजस्वेत्यर्थः ॥३३॥

अनुवाद—[यदि ऐसी बात है तो सत्कुलसंभूत सदाचारी मेरे भक्त परम गतिको प्राप्त करेंगे, इसमें फिर कहना ही क्या है। अतएव कहते हैं]—सुकृतिशाली ब्राह्मण तथा भक्त राजर्षिगण (जो राजा हैं और ऋषि भी हैं) परम गतिको प्राप्त करेंगे इस विषयमें फिर कहना ही क्या है। अतएव हे अर्जुन, तुम यह राजर्षि-देह प्राप्तकर मेरा भजन करो। यह अध्रुव सुखरहित मर्त्यलोक या मनुष्य-देह पाकर सुखके लिए उद्यम करना छोड़कर शीघ्र मेरा भजन करो ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्राह्मण पुण्यवान्, अच्छे-राजर्षि—उनकी तो फिर बात ही क्या ! यह चलायमान जगत् अनित्य है—एक भी वस्तुमें सुख नहीं—आत्मचिन्ता और क्रियाको छोड़कर—इसको प्राप्तकर क्रिया करते चलो।—ज्ञान-भक्तिका अधिकार अन्य योनिमें नहीं है, केवल मनुष्ययोनिमें ही है। इसी कारण पुरुषार्थका साधन मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। पुण्यशील और भक्तिमान् ब्राह्मण

तथा राजर्षि-शरीर प्राप्त करना और भी अधिक दुर्लभतर है। मनुष्यदेह प्राप्त करना दुर्लभ क्यों है ? क्योंकि इस देहके द्वारा साधन किया जाता है, चेष्टा करने पर योगाभ्यासके द्वारा इस शरीरमें सुषुम्ना उन्मुक्त हो सकती है, सुषुम्नाके उन्मुक्त होने पर मोक्षद्वारकी अर्गला खुल जाती है। मनुष्यदेहमें जो कोई साधन करेगा, वही मुक्तिका आस्वादन कर सकेगा। जो लोग दृढ़तापूर्वक साधन-समरमें जुट गये हैं तथा जो इस देहसे ही क्रियाकी परावस्थारूपी ब्रह्मानन्दरसका अनुभव कर रहे हैं उनकी तो बात ही क्या है ? परन्तु साधनमें अधिक विलम्ब न करो, क्योंकि साधनके लिए उपयुक्त मानवदेहके सिवा दुर्लभ देह और नहीं है, परन्तु देह क्षणभङ्गुर है, आज है तो कल नहीं, इसका भरोसा ही क्या ? अतएव विलम्ब न करके साधनामें लग जाओ। एक आत्मचिन्तनके सिवा किसी भी दूसरी सांसारिक वस्तुमें सुख नहीं है। यदि जन्म-मरण-सङ्कुल, दुःखदावाग्नि-जर्जरित देह पाकर साधना करोगे तो वास्तविक सुख और शान्ति लाभ करोगे ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

अन्वय—मन्मना (मद्गतचित्त) मद्भक्तः (मेरा भक्त) मद्याजी (मेरी पूजामें संलग्न) भव (हो) मां (मुझको) नमस्कुरु (नमस्कार करो) एवं (इस प्रकार) मत्परायणः (मुझमें रत होकर) आत्मानं (मनको) युक्त्वा (मुझमें समाहितकर) माम् एव (मुझको ही) एष्यसि (प्राप्त होगे) ॥ ३४ ॥

श्रीधर—भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति। मय्येव मनो यस्य स मन्मनाः। मद्भक्तस्त्वं भव। तथा ममैव भक्तः मत्सेवको भव। मद्याजी मद्यजनशीलो भव। मामेव च नमस्कुरु। एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणः सन्नात्मानं मनो मयि युक्त्वा समाधाय मामेव परमानन्दरूपमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥३४॥

निजमैश्वर्यमाश्चर्यं भक्तेश्चाद्भुतवैभवम् ।
नवमे राजगुह्याख्ये कृपयाऽवोचदच्युतः ॥

इति श्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[भजनका प्रकार दिखलाकर उपसंहार कर रहे हैं]—मुझमें ही जिसका मन है वह मन्मना है, तुम भी ऐसा ही बनो। इसी प्रकार तुम मेरा सेवक बनो, मेरा यजनशील बनो, मुझको ही नमस्कार करो। इस प्रकार मत्परायण होकर मुझमें मन समाहित करके परमानन्दरूप मुझको प्राप्त होगे ॥३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्मामें ही रहो गुरुवाक्यमें विश्वास करके—क्रिया करो—ॐकारकी क्रिया करो—अटका रहकर—मेरे हो जाओगे यदि क्रिया करते चलो। —विषय ही मनको विभ्रान्त करके खींचे रखते हैं, मन यदि विषयोंसे निवृत्त हो जाय तो वह मन और कहाँ रहेगा? वह मन आत्माकारमें आकारित हो जाता है। इसलिए मन लगाकर क्रिया करो, मन लगाकर क्रिया करने पर मन विषयोंकी ओर नहीं दौड़ेगा, वह रुका रहेगा। सब वस्तुओंमें 'मैं' जड़ित है, इस 'मैं' को छुड़ाकर लाना पड़ेगा और ॐकार-क्रिया द्वारा उसे आत्मामें प्रतिष्ठित करना होगा। परन्तु यदि क्रिया नहीं करते हो तो यह आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त न होगी, 'मैं' न हो सकोगे, आत्मारूप भगवान्को सर्वत्र समझ न सकोगे। क्रिया करनेका ही नाम है 'मत्परायण' होना। अच्छी तरह क्रिया करनेसे एक विचित्र अवस्था प्राप्त होती है, उस अवस्थामें कोई संशय नहीं रह जाता, प्रश्न नहीं रह जाता, जो आवश्यक होता है वह विना माँगे ही आकर उपस्थित हो जाता है। सारा जगत् तब ब्रह्ममय हो जाता है, जो वस्तु दीख पड़ती है उसमें ही ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। यही है शान्तिपद! सुषुम्नाकी क्रिया करते-करते ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें स्थिति होती है, तब मन फिर दूसरी ओर नहीं दौड़ता, स्थिर हो जाता है। यही क्रियाकी परावस्था है, यह अवस्था प्राप्त होने पर साधक ब्रह्मसंलीन हो जाता है। उसको 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

—मुण्डक०।

गङ्गा आदि नदियाँ बहती हुई जिस प्रकार अपने-अपने नाम और रूपका परित्याग करके समुद्रमें अस्तमित होती हैं, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर चिन्मय परमपुरुषको प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिकदीपिका-नामक गीताके नवम अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

दशमोऽध्यायः

(विभूतियोगः)

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले), महाबाहो (हे महाबाहो !) भूयः एव (फिर भी) मे (मेरी) परमं वचः (परमात्मनिष्ठ उत्कृष्ट वाणी) शृणु (सुनो) यत् (जो) प्रीयमाणाय (प्रीतिमान) ते (तुमको) अहं (मैं) हितकाम्यया (हितार्थ) वक्ष्यामि (कहता हूँ) ॥१॥

श्रीधर—उक्ताः संक्षेपतः पूर्वं सप्तमादौ विभूतयः।
दशमे ताः वितन्यन्ते सर्वत्रेश्वरदृष्टये॥

एवं तावत् सप्तमादिभिस्त्रिभिरध्यायैर्भजनीयं परमेश्वरतत्त्वं निरूपितम्। तद्विभूतयश्च सप्तमे "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" इत्यादिना संक्षेपतो दर्शिताः। अष्टमे चाधियज्ञोऽहमेवात्रेत्यादिना, नवमे च अहं क्रतुरहं यज्ञः इत्यादिना। अथेदानीं ता एव विभूतीः प्रपञ्चयिष्यन् स्वभक्तेश्चावश्यकरणीयत्वं वर्णयिष्यन् श्रीभगवानुवाच—भूय एवेति। महान्तौ युद्धादिस्वधर्मानुष्ठाने महत्परिचर्यायां वा कुशलौ बाहू यस्य तथा। हे महाबाहो, भूय एव पुनरपि मे वचः शृणु। कथंभूतं ? परमं परमात्मनिष्ठं। मद्वचनामृतेनैव प्रीतिं प्राप्नुवते ते तुभ्यं हितकाम्यया हितेच्छया यदहं वक्ष्यामि तत् ॥१॥

सप्तमादि अध्यायोंमें विभूतिका विषय संक्षेपमें कह गये हैं, सर्वत्र ईश्वरदृष्टिके लिए वही दशम अध्यायमें विस्तारपूर्वक कहते हैं।

अनुवाद—[सप्तमादि (७-८-९) अध्यायोंमें भजनीय परमेश्वर-तत्त्व निरूपित हुआ है। सप्तमाध्यायमें 'रसोऽहमप्सु', अष्टममें 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' नवममें 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि श्लोकोंमें संक्षेपसे भगवद्विभूतियोंको कह चुके हैं। अब उन सारी विभूतियों और स्वभक्तिके अवश्य-करणीयत्वका विस्तृतरूपसे वर्णन करनेके लिए] श्रीभगवान् बोले—युद्धादि स्वधर्मानुष्ठानमें तथा महत्की परिचर्यामें कुशल-बाहु अर्जुन, तुम पुनः मेरे वाक्यको सुनो। वह वाक्य कैसा है ? परम यानी परमात्मनिष्ठ है। मेरे वचनामृतमें तुम प्रीतिवान् हो, इसलिए तुम्हारे हितार्थ जो मैं कहता हूँ उसे सुनो ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—श्रीभगवानुवाच। श—शब्दसे यह श्वास जो मस्तक पर्यन्त गया है—र—वह्निबीज, चक्षु—ई—शक्ति—इस श्वासको मस्तक पर्यन्त चक्षुसहित यथाशक्ति लेकर रखनेका नाम श्री है—इस श्रीके साथ भगवान् —अर्थात् षड् ऐश्वर्यवान्—मूलाधारमें शाश्वत पद, स्वाधिष्ठानमें शान्ति, मणिपूरमें रेतपूर्ण, अनाहतमें स्वरूप, विशुद्धाख्यमें तुष्टि और आज्ञाचक्रमें प्रकाश—जो इन सब गुणोंसे युक्त हैं वही कहते हैं अर्थात् स्थितिपूर्वक तालुमूलमें कूटस्थके द्वारा अनुभव होने लगा।

पुनः मेरे परम वचनको सुनो—मैं तुमको प्यार करता हूँ क्योंकि तुम महाबाहु हो अर्थात् अग्निका स्वरूप, तुम सबको दग्ध कर सकते हो—इसलिए तुम्हारे मंगलके लिए कहता हूँ।—भगवान्‌का स्वरूप दो प्रकारका है—(१) सोपाधिक और (२) निरुपाधिक। प्रथममें रूप-गुण है, दूसरा रूपगुणवर्जित है। यह दूसरा क्रियाकी परावस्थामें अनुभव किया जाता है, वहाँ दृश्य या द्रष्टा नहीं रहता, आप ही अपने भावमें वर्तमान होता है, यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थानरूप योग है। मन जिन दृश्योंका अनुभव करता है वे दृश्य भी मनसे पृथक् वस्तु नहीं हैं, यह विचार-पूर्वक समझ लेने पर ब्रह्मकी निरुपाधिक अवस्था समझमें आ जाती है। इस विषयको योगवाशिष्ठमें जिस प्रकार समझाया गया है, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ। "जो शुद्ध चैतन्य है वही चित्त और जगत्‌के आकारमें द्विधा अवस्थान करता है। अतएव समस्त जगत् चिद्बुद्धिसे देखने पर चिन्मय है और द्वैत बुद्धिसे देखने पर भी चिन्मय है क्योंकि चित्‌के सिवा वह और कुछ नहीं। चित् ही भ्रान्त पुरुषके समान अपने आपको अन्याकारमें देखता है। यह भी जानना चाहिए कि परमार्थ-पदमें भ्रान्ति नहीं है, अतएव आत्मा भी भ्रान्त नहीं है। जैसे जलसे पूर्ण समुद्रमें जलके सिवा दूसरा पदार्थ नहीं, उसी प्रकार पूर्ण-स्वभाव चिद्वस्तुमें भी पदार्थान्तर नहीं है। चित्तका रूप-समूह जड़ नामसे प्रसिद्ध होने पर भी चित्‌के सिवा कुछ नहीं है, क्योंकि उस जड़भावमें भी चित्‌के भावकी ही अनुभूति होती है। चिद्भाव न रहने पर स्फूर्ति नहीं होती और स्फूर्ति प्राप्त न होने पर 'यह जड़ है' इस प्रकारका अवधारण ही नहीं होता। अतएव जिस प्रकार जड़में बोधकी सत्ता है, उसी प्रकार बोधमें भी जड़का प्रतिभास होता है। जो बोध (चैतन्य) है वह चिद्भाग है और उसमें जो अहंका उदय होता है वह जड़ भाग है, जो परतत्त्व है वह संवित्‌सार है अर्थात् केवल संवित् (मुख्य ज्ञान) है, उसमें दूसरा और कुछ नहीं। उसमें चेत्यका उदय जो अहं-बुद्धिके द्वारा दृष्ट होता है, वह मृगतृष्णाके समान है। लोग जैसे घनीभूत शैत्यको हिम कहते हैं, उसी प्रकार घनीभूत वासना-विशिष्ट चित्‌को अहं-रूपमें जानते हैं। स्वप्नमें स्वमरणके अनुभवके समान चित् अपने आपही जाड्यका दर्शन करता है। चित् जो अपनी विचित्र शक्तिका प्रदर्शन कर रहा है, वह ज्ञानकी दृढ़ताके बिना उपशान्त न होगा। नानाशक्त्यात्मक चित्तरूप देह ही आतिवाहिक देह है, वह आकाशके समान स्वच्छ है, मन आदि पदार्थ उसके विकासमात्र हैं। अतएव स्थूलसूक्ष्मादि देह

को भुलाकर चित्तके द्वारा ही चित्का विचार करना आवश्यक है। जैसे आकाशमें वृक्ष नहीं, वैसेही आत्मामें देहादि भी नहीं है। 'यह देह है'—यह प्रतीति केवल मिथ्याज्ञानका प्रकार-भेद है। यदि वह सत् होता तो उसके लिए आग्रह करनेमें आपत्ति नहीं उठती। जो लोग असत् देहादिमें 'अहं मम' का व्यर्थ अभिमान धारण करते हैं, वे ही आत्मादि शब्दसमूहको देहवाची बतलाकर उपदेश करते हैं। मूर्तिरहित चित्त दृढ़ भावनाके प्रभावसे मूर्त्तके समान हो जाता है। चित्त जब जिस भावमें स्फूर्ति पाता है, तब वैसा ही हो जाता है, अतएव समझना चाहिए कि वस्तुतः देह भी नहीं है, अहं भी नहीं है; केवल एक अखण्ड विज्ञान-मात्र है, उसे जानकर तुम इच्छाविहीन होकर सुखसे अवस्थान करो। बालक जैसे भूतकी कल्पना करके भीत हो उठता है और कल्पनाका परित्याग करने पर निर्भय होता है, उसी प्रकार 'यह मेरी देह है' इस प्रकारकी कल्पना करने पर संसार-भय होता है और इस कल्पनाका परित्याग करने पर निर्भयता प्राप्त हो सकती है।

परमात्माही सर्वप्रपञ्चरहित शून्यरूपी आत्माकाशसे मानो पृथक् होकर देहादिके आकारमें अवस्थित हो रहे हैं। जो विशुद्ध चित् है वही परम हैं, और वही स्वमोहके आच्छादनमें जीव है। वही जीव मन होकर व्यर्थ ही देहादि-भावका अनुभव करता है। चिद्वपु परमात्माही सर्वात्मा हैं, और वही सृष्टिके आकारसे प्रतिभात हो रहे हैं। वही अपनी मायाशक्तिसे यह ब्रह्माण्डरूप दीर्घस्वप्न अनुभव कर रहे हैं। द्विचन्द्रादि दर्शन जैसे एक प्रकारकी भ्रान्ति है, उसी प्रकार विश्व भी भ्रान्ति-विशेष है अर्थात् चित्तमय और चित्तपरिकल्पित है। यह सत् और असत् दोनोंसे बहिर्भूत है, क्योंकि उपलब्धिकालमें सत् और अनुपलब्धिकालमें असत्रूपमें अवधारित होता है। वह सङ्कल्पात्मा वृहद्वपु मन जड़ भी है और अजड़ भी है. क्योंकि दृश्य होनेके कारण जड़ है और ब्रह्म होनेके कारण अजड़ है। मन दृश्यानुभवकालमें दृश्यके समान और ब्रह्मानुभव-कालमें ब्रह्मके समान होता है। जिस प्रकार सुवर्णमें सुवर्णत्व और कटकत्व विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार मनमें जड़त्व और अजड़त्व भी अविरुद्ध है। ब्रह्म सर्वमय है, इस प्रकार सब कुछ जड़ और सब कुछ चेतन है।"

सर्वव्यापी चैतन्य सर्वत्र विद्यमान है, उसके आश्रयसे चित्तके जो विविध परिणाम होते हैं वे परिणाम ही विषयके नामसे प्रसिद्ध हैं। तब फिर वे जड़ कहाँ रहे? सारेके सारे तो चित्तके ही रूप हैं? अतएव यह जड़ है, वह अजड़ है—ये सब बातें निरर्थक हैं। चित्तका चेत्याकार होना ही मनत्व है, उसीसे जड़-अजड़का विभाग है। जिसको अवबोध शब्दसे प्रकट करते हैं वह चिद्भाग है और जिसको चेत्य (चित्तमें भासमान) कहते हैं वह जड़भाग है। जीव उपर्युक्त प्रणालीके द्वारा जगद्भ्रान्तिका अनुभव करते हुए उससे सम्पृक्त भावको प्राप्त हो रहा है। किस प्रकार यह रूपमय जगत् अरूप सत्तामें विलीन होकर केवल सत्तामात्र अवशिष्ट रहता है तथा अरूप चित् किस प्रकार रूपमय होकर बोधका विषय बनता है, यह कहा जा चुका है। अरूपमें समस्त विश्वके आत्मगोपन करने पर जो भाव होता है वही निरुपाधिक या निर्गुण भाव है। यह बात केवल मुँहसे कहने-मात्रसे समझमें नहीं आ सकती,

क्रियाकी परावस्थामें अनुभवके द्वारा इसे समझना पड़ता है। जो निरुपाधिक भावमें एक हैं वही फिर सोपाधिक भावमें अनेक हैं; तथा बहुत होकर भी वह एककी ही महिमा या विभूति है—यही बात इस दशम अध्यायमें विशेषरूपसे कही जायगी। आपात दृष्टिसे जो जड़ या चैतन्य, स्थूल या सूक्ष्म जान पड़ता है, वह स्वरूपतः भिन्न नहीं है। जो स्थूलमें जड़रूपमें दृष्ट हो रहा है, वही फिर सूक्ष्मरूपमें कूटस्थके भीतर देखा जाता है। इस कूटस्थमें दृष्टि रखने पर अनन्त-अनन्त भावमय रूपमय दृश्य अनुभव किये जाते हैं, इसके द्वारा परमात्मा षड् ऐश्वर्यवान् हैं और वही वस्तुतः श्रीभगवान् हैं, यह साधक अनुभव कर पाता है। जिसका कोई रूप नहीं, जिसके बिना दूसरी कोई वस्तु रह नहीं सकती—"न तस्य प्रतिमा अस्ति"—वही आत्मा पञ्चतत्त्वकी सृष्टि करके उसमें प्रवेश करता है और अनन्त भावोंमें अपनेको प्रकट करता है। इस प्रकाश या शक्तिके साथ ब्रह्म अविनाभाव-सम्बन्धसे युक्त है, जब नामरूप-वर्जित अरूपसे विविध नामरूप फूट उठते हैं, तब वह शोभामय, शक्तिमय, तेजोमय, पुष्टिमय, ऐश्वर्यमय, रूपमय बोध होने लगते हैं। यह सारी भावराशि पहले कूटस्थके भीतर फूट उठती है, योगी लोग योग-दृष्टिके द्वारा इसे अनुभव कर सकते हैं। यह भाव ही उनका सोपाधिक भाव है। यह सोपाधिक भाव ही दशम अध्यायका वर्णनीय विषय है। वही यहाँ जगत्के जीवोंकी हितकामनासे प्रेरित होकर श्रीभगवान् अर्जुनको उपलक्ष्य करके बतला रहे हैं, जिससे आत्मतत्त्वको जानकर जीव अपना उद्धार कर सके।

ऊपर श्रीभगवान्की जो व्याख्या दी गयी है, उसको समझनेके लिए साधन करना आवश्यक है और साधन करते-करते साधकको जो अनुभव होता है, वही यहाँ कहा जा रहा है। अर्जुनको 'महाबाहु' कहकर सम्बोधन करनेका यही उद्देश्य है। जीवके भीतर जो अन्तर्निहित शक्ति रहती है, साधनकी सहायतासे जो उसे जागृत कर पाता है वही वास्तविक महाबाहु है। उसकी साधन-शक्तिके सामने प्रचण्ड प्रपञ्च-भाव (माया) भी विलुप्त हो जाता है। प्रपञ्च-भाव विलुप्त होनेपर योगीमें इच्छा और अनिच्छासे शून्य एक अपूर्व भावका उदय होता है। तब जो होनेवाला होता है अपने आप होता है, परन्तु वह विशिष्ट साधकके मनको केन्द्रित करके फूट उठता है। उस अवस्थामें साधक अपने मनके अनजानमें जो कुछ बोलता है या सङ्कल्प करता है, वह सब सत्य हो जाता है। साधारण अज्ञ लोग समझते हैं कि साधुकी साधनशक्तिके प्रभावसे ये सब व्यापार सिद्ध हो रहे हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, मनमें सङ्कल्पके रहते कोई सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु सिद्ध साधकके चित्तमें उसकी अनिच्छाकी इच्छासे जो सङ्कल्प समुद्भूत होता है, वह योगीकी शाम्भवी मुद्राके फल-स्वरूप बिना प्रयास ही अपने आप सिद्ध हो जाता है॥ १॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

अन्वय—न सुरगणाः (न ब्रह्मादि देवगण) न महर्षयः (न महर्षिगण) मे प्रभवं (मेरे प्रभव अर्थात् नानारूपोंमें उत्पत्ति) विदुः (जानते हैं) हि (क्योंकि)

अहं (मैं) देवानां महर्षिणां च (देवताओं और महर्षियों का) सर्वशः (सर्व प्रकारसे) आदिः (कारण हूँ) ॥ २ ॥

श्रीधर—उक्तस्यापि पुनर्वचने दुर्ज्ञेयत्वं हेतुमाह—न मे विदुरिति। मे मम प्रकृष्टं भवं जन्मरहितस्यापि नानाविभूतिभिराविर्भावं सुरगणा अपि महर्षयो भृग्वादयोऽपि न जानन्ति। तत्र हेतुः—अहं हि देवानां महर्षीणां चादिः कारणम्। सर्वशः सर्व-प्रकारैः उत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्त्तकत्वेन च। अतो मदनुग्रहं विना मां केऽपि न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवाद—[कथित विषयको पुनः कहनेका कारण है उसका दुर्ज्ञेयत्व—इसी कारण कहते हैं]—मेरे प्रकृष्ट भव अर्थात् जन्मरहित होकर भी नाना विभूतियोंके साथ अवतारादिके रूपमें आविर्भावको देवता लोग तथा भृगु आदि महर्षिगण भी नहीं जानते। इसका कारण दिखलाते हैं—मैं ही देवताओं तथा महर्षियोंका आदि अर्थात् कारण हूँ, क्योंकि सब प्रकारसे उनका उत्पादक तथा उनकी बुद्धि आदिके प्रवर्त्तकके रूपमें मैं आदि कारण हूँ, अतएव मेरे अनुग्रहके बिना मुझको कोई नहीं जान सकता ॥ २ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—क्रिया कर रहे हैं जो लोग वे मुझको नहीं जानते—महाऋषि—मरीचि—अत्रि—अङ्गिरस—पुलस्त—पुलह—क्रतु—प्रचेता—वसिष्ठ—भृगु—नारद, ये दस महर्षि मुझको नहीं जानते—क्योंकि महर्षि लोग ब्रह्मके उपासक हैं इसलिए मैं सबका आदि हूँ—जितने देवता हैं सब ब्रह्मके ही उपासक हैं—इसलिए मैं सबका आदि हूँ।—जो लोग श्रद्धाके साथ प्रतिदिन नियमितरूपसे क्रिया करते हैं, वे ही 'सुर' हैं। उनको कुछ-कुछ शक्ति-सामर्थ्य होता है, परन्तु वे भी मुझको नहीं जान पाते। जो महर्षि हैं वे भी नहीं जानते। ऋषिका अर्थ है द्रष्टा पुरुष, जिनकी इस प्रकारकी आध्यात्मिक दृष्टि न्यूनाधिक परिमाणमें प्रस्फुटित है, जो भूत-भविष्य-वर्तमान सब जानते हैं, जिनकी शक्ति असीम है, वे सब महर्षिगण भी मेरी प्रभुशक्तिकी अतिश-यिताको हृदयङ्गम नहीं कर पाते, 'मैं' ऐसा दुर्ज्ञेय हूँ। आत्मा सारी उपाधियोंसे विनिर्मुक्त है, उसको जो जान लेगा, उसकी भी कोई उपाधि न रह जायगी, वह तब वही हो जायगा। भक्त कवि तुलसीदासने कहा है—"जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।" अतएव जो सब कुछ भूलकर आत्मा नहीं हो सकता, वह फिर आत्माकी महिमा कैसे जानेगा ? जो आत्मा हो जाता है वह कुछ कह नहीं पाता, क्योंकि तब उसको कुछ वक्तव्य नहीं रह जाता। इसलिए देवता या महर्षि कोई उससे अवगत नहीं हैं। कूटस्थ चैतन्य, प्राण, मन और बुद्धि—ये सब उस अव्यक्त परावस्थासे समुद्भूत हैं, अतएव ये अपने कारणको नहीं जानते। श्रुति कहती है—"को अद्धा वेद, कुत इयं विसृष्टिः ? अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आवभूव"—यह सृष्टि कहाँ से हुई है, कौन जानता है ? देवता लोग भी सृष्टिके बाद हुए हैं, अतएव वह जहाँ से आविर्भूत हुए हैं उसको कैसे जानेंगे ? ॥ २ ॥

योमामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय—यः ;(जो) मां (मुझको) अजं (जन्मरहित) अनादिं (अनादि) लोकमहेश्वरं च (और सर्वलोकमहेश्वर रूपमें) वेत्ति (जानता है) असंमूढः (मोह-वर्जित) सः (वह) मर्त्येषु (मनुष्योंमें) सर्वपापैः (सब पापोंसे) प्रमुच्यते (मुक्त हो जाता है) ॥३॥

श्रीधर—एवंभूतात्मज्ञाने फलमाह—यो मामिति । सर्वकारणत्वादेव न विद्यते आदिः कारणं यस्य तमनादिम् । अत एवाजं जन्मशून्यं । लोकानां महेश्वरं च मां यो वेत्ति स मनुष्येषु असंमूढः संमोहरहितः सन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अनुवाद—[उक्त प्रकारके आत्मज्ञानका फल क्या है, यह बतलाते हैं]—सबके कारण-रूप होनेके कारण उसका आदि या कारण नहीं है, इसलिए अनादि है, अतएव अज अर्थात् जन्मशून्य तथा सब लोकोंके महेश्वररूप मुझको जो जानता है, मनुष्योंमें वह सम्यक् मोह-रहित होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो जानता है कि मेरा जन्म नहीं है और आदि नहीं है और सब लोकोंका ईश्वर हूँ—श्वास स्थिर होने पर ही महेश्वर—वह मर्त्यलोकमें सम्यक् प्रकारसे मुग्ध न होकर सब पापों अर्थात् ब्रह्मके सिवा अन्य दिशामें मन नहीं जाता, अतएव ब्रह्ममें सदा रहनेपर अनन्यचित्त होकर (दूसरी ओर चित्त लगानेसे) मुक्त हो जायगा ।—'मैं या आत्मा' देहके साथ युक्त होकर जन्म-मृत्युका अभिनय करता है । देहदृष्टि जबतक है तबतक जन्म-मरणके हाथसे निस्तार नहीं है । क्रिया करके जिसने स्थिर अवस्था प्राप्त की है, वह देहातीत परम भावका अनुसन्धान पाता है । तब वह समझ पाता है कि यह स्थिर अविचल भाव ही ब्रह्मभाव है तथा यही मेरा स्वरूप है । इस स्वरूपकी धारणा उत्पन्न होने पर फिर जन्म-मरण नहीं हो सकता । मर्त्यधर्म फिर उसमें नहीं रह जाता । तब अपने आत्माको "लोक-महेश्वर" अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यके साथ असम्बद्ध तुरीय ब्रह्मरूपमें समझ पाता है । साधन करते-करते जब श्वास सुन्दर और सहज भावसे स्थिर होता है तब कालातीत-महेश्वर भाव होता है, उस अवस्थामें मन फिर दूसरी ओर नहीं जाता, अतएव वह सदा मुक्त है । वह मनुष्य देहमें रहकर या संसारमें विविध कार्योंमें लिप्त होते हुए भी मुक्त है ।

प्राण ही चराचर वस्तुओंका स्वामी है । प्राणके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता । हम जो आत्मीय स्वजनसे प्रेम करते हैं तो वस्तुतः उनकी देहसे नहीं बल्कि उनके प्राणसे प्रेम करते हैं, क्योंकि प्राणहीन देहको कोई समादर नहीं प्रदान करता, अतएव प्राणसे बढ़कर प्रिय वस्तु दूसरी नहीं है । बहिः प्राण चञ्चल है, यही महामाया है । स्थिर प्राण महाविद्या है, यह स्थिर भाव ही महेश्वर-भाव या परमात्मा है, यह सर्वव्यापी है, निखिल ब्रह्माण्डके चैतन्यरूपमें विराजमान है, इसी कारण यह महामहेश्वर है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अन्वय—बुद्धिः (बुद्धि) ज्ञानं (ज्ञान) असंमोहः (अव्याकुलता) क्षमा (क्षमा) सत्यं (सत्य) दमः (बाह्य इन्द्रियोंका संयम) शमः (अन्तरिन्द्रिय मनका संयम) सुखं (सुख) दुःखं (दुःख) भवः (उत्पत्ति) अभावः (विनाश) भयं च अभयं च एव (भय और अभय) अहिंसा (परपीड़ासे निवृत्ति) समता (समचित्तता) तुष्टिः (सन्तोष) तपः (तपस्या) दानं (दान) यशः (यश) अयशः (अयश) भूतानां (जीवोंके) पृथग्विधा (पृथक्-पृथक्) भावाः (भावसमूह) मत्तः एव (मुझसे ही) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) ॥ ४-५ ॥

श्रीधर—लोकमहेश्वरतामेव स्फुटयति—बुद्धिरिति त्रिभिः । बुद्धिः सारासार-विवेकनैपुण्यं । ज्ञानमात्मविषयं । असंमोहो व्याकुलत्वाभावः । क्षमा सहिष्णुत्वं । सत्यं यथार्थभाषणं । दमो बाह्येन्द्रियसंयमः । शमोऽन्तःकरणसंयमः । सुखं अनुकूलसंवेदनीयं । दुःखं च तद्विपरीतं । भवः उद्भवः । अभावः तद्विपरीतः । भयं त्रासः । अभयं तद्विपरीतं । अस्य लोकस्य मत्त एव भवन्ति इति उत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

अहिंसा परपीडानिवृत्तिः । समता रागद्वेषादिराहित्यं मित्रामित्रतुल्यता च । तुष्टिर्दैवलब्धेन सन्तोषः । तपः शारीरादि वक्ष्यमाणं । दानं न्यायार्जितधनादेः सत्पात्रेऽर्पणं । यशः सत्कीर्तिः अयशोऽपकीर्तिः । एते बुद्धिर्ज्ञानमित्यादयः तद्विपरीताश्च अबुद्धयादयो नानाविधा भावाः प्राणिनां मत्तः सकाशादेव भवन्ति ॥ ५ ॥

अनुवाद—[तीन श्लोकोंमें अपनी लोकमहेश्वरता परिस्फुट करते हैं]—बुद्धि—सारासार-विवेकमें निपुणता, ज्ञान—आत्मविषयक ज्ञान, असंमोह—व्याकुलताका अभाव [बोध-योग्य विषय उपस्थित होनेपर उसमें जो विवेकपूर्वक प्रवृत्ति होती है—शंकर], क्षमा—सहिष्णुता [किसीके ताड़ना करनेपर मनका विकार-रहित होना—शंकर], सत्य—यथार्थ भाषण, दम—बाह्येन्द्रियोंका संयम, शम—अन्तःकरणका संयम, सुख—मनके अनुकूल संवेदन, दुःख—सुखके विपरीत अर्थात् प्रतिकूल संवेदन, भव—उद्भव, अभाव—उसका विपरीत अर्थात् नाश, भय—त्रास, अभय—त्रासका विपरीत ॥ ४ ॥

अहिंसा—परपीड़ासे निवृत्ति, समता—रागद्वेषादि-रहित होना [सम-चित्तता—शङ्कर], तुष्टिः—दैवलब्ध वस्तुमें सन्तोष [जो प्राप्त हो उसमें पर्याप्त बुद्धि—शङ्कर], तपः—शारीरिक तपस्या [इन्द्रियसंयमपूर्वक शरीरपीड़न—शङ्कर] दानं—न्यायमें अर्जित किये हुए धनादिको सत्पात्रमें दान [यथाशक्ति दूसरोंको अपना धन वितरण

करना—शङ्कर] यश—सत्कीर्ति, अयश—अपकीर्ति—प्राणियोंके ये सारे बुद्ध्यादि तथा उसके विपरीत अबुद्ध्यादि नाना भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ब्रह्ममें सदा बुद्धि स्थिर करके रखना और उससे अनुभव होनेका नाम ज्ञान है—इसके होने पर किसी वस्तुमें मोह नहीं होता—अतएव मोहित न होने पर क्षमा अर्थात् उससे निवृत्त, अपने आपमें रहनेके बाद सत्य ब्रह्ममें, रहना होता है—पश्चात् सब विषयोंका दम और शम होता है, और सुख दुःख होना या न होना, भय अभय।

हिंसा न करना—सबमें ब्रह्म देखना, उसके द्वारा तुष्ट रहना—कूटस्थमें रहना और उसका उपदेश करना उसके द्वारा जप और अजप ये सब पञ्चभूतके भावके भारसे मत्त पृथक् विशेष बुद्धि हो रही है।—अन्तःकरणकी जिस शक्तिके द्वारा कोई विषय निःसंशय रूपसे समझा जाता है, वह बुद्धि है। हम साधारणतः जिसको मन कहते हैं उसकी शक्ति है सङ्कल्प करना। केवल सङ्कल्पके द्वारा ही कोई काम नहीं किया जाता या कोई इच्छा सफल नहीं की जाती। इसका कारण यह है कि अन्तःकरणकी सङ्कल्पात्मिका वृत्ति बहुमुखी होती है। वह बहुत देर तक एक अवस्थामें नहीं रह सकती। एक अवस्थामें दीर्घकाल तक न रहने पर किसी चिन्तनके द्वारा हम संगठनात्मक कोई कार्य नहीं कर सकते। अन्तःकरणकी जिस शक्तिके द्वारा सङ्कल्पको कार्यमें परिणत किया जाता है उस स्थिर सङ्कल्पका नाम बुद्धि है। इससे समझा जा सकता है कि 'बुद्धि' अन्तःकरणकी या मनकी एकाग्र अवस्था है, एकाग्रावस्था एकमुखी होती है और नाना सङ्कल्पों या मनन-वृत्तियोंका विरोधी है। एकाग्र अवस्थामें अनेक चिन्तन नहीं रहता, केवल एक चिन्तन रहता है, इसलिए यह 'निरुद्ध' अवस्थाका ज्ञापक है। जहाँ बुद्धिका कार्य है वहाँ निरोध-भाव स्वतः विद्यमान होता है। संसारमें जितने विषय हैं कोई भी स्थिर नहीं हैं, इसलिए बाह्य विषयोंमें जो बुद्धिकी गति होती है वह भी स्वभावतः चञ्चल होती है। एकमात्र आत्मा या ब्रह्म ही चिरस्थिर परिवर्तन-विहीन हैं। इसलिए मनकी जो गति ब्रह्ममुखी होती है और उनमें ही स्थिर रहती है (या अटक जाती है) वह ब्रह्मके साथ तल्लीन हो जाती है, उसको ही वास्तविक 'बुद्धि' कहते हैं। आवरण और विक्षेप मनके मल हैं, इनके द्वारा आत्माका स्वतः शुद्ध प्रकाश आवृत हो जाता है, इसी कारण अनात्म पदार्थोंमें आत्मबोध होता है—यही अज्ञान है। जब बुद्धि स्थिर हो जाती है तब वास्तविक ज्ञानका उदय होता है। इसके लिए मनका आवरण और विक्षेपरूप अशुद्धिका क्षय करना आवश्यक है। अशुद्धि-क्षय कैसे होगा ? महर्षि पतञ्जलि योगदर्शनके साधनपादमें एक सूत्र द्वारा इसको स्पष्ट करते हैं—"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"। योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धि-क्षय होता है और अशुद्धि-क्षय होने पर विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि वास्तविक योगाङ्ग हैं। यद्यपि प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको लेकर ही योगके अष्टाङ्ग पूर्ण होते हैं, तथापि ये अन्तिम चार योगाभ्यासके फल हैं और प्रथम चार साधन हैं। उनमें प्राणायाम ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्राणायामका

फल क्या है, इस बातको ऋषिने योगसूत्रमें बतलाया है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" —प्राणायामके द्वारा प्रकाशस्वरूप आत्माका आवरण क्षयको प्राप्त होता है। जो प्राण आत्माकी प्रधान शक्ति है उस प्राण-शक्तिको प्राणायामके द्वारा जान सकते हैं। उससे आत्मामें प्राणकी तथा उसके साथ मनकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस प्रकार ज्ञान हो जाने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषय फिर साधकको मुग्ध नहीं कर सकते। जिसको आत्मज्ञान हो गया है उसको अनात्म वस्तु भला कैसे मुग्ध कर सकती है? विषयोंसे मुग्ध होने पर जीवका हिताहित ज्ञान लुप्त हो जाता है, परन्तु जो मोहित नहीं होता उसकी इन्द्रियाँ विषय-ग्रहणसे निवृत्त हो जाती हैं। दैवात् मनोविकार उत्पन्न होने पर चित्तके वेगको सहन करके उससे निवृत्त होनेका नाम ही क्षमा है। जो चित्तके वेगको सहन कर सकता है वह युक्त और सुखी है, यह पाँचवें अध्यायमें श्रीभगवान् बतला चुके हैं। इस प्रकारके युक्त पुरुष ही सत्यका आवरणहीन मुख देख सकते हैं। इस अवस्थामें इन्द्रियाँ स्वतः विषय-व्यापारसे विनिवृत्त हो जाती हैं और उस चित्तमें ब्रह्मचिन्ताके सिवा अन्य चिन्ताका उदय ही नहीं होता। अतएव शमदमादि साधनाके लिए उसको प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह उसके लिए स्वाभाविक बन जाता है।

सुख—सु=सुन्दर, खं=शून्य, जिसके चित्तमें विषयस्पृहा नहीं उसको विषय-विस्मृति हो जाती है। यह विषयविस्मृति ही चित्तकी शून्याकार अवस्था है। उस चित्तमें कोई उद्वेग नहीं होता।

दुःख—उपर्युक्त अवस्थासे जो दूर है उसके अन्तःकरणमें जब बाह्य दुःखकर विषय तदनुरूप वृत्ति उत्तेजित करते हैं तब चित्तमें दुःखाकार वृत्ति उदित होती है। सत्त्वगुण सुखका कारण है और रजोगुणके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न होता है।

भव=जन्म, अभाव=नाश, भय=जबतक द्वितीयका अभिनिवेश रहता है तबतक भय नहीं जाता, एकमात्र ब्रह्मपद ही अभयपद है। जबतक भय है तबतक जान लो कि अपने भीतरसे हिंसा दूर नहीं हुई है। योगदर्शनमें लिखा है कि अहिंसा प्रतिष्ठित होने पर सर्वत्र वैर-त्याग हो जाता है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने पर फिर किसीके प्रति हिंसा नहीं रह जाती।

समता=समचित्तत्व अर्थात् समदर्शन, 'अहं'-अभिमान रहते हुए समदर्शन नहीं होता, क्रियाकी परावस्थामें जिसका 'अहं' चला गया है, उसीको वास्तविक समदर्शन होता है।

तुष्टि=इस समदर्शनसे तुष्टि आती है, अपने आपमें मग्न होना ही तुष्टि है। पेट भर जाने पर जैसे उत्कृष्ट भोजन भी नहीं रुचता, उसी प्रकार ब्रह्मदर्शनसे जो तृप्त हो गये हैं उनकी तृप्तिके लिए फिर बाहरसे भोगसुखकी आवश्यकता नहीं होती।

तपः=कूटस्थमें अर्थात् तपोलोकमें या आज्ञाचक्रमें रहना। दान=साधनाका उपदेश करना, इससे बढ़कर उत्कृष्ट दान और कुछ नहीं है। यशः=आत्मामें रहना, आत्मामें रहने पर जो चित्तका उपराम होता है और उससे जो प्रशान्त भाव होता है,

वह दूसरे लोगोंके चित्तको भी आकर्षण करता है। अयश—आत्मामें न रहने पर इन्द्रिय-परायणता आदि जो विपरीत फल होता है, वही अयश है।

सब जीवोंके ये सारे पृथक् भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त वृत्तियोंकी उत्पत्तिका आधार आत्मा है। आत्माके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता। इस आत्मामें जो प्रतिष्ठित होता है उसके सामने ये पृथक्-पृथक् बोध नहीं रह जाते, वहाँ ये सारे भाव एक अद्वितीय भावमें विलीन हो जाते हैं। कायाके साथ जैसे छाया रहती है, उसी प्रकार आत्माके आश्रयमें समस्त वस्तुओंका वीजरूप अज्ञान वर्तमान रहता है, इस अज्ञानसे ही विश्व, मन और उसकी नाना प्रकारकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये सारी वृत्तियाँ मायाकी क्रीड़ामात्र हैं। मन जब जिस गुणमें रहता है, तब उसी गुणके अनुयायी भाव उदित होते हैं। चित्त-धर्म ही भाव है। ये सारे भाव चित्तकी वृत्तियोंके निवृत्त होनेके साथ ही निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४-५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

अन्वय—सप्त महर्षयः (सात महर्षि) पूर्वे (पूर्ववर्त्ती) चत्वारः (सनकादि चार) तथा मनवः (तथा मनुगण) मद्भावाः (मेरे प्रभावसे युक्त) मानसा जाताः (मेरे मन अर्थात् सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं) लोके (इस जगत्में) इमाः (ये) येषां प्रजाः (जिनकी सन्तानें हैं) ॥ ६ ॥

श्रीधर—किञ्च—महर्षय इति। सप्त महर्षयो भृग्वादयः। सप्त ब्राह्मणा इत्येते पुराणे निश्चयं गता इत्यादि पुराणप्रसिद्धाः। तेभ्योऽपि पूर्वेऽन्ये चत्वारो महर्षयः सनकादयः। तथा मनवः स्वायम्भुवादयः। मद्भावाः मदीयो भावः प्रभावो येषु ते हिरण्यगर्भात्मनो ममैव मनसः सङ्कल्पमात्रात् जाताः। प्रभावमेवाह—येषामिति। येषां भृग्वादीनां सनकादीनाञ्च इमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्द्धमाना यथायथं पुत्रपौत्रादिरूपाः शिष्यप्रशिष्यादिरूपाश्च प्रजा जाताः प्रवर्त्तन्ते ॥ ६ ॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—भृगु आदि पुराणप्रसिद्ध सप्त महर्षि अर्थात् सप्त ब्राह्मण जो पुराणोंमें निश्चय हुए हैं, उनसे भी पूर्ववर्ती सनक आदि चार महर्षि और स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मेरे प्रभावसे युक्त हैं और हिरण्यगर्भरूप मेरे सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं। प्रभाव कैसा है, यह बतलाते हैं—महर्षि भृगु आदि, सनकादि और मनु लोगोंकी ब्राह्मण आदि सन्तान (प्रजा) इस जगत्में क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर यथायथ पुत्र-पौत्रादिरूपमें और शिष्य-प्रशिष्यादिरूपमें उत्पन्न हुई है। [सप्त महर्षि—भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु हैं। पूर्ववर्ती चार महर्षि—सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार हैं। ये नित्य ही कुमार रहे। अतएव इनके पुत्रादि उत्पन्न नहीं हुए। अस्तु 'येषां लोक इमाः प्रजाः'—यह बात इनके सम्बन्धमें कैसे घट सकती है? ये लोग चिरकुमार रहे, परन्तु इनके शिष्य थे। ज्ञानधाराका कुल शिष्य-प्रशिष्यके द्वारा ही रक्षित होता है। चौदह मनु—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि,

ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि हैं।] [मद्भावाः मच्चिन्तनपराः मद्भावनावशादाविर्भूता मदीयज्ञानैश्वर्यशक्तयः इत्यर्थः—मेरे चिन्तनमें रत हैं, इस कारण मेरी ज्ञानैश्वर्यशक्ति उनके भीतर आविर्भूत हुई है—मधुसूदन] ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सात महर्षि और चार मनु—मेरे भावसे मनसे इनका जन्म है, जिनसे जो यह प्रजा देखते हो प्रकृष्टरूपसे उत्पन्न हुई है।—ब्रह्मको वस्तुतः सङ्कल्प नहीं होता, उनकी अनिच्छाकी इच्छासे यह सब उत्पन्न हुआ है। अनिच्छा की इच्छा कैसी ? आसक्तिके कारण मनमें जो सङ्कल्पका उदय होता है उस प्रकारका कोई सङ्कल्प नहीं, बल्कि जिस अवस्थामें कभी-कभी अपने आपही सङ्कल्प-विकल्पशून्य एक भावका उदय होता है उसको ही भगवदिच्छा या अनिच्छाकी इच्छा कहते हैं। इस इच्छाके उदय होने पर इसकी सिद्धि अवश्य होती है क्योंकि भगवान् सत्य-सङ्कल्प हैं। इसी भावसे ब्रह्मसे विश्व समुत्पन्न होता है। मुण्डकोपनिषदमें लिखा है—

'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।'

जिस प्रकार पुरुषकी (इच्छा-अनिच्छाके ऊपर निर्भर न करके) केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यह दृश्यमान् प्रपञ्च जगत् परब्रह्मसे उत्पन्न होता है। "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते।"—मुण्डक। इस अक्षर ब्रह्मसे हिरण्यगर्भ या कार्यब्रह्म, नामरूप और अन्न उत्पन्न हुए हैं।

ब्रह्मके इस प्रकारके सङ्कल्पसे ही आदि या समष्टि मन हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है, उससे यह सृष्टिप्रवाह चलता है। मन न रहे तो सृष्टि करेगा कौन ? एक मनमें जैसे नाना सङ्कल्प उदित होते हैं उसी प्रकार विराट् मनके सङ्कल्पसे यह ब्रह्माण्ड और इसके भीतरके सारे जीव और उनके अन्नपानादि उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार निरवयव आकाश, पात्रके आकार-भेदसे पृथक्-पृथक् रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार जीवकी देहोपाधि-सम्बन्धके कारण निर्विकार अक्षर पुरुषकी ज्ञानमय सत्तामें उसकी उत्पत्ति और प्रलयकी प्रतीति-मात्र होती है। यद्यपि वह अक्षर पुरुष आकारविशिष्ट नहीं हैं, स्वप्रकाशस्वरूप हैं, तथापि निर्विशेषज्ञान-रूपमें बुद्धिके भीतर अवस्थित हैं और नामरूपादिमय विशेष-विशेष ज्ञानभेदसे बहिर्देशमें भी विद्यमान हैं। उनको न प्राण है न मन, वह शुभ्र अर्थात् सर्वसम्बन्धविवर्जित शुद्धभावमय हैं, अतएव अक्षररूपा अव्यक्त प्रकृतिसे परे हैं। उपनिषद्में लिखा है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ मुण्डक०।

इस पुरुषसे ही प्राणशक्ति, चिन्तनशक्ति (मन), पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल तथा सब वस्तुओंका आधार पृथ्वी उत्पन्न होती है।

पुरुष सब उपाधियोंसे विनिर्मुक्त है, तब किस प्रकार उससे ये सब उत्पन्न होते हैं ? जिस प्रकार स्वप्नदृष्ट पदार्थोंमें मनके सिवा दूसरी कोई सत्ता नहीं होती और जैसे स्वप्नके मिथ्या होने पर भी वह स्वप्नद्रष्टाके ज्ञानमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार सृष्ट

पदार्थसमूह पुरुषकी ज्ञानसत्तामें प्रतीत होते हैं, अतएव कहा जाता है कि पुरुषसे ही इनकी उत्पत्ति हुई है ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अन्वय—यः (जो) मम (मेरी) एतां (इस) विभूतिं योगं च (विभूति और योगको) तत्त्वतः (यथार्थतः) वेत्ति (जानते हैं) सः (वह) अविकम्पेन (अस्खलित) योगेन (योगैश्वर्यके द्वारा) युज्यते (युक्त होते हैं) अत्र न संशयः (इसमें संशय नहीं है) ॥७॥

श्रीधर—यथोक्तविभूत्यादितत्त्वज्ञानस्य फलमाह—एतामिति । एतां भृग्वादिलक्षणां मम विभूतिं योगञ्च ऐश्वर्यलक्षणं तत्त्वतो यो वेत्ति सः अविकम्पेन निःसंशयेन योगेन सम्यग्दर्शनेन युक्तो भवति नास्त्यत्र संशयः ॥७॥

अनुवाद—[उपर्युक्त विभूति आदिके तत्त्वज्ञानका फल कहते हैं]—मेरी इस भृगु आदि विभूति तथा ऐश्वर्यरूप योगको जो तत्त्वतः जानते हैं, वह संशयरहित होकर सम्यग् दर्शन द्वारा (आत्मज्ञानसे) युक्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकारकी सब क्रियाओंके द्वारा समाधिमें अचल बुद्धि रहकर पञ्चतत्त्वातीत षष्ठचक्र अर्थात् आज्ञाचक्रमें स्थिति-स्वरूपको जो जानता है वह विशेषरूपसे भविष्यकी इच्छासे रहित होकर और द्विविधासे रहित होकर निश्चल रूपमें लगा रहता है।—वही यथार्थ योगी हो सकता है, जिसने साधनके द्वारा उनके साथ अविचल योगसे युक्त होकर उनकी विभूति, योगैश्वर्य और सर्वज्ञत्व आदि सामर्थ्यको प्राप्त किया है। मनकी विविध कल्पनाओंके रहने पर यथार्थतः ब्रह्मका स्वरूपज्ञान नहीं होता। श्रवण और अध्ययन आदिसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे स्वरूपानुभव नहीं होता। पञ्चतत्त्व भेद करके जब आज्ञाचक्रमें स्थिति होती है तब प्रकृत इच्छारहित और संशयशून्य अवस्था आती है और तभी मन अन्य विषयमें आसक्तिरहित होकर केवल-मात्र आत्मामें योगयुक्त होकर रह सकता है। साधनमें दृढ़ताका अवलम्बन कर जिन्होंने खेचरी सिद्ध की है, वे इसके बाद एक अवस्थाको प्राप्त करते हैं, जिसे शाम्भवी कहते हैं—उस अवस्थामें योगीको असाधारण सामर्थ्य और योगैश्वर्य प्राप्त होता है। यह विभूति ही भगवान्के अतुल महत्त्व और अपूर्व सौन्दर्यको प्रकाशित कर साधकको साधनपथमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। साधक साधनके द्वारा जितना ही विज्ञानमय क्षेत्रमें प्रवेश प्राप्त करता जाता है उतना ही अति सूक्ष्म और अननुभूतपूर्व विषयोंको प्रत्यक्ष करता है। उस समय साधकके मनमें फिर कोई संशय नहीं रह जाता। जो साधक आज्ञाचक्रमें इस प्रकार प्रतिष्ठित होता है उसको फिर कुछ पानेकी इच्छा नहीं होती। इस प्रकारके संकल्परहित साधक सदा ब्रह्ममें लगे रहते हैं ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अन्वय—अहं (मैं) सर्वस्य (सारे जगत्का) प्रभवः (उत्पत्तिहेतु हूँ), मत्तः (मुझसे) सर्वं प्रवर्त्तते (सब प्रवर्तित होता है) इति मत्वा (यह विचारकर) भावसमन्विताः (भावयुक्त अर्थात् भक्तिमान्) बुधाः (ज्ञानी लोग) मां भजन्ते (मुझको भजते हैं) ॥८॥

श्रीधर—यथा च विभूतियोगयोर्ज्ञाने सम्यग्ज्ञानावाप्तिः तद्दर्शयति अहमित्यादि-चतुर्भिः । अहं सर्वस्य जगतः प्रभवो भृग्वादिमन्वादिरूपविभूतिद्वारेण उत्पत्तिहेतुः । मत्त एव चास्य सर्वस्य "बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः" इत्यादि सर्वं प्रवर्त्तत इति । एवं मत्वा अवबुद्धय बुधाः विवेकिनः भावसमन्विताः प्रीतियुक्ताः मां भजन्ते ॥८॥

अनुवाद—[विभूति और योगके ज्ञानसे जिस प्रकारके सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसे चार श्लोकोंमें दिखलाते हैं]—मैं सब जगत्का प्रभव अर्थात् भृग्वादि और मन्वादिरूप विभूतिके द्वारा सब जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ । मुझसे ही इनकी 'बुद्धि, ज्ञान और असंमोह' आदि प्रवर्तित होते हैं, इस प्रकार जानकर विवेकी लोग प्रीतियुक्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥८॥

[भावसमन्विताः—भावो भावना परमार्थतत्त्वाभिनिवेशस्तेन समन्विताः संयुक्ता इत्यर्थः—शङ्कर । भाव शब्दका अर्थ है भावना—परमार्थतत्त्वमें अभिनिवेश । वह जिनको है, वे भावसमन्वित हैं ।]

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझसे ही सब प्रकृष्टरूपसे होता है और मुझमें ही प्रकृष्टरूपसे वर्तमान है, यह समझकर जो भजन करता है, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करते हुए समबुद्धि रहकर क्रियाके परे जो भाव है उस भावमें लगा रहता है।—जो जैसा साधन करता है, परम तत्त्वमें उसका वैसा ही अभिनिवेश होता है। इस प्रकारके अभिनिवेशसे युक्त योगीका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मैं (आत्मा) ही ब्रह्मादि स्थावरान्त समस्त विश्वकी उत्पत्तिका कारण हूँ । जगत्में जो कुछ है वह सब ब्रह्मका ही प्रकाश है। स्वर्णको आश्रय करके जैसे नाना प्रकारके नामरूप प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार यह नामरूपमय जगत् एक आत्माके ही आधार पर वर्त्तमान है। आत्माके न रहने पर कुछ नहीं रह सकता, इसे विचारपूर्वक जानकर वह अन्य चिन्तन छोड़कर केवल भजन करते हैं । तब वह स्वर्णमें अलङ्कारके अवस्थानके समान ब्रह्ममें यह नामरूप-मय जगत् वर्तमान है, इसे देख पाते हैं। इस कारण उनकी बुद्धिमें समता होती है, नाना विषयोंके पीछे दौड़नेकी उनकी इच्छा नहीं होती । क्रियाके परे भी इसी प्रकारका समभाव होता है, इस समभावसे योगीका चित्त सर्वदा युक्त रहता है। अतएव उत्तम रीतिसे क्रिया करके परावस्थाकी प्राप्तिके लिए अवहित रहना साधकका परम कर्त्तव्य है ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥६॥

अन्वय—मच्चित्ताः (मद्गत-हृदय) मद्गतप्राणाः (मद्गत-प्राण) [पुरुष] मां (मेरे विषयमें) परस्परं बोधयन्तः (परस्पर समझाते हुए) नित्यं कथयन्तः च (और सर्वदा मेरी कथा या स्तवन-कीर्तन करते हुए) तुष्यन्ति च रमन्ति च (तुष्टि लाभ करते हैं और आनन्दित होते हैं) ॥६॥

श्रीधर—प्रीतिपूर्वकं भजनमाह—मच्चित्ता इति । मय्येव चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । मामेव गताः प्राप्ताः प्राणा इन्द्रियाणि येषां ते मद्गतप्राणाः मदर्पितजीवना इति वा । एवंभूताः ते बुधा अन्योऽन्यं मां न्यायोपेतैः श्रुत्यादिप्रमाणैः बोधयन्तो बुद्ध्वा च मां कथयन्तः सङ्कीर्तयन्तः सन्तो नित्यं तुष्यन्ति अनुमोदनेन तुष्टिं यान्ति । रमन्ति च निर्वृतिं यान्ति ॥६॥

अनुवाद—[प्रीतिपूर्वक भजनरीति या साधनका प्रकार बतलाते हैं]—मुझमें ही जिनका चित्त अनुरक्त है, जिनकी इन्द्रियाँ मुझको ही गत या प्राप्त हैं अर्थात् जिनका जीवन मदर्पित है, इस प्रकारके ज्ञानी लोग युक्तियुक्त श्रुत्यादि प्रमाणोंके द्वारा मुझको जानकर और आपसमें मेरे ही विषयमें कीर्तन करते हुए उसका अनुमोदन करके तुष्टि प्राप्त करते हैं और निर्वृतिको प्राप्त होते हैं । ['रमन्ति च रतिं प्राप्नुवन्ति प्रियसंगत्येव'—जैसे प्रिय-समागममें रति प्राप्त होती है वैसे ही रतिको प्राप्त होते हैं—शङ्कर] ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भ्रूमध्यमें सदा विन्दुमें दृष्टि रखकर मुझमें ही प्राण अवस्थित करके मन ब्रह्म एक ज्ञान होता है अतएव मेरी ही बात सब विषयोंमें कहते हैं और उसके द्वारा सन्तुष्ट होकर आनन्दित होते हैं ।—भगवान्के स्वरूप-चिन्तनकी बात कह रहे हैं । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मानन्दरूपममृतं यद्विभाति'—यह मुँहसे उच्चारण करनेसे ही उनका स्वरूप अवगत नहीं होता, ब्रह्मानन्दका आस्वाद नहीं मिलता । इस देहके भीतर ही उनके स्वरूपको अवगत करनेका उपाय है । जैसे समस्त जीवोंका पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर है वैसे ही इस शरीरके भीतर भी और एक शरीर है । वह अत्यन्त सूक्ष्म है, चक्षु आदि इन्द्रियोंके गोचर नहीं है, उसको लिङ्गशरीर कहते हैं, वह सप्तदश अवयवात्मक है । पञ्चदशीमें लिखा है—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥

श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सप्तदश पदार्थोंसे गठित सूक्ष्म शरीर ही लिङ्गशरीर है । योगी लोग इस लिङ्गशरीरको प्रत्यक्ष करते हैं । इस लिङ्गशरीरका शोधन ही भूतशुद्धि कहलाता है । भूतशुद्धिके बिना कोई पूजार्चनादि नहीं हो सकता । 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—देवता होकर देवताकी पूजा करनी पड़ती है । भूतशुद्धि होने पर ही यह शरीर देवशरीरमें परिणत होता है ।

तब देवाराधना तथा उसके फलस्वरूप देवैश्वर्य: और ज्ञानादिकी प्राप्ति होती है। रुद्रयामलमें लिखा है—

षट्चक्रार्थं न जानाति यो भजेदम्बिकापदम्।
तस्य पापं क्षयं याति सप्तजन्मसु सिद्धिभाक्॥
ज्ञात्वा षट्चक्रभेदञ्च यः कर्म कुरुतेऽनिशम्।
संवत्सराद्भवेत्सिद्धिरिति तन्त्रार्थनिर्णयः॥

जो षट्चक्रके विषयमें कुछ न जानकर देवताकी आराधना करते हैं उनके पाप क्रमशः क्षय हो जाते हैं और संभवतः उनको सात जन्म लेने पर सिद्धि प्राप्त होती है। परन्तु जो षट्-चक्र भेदका कौशल जानकर कर्मानुष्ठान (जप-पूजा आदि) करते हैं, वे संवत्सरके भीतर ही सिद्धि लाभ कर पाते हैं।

न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विनाप्यसौ।
द्वयोरभ्यासयोगेन शीघ्रसिद्धिमवाप्नुयात्॥
षट्चक्रभेदने प्रीतिर्यस्य साधनचेतसः।
संसारे वा वने वापि स सिद्धो भवति ध्रुवम्॥

योगके बिना मन्त्र और मन्त्रके बिना योग सिद्धि प्रदान नहीं करता। शीघ्र सिद्धिलाभ करनेके लिए दोनोंका अभ्यास करना आवश्यक है। साधनशील पुरुष षट्चक्र-भेदनमें यदि प्रीति या यत्न रखते हैं, वो वह संसारमें रहें या वनमें, निश्चय ही सिद्धि प्राप्त करते हैं।

गीताके प्रथम षट्कमें आध्यात्मिक व्याख्याकी सूचनामें तथा गीताकी व्याख्यामें स्थान-स्थान पर कहा गया है कि जीवके शरीरमें मेरुदण्डके मध्य भागमें मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सुषुम्ना नाड़ी फैली हुई है। उस सुषुम्नाके भीतर ही मूलाधार आदि षट्चक्र सन्निविष्ट हैं। सुषुम्ना नाड़ीके वाम भागमें अमृतरूपा चन्द्र या इड़ा नाड़ी तथा दक्षिणभागमें विष-प्रवाहिनी सूर्य या पिङ्गला नाड़ी है। ये भी मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त फैली हैं। इन तीनों नाड़ियोंका मिलनस्थान है आज्ञाचक्र। पश्चात् वहाँ से अलग-अलग प्रवाहित होकर पुनः मूलाधारचक्रमें ये तीनों नाड़ियाँ मिल जाती हैं। इसी कारण इनमें एकको युक्त-वेणी और दूसरीको मुक्त-वेणी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ीके भीतर वज्राख्या नामकी एक नाड़ी है और उसके भीतर एक और सूक्ष्म नाड़ी चित्रिणी विद्यमान है। यह चित्रिणी ही ब्रह्मनाड़ीके नामसे प्रख्यात है। सारे पद्म या चक्र इस नाड़ीमें ग्रथित हैं। यह नाड़ी केशके सहस्रांशके एक अंशके समान सूक्ष्म है। यह नाड़ी मूलाधारस्थित स्वयम्भूलिङ्गके मुख या ब्रह्मद्वार (हरिद्वार) से ब्रह्मरन्ध्र—परम शिवस्थान पर्यन्त फैली है। ये पद्म मुदितावस्थामें अधोमुख ही अवस्थित रहते हैं, कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य होने पर ये ऊर्ध्वमुख और विकसित होते हैं। इसी कारण चक्रचिन्तनके समय योगी लोग पद्मोंको ऊर्ध्वमुख-रूपमें ही चिन्ता करते हैं।

गुह्य और मेढ्रके बीचमें मूलाधार पद्म है, वह चतुर्दल है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलके समानान्तर ब्रह्मनाड़ीमें पद्मके समान ग्रथित स्वाधिष्ठानचक्र है, वह षट्-

दल है। उसके ऊपर नाभिके पीछे मणिपूर नामक दशदल पद्म है। मणिपूरके ऊपर जाकर हृदयदेशके पीछे अनाहत चक्र नामक द्वादशदल पद्म है। कण्ठमूलमें विशुद्ध चक्रमें षोड़शदल कमल है। उसके ऊपर भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र नामक द्विदल पद्म है। इस चक्रको भेद करके साधक सहस्रारमें ब्रह्मस्थानमें या गुरुस्थानमें गमन करनेमें समर्थ होता है। बीचमें और भी कई गुप्त चक्र या पद्म हैं। उसके ऊपर निरालम्बपुरी है। योगी लोग इस स्थानमें ही ज्योतिर्मय ईश्वरको देख पाते हैं। इसके ऊपर नाद है और नादके ऊपर बिन्दु है। उसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें अधोमुख सहस्रदल कमल है, उसके नीचे ऊर्ध्वमुख द्वादशदल पद्म है, इस पद्मका वर्ण श्वेत है। सुषुम्ना नाड़ीकी यही प्रान्तसीमा है। सहस्रदलके भीतर द्वादशदलके ऊपर परम शिवका स्थान है। कुण्डलिनीको उत्थापित कर इस सहस्रदल कमलमें स्थित परम शिवके साथ संयुक्त करना पड़ता है। परमशिव परमव्योमरूप हैं, वही परमात्मा या परब्रह्म हैं। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि नामक तीन ग्रन्थियाँ हैं। प्राण और अपानके योगके द्वारा ब्रह्मग्रन्थि-भेद होता है, पश्चात् विष्णु-ग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि भेद होने पर कुण्डलिनी सहस्रारमें उपनीत होती है।

मूलकाण्डे तु या शक्तिर्भुजगाकाररूपिणी।
तन्त्रमावर्त्तवातो यः प्राण इत्युच्यते बुधैः॥
झिल्लीरव्यक्तमधुरा कूजन्ती सततोत्थिता।
गच्छन्ती ब्रह्ममार्गेण प्रविशन्ती स्वकेतनम्॥
यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्।
तेन मन्त्रशिखा जाता सर्वमन्त्रप्रदीपिका॥

यह भुजगाकाररूपिणी महाशक्ति ही प्राण है, 'सा देवी वायवी शक्तिः'। यही प्राणादि वायुके रूपमें सारे शरीरमें फैली हुई है। यह प्राण समुत्थित होकर ब्रह्ममार्ग सुषुम्नाको भेद करके जब निज निकेतन सहस्रारमें प्रवेश करता है, तब नाना प्रकारके श्रुतिमधुर नाद सुन पड़ते हैं। इस प्रकार कुण्डलिनीस्थान मूलाधारसे सहस्रार पर्यन्त पुनः पुनः यातायातरूप क्रमके द्वारा मनोलय करना पड़ता है। यही यथार्थ रूपमें मन्त्र-शिखा है। इस प्रकार मन्त्रशिखाको जान लेने पर समस्त मन्त्रशक्तियाँ प्रकाशित होती हैं।

यह कुण्डलिनी शक्ति* कामकला-स्वरूपिणी है—"सापि कुण्डलिनी शक्तिः कामकलास्वरूपिणी।" वैष्णवोंकी श्रीराधिका कुण्डलिनी शक्ति ही हैं। 'राधिका होती हैं कृष्णका प्रणयविकार', यही गीताकी अपरा प्रकृति और तन्त्रकी महा-

---

* उपर्युक्त बातोंके साथ एक साधकके संगीतका विशेष मेल है, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ। जो साधक हैं वे ही इसके रहस्यको हृदयङ्गम कर सकते हैं। यह काम-कला-स्वरूपिणी कुण्डलिनीशक्ति ही जीवका महाप्राण माँ भगवती हैं, उनके जागरण या कृपाके बिना कोई ब्रह्मसान्निध्य नहीं प्राप्त कर सकता :—

प्रकृति हैं। वैष्णव ग्रन्थमें भी लिखा है—"कामबीज कामगायत्री तार उपासन"—परमात्मा या श्रीकृष्णकी उपासनामें कामबीज या कामगायत्रीकी आवश्यकता

"आमि जे सुखे घरे थाकि
कार काछे कइ केवा सुने,
मा बापे मोर घोर अनैक्य
तिलेक मिलन नाइ दुजने।
घरेते मा बापेर हेनो विच्छेद दिवाराति।
सुनेछि सेइ घरे नाकि जलेना साँझेर बाति॥
कथा किन्तु मिछे नय, देहघरे कोनओ समय।
घोर अन्धकार बइ आलोक, आमि देखि नाइ ए जीवने॥
यदि केउ जिज्ञासे कारण, गृहविच्छेद केन एमन
ब'लते बड़ व्यथा पाइरे बड़ सरम हय मने—
कर्मरूपा माता आमार कर्मे दिन काटे
अकर्मा जनक आमार सप्ततल मझे
अधोमुख कमल पेये, रङ्गे र'न आर देखेन चेये
सेई खेदे मा निजेर घरे सुये थाकेन अभिमाने।
देखे जननीर निरानन्द पिता मोर सच्चिदानन्द
कपट स्वयम्भूवेशे उदित मायेर निकेतने—
किन्तु ज्ञानमयी स्वरूप त्यजि ओ रूप आर नाहि याचे
आर से कुञ्चित काया मुख तुलि नाहि चाहे
अनाहारे अहर्निश, मृणालतन्तु मत कृश,
केवल रेखेछेन प्राण मा आमार कमलेरि मधुपाने॥
भाङ्गिते तादेर मनोविकार, अस्थिचर्म करेछि सार,
यागयज्ञ व्रतनियम करेछि कत प्राणपणे—
गियेछि श्मशाने भस्मे भूषित करेछि गात्र
बसियाछि चितार अङ्गे सार करेछि महापात्र
तातेओ पिता नाहि भोले, माटि तार गाटि ना तोले
बड़ निरुपाय हयेछि भाइ रे कुल पाव बल केमने?
श्रीनाथ कन सेइ जाने मिलन तत्त्वयोगेर योगी ये जन
परम तत्त्व ध्याने ज्ञाने रोध करे पवने—
तातेओ तो वैष्णवेर कार्य हलना फल साधा
निराश हलाम घरेर आमि बाहिर हते ये पड़िल बाधा,
तत्त्वयोगेर साधक ये जन, सेइ नाकि तार जाने मिलन
श्रीगोविन्द ता कि पारे से ये मत्त अहं-अभिमाने॥

होती है। इस कामबीजका अर्थ समझना बड़ा कठिन है, यह अतिशय गुप्त रहस्य है। यहाँ काम तो है परन्तु यह काम बाह्य वस्तुओंमें आसक्तिजनित काम नहीं है, यह कृष्णकाम है, इस आसक्ति या कामका नामान्तर है भक्ति, यह चित्तको आत्म-मुखी करता है। कृष्ण या परमात्माको पानेके लिए ही वैष्णव लोग श्रीराधिकाका आश्रय लेनेके लिए कहते हैं। यह राधिका ही शक्तिशाधकोंकी माँ

ॐकाररूपा परव्योमनिवासिनी
साधक जन शिरसि शतपत्रे पादचारिणी ॥
तड़ितावली जड़ित शतचन्द्रजित लावणी
मधुराधिक विधुरा मधु मधुर भाव-भाविनी ॥
तुमि नादरूपा बट मा, कर नादे सब सृष्टि,
नादे लय पालन मेघ नादे कर वृष्टि,
नादे नीलाकाशे, तपन शशी हासे
नादे बहे वायु घन वद्मे झलके दामिनी—
नादे स्वरग्राम-सञ्चारिणी, मातः मार्त्तण्डमण्डल-मध्यवर्त्तिनी।
नित्य चैतन्योदितादित्यसोमलोचनी ॥
देव पञ्चानन वर्णे, तुमि पञ्चाशत् वर्णे
पञ्चाकारे प्रवेश कर पञ्चायतनी कर्णे,
प्रवेशि निज अङ्गजे राख हृदि पङ्कजे
हंस सह रङ्गे अहरहः ये रह रङ्गिणी—
आपना प्रेमे बिभोरा तुमि आपनि,
त्वं हि अणिमादि अनिरुद्ध शिवकामिनी,
समाधि-अमावस्या-निशिवश्या भवगेहिनी ॥
इन्द्रो तपन कारो पद्मे, गणदेव कारो वद्मे,
काली कालरात्रिरूपे हाव मा कारो वद्मे,
धर शिर कृपाण हाते वराभीति शोभे ताते,
पर मा नर माथे गाँथि माला हरमोहिनी;
तुमि योगिजनसेव्या महायोगिनी।
केह वा कालकूटधर देखे माँ जटाजुटे फणी
केह पराये धड़ाचूड़ा धराय वेणु पाँचनी ॥

अनुवाद—मैं जिस सुखसे घरमें हूँ किससे कहूँ, कौन सुनेगा। मेरे माता-पितामें बड़ा मतभेद है, दोनोंमें तनिक भी ऐक्य नहीं है। जिस घरमें इस प्रकार दिन-रात माँ-बापमें विच्छेद होता है, सुना है उस घरमें शामको दीप नहीं जलता, यह बात झूठी नहीं है। इस जीवनमें मैंने इस देह-घरमें घोर अन्धकारके सिवा आलोक कभी नहीं देखा। यदि कोई कारण पूछे कि घरमें इस प्रकारका विच्छेद क्यों है, तो कहनेमें मुझे बड़ी व्यथा होती है, मनमें बड़ी लजा आती है। मेरी माता कर्मरूपा है, काम करते-

भगवती हैं जो समस्त जगत्का मूल कारण हैं। यह भगवती विश्व और विराट् रूपमें, तैजस और हिरण्यगर्भरूपमें, अव्याकृत और प्राज्ञरूपमें तथा अव्यक्तरूपमें

करते दिन कटते हैं, पिता मेरे अकर्मा हैं, सप्तदल सद्मपर अधोमुख कमलके रङ्गमें रमे रहते हैं और उसीको देखते रहते हैं। इसी खेदसे माँ घरमें अभिमान करके पड़ी रहती है। माँको निरानन्द देखकर सच्चिदानन्द मेरे पिता कपटी स्वयम्भू-वेशसे माँके घरमें प्रकट होते हैं, परन्तु ज्ञानमय स्वरूपको छोड़कर उस रूपकी वह याचना नहीं करती और अपना कुञ्चित कायामुख उठाना नहीं चाहती। दिन-रात अनाहार रहनेके कारण मृणालतन्तुके समान कृश मेरी माँ कमलका मधुपान करके किसी प्रकार प्राण-रक्षा करती हैं। उन दोनोंके मनोविकारको तोड़नेके लिए अस्थिचर्मावशिष्ट होकर मैं प्राणपणसे न जाने कितना याग-यज्ञ, व्रत-नियम करता हूँ, श्मशानमें जाकर शरीरको भस्मभूषित करता हूँ, चिताके अङ्कमें बैठकर मैं महापात्र (खोपड़ी) को सर्वस्व करता हूँ। इससे भी पिता प्रसन्न नहीं होते और न माँ ही अपने शरीरको उठाती हैं। बड़ा निरुपाय हो रहा हूँ, हे भाई! बतलाओ मुझे कुल कैसे मिलेगा? श्रीनाथ कहते हैं कि जो आदमी परमतत्त्वका ध्यान, ज्ञान तथा पवनका अवरोध करता है वही तत्त्व-योगका योगी इस मिलन-तत्त्वको जानता है। उससे भी तो वैष्णवके कार्यकी फलसिद्धि न हुई, बाहरसे बाधा पड़नेके कारण घरका होते हुए भी मैं निराश हो गया। सुनते हैं कि जो तत्त्वमयीके साधक हैं वे ही मिलनकी रीति जानते हैं। श्रीगोविन्द तो अहंअभिमानमें मत्त है, वह क्या इसमें समर्थ हो सकता है?

हे माँ, तुम ॐकाररूपा हो, परव्योमनिवासिनी हो, साधकोंके सिरमें शतदलपर पद-संचारण करती हो, विद्युज्जड़ित तुम्हारा लावण्य शतचन्द्रको भी पराजित करने वाला है, तुम विधुरा हो, अत्यन्त मधुर हो, मधुर भावभाविनी हो। माँ, तुम नाद-रूपा हो, नादसे ही सृष्टि करती हो, नादसे ही पालन और लय करती हो, इसी नादसे मेघ-द्वारा वृष्टि कराती हो, इसीसे नीलाकाशमें सूर्य-चन्द्र हँसते हैं। नादसे वायु बहती है और घनके वक्ष-स्थलमें दामिनी झलकती है। तुम नादसे ही स्वर-ग्रामका संचार करती हो। हे माँ, तुम मार्तण्ड-मण्डलके मध्यमें रहती हो, सूर्य-चन्द्ररूपी नेत्रों वाली तुम नित्य चैतन्य रूपमें उदित होती हो। महादेवजी कहते हैं कि तुम पञ्चाशत (५०) वर्णोंमें प्रकट हो। हे पञ्चायतनी, तुम पञ्चाकारसे कर्णमें प्रवेश करती हो, अपने अङ्कमें प्रवेशकर उनको हृदय कमलमें धारण करती हो। हे रंगिनी, तुम हंसके साथ दिन-रात रँगी रहती हो। तुम स्वयं अपने प्रेममें विभोर रहती हो, अणिमादि सिद्धियाँ तुम्हीं हो। माँ, तुम अनिरुद्ध शिवकामिनी हो। हे भवगेहिनी, समाधिरूपी अमावस्या-निशि जिन्होंने आयत्त किया है, तुम उनके वशमें हो। माँ, तुम किसीके पक्षमें तपन-रूपा होती हो और किसीकी आँखोंमें गणदेव। हे माँ, कालरात्रीरूपसे किसीके वक्षःस्थलपर हास्य करती हो, हाथमें मुण्ड और कृपाण धारण करती हो। तुम्हारे हाथमें वराभीति (अभयवर) शोभा देती है। हे नरमोहिनी, तुम नर-मुण्डोंकी माला पहनती हो। माँ, तुम योगीजनसेव्या महायोगिनी हो, तुम्हारे जटाजूटमें कोई तो विषधर फणी देखता है और कोई पीताम्बर और मुकुटसे विभूषितकर हाथमें बाँसुरी और लकुटी देता है।

सर्वरूपा हैं। वही मूल प्रकृतिरूपमें समस्त जगत्की जननी हैं। वही देवताओंको अभीष्ट फल प्रदान करनेके लिए दिव्य देह धारण कर दानवोंका संहार करती हैं। वह अव्यक्त-स्वरूपा और निराकार हैं तथापि भक्त लोग उनको दिव्य देह धारण करने वाली भक्त-वाञ्छा-कल्पलतिका-रूपमें देख पाते हैं। इस परमा देवी (कुण्डलिनी)की पूजाके द्वारा ही सब देव-देवी पूजित होते हैं। इस मूल प्रकृतिसे महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली प्रादुर्भूत होती हैं। इस त्रिविध शक्तिसे त्रिविध नाद (त्रिविध महत्तत्त्वरूपमें) और त्रिविध नादसे त्रिविध विन्दु (सात्त्विक, राजस और तामस अहङ्काररूपमें) समुद्भूत होते हैं। सात्त्विक अहङ्कारसे अपञ्चीकृत शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, रसज्ञान और गन्धज्ञानरूपमें एवं राजसिक अहङ्कारसे अपञ्चीकृत शब्दशक्ति, स्पर्शशक्ति, रूपशक्ति, रसशक्ति और गन्धशक्तिरूपमें तथा तामस अहङ्कारसे अपञ्चीकृत आकाश, वायु, तेज, जल और क्षितिरूपमें वह अव्यक्ता, निराकारा और सूक्ष्मारूपसे प्रकटित हुई हैं। इसके विपरीत पञ्चीकृत स्थूलभूतादिरूपमें वह व्यक्ता, स्थूला और साकारारूपसे प्रकटित हुई हैं। प्रलयकालमें एकमात्र तमोगुण रहता है, सत्त्वरजः क्रमशः तमोगुणमें लय हो जाते हैं, तमोगुण मूल प्रकृतिमें लयको प्राप्त होता है। सृष्टिके पूर्व प्रकृतिमें गुणक्षोभ होता है, तब पहले तमोगुणका आविर्भाव होता है, उस तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुण आविर्भूत होते हैं। यह तमः ही शक्ति शब्दसे निर्दिष्ट होता है। मनु कहते हैं— "आसीदिदं तमोभूतं अप्रज्ञातं अलक्षणम्"। शारदातिलक तन्त्रमें लिखा है—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलस्मृतः॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीत् शक्तिस्ततो नादो नादात् विन्दुसमुद्भवः॥

शक्तियुक्त परमेश्वर ही मूल प्रकृति हैं। शक्ति दो प्रकारकी है, ज्ञानमयी और अज्ञानमयी अथवा विद्या और अविद्यारूपा। अविद्या ही संसार-बन्धनका कारण है और विद्या संसार-बन्धनके नाशका कारण है। नाद ही महत्तत्त्व है। वह सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका होता है। यह नादत्रय ही अव्यक्त महेश्वर, अव्यक्त ब्रह्मा और अव्यक्त विष्णु है। परब्रह्ममें क्रिया नहीं होती, कर्तृत्व भी नहीं होता, अतएव उस समय सृष्टि भी नहीं होती और प्रलय भी नहीं होता। पश्चात्—

सृष्टेरादौ त्वमेकासीत्तमोरूपमगोचरम्।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं परब्रह्मसिसृक्षया॥
महत्तत्त्वादिभूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत्।
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥

महानिर्वाण, तृतीय उल्लास।

सृष्टिके आदिमें एकमात्र तुम्हीं तमोरूपमें विद्यमान थी, तुम्हारा वह अव्यक्त रूप वाणी और मनके अगोचर है। पश्चात् परब्रह्म (मूल प्रकृतिके सहित तादात्म्य प्राप्त तुरीय ब्रह्म) की सिसृक्षा (सृष्टिकी इच्छा) के अनुसार तुम्हारे ही रूपभेद

तमोरूप शक्तिसे अखिल जगत् सृष्ट हुआ है। महत्तत्वसे लेकर पञ्चीकृत महाभूत पर्यन्त सारा जगत् तुमसे ही सृष्ट होता है। सब कारणोंके कारण परब्रह्म केवल निमित्त-मात्र हैं। इस मूलप्रकृतिसे उपहित तुरीय ब्रह्म, अथवा तुरीय ब्रह्मके साथ एकीभूत मूलप्रकृति ही आद्या कालीके नामसे अभिहित होती हैं।

इसी कारण देखनेमें आता है कि गोपियोंने श्रीकृष्ण (सच्चिदानन्द ब्रह्म-स्वरूप) को पानेके लिए भगवतीकी उपासना की थी। जो साधक भगवत्-उपासक हैं उन सबको इस भगवतीकी उपासना करनी पड़ती है। वही कुण्डलिनी-शक्तिके रूपसे प्रत्येक जीवके जीवनरूपमें विद्यमान रहती हैं। योगीलोग योगाभ्यासके द्वारा इस मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी-शक्तिको सहस्रार-स्थित परमशिवके साथ संयुक्त करके संसार-सागरसे उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह कुण्डलिनी देवी ही 'कामकला' है। तन्त्रमें अपने आपको इस कामकलारूपमें चिन्तन करनेका उपदेश है। तन्त्रमें कामकलाका रूप है ऊर्ध्वमें एक बिन्दु, उस बिन्दुके नीचे दोनों ओर दो बिन्दु—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के समान (△), इसके तीन कोनेमें तीन बिन्दु हैं और नीचे ‿ यह नादका चिह्न है—∴‿। प्रकृतिके गुणक्षोभसे ये बिन्दुत्रय उद्भूत होते हैं। उनमें पहला तामसिक बिन्दु होता है, तामसिक बिन्दुसे राजसिक बिन्दु तथा राजसिक बिन्दुसे सात्त्विक बिन्दुकी उत्पत्ति होती है। बिन्दुत्रयको धारण करनेवाला नाद ही गुणक्षोभयुक्ता सृष्टि-उन्मुखी मूलप्रकृतिका प्रथमोच्छ्वास है। यह बिन्दुत्रय ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके उत्पत्ति स्थान हैं अथवा यह बिन्दुत्रय ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ही बिन्दुत्रयके व्यक्त भाव हैं।

गुरूपदिष्ट साधनके द्वारा भ्रूमध्यमें दृष्टि लगाते-लगाते बिन्दुका दर्शन होने लगता है, क्रमशः जिह्वा, चक्षु, मन और प्राण स्पन्दनशून्य हो जाते हैं। तभी 'सुषुम्नमें प्राणकी स्थिति' होती है। तब मन मन नहीं रहता, वह ब्रह्मरूप हो जाता है। उनके लिए कोई भी वस्तु तब ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती, वह जिस विषयकी आलोचना करते हैं सब ब्रह्मालोचना होती है। इस प्रकारकी अवस्थामें सर्वत्र ही ब्रह्मदर्शन होता रहता है। इसमें ही उनको आनन्द मिलता है और इसमें ही सन्तोष प्राप्त होता है। पद्मपत्रमें जलकी स्थितिके समान विषय उनको लिप्त नहीं कर सकते। योगी इस प्रकारसे कर्म करनेका सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, इस अवस्थामें कर्म उनको आबद्ध नहीं कर सकता। परन्तु जबतक कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत नहीं होती तबतक साधकको यह अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती। कुलकुण्डलिनी ही सुषुम्नास्थित प्राणशक्ति है, इसे ही ब्रह्मशक्ति या प्रकृति कहते हैं। ब्रह्म प्रकृतिस्थ होकर ही सृष्टिकार्यमें रत होते हैं। शरीरके भीतर यह शक्ति मूलाधारमें सुप्तावस्थामें रहती है। यह प्राण-वायुके निरोधके द्वारा जाग्रत होती है। प्राणवायुको निरोध करनेके कौशलका नाम ही क्रिया है। क्रिया करते करते शरीरस्थ मेरुदण्डके भीतर स्थिति-स्वरूपमें इस शक्तिका बोध हो सकता है। इस स्थिति-शक्तिके द्वारा ही पञ्चतत्त्वमें प्रवेश करनेकी क्षमता प्राप्त होती है। इसके भीतर प्रवेश होने पर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" बोधका विषय बनता है। तब कोई आवरण नहीं रहता, अतएव भीतर-बाहर भी नहीं

होता अर्थात् भीतर-बाहर एक हो जाता है। यही "पिण्डस्थं पिण्डवर्जितम्" अवस्था है। सुषुम्नामें प्राणकी स्थिति होने पर ही क्रियाकी परावस्था उदित होती है, उस अवस्थामें मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सदा अटके रहनेके समान बोध होता है। तब वाम और दक्षिण स्रोत मध्यस्रोतमें मिल जाते हैं अर्थात् इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, ये तीनों स्रोत एक स्रोतमें पर्यवसित होकर कुलकुण्डलिनीके आकारमें आकारित होकर सर्वव्यापक हो जाते हैं। तब ब्रह्मके सिवा और कुछ बोध न रहनेके कारण 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है। यह अवस्था ही क्रियाकी परावस्था है, इस अवस्थासे साधक जब उतरते हैं तब समान अधिकारको प्राप्त साधक परस्पर इस अवस्थाके बारेमें आलोचना करके परमानन्दको प्राप्त होते हैं। तब उनका चित्त सदा आत्ममुखी और उनके प्राणका आकर्षण ऊर्ध्वमुखी होता है। उस देशकी भाषा और भावको वे ही समझ पाते हैं और उसी भावमें मतवाला होकर वे परमान्द प्राप्त करते हैं ॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

अन्वय—प्रीतिपूर्वकं (प्रीतिपूर्वक) भजतां (भजनकारी) सततयुक्तानां (सतत युक्त) तेषां (उनको) तं बुद्धियोगं (वह बुद्धियोग) ददामि (मैं देता हूँ) येन (जिसके द्वारा) ते (वे) मां (मुझको) उपयान्ति (प्राप्त होते हैं) ॥१०॥

श्रीधर—एवंभूतानाञ्च सम्यग्ज्ञानं अहं ददामीत्याह—तेषामिति। एवं सतत-युक्तानां मय्यासक्तचित्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां तं बुद्धिरूपं योगमुपायं ददामि। तमिति किं ? येनोपायेन ते मद्भक्ता मां प्राप्नुवन्ति ॥१०॥

अनुवाद—[इस प्रकारके लोगोंको मैं सम्यग् ज्ञान प्रदान करता हूँ, इस विषयमें कहते हैं]—मुझमें आसक्तचित्त और प्रीतिपूर्वक भजन करने वालोंको मैं बुद्धिरूप उपाय देता हूँ। वह बुद्धि कैसी है—जिस उपायके द्वारा मेरे भक्तगण मुझको प्राप्त होते हैं वही बुद्धियोग है ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार सर्वदा विशेषरूपसे और निःशेषरूपसे आत्मामें अटका रहता है जो इच्छारहित होकर, जो अवस्था क्रियाके परे होती है—इस प्रकार जो भजन करता है क्रियाके सिवा और कुछ न जानकर, उसको मैं समाधिमें अचल बुद्धिका योग देता हूँ -जिसके द्वारा आश्चर्य अनुभव बोध प्राप्त होता है।—जो इस प्रकार सदा भजन करते हैं वे सदा ही मच्चित्त होते हैं अर्थात् आत्मामें अटके रहते हैं, यही निरोध अवस्था कहलाती है। इस अवस्थामें कोई इच्छा या सङ्कल्प नहीं रहता। यह अवस्था क्रियाभ्यासके बाद अनुभूत होती है, अतएव इसको क्रियाकी परावस्था कहते हैं। क्रिया की परावस्थाको प्राप्त साधककी अवस्था एक प्रकारसे नशाखोरके समान होती है, उसमें बड़ा ही सुख मिलता है, मन नहीं भटकता, अपने आपमें मत्त होकर रहता है। यह अवस्था जिसको प्राप्त होती है, उसे ऐसा लगता है कि जिस क्रियाके द्वारा यह अवस्था पायी जाती है उसके समान दूसरी कोई वस्तु इस जगत्‌में नहीं है।

क्रियाके प्रति जिसका इस प्रकारका दृढ़ विश्वास होता है, उसकी समाधिमें अचल मति हो जाती है अर्थात् और किसी ओर समय न लगाकर वह समाधि-साधनमें ही निरन्तर रत रहता है। इसके फलस्वरूप उसको आश्चर्य्यजनक अनुभव होते रहते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अन्वय—अहं (मैं) तेषां (उनके प्रति) अनुकम्पार्थं एव (अनुग्रहवश होकर ही) आत्मभावस्थः [सन्] (बुद्धिवृत्तिमें आत्मसत्ताके प्रकाशके साथ) भास्वता (दीप्तिमय) ज्ञानदीपेन (तत्त्वज्ञानरूप दीपद्वारा) अज्ञानजं तमः (अज्ञानजनित अन्धकार या तमोगुणको) नाशयामि (नष्ट करता हूँ) ॥११॥

श्रीधर—बुद्धियोगं दत्वा च तस्यानुभवपर्यन्तं तं आपाद्य अविद्याकृतं संसारं नाशयामीत्याह—तेषामिति। तेषामनुकम्पार्थे—अनुग्रहार्थमेव अज्ञानाज्जातं तमः संसाराख्यं नाशयामि। कुत्र स्थितः सन्, केन वा साधनेन तमो नाशयसि ? इत्यत आह—आत्मभावस्थो बुद्धिवृत्तौ स्थितः सन्, भास्वता विस्फुरता ज्ञानलक्षणेन दीपेन नाशयामि ॥११॥

अनुवाद—[मैं बुद्धियोग प्रदान करके भी बुद्धिके द्वारा उसके अनुभव होने तक उस बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर उसके अविद्याकृत संसारका नाश करता हूँ, इस विषयमें कहते हैं]—उनके प्रति अनुग्रह दिखलानेके लिए उनके अज्ञानजनित संसार-रूपी तमको अर्थात् अन्धकारको मैं नष्ट कर देता हूँ। यदि कहो कि तुम कहाँ रहकर तथा किस साधनके द्वारा उसके अज्ञानका नाश करते हो तो इसका उत्तर देते हैं—उनकी बुद्धिवृत्तिमें मैं अवस्थित होकर विस्फुरित ज्ञानदीपके द्वारा उनके अज्ञान-जनित अन्धकारका नाश करता हूँ। ["ज्ञानदीपेन विवेकप्रत्ययरूपेण भक्ति-प्रसाद-स्नेहाभिषिक्तेन मद्भावनाभिनिवेशवातेरितेन ब्रह्मचर्यादि-साधन-संस्कारवत्प्रज्ञावर्त्तिना विरक्तान्तःकरणाधारेण विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन नित्य-प्रवृत्तैकाग्रयध्यानजनितसम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेन इत्यर्थः"—अन्तःकरणाशयमें स्थित होकर मिथ्याज्ञानरूप तमको नष्ट कर देता हूँ। किसके द्वारा नष्ट करता हूँ ? ज्ञानदीपके द्वारा। वह ज्ञानदीप कैसा है ? वह विवेक-बोधरूप ज्ञानदीप भक्तिजनित चित्तके प्रसादरूप तेलके द्वारा अभिषिक्त तथा ईश्वर-भावनाभिनिवेशरूप वायुके द्वारा प्रथम प्रज्वलित होता है, ब्रह्मचर्यादि साधन-संस्कारके साथ मिली हुई प्रज्ञा ही उस दीपकी वर्त्तिका है, विरक्त अन्तःकरण ही उस दीपका आधार है। राग और द्वेषके उदय होने पर जो कलुषित नहीं होता, ऐसे विषयचिन्तनशून्य चित्तरूप आवृत गृहमें ही वह दीप निष्कम्प भावसे जलता रहता है। सर्वदाविद्यमान एकाग्रता और ध्यान तथा तज्जनित सम्यग् दर्शनरूप प्रभाके द्वारा वह ज्ञानदीप सदा उद्भासित रहता है, इस प्रकारके दीप्तिमय ज्ञानदीपके द्वारा उनके अज्ञानजनित मोहान्धकारको मैं नष्ट करता हूँ—शङ्कराचार्य] ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वह सब साधक ब्रह्ममें रहते-रहते—ब्रह्मका अनुसन्धान करते-करते परा बुद्धिके अद्भुत अनुभवोंका बोध करते हैं—इसके अतिरिक्त अन्यभावापन्न होकर न जाननेके स्वरूप अन्धकारका नाश करते हैं—आत्मामें क्रियाकी परावस्थामें रहकर—सूक्ष्म शरीरसें रहकर दीपवत् प्रकाश ज्ञानके द्वारा।—क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मका अनुसन्धान होता है, वहाँ सब अद्भुत अनुभव होते हैं। वह एक विचित्र देश है, वहाँ चन्द्र-सूर्य-अग्नि नहीं हैं तथापि स्वप्रकाश है!! क्रियाभ्यासके द्वारा कूटस्थके भीतर नक्षत्ररूपी गुहामें जो जाते हैं वह वहाँ आकाशमूर्त्ति देवताओंके द्वारा होनेवाले ॐकार-ध्वनि-गानका अनुभव करते हैं। जो क्रिया करते हैं वे इस आनन्दमय स्थानमें गमन करते हैं। उसके बाद सर्वज्ञ सर्वव्यापक आत्मामें लक्ष्य होता है। क्रिया करते-करते जब क्रियाकी परावस्था आती है तब यह अनुभव होता है कि यही अवस्था सर्वव्यापी ब्रह्मकी अवस्था है। "मूलाधारसे कूटस्थ पर्यन्त सूक्ष्मरूपमें सदा खिंचाव रहता है, इस अवस्थामें जो सदा रहता है वह शिव हो जाता है। कूटस्थकी गुहाके भीतर प्रवेश करने पर शोकरहित अवस्था प्राप्त होती है, सप्त धातुओंमें सौम्यता आती है। इस ॐकाररूपी शरीरके भ्रूमध्यमें निवात दीपशिखाके समान प्रकाश देखा जाता है, वहाँ मृणालतन्तुके समान आभा इस आँखसे देखी जाती है। वही शक्तिरूपा शिवा हैं, वही सूर्यस्वरूप कूटस्थका रूप है। इस शरीरमें ७२००० नाड़ियाँ हैं, उनको क्रियाके द्वारा भेद करने पर उपर्युक्त अद्भुत दृश्य देखे जाते हैं, तब घराटानाद सुननेमें आता है। पश्चात् क्रियाकी परावस्थाका उदय होने पर कुछ भी देखना-सुनना नहीं रहता—यही ब्रह्मपद या अमृतपद है"। जो मन लगाकर श्रद्धापूर्वक क्रिया करते हैं, क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होने पर उनको देहबोध नहीं रहता। देहबोध ही घोर अज्ञान-तम है। जो लोग क्रियाभ्यासमें रत रहते हैं, उनकी बुद्धिकी मलिनता नहीं रहती, बुद्धि एकाग्र होकर ध्यान-निश्चल अवस्था प्राप्त करती है। इस निश्चल अवस्थाके द्वारा सम्यग् ज्ञान प्रदीप्त हो उठता है। तब उनकी बुद्धिवृत्ति विषयग्रहणमें अप्रवृत्त हो जाती है, जिससे आत्मसाक्षात्काररूप परम ज्ञान प्रकाशित होता है, तब उनकी बुद्धिमें संसार-मल जमने नहीं पाता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले), भवान् (आप) परं ब्रह्म (परब्रह्म) परं धाम (परम धाम या आश्रय अथवा प्रकाशस्वरूप) परमं पवित्रं (परम पवित्र) शाश्वतं पुरुषं (सनातन पुरुष) दिव्यं (स्वप्रकाश) आदिदेवं (आदिदेव) अजं (जन्मरहित) विभुम् (सर्वव्यापी) [आहुः—कहलाते हैं] ॥१२॥

श्रीधर—संक्षेपेणोक्तां विभूतिं विस्तरेण जिज्ञासुः भगवन्तं स्तुवन् अर्जुन उवाच—परं ब्रह्मेति सप्तभिः। परं ब्रह्म परं धाम चाश्रयः। परमं च पवित्रं भवानेव। कुत

इति। अत आह—यतः शाश्वतं नित्यं पुरुषं तथा दिव्यं द्योतनात्मकं स्वयंप्रकाशं च। आदिश्चासौ देवश्चेति तम्। देवानामादिभूतमित्यर्थः। तथा अजम् अजन्मानं विभुं व्यापकं त्वामेवाहुः ॥१२॥

अनुवाद—[संक्षेपमें कही गयी विभूतिको विस्तार रूपसे जाननेके लिए जिज्ञासु होकर ७ श्लोकोंमें भगवान्का स्तवन करते हुए] अर्जुन बोले—आपको लोग परब्रह्म, परम आश्रय तथा परम पवित्र कहते हैं। क्यों कहते हैं, इसका उत्तर देते हैं—क्योंकि आप नित्य पुरुष हैं और द्योतनात्मक स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं। आप देवताओंके आदि हैं, जन्मरहित और व्यापक हैं ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा बोध हो रहा है—क्रियाके परे जो अवस्था है वही परब्रह्म है और परम धाम है अर्थात् निश्चय ही उसके परे दूसरा स्थान नहीं है—मन वहाँ ही निर्मल होता है—आप ही सबके परे हैं, आप ही उत्तम पुरुष नित्य आकाशवत् सब आकाशोंके आकाश अर्थात् महाकाश हैं, आपका जन्म नहीं होता—स्वयं प्रकृष्ट रूप होते हैं।—क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें आत्मा परमात्मामें लीन हो जाता है। तब ब्रह्मके सिवा अन्य किसी वस्तुमें मन न रहनेके कारण सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। जब सब एक हो जाता है तब साधक स्वयं भी ब्रह्म हो जाता है। अतएव उस अवस्थामें और भी कुछ है, यह बात कोई कैसे कह सकता है, इसलिए उसको अव्यक्त पद और परम धाम कहते हैं। अव्यक्त पदके परे एक पुरुष दीख पड़ते हैं, वह विभु अर्थात् सर्वव्यापी हैं, वह अत्यन्त सूक्ष्म, अणुसे भी अणुस्वरूप सर्वव्यापक हैं। उस ब्रह्माणुके भीतर त्रिलोक वर्त्तमान है। इसके परे और कुछ नहीं है, इसीलिए इसको परा गति कहते हैं। मन वहाँ निर्मल हो जाता है अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पात्मक नहीं रह जाता, इसी कारण यह प्रपञ्चातीत अवस्था परम पवित्र होती है। यद्यपि आत्मा जन्मरहित तथा आकाशवत् निःसङ्ग है तथापि सारा जगत्प्रपञ्च इसीसे प्रकृष्टरूपमें उत्पन्न होता है, इसीलिए इसको आदिदेव कहते हैं। वह प्रकाशस्वरूप है, कभी उत्पन्न नहीं होता, वह सदा ही रहता है। मनकी चञ्चलताके कारण वह जान नहीं पड़ता, साधनके द्वारा मन निश्चल होने पर वह निजबोधरूप हो जाता है ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अन्वय—सर्वे ऋषयः (सब ऋषि लोग) देवर्षि नारदः (देवर्षि नारद) तथा (और) असितः देवलः व्यासः (असित, देवल और व्यास) त्वां (तुमको) [उपर्युक्त रीतिसे] आहुः (पुकारते हैं) स्वयं च एव (और तुम स्वयं भी) मे (मुझको) ब्रवीषि (कहते हो) ॥ १३ ॥

श्रीधर—के त इति ? अत आह—आहुरिति। ऋषयो भृग्वादयः सर्वे। देवर्षिः नारदः, असितश्च, देवलश्च व्यासश्च। स्वयं त्वमेव च साक्षान्मे मह्यं ब्रवीषि ॥१३॥

अनुवाद—[कौन तुमको ऐसा कहते हैं ?]—भृगु आदि सारे ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास तुमको ऐसा कहते हैं, स्वयं तुम भी मुझसे यही बात कहते हो ॥ १३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब ऋषि आपको ही कहते हैं आकाशस्वरूप, नारद भी कहते हैं, असित, देवल, व्यास और आप भी कह चुके हैं।—ऋषियों और शास्त्रोंके वचन हम सुनते हैं कि ब्रह्म निर्मल महाकाश-स्वरूप हैं, भगवत्-अनुग्रहसे साधक उनको स्वयं प्रत्यक्ष करता है। अपना अनुभूत विषय शास्त्रद्वारा समर्थित होने पर साधककी बुद्धि साधनामें और भी दृढ़ीभूत होती है और उसे आनन्द मिलता है ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

अन्वय—केशव (हे केशव !) मां (मुझको) यद् वदसि (जो तुम कहते हो) एतत् सर्वं (वह सब) ऋतं मन्ये (मैं सत्य मानता हूँ) हि (क्योंकि) भगवन् (हे भगवन् !) ते (तुम्हारी) व्यक्तिं (प्रभाव या आविर्भाव) न देवाः दानवाः च (न देवगण और न दानवगण) विदुः (जानते हैं) ॥ १४ ॥

श्रीधर—अतो ममेदानीं त्वदीयैश्वर्ये असम्भावना-निवृत्तेत्याह—सर्वमेतदिति। एतद्भवानेव परं ब्रह्मेत्यादि सर्वमपि ऋतं सत्यं मन्ये। यन्मां प्रति त्वं कथयसि—"न मे विदुः सुरगणाः" इत्यादि। तदपि सत्यमेव मन्ये इत्याह—न हीति। हे भगवन् ! तव व्यक्तिं देवा न विदुः। अस्मदनुग्रहार्थमियमभिव्यक्तिरिति न जानन्ति। दानवाश्च अस्मन्निग्रहार्थमिति न विदुरेवेति ॥ १४ ॥

अनुवाद—[तुम्हारे ऐश्वर्यके सम्बन्धमें अब मेरी असम्भावना-बुद्धि निवृत्त हो गई है, इस विषयमें कह रहे हैं]—ऋषि लोग जो तुमको परब्रह्म कहते हैं, वह मैं सत्य समझता हूँ और जो तुम कहते हो कि देवगण और ऋषिगण तुम्हारे आविर्भावको नहीं जान सकते, इसको भी सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! देवता लोग भी तुम्हारे प्रभावको नहीं जानते अर्थात् उनके प्रति अनुग्रह प्रदर्शन करनेके लिए ही तुम्हारी अभिव्यक्ति है, यह वे नहीं जानते। दानव लोग भी नहीं जानते हैं कि उनके निग्रहार्थ ही तुम्हारा आविर्भाव होता है। [प्रभवो नाम प्रभावो निरुपाधिकस्वभावः—प्रभाव अर्थात् निरुपाधिक स्वभाव—आनन्दगिरि] ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो आप कहते हैं सब मैं सत्य मानता हूँ, देव-दानव ये कोई आपको नहीं बतला सकते और विशेषरूपसे जान भी नहीं सकते।—आत्माको आत्मा ही जानता है और किसीका सामर्थ्य नहीं कि उसको जाने। जो उसको जानता है वह आत्मा ही हो जाता है। देवता वे हैं जो कूटस्थ दर्शन करते हैं और जिन्होंने उसमें कुछ-कुछ स्थिति-लाभ कर लिया है। वे भी उनके निरुपाधिक आत्माकार भावकी धारणा नहीं कर सकते, क्योंकि क्रियाकी परावस्थामें "मैं" या "मेरा" बोध नहीं

रहता। और दानव लोग तपस्वी होने पर भी फल और ऐश्वर्यकी कामनासे सदा विमूढ़चित्त रहते हैं, वे उस समाधिलभ्य अवस्थाकी बात क्या समझेंगे ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

अन्वय—पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) भूतभावन (हे भूतभावन!) भूतेश देवदेव जगत्पते (हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पते) त्वं (तुम) स्वयं एव (अपने ही) आत्मना (अपने द्वारा अथवा अपने प्रभावसे) आत्मानं (अपने आपको) वेत्थ (जानते हो) ॥ १५ ॥

श्रीधर—किं तर्हि—स्वयमिति। स्वयमेव त्वं आत्मानं वेत्थ जानासि, नान्यः। तदप्यात्मना स्वेनैव वेत्थ, न साधनान्तरेण। अत्यादरेण बहुधा सम्बोधयति—हे पुरुषोत्तम! पुरुषोत्तमत्वे हेतुगर्भाणि सम्बोधनानि। हे भूतभावन भूतोत्पादक। भूतानामीश नियन्तः। देवानामादित्यादीनां देव प्रकाशक। जगत्पते विश्वपालक ॥ १५ ॥

अनुवाद—[तुमको देवता या दानव नहीं जानते, तब कौन तुमको जानता है?] स्वयं ही तुम अपनेको जानते हो और कोई नहीं जानता। वह भी तुम अपने ही द्वारा अपनेको जानते हो, इसलिए दूसरे किसी साधनकी आवश्यकता नहीं होती। [भगवान्‌के सिवा और किसीको इस प्रकारकी स्वतःसिद्ध स्वानुभूति संभव नहीं है] अतिशय समादरके लिए इस श्लोकमें भगवान्‌को अनेक प्रकारसे सम्बोधन किया गया है। 'पुरुषोत्तम' हेतुगर्भ सम्बोधन है। भूतभावन अर्थात् भूतोत्पादक, भूतेश अर्थात भूतोंका नियन्ता, देवदेव अर्थात् आदित्यादि देवताओंका प्रकाशक, जगत्पते अर्थात् विश्वपालक। [त्वं निरतिशयज्ञानैश्वर्यबलादिशक्तिमन्तमीश्वरं पुरुषोत्तम—तुम ज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदि शक्तियोंमें निरतिशय हो, तुम ईश्वर पुरुषोत्तम हो—शङ्कराचार्य। पुरुषोत्तम—पुरुषश्चासावुत्तमश्चेति क्षराक्षरातीतपूर्णचैतन्यरूपत्वं बोध्यते—क्षर और अक्षरके परे पूर्ण चैतन्यरूप—पुरुषोत्तम शब्दसे जाना जाता है—आनन्दगिरि] ॥ १५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—स्वयं क्रिया करने पर उत्तम पुरुष अपनेमें प्रकृष्टरूपसे जाना जाता है—तुम्हीं सब भूतोंके भाव अर्थात् क्रियाकी परावस्था हो, सब भूतोंके कर्त्ता अर्थात् सब भूत ब्रह्मसे निर्गत हुए हैं; सब प्रकारके आकाश अर्थात् शून्य भावित भावात्माओंके परव्योमस्वरूप तुम होते हो—जितनी चलायमान वस्तुएँ हैं उनमें भी तुम कर्त्तास्वरूपमें हो।—'मैं' पदार्थ क्या है, यह देहात्मबोधयुक्त चञ्चल-स्वभाव जीवके लिए बोधगम्य होनेवाला नहीं है। यह आत्मा ही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, यह अल्पज्ञ जीवकी समझमें आना सुसाध्य नहीं है। आपाततः ऐसा मान लिया जाय कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। अब यह विचार करना है कि इस जीवरूप घटाकाशके साथ परमात्मारूप महाकाशका सम्बन्ध क्या है? इस घट अर्थात् मायाके द्वारा सारा पार्थक्य प्रतीत हो रहा है, नहीं तो आकाशमें पृथक्त्व क्या है?

एक महाकाश ही अखण्डभावसे चराचर जगत्‌में व्याप्त रहता है। घट उसका सामयिक उपाधिमात्र है। इस उपाधिको ग्रहण करनेका हेतु है अज्ञान-जनित कल्पना। आकाशको कौन लिप्त करेगा? उसको पकड़ रखनेका कोई आधार भी तो नहीं हो सकता। इसलिए आकाशकी घट-उपाधि निष्फल है। जब आकाश घटस्थ जान पड़ता है उस समय भी घटाकाश घटके साथ संयुक्त नहीं होता, उस समय भी घट महाकाशसे उसको विच्छिन्न नहीं करता। इसी प्रकार देहस्थ आत्मा और देहातीत आत्मामें कोई विशेष व्यवधान नहीं है, क्योंकि जो आत्मा अखण्ड बोध-स्वरूप है, उसमें क्षुद्रत्व या बृहत्त्व, ससीमत्व या असीमत्व कुछ भी नहीं है। आत्मा सदा विकार-शून्य और एकरूप है अतएव उससे दूसरा या उसके समान अन्य कुछ होना सम्भव नहीं है। घटाकाश, मठाकाश या महाकाश केवल कल्पित उपाधिमात्र हैं, वस्तुतः आकाश की कोई उपाधि नहीं हो सकती। भीतर-बाहर एक चिदाकाश ही वर्त्तमान है, यह जानना ही ज्ञान कहलाता है। तुम, मैं, वह आदि सैकड़ों भेद रहते आत्मा नहीं जाना जाता। आत्मक्रिया द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर स्वयं अपनेको जान सकते हैं। अच्छी तरहसे विचार करके देखने पर आत्मस्वरूपका जानना न जानना कुछ भी नहीं बनता। आत्मा केवल बोध-स्वरूप है। सब वस्तुओंका जो बोध होता है वह भी आत्माका प्रकाशमात्र है। उस बोधमात्र वस्तुका कोई निर्देशक भी नहीं है, क्योंकि उस अवस्थामें 'तुम' 'मैं' कुछ नहीं रहता। यही यथार्थ पुरुषोत्तम अवस्था है। वह यद्यपि निर्लिप्त और निरञ्जन है तथापि सबका मूलकारण या ब्रह्म है। आत्मस्थ पुरुष क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें उससे अवगत होते हैं। इस पुरुषोत्तमके न होने पर अन्य किसी भी वस्तुका प्रकाश संभव नहीं। अतएव प्रकाशित वस्तुमात्रके स्वरूप वही हैं और उनकी अतीतावस्थामें भी वही वर्त्तमान हैं। इसीसे उनको पुरुषोत्तम कहा जाता है। उनके बिना कुछ नहीं रह सकता, इसलिए उनको भूतभावन कहते हैं। जो लोग ध्यान-परायण हैं उनके चित्त चिन्तनशून्य होकर जब व्योमरूप होते हैं तो वे व्योममय चित्त परव्योममें एक होकर मिल जाते हैं—इसी कारण वह 'देवदेव' हैं। जितनी चलायमान वस्तुएँ इन्द्रियगोचर हो रही हैं वे असत्य और अनित्य हैं, तथापि उनका सामयिक प्रकाश तुम्हारी सत्ताको अवलम्बन करके ही होता है, इसीसे तुम जगत्‌के भी पति हो ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अन्वय—त्वं (तुम) याभिः (जिन) विभूतिभिः (विभूतियोंके द्वारा) इमान् लोकान् (इन लोकोंको) व्याप्य (व्याप्तकर) तिष्ठसि (रहते हो) [ताः—उन] दिव्याः (दिव्य) आत्मविभूतयः (आत्म-विभूतियोंको) हि अशेषेण (विस्तृत रूपसे या सम्पूर्ण-रूपसे) वक्तुम् अर्हसि (कह सकते हो या मुझसे कहो) ॥१६॥

श्रीधर—यस्मात्तव अभिव्यक्तिं त्वमेव वेत्सि, न देवादयः तस्मात्—वक्तुमिति। या आत्मनस्तव दिव्या अत्यद्भुता विभूतयः ताः सर्वाः वक्तुं त्वमेवार्हसि योग्यो भवसि। याभिरिति विभूतीनां विशेषणं स्पष्टार्थम् ॥१६॥

अनुवाद—[क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति तुम आप जानते हो, देवता भी नहीं जानते, अतएव कहते हैं]—अपनी जिन अत्यद्भुत विभूतियोंके द्वारा तुम सारे लोकोंमें व्याप्त हो रहे हो, उन सब दिव्य विभूतियोंको कहनेमें तुम्हीं समर्थ हो अर्थात् उन विभूतियोंको तुम जैसे कह सकते हो वैसे और कोई कहनेमें समर्थ नहीं है। 'याभिः' विभूतियोंका विशेषण है। इसका अर्थ स्पष्ट है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब कुछ कहनेके योग्य आप ही होते हैं आत्माके द्वारा जो सब आकाश-स्वरूप मूर्तियाँ जो विशेषरूपसे तुममें हैं—जिन विभूतियोंसे लोकोंमें व्याप्त होकर स्थिर रूपमें हैं।—जगत्में जो कुछ वस्तु है सब भगवद्विभूति है। उन विभूतियों की गणना नहीं हो सकती। अपनी विभूतियोंकी बात वह स्वयं कह सकते हैं, और किसीमें कहनेका सामर्थ्य नहीं है। पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह हैं ही कितनी, और जो कुछ अनुभव करते हैं वह भी भगवान्‌की कुछ स्थूल विभूति मात्र हैं। सूक्ष्म विभूतियोंकी कोई सीमा नहीं है, संख्या भी नहीं है। योगी लोग कुछ-कुछ उनको जानते हैं। योगियोंके साधनपथमें कभी-कभी योगैश्वर्योंका विकास होता है। उनको बहुधा योग-विघ्न मानते हैं, कारण यह है कि यथार्थ सिद्धि या इच्छारहित अवस्थाके आनेके पूर्व ही मनकी निरुद्ध शक्तिके प्रभावसे जो योगैश्वर्य आकर उपस्थित होते हैं वे बहुधा अवैराग्यवान् योगीको योगविघ्न पैदा करते हैं। वे अधिक दिन नहीं रहते तथापि उससे अपक्व योगीका चित्त अभिमानसे पूर्ण हो जाता है। वह नहीं समझ पाता कि यह भी महामायाका एक खेल है। देहको भूल जाना ही साधनाका उद्देश्य है, यदि साधनाके फलस्वरूप देहाभिमान बढ़ जाता है तब तो मायाका ही जयजयकार हुआ। जबतक जीवका देहाभिमान है तबतक बाह्य वस्तुके प्रति आसक्ति और विरक्ति पैदा होती है, क्योंकि जिन द्रव्योंको भोग्यरूपमें हम ग्रहण करते हैं, वे कभी तो देह-मनके अनुकूल और कभी प्रतिकूल होते हैं। अतएव अनुकूल द्रव्यादिके प्रति मनका स्वाभाविक आकर्षण होता है और प्रतिकूल विषयमें द्वेषभाव आता है, मनकी यह आसक्ति और विरक्ति भी तबतक जानेवाली नहीं है। परन्तु साधनाके द्वारा जो जितना अधिक आत्माके 'मैं'-पनको देहसे हटानेकी चेष्टा करता है उसके सामने वस्तुसे आत्माकी स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक परिलक्षित होती है। तब देहके अच्छे-बुरे या वस्तुके अच्छे-बुरेके प्रति योगीको कोई आसक्ति या विरक्ति नहीं होती। योगीके इस आत्मभोला भावको ही शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। उस समय उसकी दृष्टि बहिर्मुख होने पर भी लक्ष्य सदा अन्तर्मुख रहता है। यही योगसिद्ध या स्थितधीका लक्षण है। उस समय योगीको अनेक ऐश्वर्योंकी प्राप्ति होती है, जिनको लेकर वह पुतलीके खेलके समान खेल करते हैं। वह स्वयं नहीं जानते कि वे सिद्धियाँ उनके पास हैं या नहीं। बालकके समान पूर्वापर चिन्तन किये बिना

जो कुछ वह मुँहसे बोल देते हैं वह सत्य हो जाता है, क्योंकि वह उस समय आत्मा या सत्यमें प्रतिष्ठित होते हैं। लोग उनके ऐश्वर्यको देखकर अवाक् हो जाते हैं, परन्तु योगी स्वयं नहीं समझ पाते कि यह कैसे संभव होता है। संसारमें जितनी वस्तुएँ या प्राणी (देव, गन्धर्व, मनुष्यादि) हम देखते हैं उन सबका एक सूक्ष्म रूप है। यह बाह्य प्रकाश उस सूक्ष्मकी ही अभिव्यक्ति है। उस सूक्ष्म प्रकाशकी अपेक्षा भी एक सूक्ष्मतर प्रकाश है जो आकाशके समान है। आकाशको अवलम्बन करके ही सारी मूर्त्तियाँ हैं, तथापि आकाश स्थिर है, उसमें चाञ्चल्य नहीं है। आत्मा स्थिर आकाशके समान सब प्राणियोंमें अधिष्ठित है, इसीके फलस्वरूप जीवके अनन्त भाव और अनन्त स्वरूप स्फुटित हो रहे हैं। इसीसे ये अनन्त भाव और अनन्त रूप आत्माकाशमें स्थिर भावसे प्रतिष्ठित रहते हैं। इस चिदाकाशको समझ लेने पर देहाभिमान नहीं रहता और अपनेमें कर्तृत्वका बोध भी नहीं होता। तब योगी कहते हैं कि "प्रभु! जो कुछ है सब तुम्हारी इच्छा है, मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है, तुम्हीं सब हो, तुम्हारा ही सब है।" सब 'तुम' हो जाने पर फिर 'सब' कहाँ रहा। तब 'सब' दूर हो गया, एक अखण्ड अद्वितीय आत्मा ही रह गया। मेघ एकत्रित होकर आकाशमें कितने भिन्न-भिन्न रूप प्रकट करते हैं, हमारा मन कल्पनाके द्वारा आकाशमें उन्हें देख पाता है। मनकी कल्पना मिट जाने पर एक अनन्त आकाश वर्त्तमान रहता है और उसके भीतर विभिन्न चित्र परिलक्षित नहीं होते। आकाशमें जिस प्रकार असंख्य प्रतिमूर्त्तियाँ मनके द्वारा अनुभूत होती हैं, उसी प्रकार उस एक अद्वितीय ब्रह्मके भीतर अनन्त विश्वविभूतियाँ प्रकाशित होती हैं। परन्तु स्थिर होकर देखने पर फिर कोई मूर्त्ति नहीं रहती, सब मूर्त्तियाँ भङ्ग हो जाती हैं और एक अखण्ड आकाशका प्रकाश होता है ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

अन्वय—योगिन् (हे योगिन्!) सदा (सर्वदा) कथं (किस प्रकार) परिचिन्तयन् (चिन्ता करके) अहं (मैं) त्वां (तुमको) विद्याम् (जान सकूँगा) ? भगवन् (हे भगवन्!) केषु केषु भावेषु च (और किन-किन भावोंमें) [त्वं] मया (मेरे द्वारा) चिन्त्यः असि (चिन्तनीय हो अर्थात् किस-किस वस्तुमें मैं तुम्हारा ध्यान कर सकूँगा) ? ॥१७॥

श्रीधर—कथनप्रयोजनं दर्शयन् प्रार्थयते—कथमिति द्वाभ्याम्। हे योगिन् कथं कैः विभूतिभेदैः सदा परिचिन्तयन् अहं त्वां विद्यां जानीयाम् ? विभूति-भेदेन चिन्त्योऽपि त्वं केषु केषु पदार्थेषु मया चिन्तनीयोऽसि ? ॥१७॥

अनुवाद—[विभूति-कथनका प्रयोजन दिखलाकर दो श्लोकोंमें अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं]—हे योगिन्, किस-किस विभूतिभेदसे किस प्रकार सदा चिन्तन करने पर मैं तुमको जान सकूँगा ? हे भगवन्! विभूतिभेदसे तुम किस-किस पदार्थमें मेरे द्वारा चिन्तनीय हो ? ॥१७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किस प्रकार योगी लोग तुमको जानते हैं और सदा चिन्ता करते हैं, और किस भावसे मैं चिन्तन करूँ।—योगमार्गमें साधक जैसे-जैसे अग्रसर होते हैं, उनके कर्म और प्रारब्धके अनुसार न्यूनाधिक विभूतियाँ उनके सामने उपस्थित हो सकती हैं। इसको योगमार्गमें उन्नतिकी सूचना भी कह सकते हैं। इस अध्यायमें भगवान जिन विभूतियोंका उल्लेख करेंगे वह पतञ्जलि-प्रोक्त विभूतियोंकी व्याख्याका रूपान्तर-मात्र है। विभूति-योगकी सारी बातें योगीको प्रत्यक्ष अनुभव होती हैं। विभूतिका अनुभव करने पर भी साधकको अहङ्कार करनेका कोई कारण नहीं होता, क्योंकि सब विभूतियाँ आत्मा या भगवान्की हैं, इसमें जीवके अहङ्कार करनेकी बात क्या है? जो किसी विभूतिको प्राप्त कर अहङ्कार करता है, उसको भाग्यहीन ही समझना चाहिए। साधक जब अन्तर्मुख होता है, साधनाके भीतर कुछ प्रवेश करता है, तब भी आत्मदर्शन नहीं होता परन्तु कुछ-कुछ योगैश्वर्य या विभूति साधकको प्राप्त होती है। उस समय तक द्वैतभाव नहीं मिटता, मन प्रशान्त होकर लक्ष्यमें अपने आपको विलीन नहीं करता, इस अवस्थामें समस्त विषयोंका कार्य-कारण-सम्बन्ध जाननेके लिए योगीके मनमें इच्छा जागृत होती है। उस इच्छाके फलस्वरूप विशेष-विशेष आध्यात्मिक देशमें चित्तका बन्ध या धारणा करके योगाभ्यासी अलौकिक दर्शन-श्रवणादि किया करते हैं। षट्चक्र-मार्गके आध्यात्मिक स्थान ही धारणाके विषय हैं। उन स्थलोंमें जो-जो विशेष अनुभव होते हैं, उनके द्वारा चित्त बद्ध होता है, और बद्ध होनेसे तद्विषयक ज्ञान चित्तमें अनुभूत होता है। परन्तु जो लोग प्राणायामादिमें अभ्यस्त नहीं हैं, उनको इस प्रकारकी धारणा संभव नहीं। आज भी जो लोग श्रद्धाके साथ योगाभ्यास करते हैं, उनके लिए इन अनुभूतियोंका प्राप्त होना असम्भव नहीं।

इसीसे अर्जुन पूछते हैं कि सर्वदा किस रूपमें तुम्हारा चिन्तन करूँ और किन किन पदार्थोंमें चिन्तन करूँ। किस विषयकी धारणा करने पर किस प्रकारका ज्ञान होता है, इन बातोंको जाननेका प्रयोजन होनेके कारण ही अर्जुनने प्रश्न किया है। पातञ्जल दर्शनके विभूतिपादमें भी ये सारी रहस्यकी बातें वर्णित हैं—(१) 'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्'—संस्कारसाक्षात्कार करने पर पूर्व जन्मका ज्ञान होता है। चित्तक्षेत्रमें जो नाना प्रकारकी वासनाएँ स्फुटित होती हैं, वे ही संस्कार हैं। संस्कार दो प्रकारके होते हैं—पूर्ववर्ती और परवर्ती। जिन संस्कारोंके फलस्वरूप यह वर्त्तमान देह है वे पूर्व संस्कार हैं और वर्तमान जीवनके कर्मफलसे जो संस्कार उत्पन्न हो रहे हैं वे परवर्ती संस्कार हैं। इनमें पूर्व संस्कारोंमें संयमका प्रयोग करने पर पूर्व-जन्मका ज्ञान और परवर्ती संस्कारोंमें संयम प्रयोग करने पर परजन्मका ज्ञान विभूतिरूपमें प्राप्त होता है। संस्कार मात्रमें ही यदि संयम प्रयोग किया जाय अर्थात् चित्तमें अन्य चिन्ता न रखकर केवल ज्ञातव्य विषयमें मनको निरुद्ध किया जाय तो यह ज्ञानगोचर हो जाता है कि किस जन्ममें कहाँ किस प्रकारके संस्कार सञ्चित हुए हैं। (२) 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'—प्रत्यय-मात्रमें संयमका अभ्यास करने पर परचित्तका ज्ञान होता है। स्व-चित्तमें संयम प्रयोग करनेपर पर-चित्तका भी ज्ञान प्राप्त होता है। 'जिसका चित्त जानना है, उसकी ओर लक्ष्य करके अपने चित्तको शून्यवत् करने

पर उसमें जो भाव उठता है वही परचित्तका भाव है'—कापिलाश्रमीय योगदर्शन।
(३) सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा॥ विभूतिपाद—२२।
कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम भेदसे दो प्रकारके होते हैं, उसमें संयम प्रयोग करने पर अपरान्तका अर्थात् मृत्युका ज्ञान होता है, अरिष्ट समूहोंसे भी यह जाना जाता है। जगत्में मनुष्यकी स्थितिके कालको आयु कहते हैं, इसी कालमें व्याप्त होकर जीवका कर्मफलभोग होता है। आयुकालमें जीवके समस्त कर्मफलोंका भोग नहीं भी हो सकता है। जो कर्म फलोन्मुख हो गये हैं या जिन कर्मोंका फलभोग हो रहा है वे सोपक्रम हैं, और जिन कर्मोंका फल इस जन्ममें ही होगा परन्तु दूर भविष्यमें होगा, वे निरुपक्रम हैं। इन द्विविध प्रारब्ध कर्मोंमें संयम प्रयोग करने पर अपरान्त ज्ञानका विषय अवगत हो जाता है। अमृत और मृत्यु दोनों इस आत्माकी विभूतियाँ हैं। 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' मृत्यु उनकी विभूति है, इसका उल्लेख भगवान्ने इस अध्यायमें ही किया है। अतएव मृत्युके कारण जो जीवको त्रास होता है उसका कारण है मनुष्यका अज्ञान। भोगके द्वारा प्रत्येक क्षण हमारा प्रारब्धक्षय हो रहा है, सारे प्रारब्धका क्षय होने पर मृत्युकाल उपस्थित होगा। जीवको मृत्युभय अत्यन्त अधिक होता है। यह भी एक तीव्र क्लेश है, इस क्लेशके हाथसे परित्राण मिल सकता है यदि मृत्युके साथ परिचय प्राप्त हो जाय। योगीका मृत्युके साथ परिचय हो जाता है। आत्म-समाधि ही मृत्यु है, देहके साथ उस समय कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु जो समाधिवान् या ध्यानी नहीं है वह भी यदि जान ले कि मृत्युकाल आसन्न है, तो वह विषयचिन्तनसे विरत होकर भगवान्में चित्तको समाहित करनेकी चेष्टा कर सकता है अथवा उनकी शरण ग्रहण कर उनके नामादिका जप कर सकता है। इससे यदि मुक्ति प्राप्त न हो तो भी अगले जन्ममें मुक्तिकी योग्यता प्राप्त हो सकती है। अतएव मृत्युका समय अवगत होना आवश्यक है। अरिष्ट-ज्ञानके द्वारा आसन्न मृत्युका ज्ञान होता है। अरिष्ट आध्यात्मिक (दैहिक और मानसिक), आधिदैविक और आधिभौतिक भेदसे तीन प्रकारका होता है। आध्यात्मिक अरिष्ट—दोनों कानोंको बन्द करने पर अन्तरघोषको न सुन पाना, नेत्र रुद्ध करने पर ज्योति न देख पाना। आधिदैविक अरिष्ट—अकस्मात् स्वर्ग या सिद्धोंको देखना अथवा सब कुछ विपरीत देखना। तीव्र अभिसम्पात भी आध्यात्मिक अरिष्ट है। आधिभौतिक अरिष्ट—यम-पुरुष या पितृ-पुरुषोंको देखना, स्वप्नमें महिषारोहण, दीपनिर्वाणकी गन्धको न पाना, अरुन्धती नक्षत्रको न देख पाना आदि अरिष्ट-लक्षण हैं। इन लक्षणोंमें किसी एक या दो-तीनके प्रकट होने पर मृत्यु प्रस्तुत है, यह जानना चाहिये।

किस विषयके संयमसे किस प्रकारका ज्ञान होता है तथा विवेकज ज्ञान और चरम अपरोक्ष ज्ञानसे किस प्रकार कैवल्य प्राप्त हो सकता है, इन विचारोंके मनमें उदय होने पर कूटस्थ चैतन्यको शरीरका तेज जिस प्रकार ज्ञान प्रदान करता है तथा उसके द्वारा जिस प्रकार प्रश्नका समाधान होता है, वही बात यहाँ चल रही है॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन !) आत्मनः (अपने) योगं विभूतिं च (योग और विभूतिको) विस्तरेण (विस्तारपूर्वक) भूयः कथय (फिर कहो) हि (क्योंकि) अमृतं शृण्वतः (तुम्हारे अमृतोपम वचन सुनकर) मे (मुझको) तृप्तिः न अस्ति (तृप्ति नहीं हो रही है) ॥१८॥

श्रीधर—तदेवं बहिर्मुखेऽपि चित्ते तत्र तत्र विभूतिभेदेन त्वच्चिन्तैव यथा भवेत्तथा विस्तरेण कथयेत्याह—विस्तरेणेति। आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणं योगैश्वर्यं विभूतिं च विस्तरेण पुनः कथय। हि यतस्तव वाक्यममृतरूपं शृण्वतो मम तृप्तिरलंबुद्धिर्नास्ति ॥१८॥

अनुवाद—[इस प्रकार बहिर्मुख होने पर भी जिन-जिन विभूतियोंमें चित्त आकृष्ट होने पर तुम्हारा ही चिन्तन हो सके, उन्हें विस्तारपूर्वक बतलाओ, यही कह रहे हैं]—हे जनार्दन, अपने योग अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्वादिरूप योगैश्वर्य और विभूतिके विषयोंको विस्तृतरूपसे फिर मुझसे कहो, क्योंकि तुम्हारा अमृतरूपी वाक्य सुनकर 'मुझे तृप्ति हो गयी है, और अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं'—इस प्रकार की बुद्धि नहीं आती है ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—विस्तारपूर्वक आत्मक्रियाके द्वारा समाधिमें अचल स्थितिके द्वारा जो कुछ देखा जाता है, फिर कहो—इसके सिवा अन्य कोई वस्तु अमृतके समान तृप्ति नहीं देती।—प्राणायामादि योगाभ्याससे आध्यात्मिक देशमें चित्तकी स्थिति होने पर बुद्धि निर्मल होती है, राग-द्वेष दूर हो जाता है, विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। विषयोंसे वैराग्य होनेके कारण विभूतियाँ या ऐश्वर्य सब भगवान्‌का ही प्रकाश समझमें आते हैं। भगवान्‌के सिवा वे सब कुछ नहीं हैं। इस प्रकारकी विभूतियाँ जन्म, औषधि और मन्त्रसे भी होती देखी जाती हैं परन्तु उससे कैवल्य-प्राप्ति नहीं होती। बुद्धिके निर्मल होने पर साधकको अनुभव होता है कि पार्थिव ऐश्वर्यके लिए व्यर्थ परिश्रम करनेसे कोई लाभ नहीं होता। जो सब ऐश्वर्योंके मूल हैं, जिनसे बढ़कर दूसरी कोई लोभनीय वस्तु इस जगत्‌में नहीं है, उनको बिना पाये दूसरी सारी प्राप्ति व्यर्थ है। इसलिए पार्थिव वस्तुके प्रति योगीको आकर्षण नहीं होता। योगी वही ऐश्वर्य चाहते हैं जिससे परम तृप्ति लाभ होता है। मान लीजिए मैंने दूसरे पदार्थकी इच्छा नहीं की, परन्तु साधनाके द्वारा मेरी अचल स्थिति हो गयी यह समझनेका चिह्न क्या है? वह स्थिति हो रही है, यह जाननेका उपाय क्या है? इसीसे अर्जुनका प्रश्न होता है कि इस अचल स्थितिकी प्राप्तिके समय तुम्हारा क्या-क्या योगैश्वर्य, सर्वज्ञता, सवशक्तिमत्त्वादि प्रकाशित होता है यह बतलाओ जिससे फिर कभी किसी गड़बड़ीमें न पड़ूँ। तुम जितनी ही यह सब बातें

कहते हो उतनी ही वे अच्छी लगती हैं। भागवतमें भी ऋषियोंने सूतसे यही बात कही थी—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमः श्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ १-१—॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१६॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले), हन्त कुरुश्रेष्ठ (हे कुरुश्रेष्ठ!) दिव्याः आत्मविभूतयः (दिव्य आत्मविभूतियाँ) प्राधान्यतः (मुख्य रूपसे) ते (तुमको) कथयिष्यामि (कहूँगा) हि (क्योंकि) मे (मेरी) विस्तरस्य (विभूतिके विस्तारका) अन्तः न अस्ति (अन्त नहीं है)॥१६॥

श्रीधर—एवं प्रार्थितः सन् श्रीभगवानुवाच—हन्तेति। हन्तेत्यनुकम्पासम्बोधने। दिव्या या मद्विभूतयः ताः प्राधान्येन ते तुभ्यं कथयिष्यामि। यतोऽवान्तरस्य विभुतिर्विस्तरस्य मदीयस्य अन्तो नास्ति। अतः प्रधानभूताः कतिचित् वर्णयिष्यामि॥१६॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रार्थित होकर] श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! ('हन्त'—यह अनुकम्पासूचक सम्बोधन है) मेरी दिव्य विभूतियोंमें जो प्रधान हैं उन्हें ही मैं तुमको कहता हूँ, क्योंकि मेरी अवान्तर विभूतियोंका अन्त नहीं है, इसलिए प्रधानभूत कुछ विभूतियोंके विषयमें ही कहूँगा॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—मैं तुमको आत्माकी सारी दिव्यरूप विभूतियाँ कहता हूँ जो प्रधान प्रधान हैं उनको कहता हूँ—मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है।—भगवान्के अनन्त होनेके कारण उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। जैसे हमारी मानसिक कल्पनाका अन्त नहीं है, उसी प्रकार यह अनन्त विस्तृत जगत्, इसके अणु-परमाणु पर्यन्त सब भगवद्विभूति हैं, ये सब भगवान्के मनसे उत्पन्न हैं, इस बाहुल्यका क्या अन्त है? ये सप्त अधोलोक और सप्त ऊर्ध्वलोक—इनके भीतर फिर कोटि-कोटि जीव! इतना ही नहीं, इतना बड़ा जो ब्रह्माण्ड है इस प्रकारके कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उनके भीतर न्यस्त हैं! उनकी विभूतिका अन्त कहाँ है? सूर्यकी किरणें जिस प्रकार सूर्यसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार अनन्त जीवोंका यह मेला उन्हींका प्रकाश है। वाणी द्वारा क्या उसका वर्णन शेष हो सकता है? आमने-सामने दो बड़े दर्पण रखकर उसके बीचमें खड़ा होने पर एक मैं ही अगणित संख्यामें देखा जा सकता हूँ, इसी प्रकार माया-दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर एक आत्मा ही नाना रूपोंमें दीख रहा है। इसको न जानकर आभास-चैतन्य-रूप जीव मुग्ध हो अपनेको आप देखकर बार-बार विस्मित हो रहा है। दोनों दर्पणोंको हटा दो, मनकी कल्पनाको रोक दो, तब देखोगे कि उस स्थिर अव्यक्त आत्मभावके भीतर अनन्त चाञ्चल्यरूप जगत्-प्रपञ्च लय हो गया है। साधककी साधनावस्थामें कूटस्थमण्डलके

भीतर कितने ही शत-सहस्र रूप प्रकाशित होते हैं। उस प्रकाशके भीतर जो-जो प्रधान हैं और भूले नहीं जा सकते, उन्हींका यहाँ वर्णन कर रहे हैं ॥१६॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश !) सर्वभूताशयस्थितः (सब भूतोंके अन्तःकरणमें अवस्थित) आत्मा (प्रत्यग् आत्मा) अहम् एव (मैं ही हूँ)। अहम् (मैं) भूतानां (सब भूतोंका) आदिः च मध्यं च अन्तः च (आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश हूँ) ॥२०॥

श्रीधर—तत्र प्रथममैश्वरं रूपं कथयति—अहमिति। हे गुडाकेश, सर्वेषां भूतानामाशयेष्वन्तःकरणेषु सर्वज्ञत्वादिगुणैर्नियन्तृत्वेनावस्थितः परमात्मा अहम्। आदिः जन्म, मध्यं स्थितिः, अन्तः संहारः। सर्वभूतानां जन्मादिहेतुश्चाहमेव इत्यर्थः ॥२०॥

अनुवाद—[पहले अपने ऐश्वर्यरूपको कहते हैं]—हे गुडाकेश, समस्त भूतोंके आशयमें अर्थात् अन्तःकरणमें सर्वज्ञत्वादि गुणद्वारा नियन्तारूपमें अवस्थित परमात्मा मैं हूँ। मैं ही भूतोंका जन्म, स्थिति और संहार हूँ अर्थात् सब भूतोंके जन्मादिका हेतु मैं हूँ ॥२०॥

[गुडाका = निद्रा, तस्या ईशो गुडाकेशो जितनिद्र इत्यर्थः—शङ्कर। सर्वेषां भूतानां हृदि स्थितोऽहमात्मा प्रत्यगात्मा नित्यं ध्येयः। तदशक्तेन चोत्तरेषु भावेषु चिन्त्योऽहं च चिन्तयितुं शक्यः—शङ्कर। सब प्राणियोंके आशयमें अर्थात् अन्तर्हृदयमें अवस्थित प्रत्यगात्मारूपमें मैं ध्येय हूँ। इस प्रकारके ध्यानमें जो असमर्थ है, वह उत्तरोत्तर भावोंमें किसी एकको लेकर मेरा ध्यान करे] ॥२०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैं श्वास-स्वरूप हूँ, सब भूतोंकी स्थिति इसीसे है, यह आत्मा आदिमें अर्थात् पितामें, मध्यमें अर्थात् जबतक जीवित है, पुनर्जन्ममें भी यही श्वास रहता है।—श्वास जीवकी आयु है, इस श्वासका संवल लेकर ही जीव जगत्में आता है। सूत्ररूपी प्राण जन्ममें, जन्मके पूर्व पिताके प्राणमें, जन्म होने पर जीवन में और मृत्युके परे भी यही श्वास सूत्रात्मारूपमें वर्त्तमान रहता है। अन्यथा, परजन्ममें कौन जन्म ग्रहण करेगा ? इस श्वासको साधनाके द्वारा स्थिर कर लेने पर सर्वभूत-स्थित तथापि निर्लिप्त आत्माका सन्धान मिलता है। श्वास या प्राणको आत्मा क्यों कहते हैं ? प्राणकी चञ्चल अवस्था ही श्वास है, यही चञ्चल प्राण जब स्थिर होता है तो वह कूटस्थ अक्षर या ब्रह्म है। प्राण और उससे उत्पन्न मन-इन्द्रियादि सब प्राणके स्थिर होने पर ब्रह्मस्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् सब स्थिर होकर ब्रह्ममय हो जाते हैं। इस ब्रह्ममें रहनेका ही नाम गायत्री-उपासना है। प्राण गायत्री-स्वरूप है, इस प्राणकी उपासनासे त्राण पाया जाता है। इसलिए यही गायत्री है और यह गायत्री ही ब्रह्म है। इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना, ये गायत्रीके तीन पाद हैं। क्रियाकी परावस्थामें ये तीनों पाद एक हो जाते हैं अथवा

इन तीनोंको एक कर लेने पर क्रियाकी परावस्थारूप ब्रह्मपद या परव्योम प्रकाशित होता है, वही अमृतपद या मोक्ष है। तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है—"भूर्भुवः स्वः भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः स्वरिति व्यानः"—अर्थात् भूः प्राण, भुवः अपान और स्वः व्यान वायु हैं। वायुक्रिया करनेपर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उपनिषद्में लिखा है—"नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि"। हे वायु, तुमको नमस्कार, तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, क्योंकि यह प्राण ही ब्रह्मका प्रत्यक्ष प्रकाश या शक्ति है और प्राणकी साधना से ही ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तैत्तिरीय उपनिषद्में लिखा है—"प्राणो वै सत्यम्"—प्राण ही सत्य ब्रह्म है, कारण यह है कि प्राणके बिना किसी भी वस्तुका कुछ ज्ञान नहीं होता। "या प्राणेन संभवति अदितिर्देवतामयी"—सर्वदेवरूप जो देवता हैं वह प्राणशक्तिके साथ अर्थात् सगुण ब्रह्मसे क्रियारूपमें उत्पन्न होते हैं।

"ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥"

वायुकी ऊर्ध्वगतिका नाम प्राण है, अधोवायुका नाम अपान है, प्राणायामके द्वारा दोनों वायुकी स्थिति हृदयमें होने पर साधक उसमें मन स्थापितकर ब्रह्मकी उपासना करता है, इस अवस्थाको प्राप्त साधक देवता है। उपासना करते-करते वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है। वही प्राणोंके प्राण हैं। "प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्या पशवश्च ये स उ प्राणस्य प्राणः।" अतएव जितने भूत हैं सबके भीतर प्राणवायु है, यह मूलाधारमें रहकर मूलाधार-स्वरूप सबका आधार हो रही है। प्राणकी क्रिया करने पर उत्तम पुरुषका दर्शन होता है और अन्तमें साधक स्वयं वही हो जाता है। प्राणके रहनेसे ही समस्त भूतादि प्रकाशित होते हैं। प्राणके स्थिर होकर ब्रह्ममें मिलने पर सारे भूत भी ब्रह्ममें मिल जाते हैं—इस ज्ञानका नाम वेद है। प्राण, अपान और व्यानकी क्रिया ही त्रयी विद्या है। क्रियाकी परावस्थामें जो स्थिति होती है वही तुरीयावस्था है। व्यानकी क्रियाके द्वारा ही यह स्थिति-पद प्राप्त होता है।

ब्रह्ममें सूक्ष्म और स्थूल रूपसे पञ्च आत्मा या पञ्च तत्त्व रहते हैं। (१) प्राणवायु—मूलधारसे सहस्रार पर्यन्त चलती है, यह प्राणवायु पञ्चतत्त्वोंमें आ-जा रही है, इसीसे सब जीवित हैं। (२) अपान—अपानको क्रिया है निःसरण करना, प्राण अपानके साथ ऊर्ध्वगामी हो रहा है, इसी कारण शरीरके समस्त द्वारोंसे क्लेद निकलता रहता है, स्थान स्वाधिष्ठानके नीचे है। (३) उदान—उदानवायुकी क्रिया है ऊर्ध्व गमन करना अर्थात् डकार, छींक, हिचकी आदि। यह उदान प्राणके साथ ऊर्ध्वगमन कर रहा है, स्थान मणिपूरमें है। (४) व्यान—व्यानवायुकी क्रिया सर्वाङ्गमें होती है, यह व्यान भी प्राणके साथ ऊर्ध्व गमन कर रहा है, स्थान हृदयमें है। (५) समान—शून्यमें स्थिर होकर नाभिमें समानरूपमें रहता है, इसके सर्वदा इस अवस्थामें रहने पर कोई पीड़ा नहीं होती। क्रियाकी परावस्थामें प्राण हृदयमें अटका रहता है। सूक्ष्म ब्रह्ममें ये सब वायु सूक्ष्मरूपमें हैं, इसी कारण स्थूलमें दीख रहे हैं।

प्रकृति = पञ्चतत्त्व, मन, बुद्धि, अहङ्कार। पुरुष यदि प्रकृतिमें न होते तो किसी वस्तुका अनुभव न होता। सूत्ररूपी श्वासके भीतर ये सूक्ष्मभावमें मिलित रहते हैं। मृत्यु होने पर ये सब श्वासके साथ मिलकर चले जाते हैं और देह ग्रहण करनेके समय श्वासके साथ ये देहमें आविर्भूत होते हैं। अतएव श्वासरूपी प्राण समस्त प्राणीवर्गके आदि, मध्य और अन्तमें वर्त्तमान रहता है॥ २०॥

आदित्यानामहं विष्णुः ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

अन्वय—अहं (मैं) आदित्यानां (आदित्योंमें) विष्णुः (विष्णु), ज्योतिषां (ज्योतिष्कोंमें) अंशुमान् (रश्मिवाला) रविः (सूर्य), मरुतां (मरुद्गणोंमें) मरीचिः (मरीचि), नक्षत्राणां (नक्षत्रोंमें) अहं शशी (मैं चन्द्र) अस्मि (हूँ)॥ २१॥

श्रीधर—इदानीं विभूतीः कथयति—आदित्यानामित्यादिना यावदध्यायसमाप्तिः। आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुः वामनोऽहम्। ज्योतिषां प्रकाशकानां मध्ये अंशुमान् विश्वव्यापिरश्मियुक्तो रविः सूर्योऽहम्। मरुतां देवविशेषाणां मध्ये मरीचिर्नामाहमस्मि। यद्वा सप्त मरुद्गणा वायवः। तेषां मध्य इति। ते च आवहः प्रवहः विवहः परावहः उद्वहः संवहः परिवह इति सप्त मरुद्गणाः। नक्षत्राणां मध्ये चन्द्रोऽहम्। अत्र चादित्यानामहं विष्णुरित्यादिषु प्रायशो निर्धारणे षष्ठी। क्वचिच्च भूतानामस्मि चेतनेत्यादिषु सम्बन्धे षष्ठी। तच्च तत्र तत्रैव दर्शयिष्यामः। विष्णुरित्याद्यवतारेष्वपि प्रभावातिशयमात्रविवक्षया विभूतित्वेन निर्दिश्यते। अतः परं चाध्यायस्य स्पष्टार्थत्वेऽपि क्वचित् किञ्चित् व्याख्यास्यामः॥ २१॥

अनुवाद—[अब 'आदित्यानां' इत्यादिसे अध्याय-समाप्ति पर्यन्त सब विभूतियोंकी बात कह रहे हैं]—द्वादश आदित्योंमें मैं विष्णु अर्थात् वामन हूँ। प्रकाशकोंमें विश्वव्यापिरश्मि-युक्त सूर्य मैं हूँ। मरुत् नामक देवताओंमें मरीचि मैं हूँ अर्थात् सप्त वायुमें मैं मरीचि हूँ। सप्त मरुत्के नाम हैं—आवह, विवह, प्रवह, परावह, उद्वह, संवह, परिवह। नक्षत्रोंमें मैं चन्द्र हूँ॥ २१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जितने प्रकाश हैं उनमें स्थिति-स्वरूप प्रकाश मैं हूँ—अर्थात् क्रियाकी जो परावस्था है, सूर्यके अणुमें ब्रह्मका अणु है, तेजके भीतर जो सूक्ष्म वायु स्वरूप है—वही मेरा रूप है। सब अन्तरमें जो ब्रह्मअणु नक्षत्र रूपमें देखे जाते हैं उनमें वृहत् चन्द्र मेरा रूप है।—गीताके प्रथम षट्कमें चतुर्थ अध्यायके प्रथम श्लोकमें आदित्य क्या है, यह कहा जा चुका है। भीतरके समस्त प्रकाशमें कूटस्थ-ज्योतिके अन्तर्गत हिरण्मय वपुधारी नारायणका प्रकाश सर्वापेक्षा महान् और चित्ताकर्षक है, यही विष्णु सत्त्वोर्जित मूर्ति है। क्रियाकी परावस्थामें इस स्थिति-स्वरूप प्रकाशका आधिक्य दीख पड़ता है, इसलिए क्रियाकी परावस्था ही इसका स्वरूप है। भागवतमें कहा है—"चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति" क्रियाके द्वारा चित्त जब प्रशान्त भाव धारण करता

है तो उसमें रजस्तमो भाव या काम-लोभादिकी तरङ्ग नहीं उठ सकती, उस निस्तरङ्ग अवस्थामें चित्त सत्त्वगुणमें अवस्थान करते हुए परमानन्दका उपभोग करता है। "एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते।" भगवान्‌के प्रति भक्ति और उसके साथ मनका योग होने पर साधकके चित्तमें भगवत्तत्त्व-विज्ञान अर्थात् चिन्मय ब्रह्म-स्वरूपकी अनुभूति होती है और विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्मदर्शनसे हृदय-ग्रन्थि छिन्न हो जाती है और सब प्रकारके संशय दूर हो जाते हैं। इस ब्रह्म-प्रभाको जो हृदयमें सदा देखता है उसकी अविद्या तिरोहित हो जाती है। यह ब्रह्मप्रभा या चैतन्यज्योति द्वादश भागोंमें विभक्त है—भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु। इनमें आदित्य हृदयके मध्य विन्दु हैं, यह विष्णु या नारायण हैं। इनको श्रुति हिरण्मय पुरुष कहती है। छान्दोग्योपनिषद्‌में है—"अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव सा, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमः—तत् साम, अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्य-श्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः"—वह शुक्ल और कृष्ण दीप्तिद्वय ही 'सा' और 'अम' = 'साम' है। यह अन्तरादित्य अर्थात् आदित्यके अभ्यन्तर जो हिरण्मय हिरण्यश्मश्रु और हिरण्यकेश पुरुष दीख पड़ता है, जिसके नखाग्रसे केश पर्यन्त सब सुवर्ण अर्थात् ज्योतिर्मय हैं, वह हृदयकमलमें शयन किये हुए है, उसको देखा जाता है या अनुभव किया जाता है। कौन उसको देख पाता है? आचार्य शङ्कर कहते हैं—"जिन्होंने अपनी दृष्टि विषयोंसे निवृत्त कर ली है, चित्तको समाहित कर लिया है और ब्रह्मचर्यादि साधन-सम्पन्न हैं उनके द्वारा वह दृष्ट होते हैं।"

ज्योतिष्कगणमें वह सूर्य हैं अर्थात् सूर्यमें उनका प्रकाशाधिक्य देख पड़ता है। सूर्यके अणुमें ब्रह्मका अणु रहता है, तेजके भीतर सूक्ष्म वायुका अणु रहता है। इस प्रकार अन्तरमें ब्रह्माणु नक्षत्रके रूपमें देखे जाते हैं। उन नक्षत्रोंमें चन्द्र ही बृहत् है, इसलिए वह भगवान्‌की प्रधान विभूति है।

मरीचि—'मृ' धातुसे अर्थात् जो अहङ्कारका नाश करता है वही दिव्यचक्षु कूटस्थ है। उस श्वासरहित कूटस्थ ब्रह्मका पुत्र है 'मरीचि' अर्थात् सूर्यके समान जिसकी ज्योति है। पश्चात् उसमें समस्त चन्द्रके समान ज्योति देखी जाती है। क्रिया करने पर चन्द्रदर्शन होता है, मनका ही रूप चन्द्र है ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

अन्वय—[अहं—मैं] वेदानां (वेदोंमें) सामवेदः (सामवेद) अस्मि (हूँ), देवानां (देवताओंमें) वासवः (इन्द्र) अस्मि (हूँ), इन्द्रियाणां (इन्द्रियोंमें) मनः च अस्मि (मैं मन हूँ), भूतानां (भूतोंमें) चेतना अस्मि (मैं चेतना हूँ) ॥२२॥

श्रीधर—वेदानामिति—वासवः इन्द्रः। भूतानां चेतना ज्ञानशक्तिरहमस्मि ॥२२॥

अनुवाद—चतुर्वेदोंमें मैं सामवेद हूँ। देवताओंमें मैं देवराज इन्द्र हूँ। चक्षु आदि एकादश इन्द्रियोंमें मैं सङ्कल्पविकल्पात्मक मन हूँ। भूतोंमें मैं चेतना या ज्ञानशक्ति हूँ ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ॐकार-ध्वनि जो पश्चिम शरीरमें अनुभव करने पर सुनी जाती है—जो सब आकाश देखा जाता है उसमें परव्योम ब्रह्मस्वरूप है, वहाँ बिना माँगे ही सारी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं—स्थिर वायु ब्रह्म और बिन्दु ये मेरे रूप हैं।—बिना कहे जो सुना जाय उसका नाम श्रुति है और उसको जाननेका नाम वेद है अर्थात् जो निःशब्दमें बोध होता है। निविष्ट भावसे क्रिया करने पर जो स्थिरता आती है, उसके द्वारा जो बोध होता है वही प्रकृत ज्ञान है, वहाँ भूल होनेकी सम्भावना नहीं है। इसीलिए वेदका प्रमाण अकाट्य है। योगी लोग अणुप्रवेशके द्वारा पहले स्थानको देखते हैं, उसके बाद वहाँ जो प्राणी रहते हैं और वे जिन विषयोंकी आलोचना करते हैं उसको श्रवण करते हैं। इस प्रकार उनको अतीत अनागत विषय भी अवगत हो सकते हैं। मन लगाकर क्रिया करने पर अपने आप ॐकार-ध्वनि सुननेमें आती है। सूक्ष्म अणु-स्वरूप जो विन्दु ब्रह्म है उसमें सर्वदा रहनेसे ॐकार-ध्वनि सुनी जाती है।

अनाहतञ्च यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं चिन्तयेद्यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥

अनाहत शब्द (अर्थात् कांस्य, घंटा, भ्रमर, वेणु, वीणा, मेघ, सिंह, भेरी, तुरी, ढक्का) के परे निःशब्द अवस्था है, इस अवस्थामें जो पहुँच गये हैं उस योगीके सब संशय छिन्न हो जाते हैं।

अ=गुह्यद्वार, उ=हृदय, म=कूटस्थ, इन स्थानोंमें वायुके गमन करने पर उक्त प्रकारका शब्द होता है। वह अत्यन्त मधुर और चित्ताकर्षक होता है। इसलिए समस्त ज्ञातव्य (जो जाना जाय—वेद) विषयोंमें वह सामवेद है। उसमें स्वर-माधुर्य अधिक होनेके कारण चित्त सहज ही लय हो जाता है और आत्मस्थिति प्राप्त होती है। इसी कारण सामवेद श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त तीनों स्थान (गुह्यद्वार, हृदय और कूटस्थ) क्रमशः दोहन करते-करते भू=लिङ्ग, भुवः=नाभि, स्वः=कण्ठ, इन स्थानोंमें वायुका अनुभव होता है।

पहले वायु मस्तक पश्चात् हृदय और उसके बाद गुह्य-द्वार पर्यन्त जाती है। यही क्रमशः पूर्व, पश्चिम और उत्तरकी क्रिया है और यही ऋक्, साम और यजु है, इन तीनोंके एकत्र होनेसे ही ॐकार बनता है। प्रजापति ब्रह्माने वेदत्रयसे एक-एक पद दोहन करके ॐकार बनाया है। साधकको भी इसी प्रकार एक-एक पाद दोहन करना पड़ेगा। तभी उसकी प्रकृत सावित्री-उपासना होगी। एक एक पाद दोहन अर्थात् मस्तकसे हृदय, हृदयसे गुह्यद्वार—इन तीनों ग्रन्थियोंको भेद करने पर कण्ठ और तालु पर्यन्त वायु स्थिर हो जायगी। ऋग्वेद—'ऋच्' स्तुति करना, सम्मुखमें पूर्व दिशाकी ओर क्रिया करना अर्थात् प्राणायाम द्वारा स्तवन करना जिसके द्वारा मनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है, क्रिया करके क्रियाकी

परावस्थामें रहना। यजु—'यज्' पूजा करना, दक्षिण दिशामें वायुको ले जाने पर ॐकार-क्रियाके द्वारा वायुकी स्थिति होती है, मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अटका रहता है, कभी श्वेत कभी कृष्णवर्ण दीखता है। साम—पश्चिम दिशामें वायुको ले जाने पर ॐकार-ध्वनि सुनी जाती है, इस वेदको जानने पर ही ब्राह्मण होता है, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् होता है, अष्ट सिद्धि लाभ करता है।

क्रिया करते-करते जो आकाश देखनेमें आते हैं उनमें क्रियाकी परावस्थारूप शून्य ही परव्योम है। इसको ही देवराज कहा जाता है। ऊर्ध्व लोकमें सर्वोच्च स्थान है परव्योम—'अहं'का सर्वश्रेष्ठ सूक्ष्मानुभूति। कूटस्थमें विन्दु ही चेतनरूप है। यह विन्दु जबतक है तबतक जड़ देह भी चेतन् जान पड़ता है।

आत्मासे मन निकला, मनने सङ्कल्प द्वारा विषयोंको ग्रहण करनेकी इच्छा की, इसीसे इन्द्रियाँ उत्पन्न हो गयीं। इन इन्द्रियोंमें जो शक्ति है, वह मनकी ही शक्ति है। मन प्रथमतः अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति-सम्पन्न होता है, उस समय उसकी जो इच्छा होती है, वह कर लेता है। चक्षुके द्वारा अरूपका रूप देखता है (अर्थात् कूटस्थ, विन्दु आदिको देखता है), पश्चात् कानके द्वारा अशब्दका शब्द ॐकार-ध्वनि सुनता है। जिह्वा तालुके भीतर प्रवेश करके अरसका रस आस्वादन करती है अर्थात् वायुरूप अमृत (माधुर्य) कण्ठमें अनुभव होता है। नासिकामें अगन्धका गन्ध अपने आप बोध होता है, नाना द्रव्यों और पुष्पोंकी गन्ध प्राप्त होती है। त्वचा अस्पर्श ब्रह्मवायुके द्वारा ब्रह्माण्डकी सब वस्तुओंको स्पर्श कर सकती है। ये सारे साधन शुद्ध मनकी सङ्कल्प-शक्तिसे उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन्द्रियोंके अनुभवके मूलमें मन रहता है, इसी कारण इन्द्रियोंके बीच मन ही उनका प्रधान ऐश्वर्य है।

इन्द्रियाँ जब स्थूल पदार्थोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ पातीं, तब समझना चाहिए कि मन भी बाह्य सङ्कल्पके वश स्थूल वस्तुओंका चिन्तन करते हुए अधिक स्थूल बनकर जड़वत् हो जाता है। वह मन अन्धा, सदसद्-विवेकशून्य है ॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

अन्वय—रुद्राणां च (और रुद्रगणोंमें) शङ्करः अस्मि (मैं शङ्कर हूँ) यक्षरक्षसाम् (यक्ष और राक्षसोंमें) वित्तेशः (धनाधिपति कुबेर), वसूनाम् (वसुगणोंमें) पावकः (मैं अग्नि) अस्मि (हूँ), शिखरिणां च (और पर्वतोंमें) अहं मेरुः (मैं मेरु हूँ) ॥२३॥

श्रीधर—रुद्राणामिति। रक्षसामपि क्रूरत्वादिसाम्यात् यक्षैः सहैकीकृत्य निर्देशः। तेषां मध्ये वित्तेशः कुबेरोऽस्मि। पावकोऽग्निः। शिखरिणां शिखरवतां उच्छ्रितानां मध्ये मेरुः ॥२३॥

अनुवाद—एकादश रुद्रोंमें मैं शङ्कर हूँ। यक्ष-राक्षसोंमें मैं कुबेर हूँ। क्रूरतामें राक्षसोंके साथ यक्षोंकी समता होनेके कारण दोनोंका एकत्र निर्देश हुआ है। अष्ट वसुओंमें मैं अग्नि हूँ तथा उच्चशृङ्ग पर्वतोंमें मैं मेरु हूँ ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—नाभिमें वायु स्थिर एकत्व पावक नाम वसुकी मूर्त्ति कूटस्थके भीतर मुकुटधारी दीख पड़ती है—चन्द्रके भीतर कूटस्थके समान तथापि त्रिकोण पहाड़के शिखरके समान जो दीख पड़ता है—वह सब मेरा रूप है।—नाभिमें जो वायु है, वह रुद्र है। यह वायु जब स्थिर होती है तब वह 'शङ्कर' है अर्थात् जो मङ्गल करते हैं। नाभिमें समानवायु जबतक ठीक रहती है तबतक मृत्यु नहीं होती। समान वायु जब वृद्धिको प्राप्त होती है तो उत्तम पुरुषका दर्शन होता है, अतएव शङ्कर उनकी विभूति या प्रकाश हैं। इस प्रकार कूटस्थके भीतर जो कुछ दृश्य-रूपमें दीख पड़ता है, सब उनकी विभूति है। कूटस्थमें सब अनुभव हो सकता है, परन्तु ये सब दृश्य स्वतः दीख पड़ते हैं, इसके लिए कोई सङ्कल्प या उद्योग नहीं करना पड़ता। जो स्वतः कूटस्थके भीतर दीख पड़ते हैं या अनुभवमें आते हैं, उनका ही विभूति-योगमें वर्णन हुआ है ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) पुरोधसां च (पुरोहितोंमें) मुख्यं (प्रधान) बृहस्पतिं (बृहस्पतिरूपमें) मां (मुझको) विद्धि (जानो) सेनानीनां (सेनापतियोंमें) अहं स्कन्दः (मैं कार्तिकेय) सरसां (जलाशयोंमें) सागरः अस्मि (सागर हूँ) ॥२४॥

श्रीधर—पुरोधसामिति। पुरोधसां मध्ये देवपुरोहितत्वान्मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि। सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दोऽहमस्मि। सरसां स्थिर-जलाशयानां मध्ये समुद्रोऽस्मि ॥२४॥

अनुवाद—पुरोहितोंमें देवपुरोहित बृहस्पति ही मुख्य हैं, इसलिए मुझको देवपुरोहित बृहस्पति समझो। सेनापतियोंमें मैं देवसेनापति स्कन्द या कार्त्तिकेय हूँ। स्थिर जलाशयोंमें मैं समुद्र हूँ ॥२४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बृहस्पति अर्थात् ब्रह्म—सब षट्चक्र ब्रह्ममें मिलते हैं।—बृहस्पति देवताओंके गुरु हैं। जो क्रियावान सदा कूटस्थमें रहते हैं, उनके तृतीय नेत्र प्रस्फुटित होते हैं। वे ही देवता हैं। यो देवानां पुरोहितः, जो देवताओंके पूर्व हित करते हैं वे ही पुरोहित हैं, आत्म-क्रिया द्वारा जो सर्वदा उनमें रहता है उसीका हित अर्थात् कल्याण होता है। क्रियाकी परावस्थामें पहुँचना ही परम हित है, उससे ही अमरपद प्राप्त होता है। साधक कूटस्थ-स्वरूप होकर पश्चात् उत्तमपुरुष-स्वरूप हो जाता है। तब वह सर्वदा ब्रह्ममें रहता है और उस अवस्थामें ही क्रिया करता है।

सब सेनानियोंमें मैं स्कन्द हूँ। जो लड़ती है वह सेना है। समस्त जनसमूह सेना है, वे केवल 'मैं' और 'मेरा' लेकर कलह-युद्ध करते हैं। इस कलहका मूल है वासना। यह वासना जिसके अधीन है वह सेनाधिपति है। स्थूल श्वास-प्रश्वासके द्वारा ही वासना सञ्जीवित होती है। इस बाह्य स्थूल श्वासका प्रभु है सूक्ष्म श्वास या स्थिर श्वास। जिसका श्वास स्थिर होता है वह वासनाके ऊपर जय प्राप्तकर मुक्तिका

आगी होता है। स्कन्द = स् + क + न् + द। द शब्दसे योनि, न शब्दसे नहीं—जिसकी मनोवृत्ति योनिके नीचे नहीं रहती उसका ही श्वास (स) मस्तक (क) के ऊपर चढ़ता है। जिसका श्वास मस्तकके ऊपर चढ़ता है वह असुरोंको जीत सकता है। "विद्यास्तस्य प्रतिष्ठाञ्च यस्य त्वं मस्तकोपरि" उसकी ही विद्या या ज्ञान, प्रतिष्ठा या स्थिरता प्राप्त करती है, जिसका प्राण मस्तकमें जाकर स्थिर होता है।

'सरसामस्मि सागरः'—जो निरन्तर चलता है वह सरस् अर्थात् मन है। प्राण चञ्चल होकर मन बनता है। वह चञ्चल प्राण या श्वास जब मेरुके भीतर गमनागमन करता है, तब वह सूक्ष्म हो जाता है। सूक्ष्म होते-होते जब वह अपरिसीम सूक्ष्ममें परिणत होता है तब आत्माकार हो जाता है और सागरका रूप धारण करता है अर्थात् आत्मा तब विश्वमें और उसके बाहर भी विद्यमान जान पड़ता है ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अन्वय—महर्षीणां (महर्षियोंमें) अहं भृगुः (मैं भृगु हूँ), गिरां (वाक्योंमें) एकं अक्षरं अस्मि (मैं एकाक्षर ॐकार हूँ), यज्ञानां (यज्ञोंमें) जपयज्ञः (मैं जपयज्ञ हूँ), स्थावराणां (स्थावर अर्थात् अचल पदार्थोंमें) हिमालयः अस्मि (हिमालय हूँ) ॥२५॥

श्रीधर—महर्षीणामिति। गिरां वाचां पदात्मिकानां मध्ये एकमक्षरमोङ्काराख्यं पदमस्मि। यज्ञानां श्रौतस्मार्त्तानां मध्ये जपरूपो यज्ञोऽहम् ॥२५॥

अनुवाद—महर्षियोंमें मैं भृगु हूँ। पदात्मक वाक्योंमें मैं ॐकाराख्य एकाक्षर पद हूँ। श्रुति और स्मृति विहित यज्ञादिमें मैं जपरूपी यज्ञ हूँ और स्थावरोंमें मैं हिमालय हूँ ॥२५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ अक्षर—क्रिया करना—शीतल वायु मेरुके भीतर और बाहर गमन करती है।—जो लोग मन लगाकर देहरूप क्षेत्रको श्वासरूप हलके द्वारा कर्षण करते हैं, वे ही ऋषि हैं। जिनको क्रियाका फल सम्यक् अवगत होता है वे महर्षि हैं। इस प्रकारके महर्षियोंमें भृगु उनकी प्रधान विभूति हैं। भृगु—भ्रस्ज धातुसे बना है। इसका अर्थ है भर्जन करना। जिस प्रकार भर्जित बीजमें फिर अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती, भृगु उसी प्रकारके हैं। क्रिया करते-करते खूब नशा हो जाता है, मुखसे फिर बात करनेकी इच्छा नहीं होती, अतएव क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्थारूप ब्रह्ममें रहकर जो मौन हो गये हैं वही भृगु हैं (लाहिड़ी महाशयकी वेदान्त व्याख्या २ य अ० १ म पाद पृ० १७४ देखिये)। सब वाक्योंमें वह एकाक्षर प्रणव हैं। यह प्रणव ही ब्रह्मका वाचक अर्थात् प्रकाशक है। यही ईश्वर-प्रणिधानका बीज है। यह जिस प्रकार ब्रह्माण्डका बीज है, उसी प्रकार व्यष्टिरूपसे प्रत्येक जीवका भी बीज है। जैसे बीज वृक्षाकारमें परिणत होकर पत्र, पल्लव, पुष्प, फल द्वारा समृद्ध होता है, उसी प्रकार इस अनन्त ब्रह्माण्डसे जीवाणु पर्यन्त सब प्रणव-स्वरूप हैं।

प्रत्येक जीवके स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर आदि जिस प्रकार विन्दुरूप महाप्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार विन्दु भी नादरूपी पुरुषसे उत्पन्न है। यह नाद और विन्दु संयुक्त होकर पुरुष और प्रकृतिका मिलित भाव होता है—वही आद्या प्रकृति है। सब जीवोंके सारे वैखरी शब्द मिलकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर होकर अन्तमें नादमें पर्यवसित होते हैं और उस नादसे सृष्टि आरम्भ होकर इस स्थूलतम पिण्डमय जगतमें परिणत होती है। वह नाद ही ब्रह्म है। इस नाद-ब्रह्मका अवलम्बन कर लेने पर सारे स्थूल तत्त्व सूक्ष्म तत्त्वभावको प्राप्त होकर तत्त्वातीत भावमें अनुप्रविष्ट होते हैं। जब सारे शब्द सूक्ष्म नादमें मिल जाते हैं तब वह अनाहतरूपमें या ॐकाररूपमें प्रकट होते हैं। इसलिए वाक्योंमें उनकी सर्व प्रधान विभूति एकाक्षर प्रणव है।

सब यज्ञोंमें वह अजपारूप यज्ञ हैं। यज्ञके द्वारा जैसे देवता प्रसन्न होते हैं और यजमानको यज्ञफल प्रदान कर कृतार्थ करते हैं, उसी प्रकार अजपारूप जपयज्ञसे जीवका भवबन्धन छूट जाता है। अन्य समस्त यज्ञोंका फल बन्धन है। इस अजपारूप यज्ञसे साधक अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त करता है—आत्माके साथ मिल जाता है। दूसरे यज्ञ साधकको उससे विच्छिन्न कर देते हैं। केवल यही एकमात्र यज्ञ है जिसके द्वारा जीव अपने अभीष्ट वस्तुसे मिलकर एक हो जाता है। इसलिए सब यज्ञोंमें अजपा ही प्रधान है।

'स्थावराणां हिमालयः'—स्थावर वस्तुओंमें वह हिमालय हैं। स्थावरका अर्थ है श्रेष्ठ स्थिति अर्थात् जो कभी विचलित नहीं होता। मेरुमें प्राणकी स्थिति होने पर वह स्थिर, शान्त और शीतल हो जाता है अर्थात् तब वासनाका कोई ताप नहीं रहता, मन परम शान्तिरसमें डूब जाता है। "यावत् वायो मेरोर्मध्ये तावत् मृत्युभयं कुतः"—मेरुके भीतर प्राणकी स्थिति होने पर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। जीव चिरकालके लिए निश्चिन्त हो जाता है ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अन्वय—सर्ववृक्षाणां (सब वृक्षोंमें) अश्वत्थः (मैं अश्वत्थ हूँ), देवर्षीणां च (और देवर्षियोंमें) नारदः (मैं नारद हूँ), गन्धर्वाणां (गन्धर्वोंमें) चित्ररथः (मैं चित्ररथ हूँ), सिद्धानां (सिद्धोंमें) कपिलः मुनिः (मैं कपिल मुनि हूँ) ॥ २६ ॥

श्रीधर—अश्वत्थ इति। देवा एव सन्तो ये मन्त्रदर्शनेन ऋषित्वं प्राप्ताः तेषां मध्ये नारदोऽस्मि। सिद्धानाम् उत्पत्तित एव अधिगत-परमार्थ-तत्त्वानां मध्ये कपिलाख्यो मुनिरस्मि ॥ २६ ॥

अनुवाद—सब वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ हूँ। देवता होकर जिन्होंने मन्त्रदर्शन द्वारा ऋषित्व पाया है, उनमें मैं नारद हूँ। उत्पन्न होनेके साथ ही जिनको परमार्थतत्त्व अधिगत होते हैं, वे सिद्ध पुरुष हैं। उन सिद्धोंमें मैं कपिल नामक मुनि हूँ। गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामक गन्धर्व हूँ ॥ २६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अश्वत्थ वृक्षके समान उल्टा भ्रू के बीचमें दीख पड़ता है, नारद कूटस्थके सम्मुख दीख पड़ते हैं—कूटस्थके पहले चित्र-विचित्र पुरुषोत्तमके ही रूप। —सब वृक्षोंमें अश्वत्थ श्रेष्ठ है। यह कूटस्थमें विपरीतरूपमें (अर्थात् सिर नीचेकी ओर स्थित) देखा जाता है। नारद भी दीख पड़ते हैं। क्रियावान् लोगोंमें जो ऋषि हैं वही नारद हैं। नारद = नार (मनुष्य-समूह) + द (उपदेश दान) = जो मनुष्योंको उपदेश दान करते हैं। क्रिया देते-देते सर्वदा उस कूटस्थ ब्रह्ममें रहना अपने आप हो जाता है, इस प्रकारके जो हैं वही नारद हैं। आत्माकी क्रियाके द्वारा वह अपनेको आप प्रकाशित करते हैं। वह चन्द्र-सूर्य आदि समस्त लोकों और सब मनुष्योंको जानते हैं, देखते ही समझ लेते हैं कि कौन किस प्रकारका आदमी है।

कूटस्थमें जो चित्रविचित्र पुरुषोत्तमके रूप देखे जाते हैं, वही 'चित्ररथ' हैं। कूटस्थके भीतर सिद्ध पुरुष भी दीख पड़ते हैं, उनमें कपिल प्रधान हैं। कपिल आजन्म सिद्ध और तत्त्वज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। ज्ञान, वैराग्य और योग-ऐश्वर्यके अतिशयसे युक्त कपिल भगवद्विभूतिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। भागवतमें कपिलदेव भगवानके अवतार माने गये हैं॥ २६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥ २७॥

अन्वय—अश्वानां (घोड़ोंमें) मां (मुझको) अमृतोद्भवं (अमृत-मन्थनसे उत्पन्न) उच्चैःश्रवसं (उच्चैःश्रवा नामक अश्व) विद्धि (जानो), गजेन्द्राणां (गजेन्द्रोंमें) ऐरावतं (ऐरावत) च (और) नराणां (मनुष्योंमें) नराधिपं (राजा जानो)॥ २७॥

श्रीधर—उच्चैःश्रवसमिति। अमृतार्थं क्षीराब्धिमथनादुद्भूतं उच्चैःश्रवसनामाश्वं मद्विभूतिं विद्धि। अमृतोद्भवमित्येतत् ऐरावतेऽपि सम्बध्यते। नराधिपं राजानं मां मद्विभूतिं विद्धि॥२७॥

अनुवाद—अमृतार्थ क्षीरसमुद्रके मन्थन-कालमें उद्भूत उच्चैःश्रवा नामक अश्वको मेरी विभूति जानो। 'अमृतोद्भव' पद ऐरावतसे भी सम्बद्ध है [ऐरावत भी क्षीरसमुद्रके मन्थनके समय उद्भूत हुए हैं] मुझको गजेन्द्रोंमें अमृतोद्भव ऐरावत समझो। मनुष्योंमें नराधिप अर्थात् राजाको मेरी विभूति जानो॥२७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—घोड़ा दीख पड़ता है—वह अग्निरूप है—हाथी देखा जाता है—बृहत् ज्योतिके भीतर कूटस्थ।—अमृत-प्राप्तिके लिए देवताओंने समुद्र मन्थन किया था, उनका दण्ड था सुमेरु पर्वत और वासुकी नाग मन्थन-रज्जु बनाये गये थे। समुद्र-मन्थनसे अनेक वस्तुएँ निकली थीं, उनमें अमृत, लक्ष्मी, चन्द्र, धन्वन्तरि, कौस्तुभ, शङ्ख, उच्चैःश्रवा अश्व और ऐरावत हस्ती प्रधान हैं। यह केवल बाहरी बात नहीं है, इसमें जो आध्यात्मिक रहस्य है उसे यहाँ कहता हूँ। अनन्त प्राणशक्ति ही समुद्र है, पृष्ठस्थ (मेरुपृष्ठ देखने पर कूर्मकी पीठके समान जान

पड़ता है) मेरुदण्ड ही सुमेरु पर्वत है, मेरुदण्डके सबसे नीचे मूलाधारपद्ममें जीवचैतन्यमयी कुलकुण्डलिनी शक्ति विराजित है, यह अविरत श्वास उद्गीरण कर रही है। इस श्वासको रज्जुरूपमें कल्पना करके मेरुमध्यस्थ सुषुम्नारूपी मन्थनदण्डके साथ युक्त करके मन्थन करनेसे प्राणसमुद्र मथित होकर क्रियावान्को ज्ञानरूपी अमृत प्रदान करता है। तब विविध योगैश्वर्यरूपी कमला उससे समुद्भूत होती है, सुमधुर गम्भीर शङ्ख-निर्घोष, रक्तवर्ण अश्व तथा श्वेतवर्ण हस्ती साधकोंके दृग्गोचर होते हैं, कूटस्थमें समुज्ज्वल नीलवर्ण कौस्तुभमणिकी ज्योति प्रकाशित होती है। बृहत् ज्योतिके अभ्यन्तर विश्वके राजा श्यामसुन्दर मदनमोहन-रूपमें प्रकाशित होकर जीवके समस्त सन्तापको हरण करते हैं ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अन्वय—आयुधानां (अस्त्रसमूहोंमें) अहं वज्रं (मैं वज्र हूँ), धेनूनां (धेनुओंमें) कामधुक् अस्मि (मैं कामधेनु हूँ), प्रजनः (काम-समूहमें—प्राणियोंका उत्पत्ति-हेतु) कन्दर्पः अस्मि (मैं कन्दर्प हूँ), सर्पाणाञ्च (तथा सर्पोंमें) वासुकिः अस्मि (मैं वासुकी हूँ) ॥२८॥

श्रीधर—आयुधानामिति। आयुधानां मध्ये वज्रमस्मि। कामान् दोग्धीति कामधुक्। प्रजनः प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पः कामोऽस्मि। न केवलं संभोगप्रधानः कामो मद्विभूतिः, अशास्त्रीयत्वात्। सर्पाणां सविषाणां राजा वासुकिः अस्मि ॥२८॥

अनुवाद—आयुधों या अस्त्रोंमें मैं (दधीचि-अस्थि-निर्मित) वज्र हूँ। कामधुक्का अर्थ है जो सब कामनाओंका दोहन करे। धेनुओंमें मैं कामधेनु हूँ। प्रजोत्पत्तिका हेतु मैं कन्दर्प हूँ। केवल सम्भोगप्रधान काम मेरी विभूति नहीं है, क्योंकि वह अशास्त्रीय है। विषैले सर्पोंमें उनका राजा वासुकि मैं हूँ ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वज्राकृति देखी जाती है—गाय दीख पड़ती है—इच्छारहित काम—जो अपने आप होता है—सर्प दीख पड़ते हैं।—इन श्लोकोंकी सारी विभूतियाँ साधकके निजबोधरूप हैं। वज्राकृति अग्निकी झलक कूटस्थके भीतर देखी जाती है, जिसके ऊपर वह प्रयुक्त होती है तत्सम्बन्धमें उसी समय प्रज्ञालोक-प्रदीप्त होकर साधकको प्रकृत ज्ञान गोचरीभूत होता है। हम जानते हैं कि वज्रानल जिसके ऊपर गिरता है वह ध्वस्त हो जाता है। ज्ञानके प्रकाशमें भी यही होता है, उस समय अन्य वृत्ति चित्तमें उदित नहीं होती। इसके परे समाधि अवस्था आती है। योग दर्शनमें लिखा है—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"—ध्यानकी परिपक्व अवस्था ही समाधि है। उस समय दो विषय परिस्फुट होते हैं, एक है 'अर्थमात्रनिर्भास' अर्थात् जिस विषयका अवलम्बन करके ध्यान चल रहा था उसका सम्यक् प्रकाश या निज ज्ञानगोचर होना। दूसरा है 'स्वरूपशून्यमिव' अर्थात् स्वरूपका शून्य हो जाना। समाधिके समय ध्यातृभाव नहीं रहता, शून्यवत् हो जाता है। इस अवस्थामें

केवल ध्येयमात्र प्रकाशित होता है। इस प्रकारके संयमसे प्रज्ञालोक उद्भासित होता है। तब ज्ञानके आन्तर और बाह्य रूपमें रहनेवाला प्रकाश नहीं रहता, सब एक हो जाता है। वज्रानलमें मानो सब दग्ध होकर भस्म हो जाता है। हमारा चित्त ही द्रष्टा और दृश्य, दोनों रूपोंमें सज्जित होकर इस अनन्त भेदमय संसार-लीलाका अभिनय करता है। समाधि अवस्थामें यह भेदज्ञान तिरोहित हो जाता है। प्रत्येक चित्तवृत्तिका सारूप्य जो द्रष्टा है वह प्रत्यक्षीभूत हो जाता है। इसीलिए जितने प्रकारके अस्त्र हैं उनमें वज्रके समान कोई दूसरा अस्त्र नहीं है। वज्राग्निके प्रदीप्त होने पर स्वरूपावस्थाकी जितनी विरोधी वृत्तियाँ हैं वे सब ध्वंस हो जाती हैं।

कूटस्थके भीतर गाय देखी जाती है। वह कामधेनु है, साधकके सङ्कल्पमात्रसे सारी काम्यवस्तुएँ साधकके पास उपस्थित हो जाती हैं।

उसके बाद कन्दर्प—साधकका इच्छारहित काम अपने आप होता है। मनमें कोई सङ्कल्प नहीं होता तथापि अभीष्ट वस्तु अपने आप आ उपस्थित होती है। साधककी साधनावस्थामें कभी-कभी कूटस्थके भीतर ज्योतिर्मय सर्प दीख पड़ता है ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अन्वय—नागानां (नागोंमें) अनन्तः अस्मि (मैं अनन्त हूँ), यादसां च (और जलचरोंमें) अहं वरुणः (मैं वरुण हूँ), पितॄणां (पितरोंमें) अर्यमा अस्मि (अर्यमा हूँ), संयमतां च (और नियम-कारियोंमें) अहं यमः (मैं यम हूँ) ॥२९॥

श्रीधर—अनन्त इति । नागानां निर्विषाणां राजा अनन्तः शेषोऽस्मि । यादसां जलचराणां राजा वरुणोऽस्मि । पितॄणां राजा अर्यमा अस्मि । संयमतां नियमनं कुर्वतां मध्ये यमोऽस्मि ॥२९॥

अनुवाद—निर्विष नागोंमें उनका राजा अनन्त (शेषनाग) मैं हूँ। जलचरोंमें उनका राजा वरुण मैं हूँ। पितरोंमें राजा अर्यमा मैं हूँ। संयम या शासन करनेवालोंमें मैं यम हूँ ॥२९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनन्त नाग दीखता है—कारणवारि—रिचा अर्थात् गलेसे भ्रूपर्यन्त—वायुकी स्थिति और संयम—अर्थात् प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि।—कूटस्थके भीतर अनन्त नाग देखा जाता है, नील समुद्रके समान अथवा नीलाकाशके समान कारणवारि देखा जाता है जिसके भीतर सब निहित है। 'यादः' या रसोंमें प्रधान रस कारणवारि मैं हूँ जिसको आश्रय करके सृष्टि, स्थिति और संहार पुनः पुनः होते रहते हैं। इस रसको अवलम्बन करके ही विचित्र जगत्-लीला चलती रहती है। अर्यमा पितृगणोंके अधिपति हैं। 'पा' धातुसे पितृ बना है, जो पालन करता है। पालक कौन है—"वायु

र्धाता शरीरीणाम्" देहधारी जीवमात्रका पालक वायु या प्राण है। प्राण, अपान और समानके शिथिल होने पर शरीर नहीं रहता। इस प्राणका अधिपति 'अर्यमा' है। 'अर्य'—ऋृ धातुसे गमन अर्थमें बनता है। जब प्राण गमन नहीं करता तो उसका स्थिर भाव 'अर्यमा' कहलाता है। तब गलेसे भ्रू पर्यन्त वायु स्थिर रहती है। पहले वायु मस्तक पर्यन्त जाती है, पश्चात् हृदयमें जाती है, तब गुह्यद्वारमें स्थिर होती है। यही ऋृक्, साम और यजु है। ये तीनों एक साथ मिलकर ॐकार होते हैं। मस्तक, मस्तकसे हृदय और हृदयसे गुह्यद्वार—इन तीन ग्रन्थियोंको भेद कर लेने पर कण्ठ और तालु पर्यन्त वायु स्थिर रहती है—इसका नाम ऋृचा है, यही सावित्री है। वाम श्वास, दक्षिण श्वास और मध्य श्वास अर्थात् सुषुम्ना—सूक्ष्म वायु जो मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म है—वही ऋृचा है अर्थात् अपनेको आप जाननेका मन्त्र है। यह चञ्चल मनको दूसरी ओर नहीं जाने देती और क्रियाकी परावस्थाका स्थिरत्व जो निज-बोध-स्वरूप है, उसको अनुभव करा देती है। संयमकारियोंमें यम भगवान्की प्रधान विभूति है। कैवल्योपनिषद्में लिखा है—"पुरत्रये क्रीड़ति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिन् लयं याति पुरत्रयञ्च॥" यह अणुस्वरूप जीव जो मायाविशिष्ट होकर कभी यहाँ कभी वहाँ मन लगा रहा है, बालकके समान इस शरीरके तीन स्थानोंमें खेल कर रहा है, उसीसे इस विचित्र अवस्था (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) का उद्भव होता है। इस प्रकार खेल करते-करते क्लान्त जीव गुरुसे सदुपदेश लेकर क्रिया करना आरम्भ करता है, क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्माधारमें रहकर जीव अव्यक्त अखण्डानन्द निज-बोधरूप हो जाता है। तब शरीरके ये तीनों पुर (त्रिभुवन) लय हो जाते हैं। जबतक ये तीनों पुर वर्तमान हैं तबतक जीव-लीलाका अन्त नहीं है। इन तीनों पुरोंका नाश होगा संयमके द्वारा। यम उस संयमनीपुरीके अधिपति हैं। योगदर्शनमें है—'त्रयमेकत्र संयमः'—धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनोंको एकत्र किसी विषयमें प्रवर्तित करनेका नाम संयम है। जब इस संयमकी मात्रा इतनी दूर तक पहुँच जाती है कि बाह्य विषयकी कोई संज्ञा ही नहीं रहती, समाधिभङ्गकी आशङ्का भी नहीं रहती या वह बहुत दीर्घकाल स्थायी रहती है तो "तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्"। यही द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान कहलाता है। तब प्राण और मन स्थिर हो जाते हैं। यह महास्थिरावस्था ही महाशव है—जगत् महाश्मशान है—उस महाश्मशानमें फिर कोई नहीं रहता। रहते हैं केवल अनादि पुरुष शिव और शिवहृदयमें विहार करने वाली माँ कालिका। वह तब सूक्ष्म प्राणके रूपमें चक्र-चक्रमें चलते रहते हैं॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

अन्वय—दैत्यानां च (और दैत्योंमें) प्रह्लादः अस्मि (मैं प्रह्लाद हूँ), कलयतां (ग्रास करने वालोंमें) अहं कालः (मैं काल हूँ) मृगाणां च (और पशुओंमें) अहं मृगेन्द्रः (मैं सिंह हूँ) पक्षिणाञ्च (और पक्षियोंमें) वैनतेयः (मैं गरुड़ हूँ)॥३०॥

श्रीधर—प्रह्लाद इति। कलयतां वशीकुर्वतां गणयतां वा मध्ये कालोऽहमस्मि। मृगेन्द्रः सिंहः। पक्षिणां मध्ये वैनतेयो गरुड़ोऽस्मि ॥३०॥

अनुवाद—मैं दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ। वशकारियों या गणनाकारियोंमें मैं काल हूँ। पशुओंमें मैं मृगेन्द्र अर्थात् सिंह हूँ। पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रकृष्टरूप आनन्द सर्वदा मस्तकमें वायुको स्थिर रखता है जो—सिंह दीख पड़ता है—पक्षी दिखलायी देता है।—दितिसे दैत्य बना है, दिति शब्द 'दो' धातुसे बना है जिसका अर्थ है छिन्न या खण्ड करना। आनन्द-मात्रमें ब्रह्मानन्दकी धारा है परन्तु जब वह इन्द्रिय-विषयोंसे उत्पन्न होता है तब खण्डित या छिन्न होता है अर्थात् उसमें समरस भाव नहीं रहता, आता है और चला जाता है। इसी कारण विषयानन्दको परमानन्द नहीं कहते। प्रकृष्ट आनन्द तभी होता है जब प्राण और मनका चाञ्चल्यभाव दूर हो जाता है। वही स्थिरत्वका आनन्द है, इस आनन्दको साधक लोग तब समझते हैं जब मस्तकमें प्राणवायु स्थिर हो जाती है। उस अविच्छिन्न धारावाही परम आनन्दकी तुलना फिर और कहीं नहीं मिलती। सारी इन्द्रियाँ तब अन्तरराज्यमें जुटकर एकमुखी हो जाती हैं, अन्तरकमल-विलासिनी प्राणमयी जगन्माता तब आनन्दमयीरूपमें साधकके चित्तमें विहार करती हैं।

अहं सुव पितरमस्य मूर्द्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानुविश्वा उतामुं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥

—ऋ० १० मण्डल देवीसूक्त।

"सबका मैं पिता हूँ तथा सब भूतोंके मूलकारण आकाशको मैंने प्रसव किया है, मैंने जिस अवस्थासे आदि पिताको प्रसव किया है वह समुद्रके अतल तलके समान अतीव दुर्ज्ञेय है, मैं चैतन्यरूपमें इस त्रिभुवनको व्याप्तकर अवस्थित हूँ, शक्तिरूपमें भी सबमें अनुप्रविष्ट हूँ।" यही जगन्माता हैं, यही सबके प्राण हैं।

राज्यं तस्य प्रतिष्ठा च लक्ष्मी तस्य सदा स्थिरा।
प्रभुत्वं तस्य सामर्थ्यं यस्य त्वं मस्तकोपरि ॥

माँ, तुम जिसके मस्तक पर (सहस्रारमें) प्रतिष्ठिता होती हो राजा उसके चरणों पर मस्तक रखता है, प्रतिष्ठा उसकी आराधना करती है, लक्ष्मी वहाँ सदा स्थिर भावसे अवस्थान करती है, प्रभुत्व और सामर्थ्य सब उसके अनुगामी हो जाते हैं।

"मृगेन्द्रोऽहम्"—कूटस्थके भीतर सिंह दीख पड़ता है, सिंहनाद भी सुननेमें आता है। जो साधक सिंहनाद सुन पाता है, जानना चाहिए कि उसकी समाधि आसन्न है। मृगका अर्थ अन्वेषण या याचना है। सब अन्वेषणोंसे बड़ा अन्वेषण आत्मानु-सन्धान है, सब भिक्षाओंसे श्रेष्ठ है मुक्तिकी भिक्षा।

वैनतेय=गरुड़। कूटस्थके भीतर गरुड़पक्षी दीख पड़ता है। प्राणके पंखको भी पक्ष कहते हैं। 'शरो ह्यात्मा'—शर है मन जो वेगयुक्त भावमें गमन करता है। मनका यह वेगयुक्तभाव जब ब्रह्मको लक्ष्य करता है, तब वह विष्णुका (जो विश्वमें अनुप्रविष्ट है) वाहन बनता है। अतएव सब मनोवेगोंमें भगवन्मुखी मनोवेग ही

सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी अवस्था जिसकी होती है उसको विनत अर्थात् विशेष भावसे नत होना पड़ता है। यह प्रणत भाव ही भगवत्साक्षात्कारका प्रकृष्ट उपाय है। (गरुड़ शब्दसे भी यही अर्थ प्रकट होता है। गर = विष, हृदयग्रन्थि ही जीवके लिए विषका कार्य करती है, उसको जो विनाश करता है)। चक्षुमें कूटस्थ रहता है। उसके भीतर कृष्णास्वरूप ब्रह्म और ज्योतिःस्वरूप अग्नि ही महारथ है। वायुकी ऊर्ध्वगति होने पर इस कूटस्थके दिव्यरूपका दर्शन होता है। अतएव वायुकी ऊर्ध्वगतिरूप गरुड़के ऊपर इस कूटस्थकी स्थिति हुई है। तब मस्तकमें एक प्रकारका भार बोध होता है। क्रियाकी परावस्थामें इस प्रकारका भार बोध होता है। श्वास स्थिर होने पर जो क्रियाकी परावस्था होती है उसमें वासनाका वेग, मनका चाञ्चल्य कुछ भी नहीं रहता ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

अन्वय—पवतां (पवित्र करने वालोंमें अथवा वेगवानोंमें) पवनः अस्मि (मैं पवन हूँ), शस्त्रभृतां (शस्त्रधारियोंमें) अहं रामः (मैं राम हूँ), झषाणां (मछलियोंमें) मकरः अस्मि (मैं मकर हूँ) स्रोतसां च (और प्रवाहिनी नदियोंमें) जाह्नवी अस्मि (मैं पुण्यसलिला गङ्गा हूँ) ॥ ३१ ॥

श्रीधर—पवन इति। पवतां पावयितॄणां वेगवतां वा मध्ये वायुरहमस्मि। शस्त्रभृतां वीराणां रामो दाशरथिः यद्वा परशुरामः। झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो नाम मत्स्यजातिविशेषोऽहम्। स्रोतसां प्रवाहोदकानां मध्ये भागीरथी ॥ ३१ ॥

अनुवाद—पवत् शब्दसे पावयिता अर्थात् पवित्र करनेवालोंमें अथवा वेगवानोंमें मैं वायु हूँ। शस्त्रधारी वीरोंमें मैं दाशरथि राम हूँ अथवा परशुराम हूँ। झष अर्थात् मत्स्योंमें मैं मत्स्यजाति-विशेष मकर हूँ। प्रवाहिनी नदियोंमें मैं भागीरथी हूँ ॥३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वायु इच्छारहित—देखी जाती है—जानुमें वायुका जोर।—प्राणायामादि वायुका कार्य करने पर इच्छारहित अवस्था होती है। इच्छा ही सारे पापोंका मूल है। यह इच्छा नष्ट होती है प्राणायाम साधनके द्वारा। अशुद्धि ही प्रकृत मल है। आवरण और विक्षेप मनकी अशुद्धि या मल है। प्राणायामके द्वारा यह अशुद्धि क्षय होती है। योगदर्शनमें है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"—प्रकाशस्वरूप जो आत्मा है उसका आवरण क्षयको प्राप्त होता है, यही प्राणायामका फल है। प्राण आत्माकी ही विशेष शक्ति है, उस शक्तिके द्वारा ही जगत्का कार्य सिद्ध होता है। इस प्राणमें जो प्रतिष्ठित होता है, वह प्राणशक्तिके आश्रय उस द्रष्टा पुरुष या चितिशक्तिका सन्धान पाता है।

रामः—राम दीख पड़ते हैं। सबके भीतर जो रमण करता है वह आत्मा है। शस्त्र यानी आयुध जिसके द्वारा रक्षा या त्राण पाया जाय। जिसका मन आत्मामें स्थिर है उसको फिर भय नहीं रहता। अतएव भयसे परित्राणके जितने

अस्र हैं, आत्मा उनमें सर्वप्रधान है। विभिन्न स्थानोंमें स्थिर प्राणकी गतिके द्वारा ज्ञानका प्रकाश होता है। उस ज्ञानप्रवाहमें पवित्रतम आत्मज्ञान ही गंगा है, उस समय जानुमें स्थिर वायुकी गति होती है। सर्वाङ्गमें स्थिर वायुकी गति होने पर फिर उसके बाह्य कर्म नहीं रहते, परन्तु जानुके भीतर योनिमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करने पर रौरवमें जाना पड़ता है। आसक्तिपूर्वक पुनः पुनः देखने पर कण्ठस्थ वायुपर्यन्त मग्न होकर उसीकी बात करता है और यह सोचकर कि उसमें ही सुख मिलेगा, उसमें लीन हो जाता है और फलस्वरूप रोगग्रस्त होकर मृत्युको प्राप्त होता है। इस जानुको भेदकर या कामको अतिक्रम कर मनका जो निर्मल प्रवाह बहता है वही पवित्र गङ्गा है ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) सर्गाणां (सृष्टपदार्थोंका) आदिः अन्तः च मध्यं च (आदि, अन्त और मध्य) अहम् एव (मैं ही हूँ), विद्यानां (विद्याओंमें) अध्यात्मविद्या (आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या), प्रवदतां (वादियों या तार्किकोंमें) अहं वादः (मैं वाद हूँ) ॥३२॥

श्रीधर—सर्गाणामिति। सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयः। तेषामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहम्। अहमादिश्च मध्यञ्चेत्यत्र सृष्ट्यादिकर्तृत्वं पारमैश्वर्यमुक्तम्। अत्र तूत्पत्तिस्थितिप्रलया मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्युच्यते इति विशेषः। अध्यात्मविद्या आत्मविद्या। प्रवदतां वादिनां सम्बन्धिन्यो वादजल्पवितण्डाख्यास्तिस्रः कथाः प्रसिद्धाः। तासां मध्ये वादोऽहम्। यत्र द्वाभ्यामपि प्रमाणतः तर्कतश्च स्वपक्षः स्थाप्यते। परपक्षश्छल-जातिनिग्रहस्थानैर्दूष्यते स जल्पो नाम। यत्र त्वेकः स्वपक्षं स्थापयति अन्यस्तु छलजाति-निग्रहस्थानैस्तत्पक्षं दूषयति—न तु स्वपक्षं स्थापयति सा वितण्डा नाम कथा। तत्र जल्पवितण्डे विजिगीषमाणयोः वादिनोः शक्तिपरीक्षामात्रफले। वादस्तु वीतरागयोः शिष्याचार्ययोः अन्ययोर्वा तत्त्वनिरूपणफलः। अतोऽसौ श्रेष्ठत्वात् मद्विभूतिरित्यर्थः ॥३२॥

अनुवाद—जो सृष्ट होता है वह सर्ग है (अर्थात् आकाशादि) उनमें आदि, अन्त और मध्य मैं हूँ। इस अध्यायके २०वें श्लोकमें सृष्टि आदिका कर्तृत्व-रूप पारमैश्वर्य कथित हो चुका है। इस श्लोकमें यह विशेष रूपसे बतलाते हैं कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय मद्विभूतिरूपमें ध्येय है। अध्यात्मविद्याका अर्थ है आत्मविद्या, सब विद्याओंमें मैं आत्मविद्या हूँ। प्रवदत् शब्दका अर्थ है वादी, वादियोंके सम्बन्धमें वाद, जल्प और वितण्डा नामक तीन बातें प्रसिद्ध हैं इनमें मैं वाद हूँ। जिसमें दोनों वादी प्रमाण और तर्कके द्वारा स्वपक्ष स्थापन करते हैं तथा परपक्षको छल, जाति, और निग्रह-स्थानके द्वारा दूषित करते हैं उसका नाम 'जल्प' है। जिसमें एक व्यक्ति स्वपक्षका स्थापन करे और दूसरा पक्ष छल, जाति और निग्रह-स्थानके द्वारा उस पक्षमें दोषोद्भावना करे परन्तु अपने पक्षकी स्थापना न करे तो उसका नाम वितण्डा

है। इनमें जल्प और वितण्डाके द्वारा विजयाभिलाषी वादिद्वयकी शक्तिकी परीक्षा मात्र होती है। 'वाद'में वीतराग शिष्य और आचार्य अथवा अन्य किसी दो व्यक्तियोंमें तत्त्व-निर्णयकी बातें होती हैं। अतएव 'वाद' श्रेष्ठ है, इसी कारण वह मेरी विभूति है ॥ ३२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आकाशके आदि अन्त मध्यरूप—क्रियाके परे स्थिर अवस्था—उत्तर देकर जो निरस्त कर सकता है।—सृष्टिका आदि, अन्त और मध्यभाग सब मैं हूँ। एक अखण्ड आत्मा त्रिकालमें वर्त्तमान है। आकाशमें आदि, अन्त और मध्यरूप खण्ड-भाव नहीं होता। घट-मठ आदिमें आकाश खण्डित जान पड़ने पर भी घट-मठादि व्यवधान आकाशको जिस प्रकार वस्तुतः खण्ड-खण्ड नहीं कर सकते, उसी प्रकार आत्माकी असंख्य शरीरादि उपाधियाँ होने पर भी एक अखण्ड आत्मा चिर विद्यमान रहता है, उसको किसी वेष्टनमें नहीं ला सकते। क्रियाकी परावस्थामें जब देहबोध नहीं रहता, तब आदि-अन्त-मध्यहीन आत्माके अखण्ड स्वरूपका बोध होता है। अध्यात्मविद्या ही आत्मविद्या है, इसके द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। "विद्या हि का ? ब्रह्मगतिप्रदा या"। देहको अधिकृत करनेके कारण आत्मा ही अध्यात्म है। इस देहके सम्बन्धमें और उसमें अवस्थित आत्माके सम्बन्धमें ज्ञान आत्मक्रियाके द्वारा ही लभ्य है, इसलिए इस क्रिया-साधनको भी अध्यात्म कहते हैं। इस आत्मक्रियाके द्वारा देहात्मबोध नष्ट होता है और सत्यबोध या परमार्थ-बोधका उदय होता है।

वाद—जिससे प्रकृत जिज्ञासुका सन्देह दूर हो जाता है उसे वाद कहते हैं। क्रियाकी परावस्थाके सिवा अन्य अवस्थामें यह संभव नहीं है ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अन्वय—अक्षराणां (अक्षरोंमें) अकारः अस्मि (मैं अकार हूँ) सामासिकस्य च (और समासोंमें) द्वन्द्वः (द्वन्द्व-समास हूँ), अहं एव (मैं ही) अक्षयः कालः (अविच्छिन्न प्रवाह-रूप अक्षय काल हूँ), अहं (मैं) विश्वतोमुखः धाता (सब कर्मफलोंका विधाता हूँ) ॥३३॥

श्रीधर—अक्षराणामिति। अक्षराणां वर्णानां मध्ये अकारोऽस्मि। तस्य सर्ववाङ्मयत्वेन श्रेष्ठत्वात्। तथा च श्रुतिः—अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति। सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः—रामकृष्णावित्यादिसमासः—अस्मि। उभयपदप्रधानत्वेन श्रेष्ठत्वात्। अक्षयः प्रवाहरूपः कालोऽहमेव। कालः कलयता-महमित्यत्र त्रुटिलवाद्यात्मकः संवत्सरशतात्मायुःस्वरूपः काल उक्तः। स च तस्मिन्नायुषि क्षीणे सति क्षीयते। अत्र तु प्रवाहात्मकोऽक्षयः काल उच्यते इति विशेषः। कर्मफलविधातृणां मध्ये विश्वतोमुखो धाता। सर्वकर्मफलविधाता अहमित्यर्थः ॥३३॥

अनुवाद—अक्षर अर्थात् वर्णोंमें अकार मैं हूँ। अकार सर्ववाङ्मय है, इसी कारण श्रेष्ठ है। श्रुतिमें लिखा है—"अकार ही सर्व वाक्यस्वरूप है, यह स्पर्श और ऊष्मरूपमें व्यज्यमान अर्थात् प्रकाशमान होकर नाना रूपोंमें प्रकाशित होता है।" समासोंमें उभयपदकी प्रधानताके कारण 'रामकृष्णौ' इत्यादि द्वन्द्वसमास मैं हूँ। मैं अक्षय प्रवाहरूप काल हूँ। "कालः कलयतामहम्"—पहले कालकी बात कही जा चुकी है, वह आयुर्गणनात्मक है। शत-संवत्सर आयुस्वरूप कालकी बात कही गयी है। आयु क्षीण होने पर वह क्षयको प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ प्रवाहरूप अक्षय कालकी बात कही गयी है, केवल इतनी ही विशेषता है। कर्मफलके विधाताओंमें मैं विश्वतोमुख धाता हूँ अर्थात् सब कर्मफलोंका विधाता हूँ ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ—दो—स्थिर—उत्पत्तिका स्थान ब्रह्म सब दिशाओंमें मुँह।—ॐकाररूपी शरीरके भीतर सर्वत्र कूटस्थका अनुभव हो सकता है। परन्तु दो स्थानोंमें कूटस्थ स्थिर अर्थात् नित्य है—भ्रूमध्य और मूलाधारमें। कूटस्थ अव्यक्त और नित्य है, उसीके द्वारा सारी सृष्टि हुई है और हो रही है, उसको ही ब्रह्म कहते हैं। मूलाधारमें वायुके गमन करने पर समस्त सृष्टिकी क्षमता होती है अर्थात् दूरके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दका अनुभव इस शरीरमें ही होता है। यही ब्रह्मका सब दिशाओंमें मुँह कहलाता है, इसमें ऐसा पराक्रम है कि जो इच्छा करता है, वही कर सकता है। चक्षुके द्वारा अरूपका रूप—कूटस्थ, विन्दु देखता है। कर्णके द्वारा अशब्दका शब्द—ॐकार-ध्वनि सुनता है। जिह्वाके द्वारा अरसका रस आस्वादन करता है अर्थात् वायुरूप अमृत (मिठास) गलेमें बोध होता है, नासिकामें अगन्धकी गन्ध—नाना द्रव्यों और पुष्पोंकी गन्ध मिलती है। त्वचा अस्पर्शीय ब्रह्मको वायुके द्वारा स्पर्श करता है। वह एक ब्रह्म-वस्तु ही अपनेको अनेक भावोंसे अनुभव करती है ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

अन्वय—अहं च (और मैं) सर्वहरः मृत्युः (संहारकारियोंमें सर्वसंहारकारी मृत्यु हूँ) भविष्यतां च (और भाविकालके प्राणियोंमें) उद्भवः (अभ्युदय मैं हूँ) नारीणां च (और नारियोंमें) कीर्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा (कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा—धर्मपत्नीरूपा सप्त देवियाँ मेरी ही विभूतियाँ हैं) ॥३४॥

श्रीधर—मृत्युरिति। संहारकाणां मध्ये सर्वहरो मृत्युः अहम्। भविष्यतां भाविकल्याणानां प्राणिनां उद्भवोऽभ्युदयोऽहम्। नारीणां मध्ये कीर्त्याद्याः सप्तदेवतारूपाः स्त्रियोऽहम्। यासां आभासमात्रयोगेन प्राणिनः श्लाघ्या भवन्ति ताः कीर्त्याद्याः स्त्रियो मद्विभूतयः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—संहारकोंमें मैं सर्वहर मृत्यु हूँ। प्राणियोंके भविष्यत् कल्याणके पक्षमें मैं अभ्युदयरूप हूँ। नारियोंमें कीर्ति आदि सप्त देवतारूपिणी नारियाँ मैं हूँ।

जिनके आभास-मात्र सम्बन्धके द्वारा प्राणी श्लाघ्य अर्थात् प्रशंसनीय होते हैं, वे कीर्ति आदि नारियाँ मेरी ही विभूति हैं।

[उपर्युक्त नारियोंको धर्म-पत्नी कहा है। जो वास्तविक धार्मिक हैं उनमें ये सारी विभूतियाँ धर्मलक्षणरूपमें प्रस्फुटित हो उठती हैं। (१) धार्मिकोंका जो यशः चतुर्दिक कीर्तित होता है, वही कीर्ति है। (२) धर्मानुष्ठानके द्वारा धार्मिकोंकी देहादिमें जो सौन्दर्य फूट उठता है, जिसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं, उसका नाम श्री है। (३) धार्मिक पुरुष धर्माचरणके द्वारा जो अपूर्व वाग्विभव प्राप्त करते हैं, जिनकी वाणी सुनकर सब लोग मुग्ध हो जाते हैं, लोगोंके मनका सन्देह दूर होता है, उस कवितारसमयी भावप्रकाशक शक्तिका नाम वाक् है। (४) स्मृति—स्मरणशक्तिका नाम स्मृति है। भगवद्-विषयिणी स्मृतिके ध्रुवा होने पर मुक्तिका द्वार उन्मुक्त हो जाता है। (५) मेधा—बुद्धिके द्वारा समझकर उसको धारण करनेकी शक्तिका नाम मेधा है। जिसकी मेधा अच्छी है उसको विस्मृति नहीं होती। जिसकी मेधा जितनी तीक्ष्ण होती है वह उतना ही अभ्युदय लाभ करता है। (६) धृति—विषयान्तरकी धारणा न करके मन, प्राण, इन्द्रियोंको नियमित कर चित्तको भगवद्-अभिमुख एकाग्र करनेकी शक्तिका नाम धृति है। (७) क्षमा—हर्ष-विषादमें उत्फुल्ल या आतुर न होनेको क्षमा कहते हैं।

बाह्ये वाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पातिके क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥]—३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मृत्यु समस्त हरणकर्त्ता—ब्रह्मसे हुआ है और होगा—नारीकी कीर्ति, श्री और वाक्य और स्मृति मेधा धृति क्षमारूप।—समाधिरूप मृत्यु ही समस्त विषयोंका वास्तविक हरणकर्त्ता है। साधारण मृत्युसे देहादिका नाश होने पर भी संस्कारका नाश नहीं होता, इसलिए फिर जन्म और मृत्यु होती है। जन्मका आदि जहाँसे हुआ है उसका नाम ब्रह्म है। इसको जान लेने पर जीव सर्वज्ञ हो जाता है। यह सर्वज्ञता सब अभ्युदयोंमें श्रेष्ठ है। क्रियाकी परावस्थामें रहते-रहते ब्रह्ममें अटका रहता है, तब सब भाव एक भावमें मिलकर एक हो जाते हैं। धर्मरूप ऐश्वर्यके द्वारा मनको जो बल मिलता है और तज्जनित शरीरमें जो कान्ति होती है वही 'श्री' है। वाक्—अच्छी तरह समझाने या बोलने की शक्ति। साधनाके द्वारा यह वाक्-शक्ति विपुल परिमाणमें वर्द्धित होती है। साधकके वाक्यसे मुग्ध होकर बहुतसे लोग उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। स्मृति—यह एक प्रकारकी साधन-विभूति है जिसके होने पर बहुत दिन पूर्वकी बात और बहुत जन्मकी बात साधकको स्मरण हो जाती है। क्रियाकी परावस्था या कूटस्थदर्शनकी जो स्मृति है, वह स्मृति जिस साधककी सदा जाग्रत रहती है वह जीवन्मुक्त अवस्था लाभ करता है। इस प्रकारकी स्मृतिका नाम ही मेधा है। धृति—साधनके द्वारा जिसका चित्त और श्वास जितना अधिक परिमाणमें अवरुद्ध होता है उसकी धृति भी उतनी ही उच्चस्तरकी होती है। क्षमा—योगबलके द्वारा असाध्य साधन करने पर भी जब धैर्यके साथ उस शक्तिको संवरण करते हैं, किसीके प्रति क्रुद्ध या

तुष्ट होने पर जब नियमके बाहर कोई कार्य नहीं करते और इन्द्रियोंकी धैर्यच्युति का कारण उपस्थित होने पर जब धैर्यच्युत न होकर साम्यावस्थामें वर्त्तमान रहते हैं तो वही वास्तविक क्षमा है ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अन्वय—अहं (मैं) साम्नां (सब सामोंमें) बृहत् साम (बृहत्साम हूँ), छन्दसाम् (छन्दोंमें) गायत्री (गायत्री हूँ) तथा मासानां (और सब महीनोंमें) अहं मार्गशीर्षः (मैं मार्गशीर्ष हूँ), ऋतूनां (ऋतुओंमें) कुसुमाकरः (वसन्त-ऋतु हूँ) ॥ ३५ ॥

श्रीधर—बृहत्सामेति । "त्वामिद्धि हवामहे"—इत्यस्यां ऋचि गीयमानं बृहत्साम तेन च इन्द्रः सर्वेश्वरत्वेन स्तूयते इति श्रेष्ठयम् । छन्दोविशिष्टानां मन्त्राणां मध्ये गायत्री-मन्त्रोऽहम् । द्विजत्वापादकत्वेन सोमाहरणेन च श्रेष्ठत्वात् । कुसुमाकरो वसन्तः ॥३५॥

अनुवाद—'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यादि ऋग्मन्त्रमें गीयमान बृहत्साम मैं हूँ। इन्द्रको उसके द्वारा सर्वेश्वररूपमें स्तवन किया जाता है, इसी कारण बृहत्सामकी श्रेष्ठता है। छन्दविशिष्ट मन्त्रोंमें मैं गायत्री-मन्त्र हूँ। गायत्री-मन्त्र द्विजत्व-प्रापक और सोमाहरण करनेवाला होनेके कारण श्रेष्ठ है। मासोंमें मैं मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त हूँ ॥ ३५ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—महान् ॐकारध्वनि—ॐकार-क्रिया—मूलाधार और सहस्रार एक होना—सदा वसन्त ऋतुके समान बोध।—साधक लोग साधनावस्थामें प्रायः ॐकारध्वनि सुन पाते हैं। यह शब्द कभी-कभी बहुत उच्च और दीर्घकाल स्थायी होता है। तब मन और कहीं नहीं रहता, सदा शब्दमें तन्मय रहता है। ॐकार क्रियारूपी जिस साधनाका योगी लोग अभ्यास करते हैं, उसका यहाँ सङ्केत किया गया है यानी ॐकार आदिके द्वारा प्रज्ज्वलित ऊर्ध्वगामी अग्निमें मन्त्रके सहित अपान वायु द्वारा आहुति देना। प्रणव ही सब मन्त्रोंका आदि मन्त्र है। ॐकार शरीर है, वह आद्य बीज है क्योंकि यही आदि फलाकाङ्क्षारहित धर्म है, इस शरीरमें इसीका साधन करना आवश्यक है। इसको करते-करते साधक क्रियाकी परावस्थारूप ब्रह्ममें लीन होता है। जो छः चक्रोंकी क्रिया करते हैं वे जिह्वा द्वारा मधुपान करते हैं—"इड्यास्ते ते पिबन्ति जिह्वया मधोरमे वषट् क्रिति"—ऋग्वेद। मनको रोकने का नाम मधु है, उसको पान करने पर नशा होता है। क्रियाके द्वारा ही मनका अवरोध होता है और एक प्रकारका नशा होता है। सहस्रारसे सुधा क्षरित होती है। उसको पान करने पर उन्मत्तता आती है, जगत्‌ज्ञान नष्ट हो जाता है। यह षट्‌दलपद्मका रस है, उसको पान करने पर सदा वसन्त ऋतुका-सा ज्ञान होता है ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

अन्वय—छलयतां (छलना करनेवालोंमें) द्यूतं अस्मि (मैं द्यूत हूँ), तेजस्विनां (तेजस्वी पुरुषोंमें) अहं तेजः अस्मि (मैं तेज हूँ), अहं (मैं) जयः (विजयी पुरुषका जय) व्यवसायः अस्मि (अध्यवसायशील पुरुषका मैं उद्यम हूँ), सत्त्ववतां (सात्त्विक लोगोंमें) अहं सत्त्वम् (मैं सत्त्वगुण हूँ) ॥३६॥

श्रीधर—द्यूतमिति। छलयतां अन्योऽन्यवञ्चनपराणां सम्बन्धि द्यूतमस्मि। तेजस्विनां प्रभाववतां तेजः प्रभावोऽस्मि। जेतॄणां जयोऽस्मि। व्यवसायिनां उद्यमवतां व्यवसाय उद्यमोऽस्मि। सत्त्ववतां सात्त्विकानां सत्त्वमहम् ॥३६॥

अनुवाद—'छलयत्' शब्दका अर्थ है वञ्चनाकारी। परस्पर वञ्चना करनेवालोंमें मैं द्यूतक्रीड़ा हूँ। मैं प्रभावशालियोंमें प्रभाव हूँ। जयशीलोंमें मैं जय हूँ। उद्यमी पुरुषोंका व्यवसाय अर्थात् उद्यम मैं हूँ। सात्त्विकोंका मैं सत्त्व हूँ ॥३६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चतुरता—तेज—जय—कर्म—सत्य—मैं हूँ। "जेइ जन कृष्ण भजे से बड़ चतुर"—साधकको इस प्रकारकी चातुरी सीखनी पड़ती है। सारे रिपु सदा प्रलोभन दिखलाकर विषयभोग कराते हैं, उनके हाथसे छुटकारा पानेके लिए उनको समझाने या खुशामद करनेसे काम न चलेगा, वे छोड़ नहीं देंगे। उनके साथ ऐसा व्यवहार करना होगा जिससे उनको पता न लगे कि हम उनका सङ्ग-त्याग करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार उनको वञ्चना करके आत्मोपासना की जाती है, नहीं तो वे साधनमें बहुत विघ्न डालते हैं। द्यूत—दिव् धातुसे बना है, दिव् धातुका अर्थ है आकाश। मनको आकाशमें या शून्यमें रखने पर वहाँ और किसीको उसका पता न लगेगा। काम लोभादिको वञ्चना करनेका ऐसा उपाय दूसरा नहीं है। इसी लिए यह भगवद्विभूति है। अन्यथा, दूसरेको जुआचोरीके द्वारा वञ्चना करनेमें द्यूतक्रीड़ाका जो प्राधान्य है वह भगवद्विभूति नहीं है। जिसमें तेज है उसके वशमें सब रहते हैं। ब्रह्मतेज ही सर्वापेक्षा बड़ा तेज है। ब्रह्मतेजःसम्पन्न पुरुषसे देवता भी डरते हैं। तेजस्वी पुरुष जो इच्छा हो कर सकते हैं। वह तेज आत्मतेज है। जय—'यतो धर्मस्ततो जयः', जहाँ धर्म है वहाँ ही जय है। सच्चिदानन्द भाव ही आत्माका धर्म है। इस सच्चिदानन्दमें जो प्रतिष्ठित है, उसको फिर कोई वासना या रिपु अपने वशमें नहीं ला सकता। रिपुगण उसके सामने हार मान जाते हैं। व्यवसाय—उद्यम या पुरुषार्थ। उद्यमशील पुरुष ही इस कुरुक्षेत्र युद्धमें जय प्राप्त कर सकते हैं। उद्यम है क्रिया करनेकी इच्छा और प्रयत्न। सत्त्वगुण—धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि ही सत्त्वगुण हैं। इस गुणकी वृद्धिके बिना कोई आत्मस्थ नहीं हो सकता। विषयाकुल चित्त विषय संग्रहके लिए व्याकुल रहता है, उसका चित्तविक्षेप नहीं जाता। विक्षिप्त चित्तमें

आत्माका स्थिर भाव नहीं जान पड़ता। "सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्" सत्त्वगुणसे ब्रह्मका स्वरूपानुभव होता है ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

अन्वय—वृष्णीनां (वृष्णिवंशजोंमें) वासुदेवः अस्मि (मैं वासुदेव हूँ), पाण्डवानां (पाण्डवोंमें) धनञ्जयः (मैं धनञ्जय अर्जुन हूँ), मुनीनामपि (मुनियोंमें) अहं व्यासः (मैं वेदव्यास हूँ), कवीनां (कवियोंमें) उशनाः कविः (मैं शुक्राचार्य कवि हूँ) ॥३७॥

श्रीधर—वृष्णीनामिति। वासुदेवो योऽहं त्वामुपदिशामि, धनञ्जयः त्वमेव मद्विभूतिः। मुनीनां वेदार्थ-मननशीलानां वेदव्यासोऽस्मि। कवीनां क्रान्तदर्शिनां (काव्यदर्शिनां शास्त्रदर्शिनां प्रभृति पाठान्तर) उशना नाम कविः शुक्रः ॥३७॥

अनुवाद—वृष्णिवंशी लोगोंमें वासुदेव हूँ, जो मैं तुमको उपदेश दे रहा हूँ। धनञ्जय! पाण्डवोंमें तुम मेरी विभूति हो। वेदार्थका मनन करनेवाले मुनियोंमें मैं वेदव्यास हूँ। कवि जो क्रान्तदर्शी अर्थात् सूक्ष्मदर्शी होते हैं, उनमें मैं उशना नामक कवि शुक्राचार्य हूँ ॥३७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इच्छा-ब्रह्मज्ञ—वक्ता—उत्तमपुरुष।—वृष्णि 'वृष' धातुसे बना है, वृष धातुका अर्थ है काम। देहाभिमानयुक्त जीवको जो काम या इच्छा होती है, वह देहसम्बन्धी सुख-प्राप्तिकी इच्छा है। 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितम्'—विशुद्ध सत्त्व ही वसुदेव है। सत्त्व विशुद्ध होने पर जो प्राप्त होते हैं, वही वासुदेव हैं। रजस्तमोगुणसे अभिभूत जीवकी संसार-वासना प्रबल होती है, विशुद्धसत्त्व होने पर मनोवेग अविच्छिन्न धारामें आत्माभिमुख प्रवाहित होता है, वही वासुदेव हैं। इस प्रकारकी शुभ वासनासे ही सब कामोंकी परिसमाप्ति होती है और जो विश्वमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं उस कूटस्थ चैतन्यके प्रति दृढ़ा भक्ति आ उपस्थित होती है। इसीसे सब कामनाओंसे बड़ी कामना है 'आत्मा'की अभिलाषा और सर्वप्राप्तिसे श्रेष्ठ प्राप्ति है आत्मज्ञानकी प्राप्ति।

पाण्डव—पाण्डव पञ्चतत्त्व हैं, उनमें अर्जुन तेजस्तत्त्व है। वही मणिपूरकी शक्ति है जहाँ समानवायु रहती है। यह समानवायु जबतक अविकृत रहती है, तबतक जीवको कोई भय नहीं होता। समानवायु प्राण-अपानके सन्धि-स्थलमें आकर प्राण-अपानको स्व-स्व कार्यमें स्थिर रखती है। यह वायु ही वैष्णवी शक्ति है। नाभिस्थ अग्नि ही जीवका जीवत्व है, इस कारणसे भी सब तत्त्वोंमें इसका प्राधान्य है। इसके सिवा इसका एक और अर्थ विवेच्य है। पाण्डव शब्द पण्डा धातुसे बना है जिसका अर्थ है वेदोज्ज्वला बुद्धि। जिनकी बुद्धि उज्ज्वल है, सत्यार्थ निरूपणमें समर्थ है, वे ही पाण्डव या ज्ञानी हैं। इन ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ वह है जो ब्रह्मज्ञ है। धन-देवताको जय करनेके कारण इनका नाम धनञ्जय है। धनं जैसा

मनुष्यको मोहाभिभूत करता है, वैसा और कोई पदार्थ नहीं करता। इसलिए धनके मोहको महामोह कहते हैं। धनादि जड़ वस्तुके प्रति समधिक प्रीति मोहका लक्षण है। धनैषा पुत्रैषा आदि ईषणाएँ ही जीवको महामोहमें आबद्ध करती हैं। जिन्होंने सब प्रकारकी ईषणाओंको जय कर लिया है वे ही ब्रह्मज्ञ पुरुष हो सकते हैं।

व्यास—वेद-विभाग-कर्त्ता या जो वेद-वक्ता हैं और जीवको उपदेश देकर उद्धार करते हैं वे ही व्यास हैं।

उशना—वश धातुसे बना है। अस्तु, उशना अर्थात् जिसने सारी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है। दृष्ट (कामिनी-काञ्चनादि ऐहिक भोग्य वस्तु-समूह) और आनुश्रविक (पारलौकिक भोग्य विषयादि) विषयोंमें जिनकी वितृष्णा है ऐसे योगाधिकारी व्यक्तिको वशीकार- संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप बुद्धिसे विषयके प्रति हेय और उपादेय भाव तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकारके आत्मवश्य विधेयात्मा पुरुष ही शान्ति लाभ करते हैं, यह श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है। जो इस प्रकारके वशीकार वैराग्यको प्राप्त किये हुए साधक हैं, वे उत्तम पुरुषका साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। उत्तम पुरुषके साथ जिनका चित्त मिल जाता है वे सर्वज्ञ हो जाते हैं ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

अन्वय—दमयतां (दमनकारियों या शासनकर्त्ताओंमें) अहं दण्डः (मैं दण्ड हूँ), जिगीषतां (जयकी इच्छा करनेवालोंमें) नीतिः अस्मि (मैं नीति हूँ), गुह्यानां (गोपनीय विषयोंमें) मौनं एव अस्मि (मैं मौन हूँ) ज्ञानवतां च (और ज्ञानियोंमें) अहं ज्ञानम् (मैं ज्ञान हूँ) ॥३८॥

श्रीधर—दण्ड इति। दमयतां दमनकर्तृणां सम्बन्धी दण्डोऽस्मि। येन असंयता अपि संयता भवन्ति स दण्डो मद्विभूतिः। जेतुमिच्छतां सम्बन्धिनी सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुमौनवचनमहं अस्मि। न हि तुष्णीं स्थितस्य अभिप्रायो ज्ञायते। ज्ञानवतां तत्त्वज्ञानिनां यज्ज्ञानं तदहमस्मि ॥३८॥

अनुवाद—'दमयत्' शब्दका अर्थ है दमनकर्त्ता। दमनकर्त्ता-सम्बन्धी दण्ड मैं हूँ। जिससे असंयत व्यक्ति संयत होते हैं, वह दण्ड मेरी विभूति है। जिगीषत्का अर्थ है जयकामी। जयकी कामना करनेवालोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सामादि (साम, दान और भेद) उपाय-स्वरूप नीति मैं हूँ। सब गोप्य वस्तुओंमें गोपनका हेतु मौन वचन मैं हूँ, क्योंकि तुष्णीभावमें अवस्थित व्यक्तिका अभिप्राय कोई नहीं जान सकता। तत्त्वज्ञानियोंका जो ज्ञान है वह मैं हूँ ॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सजा—नीति—मौन—कूटस्थ देखना—और अपना बोधरूप।—कुपथगामियोंको सजा दिये बिना उनको सुपथमें नहीं ला सकते, अतएव दण्ड भगवान्की विभूति है। राजदण्डके द्वारा प्रजा सुशासित होती है, पापी पापाचरणसे निवृत्त होते हैं। परन्तु मनुष्यके लिए इन्द्रियोंकी अपेक्षा दुर्दान्त रिपु

दूसरा कोई नहीं है। इन्द्रियोंकी प्रेरणासे लोग कैसे-कैसे अन्याययुक्त कर्म कर बैठते हैं! उन इन्द्रियोंके शासनके लिए अनेक उपायोंके होते हुए भी प्राणायामरूपी दण्ड सर्वोत्कृष्ट है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं। क्लेशोंके द्वारा जीवका कर्माशय गठित होता है। इच्छा या अनिच्छासे जीव जो सदसद् कर्मका अनुष्ठान करता है, उससे ही धर्माधर्मरूप कर्मबीजका सञ्चय होता है। इसी कारण कर्माशयरूपी आधारसे शत-शत आशाएँ और वासनाएँ निरन्तर विकसित होती रहती हैं और इसका ही परिणाम होता है मनुष्यत्व, द्विजत्व, चाण्डालत्वादि, स्वल्प या दीर्घ जीवन-काल तथा विषयेन्द्रियोंके संस्पर्शसे विषयादिका भोग अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ स्थूल या सूक्ष्म विषयादिका संयोग।

ये सारी इन्द्रियाँ और इनके साथ विषयोंका संयोग ही प्रकाश-स्वरूप आत्माका आवरण है। इस आवरणका क्षय हुए विना आत्माका स्वरूप समझमें नहीं आता। प्राणायामके द्वारा ही यह आवरण क्षयको प्राप्त होता है। योगदर्शनके साधन पादके ५२ सूत्रमें वर्णित है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।"

अधिकांश जीव आवरण और विक्षेपरूप मलके द्वारा नितान्त अशुद्ध रहते हैं। इस मलको दू॰ किये बिना जीवको ज्ञान प्राप्त होना अत्यन्त ही दुष्कर है। प्राण आत्माकी ही विशेष शक्ति है, अव्यक्त परब्रह्मसे प्राणकी उत्पत्ति है—'अव्यक्ताज्जायते प्राणः'। सृष्टि, स्थिति और लय—ये प्राणकी लीलामात्र हैं। प्राणकी उपासना करने पर प्राणके जो आश्रय हैं उनमें उपासकका लक्ष्य पड़ता है। प्राणका स्थिर भाव ही आत्मा है। प्राणायामके द्वारा स्थिर होते ही प्राण आत्मसत्ताके साथ एक हो जाता है। इसीका नाम है प्राणप्रतिष्ठा। प्राणायामके द्वारा योगीकी प्राणमय ग्रन्थिके भेद होने पर अखण्ड प्राणसत्ता या स्थिर प्राणका अनुभव होता है। अतएव दुर्दान्त मनको शासन करनेके लिए प्राणायाम ही सर्वोत्कृष्ट दण्ड है।

नीति—जो जयकी इच्छा करते हैं, इन्द्रियोंके ऊपर जय प्राप्त करना चाहते हैं, उनके उस विजय-साधक कौशलका नाम नीति है। यही योग-कौशल है। इस योगोपायरूपी नीतिका अवलम्बन करके इन्द्रियोंको पराभव कर सकते हैं। क्रिया करके क्रियाकी परावस्था लाभ करने पर अनासक्त अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकारके अनासक्त पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मौन—क्रिया करके जितना ही क्रियाकी परावस्थामें प्रवेश प्राप्त होगा, मन उतना ही मौन हो जायगा, उसका बहिर्विचरण कम हो जायगा। इस अवस्थाकी बात कुछ भी व्यक्त नहीं की जा सकती। यह सर्वतोभावेन अप्रकाश्य है, इसी कारण समाधिके मौनकी अपेक्षा अधिक गुह्यतम और कुछ नहीं हो सकता।

ज्ञान—स्थितिपदलाभ और कूटस्थदर्शन। क्रियाकी परावस्थामें ही ब्रह्म के सदृश स्थैर्य प्राप्त होता है। तब किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती, वही निरालम्ब पद है। वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों ही नहीं रहतीं। सब वस्तुएँ वर्त्तमान हों तो भी किसीमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि नहीं होती। तब सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनता, सूँघते हुए भी कुछ नहीं सूँघता, खाकर भी कुछ नहीं खाता; स्पर्श करके भी कुछ स्पर्श नहीं

करता। तब सुषुम्नामें रहकर सर्वदा नशामें रहता है, कोई काम आसक्तिपूर्वक नहीं करता। सबको ब्रह्ममय बोध करता है ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यत् च (जो कुछ) सर्वभूतानां (सब भूतोंकी) बीजं (उत्पत्तिका कारण है) तत् अपि अहं (वह भी मैं हूँ), मया विना (मेरे बिना) यत् स्यात् (जो हो सकता है) तत् (वह) चराचरं भूतं (चर या अचर वस्तु) न अस्ति (नहीं है) ॥३९॥

श्रीधर—यच्चापीति। यदपि च सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं तदहम्। तत्र हेतुः—मया विना यत् स्याद्भवेत् तच्चरमचरं वा भूतं नास्ति एव इति ॥३९॥

अनुवाद—सब भूतोंका जो बीज अर्थात् प्ररोहका कारण है वह (उत्पत्तिका हेतु) मैं हूँ। इसका कारण यह है कि मेरे बिना रह सके ऐसा कोई भी चर या अचर पदार्थ नहीं है ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सबका बीज मैं हूँ—मेरे सिवा कुछ नहीं।—चराचर समस्त भूतोंका उत्पत्तिस्थान ब्रह्म या आत्मा है। आत्माके बिना कोई भूत नहीं रह सकता। जैसे स्वर्णके बिना स्वर्णालङ्कार नहीं, उसी प्रकार जगत्में आत्माके सिवा किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है। यद्यपि ब्रह्मके साथ जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है, परन्तु कार्यकी जो सत्ता है वह कारणकी सत्ताके अतिरिक्त नहीं है। इस कारण जगत्-प्रपञ्च भी आत्मासे भिन्न नहीं है। आत्मासे अतिरिक्त किसी पदार्थका अस्तित्व ही नहीं है। अज्ञानके द्वारा ही नानात्व कल्पित होता है। इस नानात्वको नष्ट करनेके लिए ही सर्व रूपोंमें जिस वस्तुका बोध हो रहा है वह आत्माकी विभूति या आत्मा ही है, यही समझानेके लिए इस उपदेशकी अवतारणा है। हम देखते तो सब हैं, परन्तु वासुदेव ही सब कुछ हैं, यह धारणा कर लेने पर एकात्मताकी धारणा होगी। इसी कारण सब वस्तुओंमें ब्रह्म-बोधके लिए यह उपाय अवलम्बित हुआ है, नहीं तो उपासना न हो सकेगी और उपासनाके बिना अज्ञानीका अज्ञान नष्ट नहीं होगा। अद्वैत अभेद-भाव ही समस्त उपासनाका लक्ष्य है, अभेद भाव आये बिना अज्ञान नष्ट नहीं होता और अज्ञानके नष्ट हुए बिना सुख-दुःखभोग तथा जन्म-मरणका क्लेश निवारित नहीं होता।

बहुतेरे भक्त भगवान्‌के साथ भोक्ता और भोग्य सम्बन्ध देखे बिना तृप्त नहीं होते। साधनावस्थामें कुछ सुखकर होते हुए भी यह सत्य वस्तु नहीं है। द्वैतावस्थामें चाहे कितना ही निरन्तर सुख मिले, उसके साथ दुःखबोध रहेगा ही। भगवत्-मिलनमें यदि अनन्त सुख होता है तो भगवद्-विरहमें भी अनन्त दुःख अनिवार्य है। वासनाका यदि अन्त नहीं होता, तृप्ति नहीं होती, तो उसकी निवृत्ति होगी कैसे? वासनाकी निवृत्ति हुए बिना सुख कभी अप्राकृत या अलौकिक नहीं हो सकता।

अप्राकृत सुख ब्रह्मपदार्थ है, उसमें 'मैं-तुम' नहीं है। क्रियाकी परावस्थामें 'मैं-तुम' के मिट जाने पर प्रकृत आनन्द प्राप्त होता है। वही है "ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम्"। अतएव चाहे जिस भावसे उपासना करो, सबको इस अद्वैत पथसे, मिलनके पथसे आना ही पड़ेगा। अनन्त जलराशिमें जलबिन्दुके मग्न होने पर फिर उसका पृथक् ज्ञान होना असम्भव है॥ ३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) मम (मेरी) दिव्यानां (दिव्य) विभूतीनां (विभूतियोंका) अन्तः न अस्ति (अन्त नहीं है), तु (किन्तु) एषः (यह) विभूतेः विस्तरः (विभूतिका विस्तार) मया (मैंने) उद्देशतः (संक्षेपसे) प्रोक्तः (कहा)॥ ४०॥

श्रीधर—प्रकरणार्थमुपसंहरति—नान्तोऽस्तीति। अनन्तत्वात् विभूतीनां ताः साकल्येन वक्तुं न शक्यन्ते। एष तु विभूतिविस्तर उद्देशतः संक्षेपतः प्रोक्तः॥४०॥

अनुवाद—[प्रकरणका उपसंहार करते हैं]—मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतः पूर्णतः उनको कहना संभव नहीं। अतएव ये विस्तृत विभूतियाँ मैंने संक्षेपसे कही हैं॥ ४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। यह सब कहा। —इन विभूतियोंका अन्त नहीं है, केवल दिग्दर्शनके लिए संक्षेपतः कुछ बातें कही गयीं। साधक लोग साधनावस्थामें सहस्रों प्रकारकी विभूतियाँ देखते हैं। एक आदमी जो देखता है, दूसरा उससे कुछ और ही रूप देखता है। परन्तु जो साधक-मात्रके लक्ष्यमें आती हैं उन कुछ विभूतियोंकी ही बात यहाँ कही गयी। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड धूलके कणके समान उनके भीतर निरन्तर भ्रमण कर रहे हैं, इन ब्रह्माण्डोंके जो अधीश्वर हैं उनके ऐश्वर्यकी सीमा क्या निर्धारित की जा सकती है? यद्यपि उनका अनन्त प्रकाश हो रहा है, परन्तु इस अनन्तके मूलमें केवल एक ही वस्तु है। क्रियाकी परावस्थामें इस एकको कुछ समझ सकते हैं, परन्तु वहाँ किसी विभूतिका स्फुरण नहीं होता॥ ४०॥

यद् यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

अन्वय—यत् यत् (जो जो) सत्त्वं (वस्तु) विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त हैं) श्रीमत् (श्रीसम्पन्न हैं) ऊर्जितं वा (अथवा अतिशय प्रभावसम्पन्न हैं) तत् तत् एव (उन उन वस्तुओंको) मम (मेरे) तेजोंऽशसम्भवं (तेजके अंशसे उत्पन्न) अवगच्छ (जानो)॥ ४१॥

श्रीधर—पुनश्च साकांक्षं प्रति कथंचित् साकल्येन कथयति—यद्यदिति। विभूतिमत् ऐश्वर्ययुक्तम्। श्रीमत् सम्पत्तियुक्तम्। ऊर्जितं केनापि प्रभावबलादिना गुणेन अतिशयितम्। यद् यद् सत्त्वं वस्तुमात्रं भवेत् तत्तदेव मम तेजसः प्रभावस्य अंशेन संभूतं अवगच्छ जानीहि ॥४१॥

अनुवाद—[पुनः श्रवणाकाङ्क्षी अर्जुनको कुछ प्रकारान्तरसे सब विभूतियोंके बारेमें कहते हैं]—विभूतिमत्का अर्थ है ऐश्वर्ययुक्त। जो-जो समृद्धियुक्त कान्ति-युक्त अथवा प्रभाव और बलादि गुणों द्वारा अतिशायित अर्थात् श्रेष्ठ हैं उन वस्तुओंको मेरे प्रभावके अंशसे उत्पन्न समझो ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यह सब शाम्भवी मुद्राका तेज—जानना।—बृहत् ब्रह्माण्डमें जो कुछ है, इस देहरूपी क्षुद्र ब्रह्माण्डमें भी वही सब विद्यमान है।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते॥—शिवसंहिता।

जीवदेहमें सप्तद्वीपके साथ सुमेरु पर्वत अवस्थित है। समस्त नद-नदी, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल आदि त्रैलोक्यमें जो-जो भूतादि, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, पीठस्थान और पीठदेवता हैं, सब मेरुको संवेष्टन करके अर्थात् मेरुको घेरकर अपना-अपना कार्य सम्पादन कर रहे हैं।

इस मेरुमें रहनेवाली शक्ति ही निखिल ज्ञान-प्रकाशका एकमात्र मूल कारण है। यही एकांश अर्थात् ज्ञानका विषय है, अवशिष्ट सारे अंश अव्यक्त हैं, उनको बतलाने या समझानेका कोई उपाय नहीं है। जिन योगियोंकी दृष्टि बाहर स्थिर होती है और मन अन्तर्लक्ष्यमें स्थापित होता है, वे शाम्भवी मुद्रायुक्त सिद्ध साध-केन्द्र लोग असीम शक्तिसम्पन्न होते हैं। शाम्भवी मुद्राके फलस्वरूप साधक ब्रह्माके समान शक्तिसम्पन्न हो सकता है। गोरक्षसंहितामें शाम्भवी मुद्राके बारेमें लिखा है—,

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेत् शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

नेत्रस्थ अञ्जनके प्रति दृष्टि डालकर (अर्द्धनिमीलित भावमें स्थिर दृष्टिसम्पन्न होकर) भीतर आत्माके प्रति लक्ष्य रखनेको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। यह तन्त्रोंमें अति गोपनीय है। शाम्भवी मुद्राका फल है—

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्॥

जो इस शाम्भवी मुद्रासे अवगत होता है, वह साक्षात् आदिनाथ-स्वरूप है, वह नारायण-स्वरूप है और सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके समान अटल और अचल भावसे विद्यमान रहता है।

योगदर्शनके समाधिपादमें जो 'ज्योतिष्मती' या 'विशोका' की बात कही गयी है, वह शाम्भवी मुद्राका ही फल है। चित्त स्थिर होने पर शुभ्र स्वच्छ निस्तरङ्ग आकाशके समान एक प्रकाश-सत्ताका अनुभव होता है। इसे ही ज्ञानमूर्त्ति श्रीगुरुका प्रकाश जानो ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अथवा (अथवा) एतेन (इस) बहुना ज्ञातेन (बहुत जाननेसे) तव (तुम्हारा) किं (क्या प्रयोजन)? अहं (मैं) इदं कृत्स्नं जगत् (यह सारा जगत्) एकांशेन (एक अंश द्वारा) विष्टभ्य (जगदाकार धारण करके) स्थितः (रहता हूँ) ॥४२॥

श्रीधर—अथवा किमेतेन परिच्छिन्नविभूतिदर्शनेन? सर्वत्र समदृष्टिमेव कुरु इत्याह—अथवेति। बहुना पृथग्ज्ञातेन किं तव कार्यम्? यस्मादिदं सर्वं जगत् एकांशेन एकदेशमात्रेण विष्टभ्य धृत्वा, व्याप्येति वा अहमेव स्थितः। न मद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति श्रुतेः ॥४२॥

इन्द्रियद्वारतश्चित्ते बहिर्धावति सत्यपि।
ईशदृष्टिविधानाय विभूतिर्दशमेऽब्रवीत् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[अथवा तुम्हें इस परिच्छिन्न (पृथक्-पृथक्) विभूति-दर्शनसे क्या प्रयोजन? सर्वत्र समदृष्टि करके देखो (अर्थात् मुझको देखो), इस विषयमें कहते हैं]—हे धनञ्जय! इस प्रकारके बहुतसे पृथक्-पृथक् ज्ञानसे तुम्हारा क्या प्रयोजन, क्योंकि यह सारा जगत् एकदेश द्वारा धारण करके या व्याप्त कर मैं ही अवस्थित हूँ। मेरे सिवा और कुछ नहीं है। श्रुतिमें लिखा है—विश्वभूत या दृश्य जगत् परमात्माका एक पाद है, शेष तीन पाद उनके निर्गुण स्वरूपमें स्थित हैं। [इन्द्रियद्वारसे चित्त बाहर दौड़ता है, इसीसे सर्वत्र ईश्वरदृष्टिके विधानार्थ दशम अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंकी बात कही है।] ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—बहुत कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है—धूलके अणु जलके अणुमें प्रवेश करते हैं—जलके तेजमें—तेजके वायुमें—वायुके आकाशमें—आकाशके ब्रह्ममें—ब्रह्मके अणुके एकांशमें जगत्‌को जानो।—ब्रह्मके एकांशमें ही व्यक्त

जगत् है, यह मायोपहित है, शेष समस्त अव्यक्त है। इस अव्यक्तसे प्राण उत्पन्न होकर विश्वजगत्‌को प्रकाशित करता है। अव्यक्त ही मुख्य प्राण है, इसका कोई रूप नहीं है। 'स उ प्राणस्य प्राणः'—वही प्राणका प्राण है। वही अचल ब्रह्म है। इच्छा-द्वारा चलायमान होने पर वह पञ्चधा विभक्त होकर प्राण-अपानादि पञ्च प्राणोंमें विभक्त होता है। हृदयस्थ वायु प्राण है जिसके द्वारा जीव जीवित है। यही मनुष्यका जीवन है। इस प्राण-अपानके घर्षणसे अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। अग् धातुका अर्थ है गमन करना। इस प्रकारकी होम-क्रिया से प्राण ऊर्ध्व अर्थात् मस्तकमें गमन करता है। वही ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित करके होम अर्थात् क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्ममें लीन होकर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' बनता है। ब्रह्मरन्ध्र भेद करके इस प्रकार प्राणकी गति होती है, यह श्रुति कहती है।

ऐसी अवस्था जीवन्मुक्तकी होती है। उस समय जो अवस्था होती है उसके बारेमें कठ श्रुति कहती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जो लोग क्रिया करते-करते क्रियाकी परावस्थामें जाते हैं, वे पहले तृतीय नेत्र कूटस्थको प्राप्त कर शिव बनते हैं, पश्चात् उस कूटस्थमें स्थिर होने पर विष्णु होते हैं [प्रयत्न करने पर सभी इस अवस्थाको प्राप्त कर सकते हैं] तथा सह्य करके क्रिया करते रहने पर मूलाधारमें कुल-कुण्डलिनी जाग्रत होती है। तब प्रमुच्यन्ते अर्थात् हृदयमें जितने कामादि रहते हैं उनसे इच्छामात्रसे मुक्त हो जाते हैं, पश्चात् अमृत लाभ करते हैं। साधुलोग क्रियाकी परावस्थामें जलवत् घृत तथापि दुग्धके समान सुस्वादु वस्तु सुधा (अमृत) का पान करते हैं। क्रियाकी परावस्था-रूप सुरा पान करके वे अमर पदको प्राप्त होते हैं और ब्रह्म हो जाते हैं। वे 'अश्नुते'—जगत्‌में जैसे भोजन करके लोग तृप्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति-भवानीकी भ्रू-भङ्गीमें मातङ्गिनीरूप धारण करके सुधामृत-पानसे प्रमत्त होकर उस परम ब्रह्मपदमें पुरुष और प्रकृति दोनों लीन होकर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाते हैं।

पञ्च महाभूत, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—कुल १५ हैं। इस प्रकार सूक्ष्मसे स्थूल भूत तक प्राण वर्त्तमान रहता है। प्राणका एक अणु आकाशमें, प्राणके दो अणु वायुमें, प्राणके तीन अणु अग्निमें, प्राणके चार अणु जलमें, प्राणके पाँच अणु पृथिवीमें—ये सारे सूक्ष्म अणु शुक्रके साथ पञ्चतन्मात्र महाभूत सृजन करते हैं। पश्चात् वे स्थूल होकर श्रोत्रादि बनते हैं, फिर शोणितमें मिलकर हाथ-पैर और पश्चात् अहङ्कार होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मसे स्थूलमें अविरत-रूपसे परिणत होते रहते हैं।

पश्चात् जब लय होता है तब पृथिवीके अणु जलके अणुमें प्रवेश करते हैं, जलके अणु तेजमें, तेजके अणु वायुमें, वायुके अणु आकाशमें और आकाशके अणु ब्रह्मके अणुमें प्रवेश करते हैं। ब्रह्मके अणुके एकांशमें जगत् है। यह एकांश ब्रह्मसे एक बार उठता है और फिर उसीमें डूब जाता है।

ब्रह्म असीम है, अतएव उसका केन्द्र सर्वत्र है। यह केन्द्र अणुरूप है। सब जीवोंके भीतर यह अणुस्वरूप ब्रह्मकेन्द्र रहता है। जब प्रलय होता है तब सभी उस अणुमें प्रवेश करते हैं और समस्त अणु उस ब्रह्माणुमें प्रविष्ट हो जाते हैं। कब यह अवस्था प्राप्त होती है ?—

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥"

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धिकी अपनी चेष्टा नहीं रहती, उस अवस्थाको ज्ञानी लोग परमा गति कहते हैं, यही क्रियाकी परावस्था है ॥४२॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक दीपिका नामक गीताके दशम अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।

———

एकादशोऽध्यायः

(विश्वरूपदर्शनयोगः)

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले), मदनुग्रहाय (मेरे प्रति अनुग्रह करके) परमं गुह्यं (परम गुह्य) अध्यात्मसंज्ञितं (अध्यात्म विषयक अर्थात् आत्मा-अनात्माके विवेक सम्बन्धी) यत् वचः (जो वचन) त्वया उक्तं (तुमने कहा) तेन (उसके द्वारा) मम (मेरा) अयं मोहः (यह मोह) विगतः (दूर हो गया) ॥१॥

श्रीधर—विभूतिवैभवं प्रोच्य कृपया परया हरिः ।
दिदृक्षोरर्जुनस्याथ विश्वरूपमदर्शयत् ॥

पूर्वाध्यायान्ते—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपमुपक्षिप्तम् । तद्दिदृक्षुः पूर्वोक्तमभिनन्दन् अर्जुन उवाच—मदनुग्रहायेति चतुर्भिः । ममानुग्रहाय शोकनिवृत्तये । परमं परमात्मनिष्ठम् । गुह्यं गोप्यमपि अध्यात्मसंज्ञितम् । आत्मानात्मविवेकविषयम् । यत्त्वयोक्तं वचः—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यादि षष्ठाध्यायपर्यन्तं—यद्वाक्यं तेन मयायं मोहः—'अहं हन्ता'—'एते हन्यन्ते'—इत्यादिलक्षणो भ्रमः विगतः विनष्टः । आत्मनः कर्तृत्वाद्यभावोक्तेः ॥१॥

अनुवाद—[भगवान् हरिने परम कृपावश अपने विभूति-वैभवको पूर्वाध्यायमें कहकर दिदृक्षु अर्जुनको एकादश अध्यायमें विश्वरूप दिखलाया ।]

[पूर्वाध्यायके अन्तमें 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रसङ्गवश परमेश्वरके विश्वरूपात्मक भावकी बात कही गयी है, यहाँ भगवान्के उक्त वाक्यकी प्रशंसा करते हुए उनके दर्शनकी आकांक्षासे चार श्लोकोंमें] अर्जुन बोले—मेरे शोककी निवृत्तिके लिए अनुग्रह करके परमात्मनिष्ठ गोप्य तथा आत्मानात्म-विवेकविषयक जो वाक्य "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं"से षष्ठाध्याय पर्यन्त आपने कहा है, उसके द्वारा 'मैं हन्ता और ये हत होंगे', इस प्रकारका मेरा मोह अर्थात् भ्रम नष्ट हो गया, कारण यह है कि इसमें आत्मामें कर्तृत्वादिके अभावकी बात कही गयी है ॥ १ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—आपने जो कहा है उससे सारा मोह दूर हो गया—गुप्त अध्यात्मविद्याका—जो गुरुवाक्यगम्य है ।—देहात्मबोध यानी देह ही मैं हूँ, यह ज्ञान ही जीवका महामोह है । यह मोह कदापि छूटना नहीं चाहता । द्वितीय अध्यायसे यहाँ तक भगवान्ने अपने (आत्माके)

स्वरूपको समझाया है। दशम अध्यायमें आत्मविभूतिका उल्लेख करके अर्जुनको यह बतलाया है कि सब भूतोंका जो बीज है वह मैं हूँ (यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन) तथा "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"—मैं समस्त जगत्को अपने एकांशके द्वारा व्याप्त कर रहा हूँ। अर्जुन कहते हैं कि तुम्हारे इन सब वाक्योंके द्वारा मुझे ज्ञात हो गया है कि मैं कौन हूँ, तुम कौन हो और तुम्हारे साथ मेरा और इस जगत्का सम्बन्ध क्या है। मेरा मोह दूर हो गया है, अब मैं व्यर्थ ही कर्त्ता बनकर अहङ्कार न करूँगा। तुम मेरे प्रभु हो, मेरे आत्मा हो, तुम्हीं मेरे सब कुछ हो—यह तुमने कृपा करके समझा दिया है। मेरे चित्तमें भी यह ठीक-ठीक बैठ गया है, अब मुझसे भूल न होगी। मेरा हृद्रोग नष्ट हो गया है, मैं बहुत कुछ शान्त हो गया हूँ। गुरुदयाल जब आत्मस्थ होकर जीवको यह ज्ञान-दान करते हैं तो उस गुप्त अध्यात्म-विद्याके प्रभावसे शिष्यका मोह नष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

अन्वय—कमलपत्राक्ष (हे पद्मपलाशलोचन !) भूतानां (भूतोंके) भवाप्ययौ (उत्पत्ति और लय) त्वत्तः (तुमसे) मया (मैंने) हि विस्तरशः (विस्तारपूर्वक) श्रुतौ (सुना), अपि च अव्ययं माहात्म्यं (तुम्हारा अक्षय माहात्म्य भी सुना) ॥२॥

श्रीधर—किञ्च भवाप्ययौ इति। भूतानां भवाप्ययौ सृष्टिप्रलयौ त्वत्तः सकाशादेव भवतः—इति श्रुतौ मया—"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इत्यादौ। विस्तरशः पुनः-पुनः। कमलस्य पत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले अक्षिणी यस्य तव हे कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययं अक्षयं श्रुतम्। विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि सर्वनियन्तृत्वेऽपि शुभाशुभकर्मकारयितृत्वेऽपि बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽपि अविकारावैषम्यासङ्गौदासीन्यादिलक्षणं अपरिमितं महत्त्वं च श्रुतम्—"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः" इति। "मया ततमिदं सर्वमिति।" "न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्तीति"। "समोऽहं सर्वभूतेषु"—इत्यादिना। अतस्त्वत्परतन्त्रत्वादपि जीवानां अहं कर्त्ता इत्यादिः मदीयो मोहो विगत इति भावः ॥२॥

अनुवाद—भूतोंकी सृष्टि और प्रलय तुमसे ही होती है [मैं ही निखिल जगत् की उत्पत्ति और प्रलयका परम कारण हूँ इत्यादि] यह मैंने तुमसे बार-बार सुना। हे कमल-दल-नयन ! (कमल-पत्रमें अङ्कित नेत्रके समान सुप्रसन्न और विशाल नेत्र हैं जिनके) तुम्हारे अक्षय माहात्म्यको भी मैंने सुना। अर्थात् यद्यपि तुम विश्वसृष्टि आदिके कर्त्ता हो, सर्व-नियन्ता हो, शुभाशुभ कर्मके कारयिता हो, बन्धमोक्ष आदि विचित्र फलदाता हो, तथापि अविकार, अवैषम्य, असङ्ग और औदासीन्यरूपी लक्षणों से विशिष्ट तुम्हारा अपरिमित महत्त्व है, वह भी मैंने सुना ("अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं"—"मया ततमिदं सर्वं" "न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति" "समोऽहं सर्वभूतेषु"—इत्यादिमें)। अतएव जीवोंके सर्वथा तुम्हारे अधीन होने पर भी "अहं-कर्त्ता" आदि जो मोह मुझे था वह विगत अर्थात् दूर हो गया ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आपके पास बहुत सुनकर आप अव्यय अविनाशी महात्मा हैं सुन लिया—हे कमलपत्राक्ष—कमलपत्रके समान अक्ष।—साधककी अन्तर्दृष्टिमें भगवान्‌के जो माहात्म्य लक्षित होते हैं, उनसे ही साधकका मोह दूर होता है। बहुत सी बातें जो पहले समझमें नहीं आती थीं वे समझमें आती हैं, जो पहले कभी सुनी नहीं जाती थीं वे अभूतपूर्व बातें सुनी जाती हैं, जो पहले कभी देखी नहीं गयीं वे देखी जाती हैं—कूटस्थरूप चक्षुके भीतर। वह विश्वतोदर्शी विराट्‌चक्षु प्रत्येक जीवमें पद्मपत्रके समान मण्डलाकाररूपमें अनुभूत होते हैं। उस गोलाकार कूटस्थ मण्डलकी श्यामायमान कान्ति देखकर मनः प्राण जुड़ जाते हैं। जान पड़ता है कि उस चक्षुमें हृदयकी सारी बातें मानो लिखी हुई हैं। वे विशाल नयन मानो मेरे अन्तस्तलको भेदकर सब देख लेते हैं, उस दृष्टिसे मानो कोई बात छिपायी नहीं जा सकती। पद्मपत्रमें जो ईषत् लालिमासे युक्त श्याम शोभा विद्यमान है वह वस्तुतः अति मनोहर है। भगवान्‌के उन विशाल नेत्रोंमें कैसा अपूर्व सौन्दर्य, कैसी सुगम्भीर प्रसन्नता छिटक रही-सी जान पड़ती है !!

साधकके सौभाग्यवश इस कूटस्थमें जब पुरुषोत्तमरूप परिदृष्ट होता है तब साधकका कर्त्तृत्वादि अभिमानरूप मोह चिरदिनके लिए नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कर्त्ताको सामने देखकर भृत्यके मनमें 'अहं-कर्त्ता' भाव नहीं रह सकता। जब कुछ भी मनमें नहीं रहता तब भला कर्त्ता कौन बनेगा? साधक जब उनमें सर्वकर्त्तृत्व, सर्वनियन्तृत्व और बन्धमोक्षादि विचित्र भाव देखकर भी उनको असङ्ग और उदासीन-वत् समझते हैं तब वे भी तद्वत् उदासीन और असङ्ग हो जाते हैं। उनमें तब फिर 'अहं-कर्त्ता'-रूप मोह बिल्कुल ही नहीं रह जाता ॥२॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

अन्वय—परमेश्वर (हे परमेश्वर!) यथा (जिस प्रकार) त्वं (तुमने) आत्मानं (अपने विषयमें) आत्थ (कहा है) एतत् (वह) एवं (वैसा ही है), पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) ते (तुम्हारे) ऐश्वरं रूपं (ईश्वर-रूपको) द्रष्टुं इच्छामि (मैं देखना चाहता हूँ) ॥३॥

श्रीधर—किञ्च—एवमेतदिति। "भवाप्ययौ हि भूतानां" इत्यादि मया श्रुतम्। यथा चेदानीम् आत्मानं त्वम् आत्थ—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्" इत्येवं कथयसि हे परमेश्वर! एवमेव तत्। अत्रापि अविश्वासो मम नास्तीत्यर्थः तथापि हे पुरुषोत्तम तवैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सम्पन्नं त्वद्रूपं कौतूहलादहं द्रष्टुमिच्छामि ॥३॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—भूतोंकी उत्पत्ति और लय तुमसे ही होती है, इत्यादि बातें ७ वें अध्यायमें मैंने सुनी हैं। और अपने सम्बन्धमें जो तुमने अभी कहा है कि "अपने प्रकाशके द्वारा मैं समस्त जगत्‌को व्याप्त कर रहा हूँ"—हे परमेश्वर, यह बात भी सही है, इसमें मेरा कुछ भी अविश्वास नहीं है। तथापि हे पुरुषोत्तम

तुम्हारा ऐश्वर अर्थात् ज्ञानैश्वर्य-शक्ति-वीर्यादि-सम्पन्न जो रूप है, कौतूहलवश उसको देखनेकी मेरी इच्छा हो रही है ॥३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आत्माका जो रूप ईश्वरका देखनेकी इच्छा करता हूँ तत्त्वके द्वारा।—भीतर जो अनुभव होते हैं वे अति चमत्कारपूर्ण हैं! उनमें मेरा कोई अविश्वास नहीं है। अब एक बार तत्त्वतः समझना चाहता हूँ कि कैसे तुम्हारे एकांशमें यह विश्वरूप रह सकता है। साधक साधनके समय कभी छोटा कभी कुछ बड़ा और कभी-कभी नाना प्रकारके दृश्य अनुभव करते हैं। "कूटस्थमें जो साधक रहते हैं वह शिव हो जाते हैं, उनके चारों ओरसे जो अनुभव-पद निर्गत होते हैं—जो साधकके हृदयमें ही पहले मग्न थे—वे साधनाके बलसे धीरे-धीरे प्रकाशमें आते हैं। दसों इन्द्रियोंका दमन करके क्रिया करने पर वे खुलते हैं। ॐकार-रूप शरीर ही माया है, वह छः चक्रविशिष्ट है, क्रियाके द्वारा इन छः चक्रोंमें क्रिया करने पर साधक क्रियाकी परावस्था-रूप शान्ति प्राप्त करता है। प्राणवायुके द्वारा मूलाधार-स्थित कुलकुण्डलिनीको उत्थित करने पर कूटस्थमें स्वयंभू-लिङ्ग-वेष्टित कोटि सूर्यप्रभा दीख पड़ेगी, तब बोध होगा कि मैं ही शिव हूँ।" तब साधक कूटस्थमें उत्तम पुरुषको देख पाता है, क्रियाकी परावस्थामें रहकर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" देखता है। छः चक्रोंमें जो जो देखे जाते हैं, वे सब उसे दीख पड़ते हैं। क्रिया करते-करते साधक सुषुम्ना-मार्गमें दीपकलिकाके समान ज्योति देख पाता है। वीर्यधारण करके क्रिया करनी पड़ती है। भ्रूमध्यमें जो बिन्दु है, वह भी तब दीख पड़ता है। वह बिन्दु ही सृष्टि-स्थिति-लयात्मक है। सर्वदा प्राणायाम करने पर देवभाव प्राप्त होता है और सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। क्रियां बिना किये केवल बाह्य पूजा व्यर्थ है। क्रियांके द्वारा वंशी, घंटा, भृङ्ग और मेघके शब्द सुननेमें आते हैं। प्राणायाम द्वारा वायु स्थिर होने पर समाधि-सिद्धि होती है—"केवलं कुम्भकादेवि समाधिश्च प्रजायते"। कूटस्थके भीतर सूचीके अग्रभागके परिमाणमें एक सूक्ष्म बिन्दु है, उसके भीतर यह अनन्त विश्व भरा हुआ है। उस अत्याश्चर्यमय सहस्रदलपद्ममें शिव-शक्ति-सम्मिलित अवस्था ही अर्द्धनारीश्वररूपमें जगत्के माता-पिता एकाङ्गमें मिलकर अवस्थान करते हैं। वही ब्रह्मका एकांश है, उस एकांशका अनुभव होने पर जीवको सारी देखने-सुननेकी अभिलाषा मिट जाती है। यह एकांश ही विराट् विश्वरूप है। अब अर्जुन उसे देखना चाहते हैं ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वय—प्रभो (हे प्रभो!) तत् (वह रूप) यदि मया (यदि मेरे द्वारा) द्रष्टुं (देखने) शक्यं (योग्य है) इति मन्यसे (यह समझते हो) ततः (तो) योगेश्वर (हे योगेश्वर!) त्वं (तुम) मे (मुझको) अव्ययं आत्मानं (अव्यय ऐश्वर रूपको) दर्शय (दिखलाओ) ॥४॥

श्रीधर—न चाहं द्रष्टुमिच्छामि इति एतावतैव त्वया तद्रूपं दर्शयितव्यम्, किं तर्हि ? मन्यसे इति। योगिनः एव योगाः तेषामीश्वर। मयाऽनेन तद्रूपं द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे। ततस्तर्हि तद्रूपवन्तं आत्मानं अव्ययं नित्यं मम दर्शय ॥४॥

अनुवाद—[मैं उस रूपको देखना चाहता हूँ, इसी कारण उस रूपको दिखलाओ, ऐसी बात नहीं है। तब क्या है, यही अर्जुन कहते हैं]—हे योगियोंके ईश्वर! (योग शब्दसे योगीका भी बोध होता है) यदि यह समझते हो कि मैं तुम्हारे उस रूपको देखनेमें समर्थ हूँ, तो मुझे उस रूपमय नित्य आत्माका दर्शन कराओ ॥४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् आप समझते हैं कि मैं देख सकता हूँ—तब कूटस्थ द्वारा अपने अविनाशी रूपको देखने लगे।—अर्जुन गुरुपदकमलमें नत हो रहे हैं, उनमें आत्माभिमान नहीं रह गया है। भगवान्‌के अपार ऐश्वर्यको देखकर वह विस्मित हो रहे हैं, उनके मनमें होता है कि मैं कितना क्षुद्र हूँ और वह कितने विराट हैं! अणिमा-लघिमादि महैश्वर्यसम्पन्न भगवान्‌को पाना उनके लिए मानो कितना असम्भव लग रहा है! परन्तु वह दीनदयाल हैं, आर्त्तके बन्धु हैं। भवरोग-कातर पुरुष यदि भयसे व्याकुल होकर उनकी शरण ग्रहण करता है तो उसको वह अभय दान करते हैं। इसी विश्वाससे अर्जुन डरते हुए उनसे कह रहे हैं—प्रभो! तुम्हारे ऐश्वर रूपको देखनेकी बड़ी इच्छा हो रही है, परन्तु क्या मैं उस रूपको देखने योग्य हूँ ? यदि मैं देखने योग्य नहीं हूँ तो केवल मेरे मनोवेगकी तृप्ति करनेके लिए तुम कोई प्रयास न करो, मुझको वह रूप तुम न दिखाओ, मैं इससे दुःखी न होऊँगा। मैं तुम्हारे ही प्रसादसे अपनेको योग्य बनानेके लिए प्रयत्न करूँगा। प्रभो! मुझको केवल अपने सेवक-रूपमें याद रखना—भक्तका यही आन्तरिक अभिप्राय होता है।

अर्जुनमें उपर्युक्त भावोंका आना सम्भव है, यह हम सभी समझ सकते हैं। भगवान् योगेश्वर हैं, उनकी अघटन-घटना-पटीयसी माया साधारण व्यापार नहीं है। उस रूपको देखने योग्य कौन है ? हम तपःहीन शुचिताशून्य हैं, केवल इसी कारण ही उस रूपको देखनेके अयोग्य हों, ऐसी बात नहीं है। जो तपस्वी हैं, दानशील हैं, याज्ञिक हैं, वे भी उस रूपको देखनेकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते। हमारी ऐसी कौन तपस्या है, कौनसा ऐसा त्याग है, जिसके बदलेमें भगवान् अपने कल्याणतम परम रूपको हमारे ज्ञानगोचर करें! यदि करते हैं, तो वह उनकी असीम कृपाके सिवा और कुछ नहीं है!

निर्गुण परमात्माका जैसे अरूप भाव है, जिसको योगीलोग क्रियाकी परावस्थामें समझ पाते हैं, उसी प्रकार उनका सगुण भाव भी है, योगीलोग कूटस्थमें उसको देखते हैं, उनके ये दोनों भाव नित्य हैं। प्राज्ञ, तैजस और विश्वका समष्टि-भाव ही ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् है। इन तीनों प्रकारके भावोंको देखनेका अधिकार एकमात्र योगीको ही है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा है—

य एको जालवानीशते ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशते ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे संभवे च
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

जो एक अद्वितीय मायावी स्वशक्ति द्वारा सबको नियमित करते हैं तथा जो एक होकर भी अपनी ईश्वरी शक्ति द्वारा समस्त जगत्का शासन करते हैं, जो जगत्के उद्भव और स्थितिके एकमात्र कारण हैं, उनको जो जानता है वह अमृत अर्थात् मुक्त हो जाता है। "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्"—उन्होंने ही पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था।

या ते रुद्र शिवा तनुरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥

"हे रुद्र! हे गिरिशन्त (अर्थात् जो गिरि पर रहकर सुख विस्तार करते हैं अर्थात् मेरु-पर्वतके शिखरदेश सहस्रारमें रहकर जो जीवको ब्रह्मानन्दमें मग्न करते हैं) अपनी उस मङ्गलरूपा, अभया, पुण्य-प्रकाशिनी और सुखतमा तनुके द्वारा हमारे ऊपर दृष्टिपात करो।" उसके बाद कहते हैं—

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं
यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढ़म् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ईशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥

वह इस जगदादिसे भी श्रेष्ठ हैं तथा अपरब्रह्म हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ हैं। जो विभिन्न शरीरधारी समस्त प्राणियोंके भीतर प्रच्छन्न-भावसे विद्यमान हैं, जो समस्त विश्वके परिवेष्टिता हैं अर्थात् समस्त विश्वको जो व्याप्त कर रहे हैं, साधक उस ईश्वरको जानकर अमृत हो जाते हैं अर्थात् मुक्तिलाभ करते हैं।

योगी लोग इन दोनों भावोंको जान पाते हैं। उनका एक अनामय ज्योतिरन्तर्गत विश्व-विमोहनकारी तेजोमय शरीर है और दूसरा गगनोपम, शान्त, शुद्ध, स्थिरभाव है (जो क्रियाकी परावस्थामें अनुभूत होता है)। योगीलोग कूटस्थके भीतर अपने नित्य अविनाशी स्वरूप या पुरुषोत्तम रूपको देख पाते हैं। बृहत् ज्योतिसे भी बृहत्तर ज्योतिरूप एवं क्षुद्रातिक्षुद्र अणुसे भी अणुरूपको देख पाते हैं। वह क्षुद्र अणु किस प्रकार विश्वव्यापी हो सकता है, यह समझ लेना सहज नहीं है। जिसने बृहत् कूटस्थको नहीं देखा है, उसके लिए इसकी धारणा करना भी असंभव है। इसीसे अर्जुनको शङ्का हुई कि क्या उस महत् रूपको देखनेके लिए मैं समर्थ हूँ, मैं तो अभी तक योगी भी नहीं हो सका हूँ ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—पार्थ (हे पार्थ!) मे (मेरे) दिव्यानि (दिव्य—अलौकिक) नानाविधानि (नाना प्रकारके) नानावर्णाकृतीनि च (नाना वर्ण और आकृति विशिष्ट) शतशः अथ सहस्रशः (शत-शत और सहस्रों) रूपाणि (रूपोंको) पश्य (देखो) ॥५॥

श्रीधर—एवं प्रार्थितः सन् अत्यद्भुतं रूपं दर्शयिष्यन् सावधानो भव इत्येवं अर्जुनं अभिमुखी करोति—श्रीभगवानुवाच—पश्येति चतुर्भिः। रूपस्य एकत्वेऽपि नानाविधत्वात् रूपाणीति बहुवचनम्। अपरिमितान्यनेकप्रकाराणि दिव्यानि अलौकिकानि मम रूपाणि पश्य। वर्णाः शुक्लकृष्णादयः। आकृतयः अवयवसन्निवेशविशेषाः। नाना अनेके वर्णा आकृतयश्च येषां तानि नानावर्णाकृतीनि ॥५॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रार्थित होकर अत्यद्भुत रूप दर्शन करानेके लिए अर्जुनको 'तुम सावधान हो जाओ' कहकर उस रूपकी ओर उन्मुख करनेके लिए चार श्लोकोंमें] श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ, [रूप एक होने पर भी नाना प्रकारके होनेके कारण 'रूपाणि'—इस पदमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है] मेरे अपरिमित अनेक प्रकारके अलौकिक, शुक्लकृष्णादि नाना वर्णोंसे युक्त और नाना अवयवोंसे विशिष्ट रूपको देखो ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—शत सहस्र रूपोंको देखो, नाना प्रकारके द्रव्यों—नाना रङ्गके अणुओंमें रहता हूँ।—दीप जिस प्रकार गृहस्थित समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्रिया करने पर अपने आप सारा अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। दीप जिस प्रकार मार्गकी सब वस्तुओंका प्रकाशक है, उसी प्रकार जो उत्तम पुरुष कूटस्थके भीतर हैं, वह सब वस्तुओंके प्रदर्शक हैं, क्रिया द्वारा वह उत्तम पुरुष दीखते हैं। तब इस शरीरके भीतर ही सब वस्तुओंका अनुभव होता है, सब प्रकारके ऐश्वर्य (अणिमा-लघिमा आदि) प्रकाशित होते हैं। क्षिति, अप, तेज, मरुत् और व्योमसे युक्त सबका शरीर होता है। इन पञ्च तत्त्वोंके बिना कोई शरीर धारण नहीं हो सकता। इस शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच महाभूतोंकी समष्टि है। योगी लोग इनके सूक्ष्म अणुओंके भिन्न-भिन्न आकारोंको देखते हैं, उनको पीत, हरित, लाल, जँगाल और नील वर्ण होते हुए देखते हैं। इन्हींके द्वारा बाहर और भीतर सारे तत्त्वोंको देख पाते हैं, पश्चात् सर्वतत्त्वातीत ब्रह्मको देखकर सब भूतोंमें प्रवेश करनेकी क्षमता तथा सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति होती है।

योगीलोग जो इच्छा करते हैं, वही कूटस्थके भीतर देख पाते हैं और जिस द्रव्यका जो गुण है उसे भी समझते हैं। हम बाहर जो आकृति देखते हैं, उसके वर्णमें कितना परिवर्तन हो रहा है, वह इस आँखसे नहीं दीख पड़ता, परन्तु जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी है, वे उसकी सहायतासे, सब समझ लेते हैं। अतएव लोगोंके किये हुए कर्मों तथा उनके अभिप्रायोंको समझनेमें उनको कोई बाधा नहीं पड़ती। अपने भीतर

भगवान्‌को अनुभव करने पर उनका ऐश्वरीय परम भाव तथा भक्त साधकोंके प्रति उनकी कितनी कृपा है, यह समझमें आ जाता है ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

अन्वय—भारत (हे भारत !) आदित्यान् (द्वादश आदित्योंको) वसून् (अष्ट वसुओंको) रुद्रान् (एकादश रुद्रोंको) अश्विनौ (दोनों अश्विनीकुमारोंको) तथा मरुतः (और उनचास मरुद्गणोंको) पश्य (देखो) च (और) बहूनि (अनेक) अदृष्टपूर्वाणि (अदृष्टपूर्व) आश्चर्याणि (आश्चर्य वस्तुओंको) पश्य (देखो) ॥६॥

श्रीधर—तान्येवाह—पश्येति । आदित्यादीन् मम देहे पश्य । मरुत एकोनपञ्चाश-देवताविशेषान् । अदृष्टपूर्वाणि त्वया वाऽन्येन वा पूर्वमदृष्टानि रूपाणि । आश्चर्याण्य-द्भुतानि ॥ ६ ॥

अनुवाद—[वे सब अलौकिक रूप क्या हैं, यह बतला रहे हैं]—हे भारत, मेरे शरीरमें द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, दो अश्विनी कुमार तथा उनचास मरुतों (देवताओं) और अनेक अदृष्टपूर्व अद्भुत रूपोंको देखो, जिनको तुमने या अन्य किसीने पहले कभी नहीं देखा है ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सूर्य—अष्ट वसु—रुद्र—अश्विनीकुमार—मरुत्—इन सबको देखो—मेरे ही सब आश्चर्य आश्चर्य रूप हैं ।—कूटस्थके भीतर कितना तेज है ! जान पड़ता है मानो द्वादश सूर्य एकसाथ उदित हुए हैं । अष्ट वसु, एकादश रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, उनचास मरुत् तथा अन्य अनेक वस्तुएँ हैं, तुम जो कुछ देखना चाहो, कूटस्थके भीतर देख सकते हो । इस प्रकार लोगोंको विस्मयमें डालने वाले सारे व्यापार इस जीव-देहमें संघटित होते हैं । जो योगी हैं वे कितने अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक विषयोंको कूटस्थमें देखते हैं । कूटस्थमें अपनी आकृति भी देखी जाती है । जो गत हो चुके हैं अथवा जो जगत्‌में आवेंगे, उनको भी योगी कूटस्थमें देखते हैं । इसकी अपेक्षा परम आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? ॥६॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश !) इह मम देहे (इस मेरी देहमें) एकस्थं (एकत्र अवस्थित) कृत्स्नं (समस्त) सचराचरं जगत् (स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्) अन्यत् यत् च (और अन्य जो कुछ) द्रष्टुं इच्छसि (देखना चाहते हो) अद्य पश्य (उसे अब देखो) ॥ ७ ॥

श्रीधर—किञ्च—इहैकस्थमिति । तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिभिरपि द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नमपि चराचरसहितं जगत् इह अस्मिन् मम देहे अवयवरूपेण एकत्रैव स्थितं अद्य अधुनैव पश्य । यच्च अन्यत् जगदाश्रयभूतं कारणस्वरूपं जगतश्च अवस्थाविशेषादिकं जय-पराजयादिकञ्च यदप्यन्यद् द्रष्टुमिच्छसि तत् सर्वं पश्य ॥७॥

अनुवाद—[फिर कहते हैं]—उन सब स्थानोंको परिभ्रमण करके देखनेसे करोड़ों वर्षोंमें भी कोई नहीं देख सकता, हे गुड़ाकेश (जितनिद्र) अर्जुन, स्थावर-जङ्गमात्मक यह जगत् मेरी इस देहमें अवयवरूपसे एकत्र अवस्थित है, इसे देखो। यदि और कुछ देखनेकी इच्छा है—जगत्के आश्रयभूत कारण, जगत्की विशेष-विशेष अवस्थाएँ तथा इस युद्धमें किसकी जय-पराजय होगी, तो यह सब भी देख सकोगे ॥ ७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—ये सब चर-अचर मेरे रूप हैं—इस देहके भीतर जो अन्य रूप देखना चाहते हो—वह।—इस कूटस्थमण्डलके भीतर चर-अचर समस्त जीव और पदार्थ देखे जाते हैं, ये सारे जीव और पदार्थ अन्य कुछ नहीं, आत्माके ही रूप हैं। सारे दृश्यमान् पदार्थ चित्तके प्रतिबिम्ब हैं, वे अजस्र अपरिमित हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। जीवका जो कार्य हम वर्त्तमान कालमें देखते हैं उसका आदिरूप केवल कल्पनामें रहता है, कल्पनाके पहले भी जो कारणरूपमे वर्तमान था तथा भविष्यमें वह जिस कार्यरूपमें परिणत होगा, वह सब कूटस्थमें एकत्र सजा होता है। वह तो अखण्ड महाकाल है। इसीसे खण्डकाल—भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान—ये सब उनके भीतर एकसाथ रहते हैं। जो सर्वदा कूटस्थमें रहते हैं, उनके सामने यह अपूर्व रहस्योंका द्वार खुल जाता है। उन योगीश्वरोंको फिर कुछ अज्ञात नहीं रह जाता। परन्तु योगी हुए विना इन रहस्योंका कोई सन्धान नहीं पाता। अर्जुन उस अधिकारको प्राप्त किये हुए योगी हैं। इसीसे भगवान्ने उनको 'गुड़ाकेश' कहकर सम्बोधन किया। गुड़ाकेशका अर्थ है निद्राशून्य पुरुष। समाधिनिष्ठ हुए बिना कोई वस्तुतः निद्राशून्य नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वय—तु (किन्तु) अनेन (इस) स्वचक्षुषा एव (अपनी आँखों द्वारा ही) मां द्रष्टुं (मुझको देखनेमें) न शक्यसे (समर्थ न होगे) [इसलिए] ते (तुमको) दिव्यं चक्षुः (अलौकिक नेत्र) ददामि (देता हूँ) मे (मेरे) ऐश्वरं योगं (ईश्वरीय योगको अर्थात् अघटनघटना-पटीयसी शक्तिको) पश्य (देखो) ॥ ८ ॥

श्रीधर—यदुक्तमर्जुनेन 'मन्यसे यदि तच्छक्यम्' इति तत्राह—न तु मामिति। अनेनैव तु स्वीयेन चर्मचक्षुषा मां द्रष्टुं न शक्यसे शक्तो न भविष्यसि। अतोऽहं दिव्य-मलौकिकं ज्ञानात्मकं चक्षुः तुभ्यं ददामि। ममैश्वरं असाधारणं योगं युक्तिम् अघटनघटना-सामर्थ्यं पश्य ॥ ८ ॥

अनुवाद—[अर्जुनने भगवान्से कहा था कि 'यदि उस रूपको देखने योग्य मुझको समझते हो तो मुझे दिखाओ', इसीका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं]—तुम अपने चर्मचक्षुके द्वारा मुझको देखनेमें समर्थ न होगे। अतएव मैं तुमको ज्ञानात्मक अलौकिक चक्षु दे रहा हूँ। मेरे असाधारण योग अर्थात् अघटन-घटना-सामर्थ्यको देखो ॥ ८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस चक्षुसे नहीं देख सकोगे, आकाशके समान एक चक्षु दूँगा—उसके द्वारा ईश्वरका रूप योग द्वारा देख पाओगे।—अलौकिक ज्ञानचक्षुके द्वारा यह रूप देखा जाता है। श्रीगुरुदेव कृपा करके जिस चक्षुको उन्मीलित कर देते हैं वह आकाशके समान है, उस आकाश-चक्षुमें ब्रह्माण्डका सब कुछ फूट पड़ता है। उस आकाशमें जो मनको स्थापन करेगा, उसे ज्ञात हो जायगा कि भगवान्का योगैश्वर्य क्या है। सब द्वारोंके खुला रहने पर भी जो आत्मक्रिया द्वारा मनको वशीभूत करनेमें समर्थ हैं, वे अलौकिक वस्तुओंको प्रत्यक्ष देख पाते हैं। ब्रह्मवस्तु ही आत्मा है, वही गम्य वस्तु है, उसीमें सबको पहुँचना चाहिए। प्राणायामरूप क्रिया ही उस गम्य वस्तुमें पहुँचा सकती है। स्थिर बुद्धिके द्वारा ही वह प्राप्य है और बुद्धि क्रियाके द्वारा स्थिर होती है। सद्गुरु अपनी साधन-शक्तिके द्वारा शिष्यके ज्ञानचक्षुको स्फुटित करनेकी जब कृपा करते हैं, तब शिष्य अपने भीतर अनेक अप्रत्यक्ष वस्तुओंका अनुभव करके कृतार्थ हो जाता है ॥८॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जय बोले), राजन् (हे राजा धृतराष्ट्र!) महायोगेश्वरः हरिः (महायोगेश्वर हरिने) एवं (इस प्रकार) उक्त्वा (कहकर) ततः (उसके बाद) पार्थाय (अर्जुनको) परमं ऐश्वरं रूपं (दिव्य ईश्वरीय रूप) दर्शयामास (दिखलाया) ॥९॥

श्रीधर—एवमुक्त्वा भगवान् अर्जुनाय रूपं दर्शितवान्। तच्च रूपं दृष्ट्वा अर्जुनः श्रीकृष्णं विज्ञापितवान् इति इमम् अर्थं षड्भिः श्लोकैः धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वेति। हे राजन् धृतराष्ट्र! महांश्चासौ योगेश्वरश्च हरिः परम् ऐश्वरं रूपं दर्शितवान् ॥९॥

अनुवाद—[ऐसा कहकर भगवान्ने अर्जुनको अपना रूप दिखलाया। अर्जुनने श्रीकृष्णको जैसा देखा, वही छः श्लोकोंमें महाराज धृतराष्ट्रसे] सञ्जय कह रहे हैं—हे राजन् धृतराष्ट्र! महायोगेश्वर हरिने अर्जुनको परम ईश्वरीय रूप दिखलाया ॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्य दृष्टि द्वारा बोध हो रहा है—इस प्रकार कूटस्थ शरीरके तेजको अपना रूप दिखलाने लगे।—विवेक उत्पन्न होने पर अन्धोंको भी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। मन ही मानो उस समय दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक वक्ता बनता है और दूसरा श्रोता। साधनके प्रभावसे विषयोंमें अनासक्तिका भाव आने पर विवेक उत्पन्न होता है और वह विवेकी पुरुष तब परम ईश्वरीय रूप देख पाता है। तब कूटस्थके भीतर दिव्यज्ञान-प्रभाव और

महायोगेश्वर-भाव प्रकटित होता है। वह हरि तब हमारे मनकी निम्नगामी वृत्तियोंको हरण कर लेते हैं। अन्यथा विषयगामी मन कदापि स्थिर नहीं होता। मन स्थिर करके विशुद्ध हुए बिना कोई ईश्वरीय भावको प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ नहीं होता। दिव्य दृष्टिके प्रभावसे कूटस्थके भीतर ही भूत, भविष्य और वर्त्तमानकी सारी घटनाएँ दीख पड़ती हैं। जिस प्रकार हम स्वप्नमें दूर-दूरकी वस्तुओं और घटनाओंको देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध साधक अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके द्वारा भूत-भविष्यकी सारी घटनाओंको प्रत्यक्ष करते हैं ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अन्वय—[उस विश्वरूपमें] अनेकवक्त्रनयनं (अनेक मुख और नेत्र युक्त) अनेकाद्भुतदर्शनं (बहुतसी अद्भुत दर्शनीय आकृतियोंसे विशिष्ट) अनेकदिव्याभरणं (अनेक दिव्य अलङ्कारोंसे युक्त) दिव्यानेकोद्यतायुधं (अनेक प्रकारके उद्यत उज्ज्वल अस्त्रोंसे युक्त) ॥१०॥

श्रीधर—कथंभूतं तदिति? अत आह—अनेकवक्त्रनयनमिति। अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत्। अनेकानामद्भुतानां दर्शनं यस्मिंस्तत् अनेकानि दिव्याभरणानि यस्मिंस्तत्। दिव्यानि अनेकानि उद्यतानि आयुधानि यस्मिंस्तत् ॥१०॥

अनुवाद—[वह रूप कैसा है, यही बतला रहे हैं]—जिसमें अनेक मुख-नयन हैं, अनेक अद्भुत दर्शन हो रहे हैं, अनेक दिव्य आभुषण हैं तथा अनेक दिव्य उद्यत आयुध विद्यमान हैं ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके सामने अनेक लोग बैठे हैं, अनेक चक्षुएँ कूटस्थकी ओर ताक रही हैं—अनेक अद्भुत रूप—अनेक आकाशके अस्त्र-शस्त्र हाथमें हैं।—ये सारी आकाशकी मूर्त्तियाँ हैं, मानो अनेक लोग बैठे हैं। कितनी ही आँखें कूटस्थकी ओर मानो टकटकी लगाये कुछ देख रही हैं! अनेक अद्भुत-अद्भुत रूप जो पहले कभी नहीं देखे गये थे दीख रहे हैं। कैसा चमत्कार है! सारे शरीरमें अलङ्कार हैं, अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण करके कितने लोग खड़े हुए हैं ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अन्वय—दिव्यमाल्याम्बरधरं (दिव्य माल्य और दिव्य वसनोंसे सुशोभित) दिव्यगन्धानुलेपनं (दिव्य गन्धों द्वारा अनुलिप्त) सर्वाश्चर्यमयं (अत्यन्त आश्चर्यमय) देवं (दीप्तिमन्त) अनन्तं (अन्तशून्य) विश्वतोमुखम् (सर्वतोमुख अथवा सर्वत्र मुख-विशिष्ट) [रूप दिखलाया] ॥११॥

श्रीधर—किञ्च—दिव्येति। दिव्यानि माल्यानि अम्बराणि च धारयतीति तत्। तथा दिव्यो गन्धो यस्य तादृशम् अनुलेपनं यस्य तत्। सर्वाश्चर्यमयं अनेकाश्चर्यप्रायं देवं द्योतनात्मकम्। अनन्तमपरिच्छिन्नम्। विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिन् तत् ॥११॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—दिव्य माल्य और वस्त्र जिसने धारण कर रखा है, जिसमें दिव्य गन्ध है, अनुलेपन है, जो सर्वाश्चर्यमय अर्थात् अनेक आश्चर्योंसे युक्त, द्योतनात्मक और अपरिच्छिन्न है तथा जिसके सर्वत्र ही मुख हैं, [इस प्रकारका रूप दिखलाया] ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आकाशकी माला—आकाशकी गन्ध—सभी आश्चर्य! इस प्रकारके कूटस्थ देवताको देखने लगे। अनन्त रूप—अखिल विश्वके लोगोंके चक्षु—जो कोई सिद्ध हैं वे कूटस्थकी ओर सदा दृष्टि रखते हैं—वस्तुतः वे कूटस्थके ही रूप हैं। कूटस्थके सिवा वहाँ कुछ भी नहीं है।—स्वर्ग मर्त्य सब कुछ तो उसके ही भीतर है, इसी कारण अनन्त मूर्त्तियाँ कूटस्थके भीतर दीख पड़ने लगीं। फूलोंकी असंख्य मालाएँ, कितने ही सुन्दर वस्त्र—परन्तु सब आकाशसे निर्मित! दिव्य गन्ध फैल रही है, ज्योति तरङ्गायमान हो रही है—उसका मानो कहीं आदि अन्त नहीं!! यह सारा निखिल संसार कूटस्थका ही रूप है। इसीसे कूटस्थके भीतर सब कुछ दीख पड़ता है। जो सिद्ध हो चुके हैं उन्होंने कूटस्थमें ही दृष्टि स्थापन करके सिद्ध देह प्राप्त की है। वे सिद्ध लोग भी कूटस्थके भीतर दीख पड़ते हैं। जैसे सूर्य आकाशमें दीखते हैं और वही सूर्य फिर असंख्य पात्रोंमें चमक रहे हैं, उसी प्रकार प्रति देहरूपी घटमें उसी आत्माका प्रतिविम्ब चमक रहा है और कूटस्थके भीतर उस असंख्य विश्वका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है!! मैं जैसे बाहर हूँ उसी प्रकार कूटस्थके भीतर भी हूँ, अनेक जीवदेहोंके कूटस्थके भीतर भी मैं वर्त्तमान रहता हूँ। इनमें कौनसा मैं सत्य हूँ, यह जाननेका कोई उपाय नहीं। देखते-देखते टकटकी लग जाती है ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

अन्वय—दिवि (आकाशमें) सूर्यसहस्रस्य (सहस्र-सहस्र सूर्योंकी) भाः (प्रभा) यदि (यदि) युगपत् (एकसाथ) उत्थिता भवेत् (उदित हों) सा (वह प्रभा) तस्य महात्मनः (उस महात्माकी) भासः (प्रभाके) सदृशी स्यात् (तुल्य हो सकती है) ॥१२॥

श्रीधर—विश्वरूपदीप्तेः निरुपमत्वमाह—दिवीति। दिवि आकाशे। सूर्यसहस्रस्य युगपद् उत्थितस्य यदि युगपदुत्थिता भाः प्रभा भवेत् तर्हि सा तदा महात्मनो विश्वरूपस्य भासः प्रभायाः कथञ्चित् सदृशी स्यात्। अन्योपमा नास्त्येव इत्यर्थः। तथाभूतं रूपं दर्शयामासेति पूर्वेणैवान्वयः ॥१२॥

अनुवाद—[विश्वरूपकी दीप्ति क्या ही अनुपम है, यही बतलाते हैं]—आकाशमें एकसाथ एकबार यदि सहस्र सूर्योंकी प्रभा उदित हो, तब कहीं वह दीप्ति विश्वरूप महात्माकी प्रभाके कुछ सदृश हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि उसकी

अन्य उपमा नहीं हो सकती। इस प्रकारका विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया। पूर्व श्लोकके साथ इसका अन्वय है ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उस महात्मा कूटस्थका—कोटि सूर्योंके समान तदपेक्षा अधिक इस प्रकारका तेज चारों ओर उदित है।—उस कूटस्थकी कैसी ज्योति है! मानो सहस्र-सहस्र सूर्य एकसाथ आकाशमें उदित हो रहे हैं! प्रलयकालमें इस प्रकार सहस्र सूर्योंका उदय एकसाथ होता है। उस समय जो महाकाल प्रलय-नृत्यमें मग्न होता है, अर्जुनको भगवान् उसी महाकालका रूप दिखला रहे हैं। उस रूपको देखकर क्या कोई उसे सहन कर सकता है? परन्तु भगवान् जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं, वह इस अतुलनीय रूपको देखकर कृतार्थ हो जाता है ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

अन्वय—तदा (तब) पाण्डवः (अर्जुनने) तत्र (उस विश्वरूपमें) देवदेवस्य शरीरे (देवदेवके शरीरमें) अनेकधा (नाना भागोंमें) प्रविभक्तं (विभक्त) कृत्स्नं जगत् (सम्पूर्ण विश्वको) एकस्थं (एकत्र अवस्थित) अपश्यत् (देखा) ॥१३॥

श्रीधर—ततः किं वृत्तम् इति अपेक्षायामाह सञ्जयः— तत्रेति। अनेकधा प्रविभक्तं नानाविभागेन अवस्थितं कृत्स्नं जगत् देवदेवस्य शरीरे तदवयवत्वेन एकत्र व्यवस्थितं तदा पाण्डवोऽर्जुनः अपश्यत् ॥१३॥

अनुवाद—[उसके बाद क्या हुआ, इस प्रश्नकी अपेक्षामें सञ्जय कह रहे हैं]—तब अर्जुनने नाना विभागोंमें बँटे हुए समस्त जगत्को उस देवदेवके शरीरमें उनके अवयवरूपमें एकत्र अवस्थित देखा। [जैसे शरीरके पृथक्-पृथक् भाग शरीरमें ही अवस्थित होते हैं, उसी प्रकार उस देवदेवके शरीरमें नाना भागोंमें विभक्त जगत् एकत्र अवस्थित रहता है] ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वहाँ समस्त जगत्को देखता है—सभी कूटस्थके रूप अनेक भिन्न भिन्न—अपने शरीरमें (पाण्डवके) देखने लगे—अपने शरीरमें ही पञ्च पाण्डव हैं।—देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोकको लेकर सारा जगत् है। नदीके प्रवाहमें जैसे शत-सहस्र तृण बहते रहते हैं, उसी प्रकार शत-सहस्र प्रकारके जगत् और जीव कूटस्थके भीतर हैं। अर्जुन उन्हें देखने लगे। ये सारे असंख्य रूप कूटस्थके ही रूप हैं। पाण्डवके शरीरमें ही ये देखे जाते हैं। सबके शरीर पञ्चतत्त्वमय या पञ्च पाण्डव (क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम) की शक्तिसे मिलित हैं। हमारे शरीरके भीतर वही है जो सबके भीतर है। अतएव अपनेको अच्छी तरह जान लेने पर यह सारा विश्व-भुवन अवगत हो सकता है ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अन्वय—ततः (तब) सः धनञ्जयः (वह धनञ्जय) विस्मयाविष्टः (विस्मययुक्त) हृष्टरोमाः (रोमाञ्चित होकर) देवं (देवको) शिरसा (मस्तक झुकाकर) प्रणम्य (प्रणाम करके) कृताञ्जलिः (हाथ जोड़कर) अभाषत (कहने लगे) ॥१४॥

श्रीधर—एवं दृष्ट्वा किं कृतवानिति ? अत्राह—तत इति। ततो दर्शनानन्तरम्। विस्मयेन आविष्टो व्याप्तः सन्। हृष्टानि उत्पुलकितानि रोमाणि यस्य सः धनञ्जयः। तमेव देवं शिरसा प्रणम्य। कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तो भूत्वा अभाषत उक्तवान् ॥१४॥

अनुवाद—[इस विश्वरूपको देखकर अर्जुनने क्या किया, यह बतला रहे हैं]—उस अद्भुत विश्वरूपके दर्शनके बाद धनञ्जयने विस्मयान्वित होकर तथा आनन्दसे पुलकित होकर उस देवको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहने लगे ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—विस्मयापन्न होकर कृताञ्जलिपूर्वक रोमाञ्चके साथ कहने लगे—प्रणाम करके।—इस अवस्थामें विस्मय न हो तो क्या हो ? इतने क्षुद्र शरीरमें इतना बृहत् तेजका प्रकाश ! ब्रह्माण्डमें जितनी वस्तुएँ, जितने प्राणी हैं सब कूटस्थके भीतर हैं। साधक पहले अपने शरीरमें ही कूटस्थको देखता हैं, इसीसे मनमें आता है कि इस देहके भीतर इतनी असंख्य और अपरिमित वस्तुएँ कैसे हैं ! तो क्या शरीरको हम जितना छोटा समझते हैं उतना छोटा नहीं है ? ब्रह्माण्डकी सारी वस्तुएँ किस प्रकार उसके भीतर धृत हो रही हैं, यही आश्चर्य है ! साधक अबतक भी यह नहीं समझता कि वह "अणुभ्योऽणु च" अणुकी अपेक्षा भी छोटा एक अणुमात्र है परन्तु उस अणुके भीतर भी ब्रह्माण्ड है ! इससे जितना आश्चर्य होता है उतना ही आनन्द भी मिलता है। विस्मयसे शरीर पुलकायमान हो रहा है। तब उस आत्मदेव कूटस्थको प्रणाम करके हाथ जोड़कर कुछ कहनेकी इच्छा साधकको होती है। वही अगले श्लोकोंमें कहते हैं ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुन बोले)—देव (हे देव !) तव देहे (तुम्हारी देहमें) सर्वान् देवान् (सब देवोंको) तथा (और) भूतविशेषसंघान् (स्थावर-जङ्गमात्मक भूतसमूहको) दिव्यान् ऋषीन् (दिव्य ऋषियोंको) सर्वान् उरगान् च (और सारे सर्पोंको) कमलासनस्थं (कमल पर बैठे हुए) ईशं ब्रह्माणं च (सारी प्रजाओंके प्रभु ब्रह्माको भी) पश्यामि (देखता हूँ) ॥१५॥

श्रीधर——भाषणमेवाह—पश्यामीति सप्तदशभिः। हे देव! तव देहे देवान् आदित्यादीन् पश्यामि। तथा सर्वान् भूतविशेषाणां जरायुजाण्डजादीनां संघांश्च, तथा दिव्यान् ऋषीन् वशिष्ठादीन्, उरगांश्च तक्षकादीन् तथा देवानामीशं स्वामिनं ब्रह्माणं च। कथंभूतम्? कमलासनस्थं पृथिवीपद्मकर्णिकायां मेरौ स्थितम्। यद्वा त्वन्नाभिपद्मासनस्थं इति ॥१५॥

अनुवाद——[अर्जुनने "पश्यामीति" सप्तदश श्लोकों द्वारा पश्चात् जो कुछ कहा, सञ्जय वही धृतराष्ट्रको बतला रहे हैं]—हे देव, तुम्हारे शरीरमें आदित्य आदि देवोंको तथा सर्वभूत-विशेष-संघ अर्थात् जरायुज (मनुष्य-पशु आदि), अण्डज (पक्षी-सर्पादि), स्वेदज (मशक आदि) तथा उद्भिज्ज (तृण-वृक्षादि) आदिके सङ्घ या समूहको भी देख रहा हूँ, उसी प्रकार वशिष्ठादि दिव्य ऋषियोंको, तक्षकादि सर्पोंको तथा देवोंके ईश्वर ब्रह्माको भी देखता हूँ। वह ब्रह्मा कैसे हैं, यह भी बतलाते हैं—कमलासनस्थ अर्थात् पृथिवी-पद्मकी कर्णिकाके रूपमें जो सुमेरु पर्वत है उस पर अथवा तुम्हारे नाभिपद्मरूपी आसन पर अवस्थित हैं। [कमलासनस्थं पृथिवी-पद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थमित्यर्थः—पृथिवी-पद्मके भीतर मेरुरूप कर्णिकासन पर जो अवस्थान करते हैं—शङ्कर] ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या——शरीरके तेजके द्वारा अनुभव हो रहा है—अपने आप देखने लगे इस देहमें ही कूटस्थके भीतर (देव = आकाश) सब भूत विशेष करके—ब्रह्मा—विष्णु—महेश—ऋषिगण—समस्त—पक्षीगण।—साधककी साधनलब्ध दृष्टिके द्वारा यह निजबोधरूप है। साधक स्वयं भी आत्माका ही रूप है, तथापि जब वह साधन करता है तब उसके भीतर स्वयं ही ये दृश्य दीखने लगते हैं। परन्तु क्या यह दर्शन इस जड़ पिण्ड शरीरके भीतर होता है? नहीं, वह दर्शन होता है देव-देहमें अर्थात् आकाशमें। वह आकाश अपने भीतर भी है, उस आकाशके भीतर ही अनन्त ब्रह्माण्डके रूप प्रकाशित होते हैं। इस आकाशको देखनेवाली दिव्य दृष्टि जिसकी खुल गयी है, वही यह सब देख पाता है। मेरुमध्यस्थ मूलाधारपद्ममें ही ब्रह्माका आसन है। उस मूलाधारसे ही सारी सृष्टि हो रही है ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अन्वय——विश्वेश्वर (हे विश्वेश्वर!) विश्वरूप (हे विश्वरूप!) अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं (अनेक बाहु, उदर, वदन और नेत्र विशिष्ट) अनन्तरूपं (अनन्तरूपधारी) त्वां (तुमको) सर्वतः पश्यामि (सर्वत्र देख रहा हूँ) पुनः (और) तव (तुम्हारा) न अन्तं न मध्यं न आदिं पश्यामि (न अन्त, न मध्य और न आदि देख पाता हूँ) ॥१६॥

श्रीधर—किञ्च—अनेकेति। अनेकानि बाह्वादीनि यस्य तादृशं त्वां पश्यामि। अनन्तानि रूपाणि यस्य तं त्वां सर्वतः पश्यामि। तव तु अन्तं मध्यं आदिं च न पश्यामि—सर्वगतत्वात् ॥१६॥

अनुवाद—जिसके अनेक बाहु आदि हैं, इस प्रकारके तुमको मैं देख रहा हूँ। अनन्तरूप वाले तुमको सर्वत्र देख रहा हूँ। परन्तु तुम सर्वगत हो इसलिए तुम्हारा अन्त, मध्य या आदि नहीं देख पाता हूँ ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सबके अनेक हाथ देखने लगा—अनेक उदर अनेक लोगोंके—अनेक मुख अनेक लोगोंके—अनेक नेत्र अनेक लोगोंके—तुमको सर्वत्र देखता हूँ अनन्त रूप अन्त—नहीं—जहाँ तक देखता हूँ वहाँ तक देखता हूँ। देखनेका कोई अन्त नहीं है—अन्त नहीं तो मध्य भी नहीं—अतएव आदि भी नहीं—यह विश्वसंसार विश्वेश्वरका।—कूटस्थके भीतर न जाने कितने लोगोंके कितने मुँह, कितने उदर, कितने चक्षु देखता हूँ, इनका अन्त नहीं है। जिस ओर देखता हूँ यही सब देखता हूँ, उसका आदि, मध्य और अन्त खोजे भी नहीं मिलता। हे विश्वेश्वर, जान पड़ता है तुम इस निखिल विश्वमें विश्वरूप धरकर बैठे हो। तब मैं, तुम, यह और वह सब तुम्हारे ही रूप हैं। तुम विश्वरूप और विश्वनाथ हो ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

अन्वय—किरीटिनं (किरीटधारी) गदिनं (गदाहस्त) चक्रिणञ्च (और चक्रधारी) सर्वतः (सर्वत्र) दीप्तिमन्तं (दीप्तिशाली) तेजोराशिं (तेजपुञ्ज) दुर्निरीक्ष्यं (दुर्दर्शनीय) दीप्तानलार्कद्युतिं (प्रदीप्त अग्नि और सूर्यके समान द्युतिमान) अप्रमेयं च (और अप्रमेय) त्वां (तुमको) समन्तात् (चारों ओर) पश्यामि (देखता हूँ) ॥ १७ ॥

श्रीधर—किञ्च—किरीटिनमिति। किरीटिनं मुकुटवन्तं, गदिनं गदावन्तं चक्रिणं चक्रवन्तं च सर्वतो दीप्तिमन्तं तेजःपुञ्जरूपं तथा दुर्निरीक्ष्यं द्रष्टुमशक्यम्। तत्र हेतुः—दीप्तयोः अनलार्कयोः द्युतिरिव द्युतिस्तेजो यस्य तम्। अतएव अप्रमेयं एवंभूत इति निश्चेतुं अशक्यं त्वां समन्ततः पश्यामि ॥ १७ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—किरीट-मुकुटधारी, गदाचक्रधारी और सर्वत्र दीप्तिशाली तेजःपुञ्जरूप हैं, इसी लिए दुर्निरीक्ष्य अर्थात् देखनेके अयोग्य हैं। दुर्निरीक्ष्य क्यों, इसका हेतु कहते हैं—(तुम) प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकी द्युतिके समान द्युतिमन्त हो, अप्रमेय हो अर्थात् तुम निश्चयपूर्वक कैसे हो, यह स्थिर नहीं किया जा सकता। इस प्रकारके तुमको समन्तात् अर्थात् सर्वत्र देखता हूँ ॥ १७ ॥

कूटस्थ वर्णन

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम्हारे रूपके ऊपर किरीटका स्वरूप चारों ओर छटा गदास्वरूप सर्वव्यापक—चक्रके समान गोल—तेज भी ढेर (असीम)—प्रकाश अनन्त—अग्निके समान—सूर्यके समान—विद्युत्के समान—और किसीके समान नहीं—उस प्रकाशकी तुलना नहीं—उस कालाचाँदके प्रकाशमें जगत् प्रकाश—ऐसा प्रकाश कभी किसीने (अप्रमेय) देखा नहीं—(भाग्यवान् वहाँ जाता है, मनुष्यके वहाँ जानेकी क्या बिसात)।—वस्तुतः परम सौभाग्यका उदय हुए बिना कोई उस परमज्योतिका दर्शन नहीं कर सकता। संसार-बन्धनके क्षीण होनेका यही परम उपाय है।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।

ब्राह्मण तपस्या और ज्ञानके द्वारा मुक्तिलाभ करते हैं। तपस्या ही योगाभ्यास है और तज्जनित आत्मदर्शन ही उसका शुभ फल है।

जन्मान्तरसहस्रेषु यदा क्षीणास्तु किल्बिषाः।
तदा पश्यति योगेन संसारच्छेदनं महत्॥

सहस्रों जन्मोंके बाद जब पापराशि क्षीण हो जाती है, तब योगाभ्यास द्वारा संसारको उच्छिन्न करनेवाला उत्तम उपाय दृष्टिगोचर होता है।

विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम्।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम्॥

विषयोंसे इन्द्रियोंका निरोध, तन्द्रा और आलस्यका त्याग, शरीर-तत्त्वका निरूपण तथा प्रवृत्तिमूलक कर्ममें दोषदर्शन।

नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः।
एतैरुपायैः संशुद्धसत्त्वयोग्यमृती भवेत्॥

रजोगुण और तमोगुणको क्षीण करने पर सत्त्वशुद्धिका उदय होता है। सत्त्व-शुद्धिसे भाव स्पृहाशून्य होते हैं और इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं (शम)। इन उपायोंके द्वारा सत्त्वसंशुद्ध योगी अमृत लाभ करते हैं।

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

परमेश्वरके तत्त्वज्ञानमें जीवकी शुद्धि (स्वरूपाभिव्यक्ति) होती है, वही परम शुद्धि है, योगके बलसे जो आत्मदर्शन है वही उसका परम धर्म है।

क्रिया करने पर जो क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, वह वैश्वानर सदृश होती है। उससे सारे विषय और 'मैं-मेरा' भाव नष्ट हो जाते हैं। वैश्वानर अग्नि ही प्राण है, इस वैश्वानरके द्वारा ही क्रिया की जाती है। यही आत्मा और गुरु है।

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं, समूढमस्य पांशुले"—यह विष्णु ही क्रियाकी परावस्था है। इसमें रहते रहते 'त्रेधा निदधे' अर्थात् अनाहतसे विशुद्धाख्यमें पहुँच सकते हैं, विशुद्धाख्यसे मूलाधारमें, मूलाधारसे विशुद्धाख्यमें, विशुद्धाख्यसे स्वाधिष्ठानमें, स्वाधिष्ठानसे मणिपूरमें—इस प्रकार क्रिया द्वारा नाभिस्थानमें स्थिति होने पर वास्तविक

धारणा होती है अर्थात् ब्रह्मपदरूपी क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। तब सारी अज्ञता और मूर्खताका नाश होकर 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है।

ब्रह्म ही सबकी योनि है। ब्रह्मसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे मृत्तिका निर्गत हुई। सब कुछ ब्रह्मसे निकलकर फिर ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है। यही योनि है और यही कर्त्ता है। आत्मा ही इस सृष्टि, स्थिति, प्रलयका कर्त्ता है। क्रिया करते-करते जो कूटस्थ दीख पड़ता है, उसके भीतर स्थित पुरुषोत्तम ही कर्त्ता हैं। वही ब्रह्म हैं, उनका चिन्तन करते-करते साधक तद्रूप हो जाते हैं।

इस पुरुषोत्तमके सम्बन्धमें मुण्डकोपनिषदमें कहा है—

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥

उस हिरण्मय श्रेष्ठ कोषमें निर्मल अखण्ड ब्रह्म प्रकाशित हैं। वह शुद्ध ज्योति सारी प्रकाशमय वस्तुओंका प्रकाश-स्वरूप है। यह वही वस्तु है जिसे आत्मज्ञ पुरुष जानते हैं। यह पुरुषोत्तम उस अपूर्व ज्योतिके द्वारा आच्छादित हैं।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्—ईश०।

ज्योतिर्मय पात्रके द्वारा सत्यका अर्थात् सूर्यमण्डल-स्थित ब्रह्मका मुख आच्छादित रहता है।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥—ईश०।

तुम्हारा वह जो कल्याणतम रूप है, उसे हम तुम्हारे अनुग्रहसे देखते हैं। यह जो सूर्यमण्डल-स्थित पुरुष है, वही मैं हूँ।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत् पदमाप्नोति संसारञ्चाधिगच्छति॥ कठ०।

जो अविवेकी है, असमाहितचित्त है अतएव सदा अशुचि रहता है, वह उस ब्रह्मपदको प्राप्त नहीं होता, संसार-गतिको ही प्राप्त होता है।

कूटस्थमें जो प्रतिष्ठित हैं अर्थात् कूटस्थ-गुहाके भीतर जिन्होंने प्रवेश प्राप्त किया है, वे अनन्त लोकको प्राप्त होते हैं। कूटस्थके परे जो श्वेत ज्योति है, उसको जो देखता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। स्थिरत्व-पद पाये बिना यह नहीं होता। तीन गुणोंके अर्थात् प्राण, अपान, व्यानकी अतीत गति द्वारा समान या साम्यभाव प्राप्त होने पर स्थिरत्व-पद लाभ किया जाता है। तीन गुणोंके अतीत होने पर समान वायु नाभिदेशमें स्थिर होकर जब हृदयदेश पर्यन्त स्थिर होती है तो हृदयदेशमें जो ईश्वर हैं उनमें लीन होकर साधक सर्वज्ञ बनता है।

कूटस्थका कैसा सुन्दर रूप है! उसीका वर्णन ३१वें श्लोक तक चला है। चारों ओर किरीटके समान ज्योतिर्मय छटा जगमग जगमग कर रही है, मानो सोनेके ऊपर मणि-मुक्ता जड़ित हैं। चक्रके समान ज्योतिर्मय मण्डल कैसा अपूर्व शोभासम्पन्न है! देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। गदा घुमाकर जैसे वीर अपनी रक्षा करते हैं,

उसी प्रकार पहले यह ज्योतिर्मय चक्र घूमता रहता है, इस मण्डलमें जिसका लक्ष्य स्थिर रहता है, उसके पतनकी आशङ्का नहीं होती। इसके भीतर चार स्वर्ग हैं—

(१) महास्वर्ग—जिसमें स्थिरत्वपद प्राप्त होता है।

(२) परव्योम—सत्यनिरुक्तानिरुक्त अखिल स्वर्ग जो ब्रह्ममें देखा जाता है।

(३) प्रधानके प्राकृत प्रलयमें—अव्यक्तनिलयनानिलयन स्वर्ग, क्रियाकी परावस्था।

(४) चौबीस तत्त्वोंके अवशेषमें—महाकल्प, उसके अवशेषमें नारायणाख्य स्वर्ग, पुरुष और देव, तथा इसी ब्रह्मचक्रमें जीवका विचरण। "अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे"—आत्मास्वरूप हंस ब्रह्मचक्रमें घूम रहा है।

सूर्याग्निके समान यह कूटस्थका तेज सर्वदा प्रदीप्त हो रहा है। इस कूटस्थ-ज्योतिके भीतर श्यामसुन्दरकी अपूर्व ज्योति चतुर्दिकको ज्योतिर्मय कर रही है। इस ज्योतिका आदि-अन्त कुछ भी समझमें नहीं आता। इस कूटस्थ-सूर्यकी उपासनासे विद्या, शान्ति, प्रतिष्ठा और निवृत्तिरूप चार शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

योगाभ्यास-रत साधकमें ब्रह्म-साक्षात्कार-सूचक जो चिह्न पहले प्रकट होते हैं, वे श्वेताश्वतरोपनिषद्में वर्णित हैं—

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

तुषार, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत-खचित, विद्युत्-प्रकाश, शुभ्र स्फटिक तथा पूर्णचन्द्रके समान रूप प्रकाशित होने लगते हैं ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अन्वय—त्वं (तुम) परमम् अक्षरं (परब्रह्म) वेदितव्यं (एकमात्र जानने योग्य) अस्य विश्वस्य (इस जगत्के) त्वं (तुम) परं निधानं (परम आश्रय हो), त्वं (तुम) अव्ययः (नित्य) शाश्वतधर्मगोप्ता (सनातन वेदोक्तधर्मके रक्षक) त्वं (तुम) सनातनः पुरुषः (सनातन पुरुष हो) मे मतः (मेरी धारणा है) ॥१८॥

श्रीधर—यस्मादेवं तव आश्चर्यं ऐश्वर्यं तस्मात्—त्वमिति। त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म। कथंभूतम्? वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। त्वमेव अस्य विश्वस्य परं निधानं, निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं प्रकृष्टाश्रयः। अतएव त्वमव्ययः नित्यः। शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालकः। सनातनः चिरन्तनः पुरुषः। मे मतः सम्मतोऽसि ॥१८॥

अनुवाद—[क्योंकि तुम्हारा ऐश्वर्य इस प्रकार अचिन्त्य है अतएव] तुम्हीं अक्षर-शब्द-वाच्य परम ब्रह्म हो। यदि पूछो कि वह कैसे, तो वेदितव्य अर्थात् मुमुक्षुओंके द्वारा ज्ञातव्य है। तुम इस विश्वके प्रकृष्ट आश्रय हो। अतएव तुम अव्यय अर्थात् नित्य और नित्यधर्मके पालक हो और तुम सनातन अर्थात् चिरन्तन पुरुष हो, यह मेरी धारणा है ॥१८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम्हीं कूटस्थ अक्षर हो—वही जानने योग्य है—परम है—सबके परे तुम हो समस्त विश्व-संसारके परे निःशेष रूप स्थितिके स्थान—तुम अविनाशी नित्य धर्मगोप्ता = क्रियारूप हो—जो गुप्त गुरुवाक्यसे लभ्य है—नित्य पुरुष। यह मेरा भाव है अर्थात् इस प्रकार मनमें उदय हो रहा है।—तुम कूटस्थ हो, यही एक मात्र जानने योग्य है। जगत्‌में और जो कुछ ज्ञातव्य है, उसे जाननेसे विशेष लाभ नहीं है, वह केवल बन्धनकी फाँस है। तुम सबके परे हो अर्थात् परम आश्रय हो। क्रियाकी परावस्थाके सिवा और कहीं निःशेषरूपमें स्थिति नहीं होती। इसके आश्रयसे ही यह ब्रह्माण्ड निरन्तर अभिव्यक्त हो रहा है। और जो कुछ देखा-सुना जाता है, वह प्रायः आगमापायी है। तुम क्रियारूप नित्य धर्मके रक्षक हो। यही धर्म प्राण है, प्राणके बिना जगत् नहीं रह सकता। स्थिर प्राणरूपा महाविद्या तभी महामाया-रूप परिग्रहण करती हैं, जब वह जन्म-मरणशील चञ्चल श्वासमें परिणत होकर विषयान्तरमें आसक्तिपूर्वक दृष्टि करती हैं तथा अपने भोग्यरूपमें इस पञ्चतत्त्वमय जगत्‌की कल्पना करती हैं। परन्तु अचञ्चलरूपी उनका नित्यभाव गुप्त है, गुरूपदेशके द्वारा साधन करने पर ही वह जाना जाता है। तुम इस प्रकारके भावमय, अनादिसिद्ध, चिरन्तन पुरुष हो, तुमको देखकर यही मेरे मनमें उदय हो रहा है ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अन्वय—अनादिमध्यान्तं (आदि, मध्य और अन्त हीन) अनन्तवीर्यं (अनन्त प्रभाव) अनन्तबाहुं (असंख्य भुजाएँ) शशिसूर्यनेत्रं (चन्द्रसूर्यरूप नेत्र विशिष्ट) दीप्तहुताशवक्त्रं (प्रज्वलित अग्नितुल्य मुख) स्वतेजसा (अपने तेजके द्वारा) इदं विश्वं (इस विश्वको) तपन्तं (सन्तप्त करते हुए) त्वां (तुमको) पश्यामि (देखता हूँ) ॥१९॥

श्रीधर—किञ्च—अनादीति। अनादिमध्यान्तम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम्। अनन्तवीर्यं—अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम्। अनन्तबाहुं—अनन्ता बाहवो यस्य तम्। शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम्। तादृशं त्वां पश्यामि। तथा दीप्तो हुताशः अग्निर्वक्त्रेषु यस्य तम्। स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं सन्तापयन्तं पश्यामि ॥१९॥

अनुवाद—[और भी देख रहा हूँ]—तुम उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रहित हो। जिसका वीर्य या प्रभाव अनन्त है, जिसकी अनन्त बाहु हैं, शशि और सूर्य जिसके नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि-तुल्य है, जो अपने तेजके द्वारा इस विश्वको सन्तप्त कर रहा है—इस प्रकारके तुमको देख रहा हूँ ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—आदि अन्त मध्य नहीं—क्योंकि एक होने पर कुछ नहीं होता—सब अनन्त बाहु उनकी ही बाहु हैं—चन्द्र सूर्य नेत्र हैं—दक्षिणमें सूर्य, बाममें चन्द्र—अग्निके समान प्रज्वलित है—मुख—विश्वसंसार तेजसे उत्तप्त हो गया है अर्थात् अपनी गरमीसे ठहर नहीं पा रहा हूँ।—'मैं-मेरा' नहीं रहने पर सबकी अव्यक्तावस्था हो जाती है। आदि, मध्य और अन्त कुछ भी नहीं रहता। जीवको जब आत्मसाक्षात्कार होता है, तब इस प्रकारकी आदि-अन्त-मध्य-शून्य अवस्थाका अनुभव होता है और यह बाहुविशिष्ट अनन्त जीवसमूह जो दीखता है उन असंख्य जीवोंकी अगणित भुजाएँ मानो भगवान्‌की अनन्त बाहु जान पड़ती हैं। इस विश्वकी अनन्त क्रियाशक्तियाँ मानो उनकी ही अनन्त शक्तिका परिचय देती हैं। वाम भागमें चन्द्र और दक्षिणमें सूर्य कैसी शोभा धारण कर रहे हैं! मुखमें मानो अग्निराशि धक्-धक् जल रही है। कूटस्थकी अपार तेजोराशि देखते-देखते साधकके मनमें हो रहा है कि मानो वह समस्त संसारको सन्तप्त कर रही है। शरीरसे स्वेदकी धारा बह रही है, वह ताप मानो सहन नहीं हो रहा है ॥ १६ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अन्वय—महात्मन् (हे महात्मन्!) द्यावापृथिव्योः (स्वर्ग और पृथिवीके) इदं अन्तरं (मध्यमें यह जो अन्तरिक्ष है) सर्वाः दिशश्च (सारी दिशाएँ भी) एकेन (एकमात्र) त्वया हि (तुम्हारे द्वारा ही) व्याप्तं (व्याप्त है), तव (तुम्हारा) इदं (यह) अद्भुतं (अद्भुत) उग्रं रूपं (भयङ्कर रूप) दृष्ट्वा (देखकर) लोकत्रयं (त्रिलोक) प्रव्यथितम् (व्यथित हो रहा है) ॥ २० ॥

श्रीधर—किञ्च—द्यावापृथिव्योरिति। द्यावापृथिव्योः इदं अन्तरं हि अन्तरिक्षं त्वयैव एकेन व्याप्तं, दिशश्च सर्वा व्याप्ताः, अद्भुतं अदृष्टपूर्वं त्वदीयं इदं उग्रं घोरं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितमतिभीतं पश्यामीति पूर्वस्यैवानुषङ्गः ॥ २० ॥

अनुवाद—हे महात्मन्! द्यावा (स्वर्गलोक) और पृथिवीके बीचमें जो अन्तरिक्ष है, वह एक तुम्हारे द्वारा ही व्याप्त है। सारी दिशाएँ भी व्याप्त हैं। मैं देखता हूँ कि तुम्हारे इस अदृष्टपूर्व घोर रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं ॥ २० ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—पृथिवी और स्वर्ग और हृदयके अन्तरमें जो रहता है सब प्रकारसे व्याप्त (रहता है)—हो गया है, सब दिशाओंमें प्रकाश ही प्रकाश—तुम्हारे इस उग्र रूपको देखकर तीनों लोकोंमें मेरे मनमें व्यथा होती है अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इस शरीरके ही अनवधान हैं—इसका होश नहीं रहता है अन्तमें—क्रियाके परे अन्तिम अवस्थामें अनुभव होता है।—दुर्निरीक्ष्य ब्रह्मज्योति द्वारा चराचर विश्व समाच्छादित-सा जान पड़ता है। पृथिवी और आकाश पृथक्-पृथक् नहीं दीख पड़ते, सब दिशाओंमें प्रकाश ही प्रकाश छाया हुआ है, सबको एकाकार कर दिया है। यह विश्वरूप अत्यद्भुत होने पर भी दर्शन-कालमें साधकको एक प्रकारकी व्यथाके समान अशान्तिप्रद जान पड़ता है, मन स्तम्भित और मुग्ध तथा शरीर अवसन्न हो रहा है, इस शरीरके भीतर ही तीनों लोक हैं, उसको कुछ भी होश नहीं रहता, क्रियाके अन्तमें जान पड़ता है कि कुछ भी मनमें नहीं था, उसके बाद सर्वाङ्गमें एक वेदनाके समान अनुभव होता है ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अन्वय—अमी (ये सब) सुरसंघाः (देवगण) त्वां हि (तुममें ही) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई-कोई) भीताः (डरकर) प्राञ्जलयः (हाथ जोड़कर) गृणन्ति ('मेरी रक्षा करो, रक्षा करो' कहकर प्रार्थना कर रहे हैं)। महर्षिसिद्धसंघाः (महर्षियों और सिद्धोंका समूह) स्वस्ति इति उक्त्वा (स्वस्ति स्वस्ति कहकर) पुष्कलाभिः स्तुतिभिः (सम्पूर्ण स्तुतियोंके द्वारा) त्वां (तुम्हारा) स्तुवन्ति (स्तवन कर रहा है) ॥ २१ ॥

श्रीधर—किञ्च—अमी हीति। अमी सुरसंघाः भीताः सन्तः त्वां विशन्ति शरणं प्रविशन्ति। तेषां मध्ये केचित् अतिभीताः दूरत एव स्थित्वा कृतसम्पुटकरयुगलाः सन्तो गृणन्ति—जय जय रक्ष रक्षेति प्रार्थयन्ते। स्पष्टमन्यत् ॥२१॥

अनुवाद—ये सारे देवगण डरकर शरणापन्न हो रहे हैं। उनमें कोई-कोई अत्यन्त भयभीत होकर दूरसे ही हाथ जोड़कर "जय हो, जय हो, रक्षा करो, रक्षा करो" इस प्रकार प्रार्थना कर रहे हैं। अन्यान्य महर्षि और सिद्धगण 'स्वस्ति स्वस्ति' कहकर सम्पूर्ण अर्थोंसे युक्त स्तुतियोंके द्वारा तुम्हारा स्तवन कर रहे हैं ॥२१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब लोगोंको देखते ही चक्षु स्थिर हैं !!! कोई भयसे हाथ जोड़े हुए हैं। जो सिद्ध लोग हैं—वे कहते हैं स्वस्ति स्वस्ति शान्त हो शान्त हो—सिद्धगण और महर्षिगण शान्त हो—कोई एकटक देख रहा है—मन ही मन भलीभाँति स्तवन करते हैं।—साधनके द्वारा जिन्होंने अन्तर्जगत्को जाग्रत किया है, वे कूटस्थके भीतर यह

सब देख पाते हैं। अर्जुनने अत्यन्त भीत होकर कल्पनाके नेत्रसे यह सब देखा हो, ऐसी बात नहीं। यह सचमुच ही साधकको प्रत्यक्ष अनुभव होता है। कोई भाग्यशाली साधक जब कूटस्थके भीतर इन सब दृश्योंको देखता है, तो हो सकता है कि ठीक उसी समय सहस्रों साधकेन्द्र कूटस्थको देख रहे हों। कूटस्थके भीतर जैसे अनेक देवता, सिद्ध और साधकगण दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार अपनेको भी उसमें साधक देखता है। साधक कूटस्थकी जिस अवस्थाको देखते हैं, उस समय उनके मनकी जो अवस्था (भीत, चकित, स्तब्ध भाव) होती है, तद्रूप अवस्थापन्न साधकोंको भी वे कूटस्थके भीतर इसी प्रकार देखते हैं। जिस प्रकार अर्जुन दूसरोंको भीत होकर 'स्वस्ति स्वस्ति' करते देख रहे हैं, उसी प्रकार अन्य साधक भी कूटस्थ दर्शन करनेके समय अर्जुनको भयसे व्याकुल दशामें देख सकेंगे। उस समय देखा जाता है कि कोई तो उस अपूर्व दृश्यको देखकर प्राणपनसे स्तवन कर रहे हैं, कोई उस असह्य रूपको देखकर अत्यन्त चञ्चल होकर 'प्रभु शान्त हो, शान्त हो' इस प्रकारका वाक्य उच्चारण कर रहे हैं, कोई जयके उल्लासमें नृत्य कर रहे हैं, कोई हाथ जोड़कर एकटक देख रहे हैं और किसीके नेत्र उस अमानवी दृश्यको देखकर स्थिर हो रहे हैं, इत्यादि ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

अन्वय—रुद्रादित्याः (रुद्र और आदित्यगण) वसवः (वसुगण) ये च साध्याः (और जो साध्य नामक देवता हैं) विश्वे (विश्वेदेवाः) अश्विनौ (दोनों अश्विनीकुमार) मरुतः च (और मरुद्गण) उष्मपाः च (और उष्मपनामक पितृगण) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः च (तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण) सर्वे एव (सभी) विस्मिताः (विस्मित होकर) त्वां (तुमको) वीक्षन्ते (देख रहे हैं) ॥२२॥

श्रीधर—किञ्च—रुद्रेति। रुद्राश्च, आदित्याश्च, वसवश्च, ये च साध्या नाम देवाः, विश्वे देवाः, अश्विनौ देवौ, मरुतो मरुद्गणाः, उष्माणं पिबन्ति इति उष्मपाः पितरः। 'उष्मभागा हि पितरः' इत्यादि श्रुतेः। स्मृतिश्च—"यावदुष्णं भवेदन्नं तावदश्नन्ति वाग्यताः पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥" इति। गन्धर्वाश्च, यक्षाश्च, असुराश्च विरोचनादयः, सिद्धानां संघाश्च ते सर्वे एव विस्मिताः सन्तः त्वां वीक्षन्त इत्यन्वयः ॥२२॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, साध्य नामक देवगण, विश्वेदेवा, देव-वैद्य दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपायी पितरलोग, गन्धर्वगण, यक्षगण, विरोचन आदि असुरगण और सिद्धगण सभी विस्मित होकर तुमको देख रहे हैं। [श्रुतिमें कहा है कि पितर लोग निवेदित द्रव्योंके उष्मभाग अर्थात् तत्पदार्थ-निहित पवित्र तेजभागको ग्रहण करते हैं। स्मृतिमें भी है—अन्न

जबतक उष्णा रहता है, वाक्संयमी पितर लोग तबतक ही उसको भोजन करते हैं। जबतक हविका गुण कथन नहीं होता, तबतक वे आहार नहीं करते।] ॥२२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—रुद्र—आदित्य—अष्टवसु—साधक—विश्वदेव—अश्विनीकुमार मरुत् प्रभृति, गन्धर्व—यक्ष—असुर—सिद्धलोग—सभी देखकर ही विस्मयापन्न हो रहे हैं—अचम्भित होकर !!!—देवतालोग, सिद्धलोग, सभी कूटस्थके भीतर रहते हैं, सभी कूटस्थके तेजको देखकर मुग्ध हो रहे हैं। मैं भी देखता हूँ, मैं भी उस कूटस्थके भीतर हूँ। बड़ा ही अद्भुत् व्यापार है! सभी अचम्भित हो रहे हैं !! ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो !) बहुवक्त्रनेत्रं (बहुत मुख और नेत्रविशिष्ट) बहुबाहूरुपादं (बहुत बाहु, ऊरु और पद विशिष्ट) बहूदरं (बहुत उदरविशिष्ट) बहुदंष्ट्राकरालं (बहुत दाँतोंके द्वारा भयानक) ते (तुम्हारी) महत् रूपं दृष्ट्वा (सुविशाल मूर्त्ति देखकर) लोकाः (सारे लोग) प्रव्यथिताः (भीत हो रहे हैं) तथा अहं (उसी प्रकार मैं भी भीत हो रहा हूँ।) ॥२३॥

श्रीधर—किञ्च—रूपमिति। हे महाबाहो, महत् अत्यूर्जितं तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वे प्रव्यथिता अतिभीताः, तथा अहं च प्रव्यथितोऽस्मि। कीदृशं रूपं दृष्ट्वा? बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन् तत्। बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन् तत्, बहूनि उदराणि यस्मिन् तत्। बहुभिः दंष्ट्राभिः करालं विकृतं, रौद्रमित्यर्थः ॥२३॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—हे महाबाहो! तुम्हारा अति ऊर्जित (विशाल) रूप देखकर सब लोग अत्यन्त भीत हो रहे हैं। मैं भी तद्रूप अतिशय भीत हो रहा हूँ। कैसा रूप देखकर?—बहुतसे वक्त्र और नेत्र जिस रूपमें हैं, अनेक बाहु, ऊरु, पाद तथा उदर जिस रूपमें विद्यमान हैं तथा अनेक दंष्ट्राओंके कारण जो रूप विकृत अर्थात् रौद्र हो रहा है ॥२३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम्हारा जो महत् कूटस्थ रूप है वह सामने अनेक वक्त्र अनेक नेत्र अनेक बाहु अनेक रूप आदि, सब सामने अनेक उदर—अनेक बड़े बड़े दाँत वाले लोग—यह सब देख-सुनकर मेरे अन्तःकरणमें बड़ी व्यथा प्राप्त होती है।—कूटस्थके भीतर जो रूप दीख पड़ते हैं और वे जैसे भयङ्कर हैं यही वर्णन कर रहे हैं। कूटस्थके भीतर इन कराल रूपोंका दर्शन करने पर साधकोंके मनमें भय समुपस्थित होता है और उनका मन विचलित होता है ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

अन्वय—विष्णो (हे विष्णो!) नभःस्पृशं (आकाश-स्पर्शी) दीप्तं (प्रज्वलित) अनेकवर्णं (नाना वर्णविशिष्ट) व्यात्ताननं (विस्फारित मुख वाले) दीप्तविशालनेत्रं (प्रज्वलित विशाल नेत्र वाले) त्वां (तुमको) दृष्ट्वा (देखकर) प्रव्यथितान्तरात्मा (अत्यन्त भीतचित्त) [मैं] धृतिं (धैर्य) शमं च (और शान्ति) न विन्दामि (नहीं पा रहा हूँ) ॥२४॥

श्रीधर—न केवलं भीतोऽहमित्येतावदेव, अपि तु—नभःस्पृशमिति। नभः स्पृशतीति नभःस्पृक्तं, अन्तरिक्षव्यापिनमित्यर्थः। दीप्तं तेजोयुक्तम्। अनेके वर्णा यस्य तमनेकवर्णम्। व्यात्तानि विवृतानि आननानि यस्य तम्। दीप्तानि विशालानि नेत्राणि यस्य तम्। एवंभूतं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितः अन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं धृतिं धैर्यं उपशमं च न लभे ॥२४॥

अनुवाद—[मैं केवल भयभीत ही नहीं हो रहा हूँ बल्कि] अन्तरिक्षव्यापी तेजोयुक्त, अनेक वर्णविशिष्ट, विस्फारितमुख और विशाल नेत्रविशिष्ट तुमको देखकर मन प्रव्यथित हो रहा है, मैं कदापि धैर्य और उपशम नहीं प्राप्त कर रहा हूँ ॥ २४ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनेक प्रकारके वर्णोंका प्रकाश होता है—वह सब आकाशमें व्याप्त है—मुख बड़ा-सा—अर्थात् कूटस्थके चारों ओर प्रकाश दीप्त विशाल नेत्रके भीतर कृष्णवर्ण चक्षुके समान। मेरे अन्तःकरणके भीतर व्यथा प्राप्त हो रही है—धैर्य और स्थिरता नहीं पा रहा हूँ।—बृहत् कूटस्थका वह विश्वव्यापी आलोकाकीर्ण तेजोमय विशाल मुख या विशाल नेत्रके समान रूप देखकर भयसे प्राण व्याकुल हो जाता है। वस्तुतः उस विशाल रूपको देखकर कदापि मनमें शान्ति नहीं आती। भयसे व्याकुल चित्तमें ऐसा लगता है कि इस रूपका संवरण हो जाय तो प्राण बचे। चित्तमें एक प्रकारकी व्यथासी लगती है, धैर्य च्युत होता है, मनकी समता नष्ट होती है ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अन्वय—दंष्ट्राकरालानि (भयङ्कर दाँतोंसे युक्त) कालानलसन्निभानि च (और प्रलयाग्निके समान) ते (तुम्हारे) मुखानि (सब मुख) दृष्ट्वा एव (देखकर ही) दिशः न जाने (दिशाएँ समझमें नहीं आ रही हैं अर्थात् दिग्भ्रम हो रहा है) शर्म च (सुख भी)

न लभे (नहीं पा रहा हूँ) देवेश (हे देवेश !) जगन्निवास (जगदाधार !) प्रसीद (प्रसन्न हो जाओ) ।। २५ ।।

श्रीधर—किञ्च—दंष्ट्रेति। भो देवेश, तव मुखानि दृष्ट्वा भयावेशेन दिशो न जानामि, शर्म सुखं च न लभे। भो जगन्निवास! प्रसन्नो भव। कीदृशानि मुखानि दृष्ट्वा? दंष्ट्राभिः करालानि, कालानलः प्रलयाग्निः तत्सदृशानि ।। २५ ।।

अनुवाद—हे देवेश! तुम्हारे मुखोंको देखकर भयावेशसे मैं दिङ्मूढ़ हो रहा हूँ और शान्ति नहीं पा रहा हूँ। हे जगन्निवास! प्रसन्न हो। तुम्हारे मुख भयङ्कर दाँतोंसे युक्त और कालानल प्रलयाग्निके सदृश हैं ।। २५ ।।

आध्यात्मिक व्याख्या—इस प्रकार जो देखता है—जिस अभिप्रायसे—उसी प्रकार उस कूटस्थके भीतर समस्त देख पाता है। वही पुरुषोत्तम कूटस्थके भीतर इस प्रकार अपने मुखमें दिखला रहे हैं—बड़े बड़े दाँत—तलवारके समान कालान्तक यमके समान रूप—प्रज्वलित अग्निके समान चारों ओर आग लगनेसे किसी दिशाका बोध नहीं होता है—मन घबड़ा उठा है—हे देवेश! कूटस्थ !!! प्रकृष्ट रूपमें शान्त हो जाओ। तुम्हीं जगत्के निवासस्थल हो !!!—यह जगद्‌व्यापी रूप, वह विवृत मुख, उस मुखके भीतर लम्बे-लम्बे भीषण दाँत, यमके समान भयङ्कर कराल रूप और इनके अतिरिक्त चारों ओर मानो आग लगकर जलकर भस्मीभूत—यह सब देखकर आतङ्कसे मनमें दिग्भ्रम हो रहा है। तब मन इतना विमूढ़ हो जाता है कि केवल यही कहनेकी इच्छा होती है कि प्रभु, तुम अपने इस रूपका संवरण करो, अब सहन नहीं कर सकता, हे जगदाधार! मुझ पर प्रसन्न हो ।। २५ ।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।२६।।

अन्वय—अवनिपालसंघैः सह (राजाओंके साथ) अमी च धृतराष्ट्रस्य सर्वे एव पुत्राः (ये धृतराष्ट्रके सारे पुत्र) तथा (और) भीष्मः द्रोणः (भीष्म और द्रोण) असौ सूतपुत्रः च (और यह कर्ण) अस्मदीयैः (हमारे) अपि योधमुख्यैः सह (प्रधान-प्रधान योद्धाओंके साथ) ।।२६।।

श्रीधर—यच्च अन्यत् द्रष्टुमिच्छसि इत्यनेन अस्मिन् संग्रामे भाविजयपराजयादिकं च मम देहे पश्य इति यद्भगवतोक्तं तत् पश्यन्नाह—अमी चेति पञ्चभिः। अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्राः दुर्योधनादयः सर्वे। अवनिपालानां जयद्रथादीनां राज्ञां संघैः समूहैः सहैव। तव वक्त्राणि विशन्ति इत्युत्तरेणान्वयः। तथा भीष्मश्च द्रोणश्चासौ सूतपुत्रः कर्णश्च। न केवलं ते एव विशन्ति अपि तु प्रतियोद्धारः अस्मदीया ये योधमुख्याः शिखण्डिधृष्टद्युम्नादयः तैः सह ।।२६।।

अनुवाद—[इस संग्राममें भावी जयपराजयादि तथा और भी जो कुछ देखना चाहते हो, वह सब मेरी देहमें ही देख लो—इस भगवद्-उक्तिको अब अर्जुन भगवान्के शरीरमें प्रत्यक्ष देख करके पाँच श्लोकोंमें कह रहे हैं]—ये दुर्योधनादि धृतराष्ट्रके पुत्र, जयद्रथ आदि अवनिपालोंके साथ तुम्हारे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण भी उसमें प्रवेश कर रहे हैं। केवल ये ही प्रवेश करते हों, ऐसा नहीं है। शिखण्डी, धृष्टद्युम्न आदि हमारे पक्षके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको भी मैं उनके साथ ही तुम्हारे मुँहमें प्रवेश करते देखता हूँ ॥२६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—भीष्म, द्रोण, कर्ण और बड़े-बड़े योद्धा तथा धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र।—(२७, २८, २६ श्लोकोंका अर्थ देखिए)। अर्जुनने समझा था कि इन्द्रियों और भोगवासनाओंके मर जानेके बाद रह ही क्या जायगा, इनको जय करके आत्मराज्यका उद्धार करना भी सहज नहीं है। परन्तु बृहत् कूटस्थ दर्शन करने पर उनकी समझमें आ रहा है कि वह निमित्तमात्र हैं। इन्द्रियवेग जहाँसे उठता है, वहीं फिर डूब जाता है। सुषुप्तावस्थामें जिस प्रकार इन्द्रियवेग नहीं रहता, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थामें भी विशाल ज्योतिदर्शनके समय ये सारे मनोवेग किसी अदृश्य गह्वरमें छिप जाते हैं। आत्मज्ञान नहीं होनेके कारण जीवको पाञ्चभौतिक देहेन्द्रियादिमें तथा उनके विषयोंमें ममत्व-बोध होता है। प्रकृत 'मैं'का परिचय पानेपर फिर भोगादिमें आसक्ति नहीं रहती। आसक्तिके नष्ट होने पर भोग्य वस्तु और भोगायतन देह तथा उसके कारणोंके प्रति लक्ष्य भी नहीं रहता, अतएव वे रहने पर भी नहीं रहनेके समान हो जाते हैं। साधनाकी प्रथमावस्थामें जो सब विचित्र ज्योति दीख पड़ती थी और जो कुछ सुना जाता था, वह सब मानो उस विशाल ज्योतिके भीतर प्रविष्ट हुआ जान पड़ता है। जिनको शत्रु तथा जिनको आत्मीय समझते थे, वे सब अन्तमें कोई नहीं रह जाते। अतएव कालके कराल मुखमें सभी प्रवेश करते हैं ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अन्वय—त्वरमाणाः (वेगसे दौड़ते हुए) ते (तुम्हारे) दंष्ट्राकरालानि (विकराल दाँतों वाले) भयानकानि (भयङ्कर) वक्त्राणि (मुखोंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई कोई) चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः (चूर्णित-मस्तक होकर) दशनान्तरेषु (दाँतोंकी सन्धियोंमें) विलग्नाः संदृश्यन्ते (संलग्न हुए दीख पड़ते हैं) ॥ २७ ॥

श्रीधर—वक्त्राणीति। एते सर्वे त्वरमाणा धावन्तः तव दंष्ट्राभिः करालानि विकृतानि भयङ्कराणि वक्त्राणि विशन्ति। तेषां मध्ये केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः शिरोभिरुपलक्षिता दन्तसन्धिषु संश्लिष्टाः सन्दृश्यन्ते ॥ २७ ॥

अनुवाद—वे सभी त्वरमाण अर्थात् दौड़ते हुए तुम्हारे विकराल दाँतों वाले भयङ्कर मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। उनमें कोई-कोई चूर्णित-मस्तक होकर तुम्हारे दाँतोंके बीचमें लगे दीख पड़ते हैं ॥ २७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सब तुम्हारे मुखके भीतर जा रहे हैं, कोई दाँतोंके पास अटके हुए हैं, सिर कड़-कड़ चबा रहा है।—जीवका भविष्य क्या है, हम बद्ध जीव इसको नहीं जान पाते, परन्तु भगवान्के लिए यह अगोचर नहीं है। उनके सामने त्रिकाल एक है, उसमें कुछ परिवर्तन देखना संभव नहीं है। कुछ रहे तब तो परिवर्तन हो? घटना-निचयमें जो भूत, भविष्यत्, वर्तमानादिकी परम्परा है, वह मायिक है। जबतक 'मैं'पनका बोध है, तबतक अखण्ड कालकी सत्ताका अनुभव नहीं हो सकता। कालकी खण्डितावस्थामें बहुत्वका ज्ञान स्वाभाविक है। अर्जुनको जब यह विश्वरूप-दर्शन हो रहा है, उस समय भी उनको विश्वका बोध है, परन्तु वह विश्व भगवान्के भीतर ही है, बाहर कुछ नहीं है—अर्जुनको यह बोध हो रहा है। परन्तु 'इह बाह्य'—इसके आगे भी जाननेकी बहुतसी बातें रह जाती हैं। वह कालातीत अवस्था नहीं है परन्तु खण्ड-कालके भीतर जो घटनाका अवबोध होता है, भूत-भविष्यत्का ज्ञान होता है, यह उसी प्रकारकी धारणाका विषय है। विषय-भोगके बाद जो ज्वाला होती है, वह तीव्र ज्वाला ही जीवको मुक्तिका मार्ग दिखला देती है। जो मुक्तिपथके पथिक हैं उनको कामभोगादि मुक्तिके अन्तराय जान पड़ते हैं तथा उनके हाथोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए भोगके विपरीत भाव—वैराग्य और शमदमादि साधन अपने पथके अनुकूल जान पड़ते हैं। परन्तु ये शमदमादि भी तबतक ही मित्रवत् कार्य करते हैं, जबतक मार्गमें अवरोध पैदा करने वाले कामक्रोधादिको कुछ दूर नहीं हटा दिया जाता। इनको दूर किये बिना तो गन्तव्य पथ दृष्टिगोचर ही नहीं होता। इसीसे यहाँ दिखलाया गया है कि विश्वरूप-दर्शनके समान ज्ञान प्राप्त होने पर साधक देख पाता है कि साधनाके परिपन्थी काम-क्रोध-लोभादि सभी इस प्रज्वलित ज्ञानाग्निमें प्रविष्ट होकर विलुप्त हो जाते हैं। केवल यही नहीं, मुक्तिमार्गमें सहायता करने वाली वृत्तियाँ भी एक-एक करके उनमें प्रविष्ट होकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाती हैं, उनका पृथक् अस्तित्व पर्यन्त नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार जैसे नदी पार हो जानेके बाद नावकी आवश्यकता नहीं रहती। मुक्ति-साधनके लिए पहले-पहल शमदमादि साधनोंको साधक आयत्त करनेकी चेष्टा करते हैं, उसके बाद उनकी भी आवश्यकता नहीं रहती, फिर इन सबको भी त्यागना पड़ता है, नहीं तो उनमें आसक्ति रहने पर ये ही मुक्तिके मार्गमें विघ्नाचरण करेंगे। अभिमानके साथ जड़ित रहने पर ये उत्तम गुण भी हमारे आत्मदर्शनके मार्गमें बाधक हो जाते हैं। तब इनको भगवान् ही दूर करते हैं। अन्यथा सर्वशून्य होकर 'सर्वातीत' होनेका अधिकार प्राप्त नहीं होता। तो ये सब तथा कोई-कोई प्रवृत्ति-पक्षीय भी विचूर्णित होकर उनकी दशन-सन्धिमें लगे क्यों रहते हैं? इसका कारण यह है कि वे पूर्णतः लुप्त नहीं हो जाते। उनके द्वारा भी जीवन्मुक्त साधकको

कार्यमें कुछ-कुछ सहायता प्राप्त होती है। परन्तु उनका वह दुष्ट भाव जिससे वह साधकोंकी हानि कर सकते हैं, चला जाता है। इसी कारण उनका एकबारगी लोप न दिखला कर यह दिखलाया गया है कि वे दाँतोंसे चूर्ण होकर दन्त-सन्धियोंमें लगे हुए हैं ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

अन्वय—यथा (जैसे) नदीनां (नदियोंके) बहव (बहुतसे) अम्बुवेगाः (जल-प्रवाह) अभिमुखाः (समुद्राभिमुख होकर) समुद्रम् एव (समुद्रमें ही) द्रवन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) अमी (ये सारे) नरलोकवीराः (पृथ्वीके वीरपुरुष) तव (तुम्हारे) अभिविज्वलन्ति (अभितो विज्वलन्ति— सर्वतः दीप्यमान) वक्त्राणि (मुखसमूहमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) ॥२८॥

श्रीधर—प्रवेशमेव दृष्टान्तेनाह—यथेति। नदीनां अनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवः अम्बूनां वारीणां वेगाः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तो यथा समुद्रमेव द्रवन्ति प्रविशन्ति तथा अमी ये नरलोकवीराः ते अभिविज्वलन्ति सर्वतः प्रदीप्यमानानि वक्त्राणि प्रविशन्ति ॥२८॥

अनुवाद—[प्रवेशविषयक दृष्टान्त दे रहे हैं]—विभिन्न मार्गगामी विभिन्न नदियोंके विभिन्न प्रवाह जैसे समुद्राभिमुख होकर समुद्रमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये समस्त नरवीरगण सर्वतः प्रदीप्यमान तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जैसे नदियाँ समुद्रमें गिरती हैं वैसे ही वीरगण तुम्हारे मुखमें गिर रहे हैं।—यह जो महाकालके कराल वदनमें समस्त वीरगण प्रवेश कर रहे हैं इसमें मानो किसीका कोई प्रयत्न नहीं है। जैसे प्रवाहमें तृणसमूह अवश होकर बह जाता है, उसी प्रकार वीरगण बिना विचारे मानो किसी अदृश्यके इशारेसे परिचालित होकर तुम्हारे खुले हुए मुख-विवरमें प्रवेश कर रहे हैं। इसी प्रकार जीवके अन्तःकरणमें शत-शत वासनाओंके वेग तरङ्गायमान होकर सुषुप्तिके प्रलय-गह्वरमें प्रवेश करते हैं। कोई नहीं रह जाता, कुछ भी नहीं रह जाता, फिर भी ये शत-शत चिन्तातरङ्गें मनुष्यको किस प्रकार उत्क्षिप्त करती हैं, यह किसीको भी अविदित नहीं है। उनको विश्रान्त करने दो, तुम उनकी ओर दृष्टि न डालो। वे साधन-पथके विरोधी होनेपर भी अधिक समय तक नहीं ठहरेंगी। कूटस्थके अनन्त ज्योति-पुञ्जके भीतर ये सारे मनोवेग, समुद्रमें जैसे नदियाँ प्रवेश करती हैं वैसे ही प्रवेश करके डूब जायेंगे ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अन्वय—यथा पतङ्गाः (जैसे पतङ्ग) समृद्धवेगाः (अतिवेगयुक्त होकर) नाशाय (मरनेके लिए) प्रदीप्तं ज्वलनं (ज्वलन्त अग्निमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) लोकाः अपि (लोक समूह भी) समृद्धवेगाः (बढ़े हुए वेग से) नाशाय एव (मरणके लिए ही) तव वक्त्राणि (तुम्हारे मुखोंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) ॥२९॥

श्रीधर—अवशत्वेन प्रवेशे नदीवेगो दृष्टान्त उक्तः। बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह—यथेति। प्रदीप्तं ज्वलनं अग्निं पतङ्गाः सूक्ष्मपक्षिविशेषाः (शलभाः) बुद्धिपूर्वकं समृद्धो वेगो येषां ते यथा नाशाय मरणायैव विशन्ति तथैव लोका एते जना अपि तव मुखानि प्रविशन्ति ॥२९॥

अनुवाद—[अवशभावसे प्रवेशमें नदी-वेगका दृष्टान्त कहा गया, अब बुद्धिपूर्वक प्रवेशका दृष्टान्त दे रहे हैं]—जैसे पतङ्ग बुद्धिपूर्वक समृद्ध वेगसे ज्वलन्त अग्निमें मरणके लिए ही प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये जनगण भी विनाशके लिए तुम्हारे मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ॥२९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—प्रदीपमें फतिङ्गा जिस तरह शीघ्र जाकर जलकर मर जाता है, उसी प्रकार सब (मनुष्य) तुम्हारे मुखोंमें जाकर जलकर मर रहे हैं।—पतङ्ग अग्निके ज्वलन्त रूपसे मुग्ध होकर जैसे उसमें प्रवेश करते हैं और मृत्युके मुँहमें चले जाते हैं, उसी प्रकार अनेक लोग इस जगत्‌के उत्पत्ति-नाश-शील दृश्योंके दर्शनसे विमुग्ध होकर आपात-मनोहर वस्तुकी प्राप्तिके लिए मृत्युको आलिङ्गन कर रहे हैं। तुम कालस्वरूप हो, वे सारे रूप-रस-मुग्ध जीवसमूह पतङ्गवत् तुम्हारे कराल वदनमें आकर प्रविष्ट हो रहे हैं। दुर्मतिका विषयलोभ भी इसी प्रकारका है। वह दुर्मति या दुःस्वभाव चाहे कितना भी विकट क्यों न हो, शेष पर्यन्त टिकने वाला नहीं है। इसीसे हे साधक ! किसी भी बातके लिए चिन्ता न करके साधना करते चलो, यह दुर्मति कालवश एकदिन विलुप्त हो जायगी ॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

अन्वय—ज्वलद्भिः वदनैः (ज्वलन्त मुखोंके द्वारा) समग्रान् लोकान् (लोगोंको) ग्रसमानः (ग्रास करते हुए) समन्तात् (चारों ओर) लेलिह्यसे (चाट रहे हो), विष्णो (हे विष्णो !) तव उग्राः भासः (तुम्हारी अति तीव्र प्रभा) समग्रं जगत् (समस्त जगत्‌को) तेजोभिः (तेजके द्वारा) आपूर्य (व्याप्त करके) [मानो] प्रतपन्ति (संतप्त कर रही है) ॥३०॥

श्रीधर— ततः किम् अत आह—लेलिह्यसे इति। ग्रसमानो गिलन्। समग्रान् लोकान् सर्वान् एतान् वीरान् समन्तात् सर्वतः, लेलिह्यसे अतिशयेन भक्षयसि। कैः? ज्वलद्भिः वदनैः। किञ्च हे विष्णो तव भासः दीप्तयः तेजोभिः विस्फुरणैः समस्तं जगद् व्याप्य उग्रास्तीव्राः सत्यः प्रतपन्ति सन्तापयन्ति ॥३०॥

अनुवाद—[उसके बाद क्या हुआ, इस प्रश्नके उत्तरमें कह रहे हैं]—(तुम) चारों ओरसे इन समस्त वीरोंको निगलते हुए अतिशय भक्षण कर रहे हो। किसके द्वारा भक्षण करते हो? ज्वलन्त मुखोंके द्वारा। हे विष्णो! अपने दीप्त तेजके विस्फुरणके द्वारा (अर्थात् अत्यन्त प्रखर होकर) तुम समस्त जगत्को व्याप्तकर सन्तप्त कर रहे हो ॥३०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जीभ लक् लक् करती है—उसके भीतर सब जाकर गिर रहे हैं, चारों ओर अग्नि ऐसा उग्र रूप तुम्हारा है।—तुम्हारे दीप्यमान मुखोंमें सब गिरते जा रहे हैं। तुम्हारी लोल जिह्वा समस्त वस्तुओंको प्रज्वलित मुखमें खींचकर मानो एक अपूर्व रसास्वादन कर रही है! चारों ओर अग्नि प्रज्वलित है! इस बृहत् कूटस्थ-तेजके भीतर सारी वस्तुएँ पड़कर तेजःस्वरूप होती जा रही हैं, उनका पृथक् नामरूप कुछ भी समझमें नहीं आ रहा है। तुम परम तृप्तिलाभ कर रहे हो क्योंकि सब वस्तुओंको एक वस्तु बना डालना तुम्हारा अभ्यास है, इसीसे सब तुमको हरि कहते हैं। प्रभु, तुम सबका सब कुछ हरण कर लेते हो! परन्तु तुम्हारे इस प्रखर विस्फुरण अर्थात् उग्र रूपको जगत् अब अधिक सहन नहीं कर पा रहा है, समस्त खण्ड काल अखण्ड कालमें प्रवेश कर रहा है, इसे देखकर साधकका सिर घूमने लगता है ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वय—उग्ररूपः (उग्ररूपधारी) भवान् कः? (तुम कौन हो) [इति—यह] मे (मुझको) आख्याहि (बतलाओ) ते (तुम्हारे लिए) नमः अस्तु (नमस्कार हो) देववर (हे देववर!) प्रसीद (प्रसन्न हो)। आद्यं (आदिपुरुष) भवंतं (तुमको) विज्ञातुं इच्छामि (जानना चाहता हूँ) हि (क्योंकि) तव प्रवृत्तिं (तुम्हारी चेष्टा, चरित्र अर्थात् तुम किस कार्यमें प्रवृत्त हो) न प्रजानामि (नहीं समझ पाता) ॥ ३१ ॥

श्रीधर—यत एवं तस्मात्—आख्याहीति। भवानुग्ररूपः कः? इति आख्याहि कथय। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। हे देववर प्रसीद प्रसन्नो भव। भवन्तं आद्यं पुरुषं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि। यतः तव प्रवृत्तिं चेष्टां—किमर्थमेवं प्रवृत्तोऽसि इति न जानामि। एवम्भूतस्य तव प्रवृत्तिं वार्त्तामपि न जानामीति वा ॥ ३१ ॥

अनुवाद—[इस प्रकारका उग्र रूप देख कर फिर कहते हैं]—उग्ररूपधारी तुम कौन हो, यह मुझसे कहो। तुमको नमस्कार करता हूँ। हे देववर! तुम प्रसन्न हो। तुम आदि पुरुष हो, तुमको मैं विशेष रूपसे जानना चाहता हूँ। तुम्हारी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा किस लिए है अर्थात् किस कारणसे इस प्रकार प्रवृत्त हो रहे हो, यह मैं नहीं जानता। तुम्हारी इस प्रकारकी प्रवृत्तिको भी नहीं जानता॥ ३१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—महाशय, आप हैं कौन? यह तो बतलाइए—ऐसा उग्र रूप—तुम देवताओंमें श्रेष्ठ हो मैं तुमको नमस्कार करता हूँ। तुम्हारी जड़ जानना चाहता हूँ—किसके द्वारा क्या हुआ यह मैं अच्छी तरह नहीं समझ पा रहा हूँ—अभी कूटस्थ-देख रहा था—उसके बाद यह क्या हो गया?—साधक अपने भीतर कूटस्थकी स्निग्ध शान्तरसप्रद अपूर्व ज्योति और उसके भीतर नव-नीरद-प्रभा-लाञ्छित श्यामसुन्दर रूपको देख देखकर विमुग्ध हो रहा था। फिर यह कैसा दृश्य देख पड़ा! यह कैसी भीषण मूर्त्ति है! मूर्तिसे मानो अग्निवर्षा हो रही है!! जो अत्यन्त सुमनोहर था, उसने कैसी भयानक मूर्त्ति धारण कर ली! यह प्रलयाग्निके समान कालान्तक विराट् रूप देखकर साधक भय और विस्मयसे अभिभूत होकर यह भूल गया कि वह क्या देख रहा था। वह रूप देखकर कितना आनन्द हो रहा था! वह मेरा प्राण है, मेरा आत्मा है—यह समझ कर कितनी शान्ति आ रही थी; अब उनका यह क्या भाव हो गया!! साधक सोचने लगा—क्या यह प्रलयकाल तो नहीं उपस्थित हो गया! क्या इसीसे यह कालाग्नि प्रज्वलित हो उठी है! ऐसा सोचकर साधक भयभीत होकर व्याकुल चित्तसे जिज्ञासा कर रहा है—हे उग्रमूर्ति! तुम कौन हो? तुम्हारे इस वेष-परिवर्तनका कारण तो मैं नहीं समझ सका। तुम क्या मेरे वही मित्र, मेरे प्राण, मेरे आत्मा हो? तुम्हारे इस उग्ररूप-धारणका मैं कोई कारण नहीं समझ पा रहा हूँ।

वस्तुतः यह रूप देखकर नवीन साधकको भय ही होता है। नवीनका अर्थ यहाँ यह नहीं है कि जिनको साधनारम्भ किये दो-चार वर्ष हो गये हों। इस मूर्त्तिको जिन्होंने पहले कभी नहीं देखा, जो अर्वाचीन हैं, उनको परमात्मरूपी महाकालका यह प्रलय-नृत्य देखने पर त्रास उत्पन्न होगा ही, इसमें विस्मयकी कोई बात नहीं है। परन्तु जो कालचक्रकी इस गतिको प्रत्यक्ष करनेमें अभ्यस्त हैं, उनको यह विराट् रूप देखकर भय नहीं होता॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

अन्वय—श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले), लोकक्षयकृत् (लोकक्षयकारी) प्रवृद्धः (अति उत्कट) कालः अस्मि (काल मैं हूँ), लोकान् (लोगोंको) समाहर्त्तुं

(संहार करनेके लिए) इह (इस समय) प्रवृत्तः (प्रवृत्त हुआ हूँ)। त्वां ऋते अपि (तुम्हारे बिना भी अर्थात् तुम्हारे न मारने पर भी) प्रत्यनीकेषु (विपक्ष सैन्यदलमें) ये योधाः (जो योद्धा लोग) अवस्थिताः (अवस्थित हैं) सर्वे अपि (वे सब भी) न भविष्यन्ति (जीवित न रहेंगे) ॥३२॥

श्रीधर—एवं प्रार्थितः सन् श्रीभगवानुवाच—कालोऽस्मीति त्रिभिः। लोकानां क्षयकर्त्ता प्रवृद्धः अत्युग्रः कालोऽस्मि। लोकान् प्राणिनः संहर्तुं इह लोके प्रवृत्तोऽस्मि। अतः ऋतेऽपि त्वामिति। त्वां हन्तारं विनापि न भविष्यन्ति न जीविष्यन्ति। यद्यपि त्वया न हन्तव्याः एते तथापि मया कालात्मना ग्रस्ताः सन्तो मरिष्यन्त्येव। के ते? प्रत्यनीकेषु—अनीकानि अनीकानि प्रति भीष्मद्रोणादीनां सर्वासु सेनासु ये योद्धारः अवस्थिताः ते सर्वेऽपि ॥३२॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रार्थित होकर तीन श्लोकोंमें] भगवान् बोले—सब लोगोंका क्षयकर्त्ता 'प्रवृद्ध' अति उग्र काल मैं हूँ। प्राणियोंका संहार करनेके लिए इस लोकमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अतएव तुम नाश न करो तो भी ये बचने वाले नहीं हैं अर्थात् यदि तुम इनको नहीं मारते हो तो भी मुझ कालात्माके द्वारा ग्रस्त होकर ये निश्चय ही मरेंगे। जो मरेंगे वे कौन हैं?—अनीकानि अर्थात् प्रतिपक्षी सैन्यदलके योद्धाओंमें भीष्म द्रोणादि जितने योद्धा अवस्थित हैं, सभी मरेंगे ॥३२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—मैं कालस्वरूप हूँ, लोगोंके क्षयके निमित्त प्रवृत्त काल हूँ, २१६०० बार दिन-रातमें श्वास चलता है; उस कालको प्राणवायुकी वृद्धि करते हुए योगी लोग क्षुद्र समाधिसे बृहत् समाधि पर्यन्त स्थिर करके रखते हैं। तब स्थिर-स्वरूप ब्रह्म कालका काल बनता है—यह एक कर्ममें प्रवृत्त—तुमको छोड़कर कोई न बचेगा—जितने योद्धा हैं।—काल यद्यपि अनन्त है, परन्तु घटस्थ होने पर उसकी गणना की जाती है। महाकाल अनन्त है। उसका ध्वंस नहीं होता, परन्तु घटस्थ काल अन्तयुक्त है। इसी कारण देहरूप घटमें २१६०० बार अजपा-जपरूप श्वास प्रति दिन-रातमें स्फुरित होता है। यह काल ही लोक-संहार-कर्त्ता है। श्वासके इस बहिर्गमनको रुद्ध किये बिना किसी का भी परित्राण नहीं है। केवल योगी लोग योगाभ्यासके द्वारा कालातीत अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। समाधिके समय श्वास-प्रश्वासकी गति रुद्ध होने पर योगी कालको प्रवञ्चित कर सकते हैं। सारे ही जीव कर्मानुसार श्वासकी पूँजी लेकर जन्म ग्रहण करते हैं, इसकी संख्या समाप्त हो जानेके बाद उनका देहपात होता है। प्राणायामके अभ्याससे इस आयुकालकी वृद्धि होती है। जितने समय तक समाधि होती है उतने समय तक आयुका क्षय नहीं होता। इस अवस्थाको जो जितना ही बढ़ा सके, तदनुरूप ही वह कालजयी हो जायगा। समाधिकी स्थिरावस्था ही कालका काल-स्वरूप है। इस प्रकारके महासाधनमें जो प्रवृत्त हैं, उनके अतिरिक्त और सबको मृत्युग्रस्त होना पड़ेगा। सृष्टि, स्थिति, लय बाह्य जगत्में तो हैं ही, हमारे अपने भीतर भी इनका कार्य अनवरत चलता है। इसको बन्द किये बिना हमारी निष्कृति नहीं है। यह

श्वासका बहिर्गमनागमन जबतक चलता रहेगा, तबतक प्रकृत ज्ञानका उदय न होगा। ज्ञानोदय हुए बिना जीवकी संसार-निवृत्तिकी संभावना कहाँ है? कालके द्वारा ग्रस्त होकर सारा वर्त्तमान अतीतके गर्भमें प्रवेश कर रहा है। इस त्रिकालके भीतर कितनी घटनाएँ घटती जा रही हैं, परन्तु इसके द्रष्टास्वरूप 'मैं' में कोई भी परिवर्तन नहीं हो रहा है। सारे दृश्यसमूह ध्वस्त हो रहे हैं, ध्वस्त नहीं हो रहा है केवल एक अविनाशी 'मैं'। प्रवृत्ति-निवृत्तिके पक्षवाले तथा पञ्चतत्त्व सभी विलुप्त हो रहे हैं। क्षिति जलमें, जल तेजमें—इसी प्रकार व्योम आद्या प्रकृतिमें तथा प्रकृति पुरुषमें विलीन हो रही है। तब तुम्हारे अतिरिक्त कोई न रहेगा, इसका अर्थ क्या है?—पञ्चतत्त्वका लय होने पर भी अन्तःकरणोपहित तेजोमय चैतन्य वर्तमान रहता है। अतएव जो चैतन्य-शक्ति तेजका ही अंश है उसका लोप नहीं होता। इसी कारण तेजःतत्त्वरूपी अर्जुनका पञ्च पाण्डवोंमें इतना प्राधान्य है। इसीसे वह नरनारायण हैं। जीवके कर्म, वासना और फलभोग तथा वारम्वार संसारमें आवागमन, कालक्रमसे एक दिन सब विलुप्त हो जायँगे, परन्तु चैतन्यशक्तिसे उत्थित आत्मज्ञान कभी नष्ट न होगा और इस आत्मज्ञानके उदय होने पर अन्यान्य जो कुछ है सब प्रलीन हो जायगा। जो योगाभ्यासके द्वारा इस महाकालके स्वरूपको जानकर उसमें प्रविष्ट होते हैं, उनको फिर कालकी क्रीड़ा—जन्म-मरणादि तथा प्रलयके ताण्डव नृत्यसे व्याकुल नहीं होना पड़ता ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) त्वम् उत्तिष्ठ (तुम उठो) यशः लभस्व (और यश प्राप्त करो) शत्रून् (शत्रुओंको) जित्वा (जीतकर) समृद्धं राज्यं (असपत्न अर्थात् निष्कण्टक राज्य) भुङ्क्ष्व (भोग करो) मया (मेरे द्वारा) एते (ये) पूर्वं एव (पहले ही) निहताः (मारे जा चुके हैं) सव्यसाचिन् (हे सव्यसाची!) निमित्तमात्रं भव (तुम निमित्तमात्र बनो) ॥३३॥

श्रीधर—तस्मादिति। यस्मात् एवं तस्मात् त्वं युद्धाय उत्तिष्ठ। देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन निर्जिता इत्येवंभूते यशो लभस्व प्राप्नुहि। अयत्नेन शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व। एते च तव शत्रवः त्वदीययुद्धात् पूर्वमेव मयैव कालात्मना निहत-प्रायाः तथापि त्वं निमित्तमात्रं भव। हे सव्यसाचिन् सव्येन वामहस्तेन साचितुं शरान् सन्धातुं शीलं यस्येति व्युत्पत्त्या वामेनापि बाणक्षेपात् सव्यसाचीत्युच्यते ॥३३॥

अनुवाद—[क्योंकि ऐसा है] अतएव तुम युद्धके लिए खड़े हो जाओ। देवदुर्जय भीष्म द्रोण आदिको पराजित कर यश प्राप्त करो। विना प्रयत्नके शत्रुओंको जय करके समृद्ध राज्य भोग करो। तुम्हारे ये शत्रुगण मुझ कालरूपके द्वारा युद्धके

पूर्व ही मृतप्राय हो चुके हैं, अस्तु हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र बनो। [वाम हस्तसे भी जो शरसन्धानमें समर्थ होता है उसको सव्यसाची कहते हैं] ॥३३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अतएव क्रिया करते चलो—केवल तुम निमित्तमात्र हो—सब मरे ही हैं।—शरीर और इन्द्रियाँ साधनाके प्रबल अन्तराय हैं। इनके वशमें पड़कर जीवके जो अभ्यास और संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे साधनाके विरुद्ध प्रबल विद्रोह उत्पन्न कर देते हैं। उनको किसी प्रकार भी मनके अनुसार समुचित रूपसे वशमें नहीं कर सकते। इसीसे प्रायः प्रत्येक साधक साधना करते समय इनकी दुष्टतासे हतोत्साह हो जाते हैं। वस्तुतः ये रिपुगण जैसे प्रबल और प्रमत्त हैं, इससे जयकी आशामें नैराश्य हो तो इसमें विचित्रताकी बात कुछ नहीं है। तो क्या इनको अपने वशमें लानेकी चेष्टा नितान्त ही व्यर्थ है?—ऐसी बात नहीं है। जरा विचार करके देखिये। यद्यपि ये सारे रिपुगण दुरन्त और दुर्जय हैं, तथापि ये आत्माके समान नित्य और सत्य पदार्थ नहीं हैं। वे प्राकृत पदार्थ हैं, अतएव वे जीर्ण वस्त्रखण्डके समान समय आनेपर जीर्ण होनेको बाध्य हैं। हम लोगोंको भोगकी सामग्री—घर, घरके सामान, खेत, धनसम्पत्ति आदि—कुछ दिन भोग करनेके लिए प्राप्त हुई हैं। इनमें कोई भी चिरन्तन नहीं है, उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियाँ भी आगन्तुक अतिथि मात्र हैं, इनका सङ्ग थोड़े दिनोंके लिए ही मिला है और कुछ ही दिनोंमें ये अतिथि चले जायँगे। तब इनकी सामयिक क्रुद्ध आँखोंसे क्यों डरते हो? शरीरके रोगग्रस्त या क्षीण होनेपर भी तो इन्द्रियोंके अनेक उपद्रव अपने आप चले जाते हैं, निद्रित होने पर शरीरके अनेक व्यापार निरस्त और निरुद्यम हो जाते हैं। एक-आध दुर्दैव या विपद्-आपदका झटका लगने पर मनके अनेक विचार, अनेक आकांक्षाएँ निर्वापित हो जाती हैं। इतनी ही तो इनकी दौड़ है, फिर इनके कारण इतना निराश क्यों हो? अभी शत्रुदल दौड़धूप कर रहा है, उछल-कूद मचाता है, परन्तु क्या तुम जानते हो इनका स्थायित्व कितनी देरके लिए है? इस शरीरके साथ ही सबका अन्त हो जायगा। यदि कहो कि सूक्ष्म शरीरके साथ भी तो इनका संस्कार रहता है, तो इसके लिए भी भयभीत होनेकी कोई बात नहीं है। सूक्ष्म शरीर भी नित्य नहीं रहता, यहाँ तक कि कारण-शरीर भी नहीं रहता। इनके विनाशका उपाय अपने आप प्रस्तुत होता है। कालमें ही सब उत्पन्न होता है और कालमें ही सब लय होता है। कालकी (श्वासकी) प्रतीक्षा (लक्ष्य) करते रहो, देखोगे कि जो बड़ा अत्याचारी था, बड़ा दुर्दमनीय था, वह भी भग्नहस्तपद होकर कालके विपुल गर्भमें विलीन हो गया। काल किसीको भी स्थायी होकर रहने नहीं देता, तुम मारनेकी कोई चेष्टा न करो तो भी वे मर जायँगे। क्षण-क्षणमें परिवर्तन करते जाना कालका धर्म है। काल सबको ही ग्रास करता है। "कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः" —महानिर्वाण तन्त्र। समस्त जीवोंको ग्रास करनेके कारण ही उनका नाम काल है। जो आज बालक है कल वह युवा होगा, आज जो युवा है कुछ दिनोंके बाद वह वृद्ध और जराग्रस्त हो जायगा, जो आज वृद्ध और जराग्रस्त है वह एक दिन इस जीर्ण देहको त्याग करनेके लिए बाध्य होगा। अतएव मृत्यु जो

कालका धर्म है, वह कालके वश एकदिन आयगी ही। एकदिन कालके वश सब रूपान्तरको प्राप्त हो जायगा। अतएव वस्तुतः सब मरे ही हैं, इसके लिए किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती। आज जो अधखिला फूल रूपहीन, गन्धहीन कलिका-मात्र है, कल वह सौन्दर्य और गन्धसे लोगोंको मुग्ध कर देगा, आज जो दीन-दरिद्र पथका भिखारी है, संभव है कि कल उसका अतुल ऐश्वर्य अति ऐश्वर्यसे गर्वित पुरुषके गर्वको भी खर्व कर देगा। यह परिवर्तन करने वाला कौन है? कौन सबकी ओटमें रहकर पुष्पकलिकाको सौन्दर्य और गन्धके भारसे लोक-विमोहनीय बना डालता है? कौन पथके भिखारीको राजमुकुट पहनाकर मन ही मन आप हँसता रहता है? यह शक्ति किसकी है? यह शक्ति जिसमें है, वही महाकाल है, वही भगवान् हैं। हमारी शक्तिसे कुछ नहीं होता। समस्त कर्मोंका कर्त्ता महाकाल है। हममेंसे कोई भी मनुष्य कर्ता नहीं है। अतएव कोई काम करके हमारे लिए अहङ्कार करनेका कोई कारण नहीं दीखता। विमूढ़ात्माको यदि अहङ्कार आता है तो वह उसकी मूढ़ताका ही परिचायक है। अपने कृतकर्म और तज्जनित सुखदुःखादि फलाफलके भी प्रभु हम नहीं हैं। उनके सान्निध्यसे प्रकृतिके भीतर विचित्र कर्मचेष्टा स्फुटित हो उठती है, प्रत्येक बार एक-एक नया कर्म मानवचित्तमें संस्कार रख जाता है और वही परवर्ती नवीन कर्मका कारण बन जाता है। परन्तु सबके मूलमें वह अनादि कारणरूपी महाकाल महेश्वर हैं। केनोपनिषद्में समस्त कार्योंके मूल कारणको कैसी अपूर्व भाषामें व्यक्त किया है!

> केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
> केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
> केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
> चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

मन किस कर्त्ताके द्वारा अभिलषित और प्रेषित होकर अर्थात् किसकी इच्छासे नियोजित होकर अपने कार्यकी ओर जाता है? प्राण किसके द्वारा प्रेरित होकर गमन करता है अर्थात् अपना कार्य सम्पादन करता है? पञ्चवृत्ति प्राण सब इन्द्रियों से पहले उत्पन्न हुआ है। इसी कारण प्राणको 'प्रथम' विशेषण दिया गया है। लोग किससे प्रेरित होकर शब्द उच्चारण करते हैं और कौन (द्युतिमान्) देवता चक्षुः और श्रवणेन्द्रियको स्व-स्व कार्यमें प्रेरित करता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

> श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
> वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
> चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ केन० उप०॥

जिसके द्वारा शब्द श्रवण किया जाता है अर्थात् जो शब्द-श्रवणका करण या उपाय है, शब्दाभिव्यञ्जक उस इन्द्रियका नाम श्रोत्र है। जो देवता श्रोत्र और चक्षुको स्वविषयमें नियुक्त करता है वह श्रोत्रका भी श्रोत्र है।

वह जैसे श्रोत्रका श्रोत्र है, वैसे ही मन-अन्तःकरणका भी मन है। क्योंन हो ? उस आत्मचैतन्य-ज्योतिमें दीप्तिमान् हुए बिना अन्तःकरणरूपी मन स्वविषयमें सङ्कल्प, अध्यवसाय आदि कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। इस कारण वह (परमेश्वर) मनका भी मन है। बुद्धि और मन दोनोंको एक अर्थमें मनसः कहा गया है।

तुमने जिस प्राणके-प्राण के सम्बन्धमें प्रश्न किया है उसकी सहायतासे ही यह प्राणवृत्ति कर्मशक्ति-सम्पन्न होती है, क्योंकि आत्माके अधिष्ठान या प्रेरणाके बिना कभी प्राण व्यापारयुक्त नहीं हो सकता। अन्यत्र श्रुति कहती है, "को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"—यदि यह आनन्द-स्वरूप आकाश (ब्रह्म) न होता, तो कौन जीवित रहता, कौन प्राण धारण करता।

वह चक्षुका भी चक्षु है अर्थात् चक्षुमें जो रूप-प्रकाशका सामर्थ्य है, वह भी आत्मचैतन्यके अधिष्ठानसे ही सम्पादित होता है। अतएव वह चक्षुका भी चक्षुस्वरूप है।

अतएव जो पुरुष श्रोत्रादिके भी श्रोत्रादि-स्वरूप ब्रह्मको आत्म-स्वरूप जानकर श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धिका परित्याग करता है, वही यथार्थ बुद्धिमान, सद्बुद्धि सम्पन्न है। इस प्रकारके बुद्धिमान पुरुष इहलोकसे प्रयाण करके स्त्री-पुत्र, मित्र-बन्धु-वर्गमें 'मैं-मेरा' आदि व्यवहार त्याग कर अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।

अपने किये कर्मोंके तथा तज्जनित फलाफलके प्रभु हम नहीं हैं। हम केवल 'निमित्तमात्र' होनेके सिवा और कुछ नहीं हो सकते। कौन क्या कर्म करेगा और किसको क्या फलाफल भोगना है, यह सब स्थिर किया हुआ है। इस सम्बन्धमें चिन्ता करना भी व्यर्थ है। परन्तु जीवको चिन्ता होती अवश्य है, मैं इसको स्वीकार करता हूँ। इसका कारण है 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न आत्माध्यास-हेतु अविवेक। 'मैं' का उसको ज्ञान नहीं है, इसी कारण देहमें आत्मबुद्धि होकर देहमें ही 'मैं' का अभिमान जड़ित हो गया है। इन सब कार्य-कारणोंका संयोग-वियोग बिल्कुल ही अचिन्त्य है। केवल आत्माके अधिष्ठातृत्वके कारण समस्त व्यापार निष्पन्न हो रहे हैं। इसीसे महाकाल भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"। जय-पराजयके लिए चिन्ता न करो, जय-पराजय तो तुम्हारा नहीं मेरा खेल है। केवल देहाभिमानके वश जीव अपनेको जयी या पराजित समझता है। हम सब इस महाकालके हाथके यन्त्र या खिलौने हैं। यहाँ निमित्तमात्र हुए बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। तब फिर भगवान्ने अर्जुनसे "उत्तिष्ठ यशो लभस्व" क्यों कहा ? इसका कारण है कि अहङ्कारके दूर हुए बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए जिससे अहङ्कार मिटे वही उपाय बतला रहे हैं—युद्धके लिए उठ बैठो, तुम कर्त्ता नहीं हो, यह अनन्त कार्य-कारण-शृङ्खला भी कुछ नहीं है, केवल मायाका खेल-मात्र है, जबतक कि आत्मबोध उत्पन्न नहीं होता इसे समझ न सकोगे। इस ब्रह्मात्मबोधमें प्रधान बाधा है हमारा बहिर्विचरणशील प्राण और इन्द्रियाँ। अतएव इन बाधाओंको दूर करना पड़ेगा। इसीका उपाय बतला रहे हैं—'उत्तिष्ठ' = उत् + तिष्ठ। कहाँ उठें ?

ऊर्ध्वमें उठना पड़ेगा—एकबारगी सहस्रारमें। कैसे उठें? प्राणके बहिर्गमनागमनका निरोध करके। सारी इन्द्रियोंसे प्रथमोत्पन्न प्राण है। प्राणसे सारी इन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होते हैं और अपने अपने कार्यमें लगते हैं। अतएव प्राणका निरोध करने पर सब अपने आप निरुद्ध हो जाते हैं। प्राणायाम या श्वास-प्रश्वासके धनुषमें मनरूपी शरको लगाते ही भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, दुःशासन आदि वृत्तियाँ फिर सिर न उठायेंगी। उनमें कोई मरेगा, कोई रणसे भाग जायगा। तुम क्रिया करते चलो, क्रियाके फलाफलकी ओर न देखो, यही श्रीगुरुका उपदेश और आदेश है। तुम केवल क्रिया करते चलो, क्रिया करके क्रियाकी परावस्था प्राप्त करने पर उनका स्वरूप समझमें आ जायगा। तब समझ सकोगे कि वे सब निर्जीव इन्द्रजालके खेल हैं। उस अवस्थामें वे हैं या नहीं, उनका रहना उचित है या ध्वंस उचित है, ये सब बातें मनमें जागृत नहीं होंगी। आत्माके प्रकाशसे इन्द्रियाँ और वृत्तियोंके समुदाय अपने आपही उपशान्त हो जायँगे। जिससे आत्मबोध जाग्रत हो, आत्माका प्रकाश मेघशून्य सूर्यके आलोकके समान अव्याहत गतिसे हो, वैसा ही कार्य करते चलो। सूर्योदयसे जिस प्रकार अन्धकार अपने आप विलीन हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाशस्वरूप आत्माके अभ्युदय-मात्रसे इन्द्रियाँ और उनके कार्यादि कुछ भी नहीं रह सकते। परन्तु आत्मप्रतिष्ठ न होकर केवल उनको दबाते रहनेसे काम न चलेगा। आलोकका अभाव जैसे अन्धकारको अस्तित्वशाली बनाता है, उसी प्रकार चिरस्थिर आत्माकी अनुपलब्धिके कारण ही रिपुगणका हुङ्कार सुननेमें आता है। जैसे सूर्योदयके साथ साथ अन्धकारका विलय होता है उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कारके साथ-साथ देहात्मबोध नहीं रह सकता और इन्द्रियोंके कार्यादिमें अभिमानके अभावसे वे विरक्ति या क्लेशका कारण नहीं बन सकते। पूर्व संस्कारोंके कारण प्राण बहुधा विक्षिप्त होकर मन, इन्द्रिय आदिको व्याकुल करता रहता है, आत्मकर्म द्वारा वायु (सब प्राणों) को स्थिर करने पर इन्द्रियोंका तर्जन सुननेमें नहीं आयेगा। स्थिर प्राण ही आत्मा है, वही ब्रह्म है, वहाँ इन्द्रियादिका कोई प्रभुत्व नहीं चलता। जब साधना प्रारम्भ करके उसी ओर चल रहे हो, तब जान लो कि वे मर गये हैं। तुम ब्रह्मदर्शनके लिए क्रिया करो, तुम्हारा प्राण स्पन्दनशून्य हो जायगा, चित्त सङ्कल्प-शून्य हो जायगा, इन्द्रियोंकी सामान्य परिस्थितिमात्र रहेगी, वे कोई अपकार करनेमें समर्थ न होंगी। आत्ममहिमा जान लेने पर जीवन कृतकृत्य हो जायगा। साधनामें सिद्धिलाभके पूर्व तक प्राकृतिक भाव प्रबल रहते हैं, आत्ममहिमा आवृत होती है। साधक जितना ही सिद्धिकी ओर अग्रसर होता है, उतना ही उसका आत्मभाव आवरणमुक्त होता जाता है, उतना ही यशोलाभ होता है। "शौर्यादिप्रभवं यशः"—शौर्यादिसे जीवितावस्थामें जो ख्याति होती है, वही यश है। जो साधक वीर्यके सहित साधना करता है और तज्जन्य सुख्याति लाभ करता है, वही प्रकृत यशस्वी है। 'विवेक-ख्याति' ही प्रकृतपक्षमें यश है। इस विवेक-ख्यातिके विषयमें कुछ कहना है। विवेक-ख्याति ही यथार्थमें ज्ञान है, इस ज्ञानकी जबतक प्राप्ति नहीं होती, तबतक मन और इन्द्रियोंकी विषयस्पृहा निवृत्त नहीं होती। इन्द्रियोंका विषयोंके साथ जो संयोग है

उसका हेतु है अविद्या नामक शक्ति। इस संयोगका अभाव होने पर ही द्रष्टा कैवल्य प्राप्त करता है। अविद्याका अभाव होते ही द्रष्टाके साथ दृश्यका संयोग विलुप्त होता है। इसको ही योगदर्शनमें 'हान' कहा है। विवेक-ख्याति ही हानोपाय है। 'विवेक-ख्यातिरविप्लवा हानोपायः'—हानप्राप्तिका उपाय अविप्लवा विवेकख्याति है। बुद्धि और पुरुषका जो भेद है उसके सम्बन्धमें जो मनका प्रबल ज्ञान है, वही 'विवेक-ख्याति' है। यह समाधि-जनित निर्मल ज्ञान है। जब यह निर्मल ज्ञान विप्लव-रहित होता है अर्थात् किसी प्रकारके मिथ्या ज्ञानद्वारा भग्न नहीं होता, तभी उसको विवेकख्याति कहते हैं। 'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'—उस हानोपायकी (१) शुभेच्छा (२) विचारणा (३) तनुमानसी (४) सत्त्वापत्ति (५) असंसक्ति (६) पदार्थ-भावनी (७) तुर्यगा आदि सप्त प्रान्तभूमि अर्थात् एकके परे एक अवस्थाएँ हैं। इनमें अन्तिम कैवल्यावस्था है। कैवल्य-पदकी प्राप्ति ही मानव जीवनका चरम लक्ष्य है। परन्तु चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके पहले मुक्ति-मन्दिरके सन्निकट पहुँचते ही विभूतियोंके गहन कान्तारमें पड़कर साधक बड़ा ही विपन्न हो जाता है। बहुतसे बलिष्ठ साधननिष्ठ साधक भी वहाँ जाकर विमूढ़ हो जाते हैं। योगाभ्यासके द्वारा योगीको कायसम्पद और अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावा-धिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च'की सिद्धि होती है अर्थात् योगीमें सर्वज्ञातृत्वभाव (ज्ञानरूपा सिद्धि) तथा सर्वाधिष्ठातृत्व (समस्त भावोंके साथ अपना संयोग अर्थात् जो कुछ है वह सब मानो मुझमें अवस्थित है) प्रज्ञाका उदय होता है। 'स यदि पितृलोक-कामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुपजायन्ते'—योगीके इस प्रकारके सङ्कल्पमात्रसे सिद्धिकी अवस्था प्राप्त होती है। यही ईश्वरभाव है, परन्तु ऐसी उच्चस्तरकी सिद्धि भी अनात्मवस्तुमें आस्था उत्पन्न कर सकती है। उससे भी जब वैराग्य हो जाता है तो योगीको प्रकृत सिद्धावस्था या कैवल्यावस्था प्राप्त होती है।

'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (योगदर्शन विभूतिपाद)। पूर्वकथित सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व-रूप सर्व श्रेष्ठ विभूतिके प्रति भी वैराग्य उपस्थित होने पर दोषबीजका क्षय हो जानेके कारण कैवल्य प्राप्त होता है।

इसी यश-प्राप्तिकी बात भगवान् कह रहे हैं। इस प्रकारके यशकी प्राप्ति जो करता है वह निष्कण्टक या असपत्न राज्य प्राप्त कर सकता है। यही चिरवाञ्छित जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। उस समय फिर नानात्वका खेल नहीं रहता, संसार दग्धबीजवत् हो जाता है और कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। प्रकृति देवी भी उस साधकके सामने सिर नहीं उठायेंगी "यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति"—जो मुझको युद्धमें पराजित करेगा, जो मेरा दर्प चूर्ण करेगा, जगत्में जो मेरे समान बलशाली है, वह मेरा स्वामी होगा (दुर्गासप्तशती) अर्थात् जो सर्वतत्त्वज्ञ होकर परवैराग्यके प्रभावसे परम शिवरूप हो जायगा, वह प्रकृतिका स्वामी या ईश्वरतुल्य हो जायगा।

भगवान्ने अर्जुनको 'सव्यसाची' शब्दसे सम्बोधन किया है। सव्यसाचीका साधारण अर्थ है कि जो इतना पराक्रमी है कि वाम-दक्षिण दोनों ही हाथोंसे समान

रूपसे शरसन्धान कर सकता है। परन्तु 'सव्य' शब्दका अर्थ है पीछेकी ओर और 'सच' शब्दका अर्थ है युक्त होना, अर्थात् जो पीठकी ओर मेरुदण्डमें इच्छामात्रसे मनःसंयोग कर सकते हैं और प्राणको उसके भीतर ले जा सकते हैं वही सव्यसाची हैं। इस साधनक्रियाका नाम ॐकारक्रिया है। इस ॐकारक्रियामें जो सुदक्ष हैं उनके लिए जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त करना कठिन नहीं है। महाभारतमें लिखा है—

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः॥

मेरुदण्ड ही गाण्डीव है, यह गीताके प्रथम षट्क (प्रथम अध्यायमें) उल्लेख हो चुका है। इस मेरुदण्डके वाम और दक्षिणमें विकर्षण ही ॐकारक्रिया है। ॐकारक्रियामें सिद्धि प्राप्त करने पर मूलाधार-ग्रन्थि और हृदय-ग्रन्थिका भेद हो जाता है और श्वास पर विजय प्राप्त होती है। इससे साधक कृतकृत्य हो जाता है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि तुम जब इस साधनामें कुशली हो तब तुमको फिर यशकी प्राप्ति या शत्रुओं पर विजयकी चिन्ता ही क्या है?॥३३॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युदूध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

अन्वय—मया (मेरे द्वारा) हतान् (मारे गये) द्रोणं च, भीष्मं च, जयद्रथं च, कर्णं च (भीष्म, द्रोण, जयद्रथ और कर्णको) तथा अन्यान् (और अन्यान्य) योधवीरान् अपि (युद्धवीरोंको भी) त्वं जहि (तुम मारो) मा व्यथिष्ठा (भयके कारण व्यथित मत हो) [मैं उनके साथ युद्धमें लड़ सकूँगा या नहीं, इस आशङ्कासे उत्पन्न व्यथा] रणे (रणमें) सपत्नान् (शत्रुओंको) जेतासि (तुम जीत लोगे) [अतएव] युदूध्यस्व (युद्ध करो)॥३४॥

श्रीधर—'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' इति या आशङ्का सा अपि न कार्या इत्याह—द्रोणमिति। येभ्यः त्वं शंकसे तान् द्रोणादीन् मयैव हतान्; त्वं जहि घातय। मा व्यथिष्ठा भयं मा कार्षीः। सपत्नान् शत्रून् रणे युद्धे निश्चितं जेतासि जेष्यसि॥ ३४॥

अनुवाद—[मैं उनको जीतूँ या वे मुझको जीतें—इन दोनोंमें कौन मेरे पक्षमें श्रेयस्कर है, यह समझ नहीं पा रहा हूँ, अर्जुनकी जो यह आशङ्का हुई थी, उसकी अब आवश्यकता नहीं है, इसीसे कहते हैं]—जिनके लिए तुम शङ्का कर रहे थे वे द्रोण आदि सबके सब मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं अर्थात् उनको मैंने पहले ही मार डाला है, अब तुम उनको मारो। भय न करो शत्रुओंको निश्चय ही युद्धमें जीत लोगे॥ ३४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—(रूपक देखो) एक ठोक, भय—दुःसाहस-सुनकर विश्वास इन सबको मैंने हरण कर रखा है—केवल तुम्हारे क्रिया करनेकी अपेक्षा इस प्रकार कर रखा है—प्रकृतिके साथ।—अब समझ गये न ? जिनको लोग अजेय समझते हैं, वही जिद, भय, दुःसाहस, दुर्मति आदि तुम्हारे साधन करनेकी चेष्टा देखकर और उसका अवश्यम्भावी फल अपना विनाश समझ कर भयसे मृतप्राय हो गये हैं, इसलिए यदि खूब मन लगाकर अधिकाधिक क्रिया करो, तो फिर उनका दमन करनेके लिए चिन्ता ही क्या ? क्रिया करने पर जो क्रियाकी परावस्था प्राप्त होगी, उससे केवल वे ही क्यों, सारी प्रकृति स्थिर हो जायगी। तुम कुछ संयमके साथ नियमितरूपसे क्रिया करो, इससे प्राणादि वायु और उसके साथ मन, इन्द्रियाँ आदि स्थिर हो जायँगी। प्रकृतिके सङ्ग मिलकर (अर्थात् देहात्मबुद्धियुक्त होकर) तुम अपनी प्रकृति (स्थिर आत्मा)की बात भूल गये हो, इसीसे विपत्तियोंके बलको देखकर डरते हो। आत्म-क्रिया द्वारा प्राण स्थिर होने पर मूल प्रकृति पर्यन्त स्थिर हो जायगी। प्राणके प्रसन्न रहने पर फिर भय क्या ? दुर्गासप्तशतीमें लिखा है—

देवि प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि।—मध्यम चरित्र।

हे देवि, तुम मेरी सर्वश्रेष्ठा देवी हो। माँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। तुम प्रसन्न होकर जगत् (चाञ्चल्ययुक्त जीवों)का कल्याण साधन करती हो और क्रुद्ध होने पर रिपुओं (जो साधन नहीं करना चाहते)को सद्य ही विनष्ट करती हो।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता च
अभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी ॥—मध्यमचरित्र।

जो (स्थिर प्राण या स्थिरा प्रकृति) मुक्तिका कारण है तथा जिसके लिए दुष्कर बृहत् ब्रह्मचर्य या महाव्रतका पालन करना पड़ता है उस तत्त्वज्ञान रूपी भगवत्प्राप्तिकी साधनभूता तुम परमा विद्या (साधना) हो, इसीसे तत्त्वज्ञान-सम्पन्न रागद्वेषविहीन संयतेन्द्रिय मुमुक्षु मुनिगण तुम्हारा (प्राणका) अभ्यास या साधन किया करते हैं।

क्रियाके द्वारा उस स्थिर प्राणमें मनके युक्त होने पर उसका उद्धार होता है। मनका उद्धार होने पर फिर विपदकी आशङ्का कहाँ है ?

[महाव्रत—"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। एते जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥"—उपर्युक्त पाँच प्रकारके यम यदि जाति, देश, काल और समयके द्वारा अनवच्छिन्न होते हैं, तो उनको 'महाव्रत' कहते हैं। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यमोंको जाति, देश, कालमें निबद्ध रखनेसे काम न चलेगा, इन सब नियमोंके द्वारा अवच्छिन्न न होकर यदि सर्वकालमें और सर्वभूतमें अहिंसादि व्रत पूर्णभावसे अनुष्ठित होते हैं तभी ये व्रत सार्वभौम होते हैं और तभी इनको महाव्रत कहते हैं] ॥३४॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जय बोले)—केशवस्य (केशवकी) एतद् (यह) वचनं श्रुत्वा (बात सुनकर) वेपमानः (काँपते हुए) किरीटी (अर्जुन) कृताञ्जलिः (हाथ जोड़कर) कृष्णं नमस्कृत्वा (कृष्णको नमस्कार करके) भीतभीतः (अत्यन्य भयभीत होकर) भूयः एव (पुनः पुनः) प्रणम्य (प्रणाम करके) सगद्गदं (गद्गद भावसे) आह (बोलने लगे) ॥३५॥

श्रीधर—ततो यद्वृत्तं तदेव धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच—एतदिति। एतत् पूर्वोक्तश्लोकत्रयात्मकं केशवस्य वचनं श्रुत्वा वेपमानः कम्पमानः किरीटी अर्जुनः कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तः कृष्णं नमस्कृत्वा पुनरपि आह उक्तवान्। कथमाह ? भयहर्षाद्यावेशवशात् गद्गदेन कण्ठकम्पनेन सह वर्त्तत इति सगद्गदं यथा स्यात् तथा। किञ्च भीतादपि भीतः सन् प्रणम्य अवनतो भूत्वा ॥३५॥

अनुवाद—[उसके बाद जो हुआ वह धृतराष्ट्रके प्रति सञ्जय कहते हैं]—उपर्युक्त श्लोकत्रयात्मक केशवकी बात सुनकर काँपते हुए अर्जुनने हाथ जोड़कर श्रीकृष्णको नमस्कार करके फिर कहा। भयहर्षादिके आवेगके कारण गद्गद् भावसे अर्थात् कण्ठावरोधके साथ और भीतसे भी भीत होकर सिर झुका कर वह कहने लगे ॥३५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्यदृष्टिके द्वारा अनुभव हो रहा है—यह सब सुनकर कूटस्थके द्वारा अनुभव होकर शरीरका तेज गद्गद् भावसे भययुक्त होकर प्रणाम कर रहा है।—ऊपर कहा गया कि साधकको दिव्य दृष्टिके द्वारा अनुभव हो रहा है, परन्तु साधक तो साधना छोड़कर भीत और व्याकुल हो रहा है, असिद्ध या साधनभ्रष्ट साधककी क्या दिव्य दृष्टि हो सकती है ?—यह साधक यद्यपि ब्राह्मी-स्थितिप्राप्त सिद्ध साधक नहीं है, परन्तु कूटस्थमें दृष्टि रखकर कूटस्थके भीतर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको अनुभव करने योग्य साधना उसके पास होती है। अन्यथा दिव्य दृष्टि द्वारा उसका अनुभव संभव नहीं था। इसीलिए उनको किरीटी अर्थात् उच्च कोटिका साधक कहा गया है। जिस साधकने निम्न भूमियोंको जय कर लिया है परन्तु उच्च भूमि आज्ञाचक्र आदि स्थानोंमें सदा रहनेका अधिकार जिसे अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उसको भय होता है कि पीछे कहीं यह अवस्था भी न रहे। अन्तरस्थ वायुका वेग धारण करनेमें अब भी वह असमर्थ होता है, इसीसे भयभीत होकर श्वास खींचता है, परन्तु लक्ष्य ठीक कूटस्थमें रखता है—यही 'भीतभीतः प्रणम्य' होकर कृष्णको अपनी मनोवेदना जतलानेके लिए सङ्केत है। वह कैसे बोलता है—वेपमान और कृताञ्जलि होकर। अपनी

अवस्था ठीक है या नहीं, इस आशङ्कासे क्रियामें कुछ कम्पन होता है, अथवा मनमें दुविधा आने पर क्रिया करनेके समय (उत्कृष्ट प्राणायाममें) पुलक न होकर कम्पन (स्वेद, कम्प, पुलक, अश्रु—इन चार अवस्थाओंमें द्वितीय अवस्था—कम्पनमात्र) होता है। उस अवस्थामें भी कूटस्थ-ज्योतिका प्रकाश अनुभव होता है, अन्यथा मनकी बात किससे कहते ? इस प्रकाशके भावको ठीक रखनेका नाम है 'कृताञ्जलि'। अञ्जलि—अञ्ज् धातुसे बना है, इसका अर्थ है प्रकाश पाना, इस प्रकाशकी अवस्था लानेके योग्य साधन करनेको कृताञ्जलि कहते हैं। उस अवस्थामें साधकका जो मनोभाव होता है वह परवर्ती श्लोकोंमें कहते हैं ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—हृषीकेश (हे हृषीकेश !) तव प्रकीर्त्या (तुम्हारे माहात्म्य-कीर्तनके द्वारा) जगत् प्रहृष्यति (जगत् बहुत हृष्ट होता है) अनुरज्यते च (और तुम्हारे प्रति अनुरक्त होता है) रक्षांसि (राक्षसगण) भीतानि (भीत होकर) दिशः (दिग्दिगन्तमें) द्रवन्ति (भाग रहे हैं) सर्वे सिद्धसंघाः च (और सारे सिद्ध लोग) नमस्यन्ति (नमस्कार करते हैं) [एतत्—यह] स्थाने (युक्तियुक्त ही है) ॥ ३६ ॥

श्रीधर—स्थाने इत्येकादशभिः अर्जुनस्य उक्तिः। स्थाने इत्यव्ययं युक्तमिति अस्मिन्नर्थे। हे हृषीकेश, यतः एवं त्वं अद्भुतप्रभावः भक्तवत्सलश्च अतः तव प्रकीर्त्या माहात्म्यसङ्कीर्तनेन न केवलम् अहमेव प्रहृष्यामि किन्तु जगत् सर्वं प्रहृष्यति प्रकर्षेण हर्षं प्राप्नोति, एतत् तु स्थाने युक्तमित्यर्थः। तथा जगत् अनुरज्यते च अनुरागं उपैति इति यत्, तथा रक्षांसि भीतानि सन्ति दिशः प्रति द्रवन्ति पलायन्ते इति यत्, सर्वे योगतपोमन्त्रादिसिद्धानां सङ्घाः नमस्यन्ति प्रणमन्ति इति यत्, एतत् च स्थाने युक्तमेव, न चित्रमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—इस श्लोकसे लेकर एकादश श्लोकोंमें अर्जुनका कथन है। स्थाने—यह पद अव्यय है 'युक्त' अर्थमें। हे हृषीकेश, तुम इस प्रकार अद्भुत प्रभावसम्पन्न और भक्तवत्सल हो, अतएव तुम्हारे माहात्म्य-सङ्कीर्तन द्वारा केवल मैं ही आनन्दित नहीं हो रहा हूँ, बल्कि सारा जगत् प्रकृष्टरूपसे हर्षको प्राप्त हो रहा है, यह युक्तियुक्त ही है। जगत् जो तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और राक्षस लोग जो भयभीत होकर दसों दिशाओंमें दौड़ रहे हैं तथा योग-तपस्या-मन्त्रादि-सिद्ध व्यक्ति जो तुमको प्रणाम करते हैं, यह सब भी युक्तिसङ्गत ही है अर्थात् उसमें कोई विचित्रता नहीं है ॥ ३६ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज कह रहा है—महाशय रक्षा करो—चारों ओर आग लग गयी—सारी दिशाएँ गल गयीं—सारे सिद्ध लोग आपको नमस्कार करते हैं—भय-प्रयुक्त।—बृहत् कूटस्थकी अप्रमेय ज्योति देखने पर इस प्रकार मनमें होता है कि इसी बार अन्त है! ऐसा लगता है कि सारा जगत् मानो जल कर ध्वंस हो गया!! कूटस्थके भीतर जो सिद्ध पुरुष दीख पड़ते हैं, वे भी मानो इस महा उग्ररूपको देखकर भयभीत होकर स्तुति करते हैं। वह हृषीकेश हैं, यह भी साधकके मनमें अनुभव होता है, क्योंकि जबतक इन्द्रियाँ संयत होकर निरोधमुखी नहीं होतीं, तबतक इस परम ज्योतिका प्रकाश नहीं होता। यह एक अपूर्व अलौकिक ज्योति है, ज्योतिका प्रकाश देखकर प्राण चाहे जितना मुग्ध हो, अति उग्र प्रकाश मनके लिए अति असह्य जान पड़ता है। उनके इस अपरूप रूपको देखकर साधक मन ही मन बहुत हर्षित होता है और इस आत्मक्रिया और आत्मज्योतिके ऊपर उसका अनुराग दृढ़ हो जाता है। सिद्ध लोग जो इस क्रियाके द्वारा मनः प्राण एक करके कूटस्थकी ओर लक्ष्य स्थिर करते हैं और इस साधनके सहारे एकमात्र तुम्हारी ओर स्थिरदृष्टि स्थापन करते हैं, उसे मैं समझ रहा हूँ। देखता हूँ कि वे लोग आत्माकी स्वानुभूतिके रसमें डूबे हुए हैं और बात करनेकी भी उनको इच्छा नहीं हो रही है। 'गुप्त आनन्द धामेर मेला, हये बधिर बोबा, रसे डोबा, कच्छे सब रसेर खेला'—(परिव्राजकका सङ्गीत) अर्थात् आनन्दधामका मेला रहस्यमय है, वहाँ साधक लोग बहरा और गूँगा बनकर रसमें डूबकर रसकी क्रीड़ा करते हैं।

इस रसस्वरूपको पानेके लिए साधकेन्द्र लोग तुम्हारा माहात्म्यगुणकीर्तन करते हैं अर्थात् गुरूपदिष्ट उपायोंसे तुम्हारा स्मरण करने पर जो इस प्रकारके परमानन्दका बोध होता है, उसीको वे एक दूसरेको सुनाते हैं और समझाते हैं। राक्षस-स्वभावके लोग तथा कामक्रोधादि दुर्वृत्तरूप राक्षस उस स्मरणके प्रारम्भ होते ही भयसे भाग जाते हैं अर्थात् वे मनको विषयोंकी ओर फिर आकर्षित नहीं कर पाते।

साधक इन्हीं साधनफलोंका अनुभव करके कहता है कि पहले जो कुछ सुना था, वह अब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ॥३६॥

> **कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्**
> **गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।**
> **अनन्त देवेश जगन्निवास**
> **त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥**

अन्वय—महात्मन् (हे महात्मन्!) अनन्त, देवेश, जगन्निवास (हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास!) ब्रह्मणः अपि (ब्रह्मासे भी) गरीयसे (श्रेष्ठ) आदिकर्त्रे च (और आदिकर्त्ता) ते (तुमको) कस्मात् (कैसे) न नमेरन् (नमस्कार न करें)? सत् (व्यक्त) असत् (अव्यक्त) परं (उसके परे) यत् अक्षरं (जो अक्षर ब्रह्म है) तत् च (वह भी) त्वं (तुम हो)॥३७॥

श्रीधर—तत्र हेतुमाह—कस्मादिति। हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! कस्मात् हेतोः ते तुभ्यं न नमेरन् न नमस्कारं कुर्युः? कथम्भूताय? ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतराय। आदिकर्त्रे च ब्रह्मणोऽपि जनकाय। किञ्च सत् व्यक्तं, असत् अव्यक्तम्। ताभ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तच्च त्वमेव। एतैः नवभिः हेतुभिः त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न चित्रमित्यर्थः ॥३७॥

अनुवाद—[जगत् तुमको क्यों प्रणाम करता है, इसका कारण बतलाते हैं]—हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! वे तुमको क्यों न नमस्कार करें? तुम कैसे हो?—तुम ब्रह्माकी अपेक्षा भी गुरुतर हो, आदिकर्त्ता ब्रह्माके भी जनक हो। व्यक्त जगत् तथा अव्यक्त प्रकृतिके मूलकारण अक्षर ब्रह्म तुम्हीं हो। महात्मन्, अनन्त, देवेश, जगन्निवास, ब्रह्मासे भी गुरुतर, आदिकर्त्ता, व्यक्तका मूल, अव्यक्तका मूल और स्वयं अक्षररूप इन नौ कारणोंसे सब यदि तुमको नमस्कार कर रहे हैं तो इसमें विचित्रता ही क्या है? ॥३७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम अनन्त देव हो, तुम्हीं सत् असत्के परे हो, जगत्के निवासस्थान हो, तुम कूटस्थ अक्षर हो।—तुम 'महतो महीयान्' हो। इतना बड़ा जो विराट् ब्रह्माण्ड है वह हिरण्यगर्भ ब्रह्माके पेटमें अवस्थित है, उस हिरण्यगर्भके भी जो आधार हैं वह वासुदेव हैं, उनका अन्त कौन पावेगा! वही सत् हैं और वही असत् हैं। सत्-असत्के परे भी वही हैं। जितनी उनकी व्यक्तावस्था अर्थात् इन्द्रियगोचरता है वह सत् है या कार्यावस्था है और जो इन्द्रियोंके अगोचर कारणावस्था है, वह 'असत्' या प्रकृति है। सद्-असद्के परेकी अवस्था ही परमात्मभाव है। व्यक्तका कारण अव्यक्त है। यह स्थूल देहेन्द्रियादि-समन्वित जो 'मैं'का बोध है, वही सद्भाव है। इसके अन्तरालमें जो कारणरूप ज्योतिर्मय मण्डल है, वही अव्यक्त प्रकृति है। वही असत् अर्थात् कारणावस्था है जो बाह्येन्द्रियोंके अगोचर है। इसके परे जो वासुदेव-भाव है, जिसको आश्रय करके यह व्यक्त और अव्यक्त भाव विकसित हो रहे हैं, वही ईश्वर या चिदाकाश हैं। "यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"—(गी० अ० १५) जो लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर सबका पालन कर रहे हैं वही अव्यय ईश्वर हैं, ये तीनों अवस्थाएँ ब्रह्ममें अन्तर्निहित हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है—

> संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च
> व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
> अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
> ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

इस क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्तमय विश्वको परमेश्वर पोषण या धारण करते हैं। अविद्या-परवश जीव भोक्तृत्वके अभिमानके कारण संसार-बन्धनको प्राप्त होता है और जब स्वप्रकाश ब्रह्मको जान लेता है तो सब प्रकारके बन्धन-पाशसे मुक्त हो जाता है।

उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च।
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

यह जगत्-प्रपञ्च और इसका कारण अविद्यासे ब्रह्म पूर्णतः भिन्न उद्गीथ-स्वरूप हैं और परम अक्षर कहलाते हैं। उनमें भोक्ता जीव, भोग्य जगत् और नियन्ता ईश्वर—ये तीनों सुप्रतिष्ठित रहते हैं। इस देहमें उनके भेदको जानकर अर्थात् साधन द्वारा ब्रह्म-प्रवेशके द्वारसे अवगत होकर ब्रह्मसाधनामें लगे हुए पुरुष ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और पुनर्जन्मसे छूट जाते हैं। इस प्रकारके अव्यय ब्रह्मको जान लेने पर जीवको संसार-पाशसे छुटकारा मिल जाता है॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

अन्वय—अनन्तरूप (हे अनन्तस्वरूप!) त्वम् आदिदेवः (तुम आदिदेव हो) पुराणः पुरुषः (तुम चिरन्तन पुराण पुरुष हो) अस्य विश्वस्य (इस विश्वका) परं (एकमात्र) निधानं (लयस्थान या परम आश्रय हो) [तुम] वेत्ता (ज्ञाता) वेद्यं च (और ज्ञेय) परं च धाम (और परम धाम) असि (हो)। त्वया (तुम्हारे द्वारा) विश्वं ततम् (विश्व परिव्याप्त रहता है)॥३८॥

श्रीधर—किञ्च—त्वमादिदेव इति। त्वं आदिदेवः देवानां आदिः। यतः पुराणः अनादिपुरुषः त्वं, अतएव त्वं अस्य विश्वस्य परं निधानं लयस्थानम्। तथा विश्वस्य वेत्ता ज्ञाता त्वम्। यच्च वेद्यं वस्तुजातं, परञ्च धाम वैष्णवं पदं तदपि त्वमेवासि। अतएव हे अनन्तरूप, त्वयैव विश्वमिदं ततं व्याप्तम्। एतैश्च सप्तभिः हेतुभिः त्वमेव नमस्कार्य इत्यर्थः॥३८॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—तुम देवगणोंके आदि हो क्योंकि तुम अनादि पुरुष हो। तुम इस विश्वके लयस्थान हो। तुम्हीं विश्वके ज्ञाता हो। जो कुछ ज्ञेय वस्तु है और जो परम धाम वैष्णव पद है, वह सब तुम्हीं हो। अतएव हे अनन्तरूप! तुम्हारे द्वारा यह विश्व परिव्याप्त हो रहा है। आदिदेव, पुराण पुरुष, विश्वके लयस्थान, वेत्ता, वेद्य, परम धाम और अनन्तरूप—इन सात कारणोंसे तुम नमस्य हो॥३८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम आदिदेव हो—पुराण पुरुष हो—तुम अखिल विश्व की निःशेषरूपसे स्थितिके स्थान हो—तुम जाननेकी वस्तु—तुम ही जान सकते हो—परम धाम—तुमसे ही सारा अनन्तरूप विश्वसंसार हुआ है।—जब कोई सरा प्रकाश न था,

तब तुम ही थे, इसीसे तुम (१) आदिदेव हो। क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम—ये पाँच तत्त्व हैं जिनके बिना लोक, लोकान्तर तथा तत्तत् स्थानोंमें अवस्थित किसी प्राणीका उद्भव नहीं हो सकता। उस अनाद्या प्रकृतिमें तुम्हीं बीज आधान करते हो जिससे इस त्रिलोककी उत्पत्ति होती है। यह प्रकृति ही प्राणशक्ति है। 'शून्यधातुर्भवेत्प्राणः'—शून्यके परे परव्योम ही महाप्राण है। महाप्राण और परब्रह्म अविनाभाव-सम्बन्धसे सदा युक्त रहते हैं। उस महाप्राण निरञ्जनसे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, वही आदिकारण है। आदि कारणके सम्बन्धमें श्वेताश्वतरोपनिषद्में जो मीमांसा हुई है, उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्मजाताः
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वार्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

(क) कारणस्वरूप ब्रह्म कैसे हैं? क्या ब्रह्म इस जगत्‌का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण हैं? (ख) हम कहाँसे पैदा हुए हैं? (ग) जन्मके बाद किसके साहाय्यसे जीवित रहते हैं? (घ) मृत्युके बाद कहाँ हमारी स्थिति होती है? और (ङ) किस शक्ति-विशेषके द्वारा परिचालित होकर हम सुख-दुःखके इस नियमको मानते हुए चल रहे हैं?

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुख-दुःखहेतोः॥

सब वस्तुओंके परिणामका हेतु काल ही क्या इसका कारण है? अथवा अग्निमें उष्णताके समान पदार्थोंमें जो कार्यनियामिका शक्ति है, क्या इस प्रकारका स्वभाव ही कारण है? अथवा नियति अर्थात् जीवोंका पाप-पुण्यात्मक प्राक्तन कर्म कारण है? अथवा यदृच्छा—आकस्मिक संघटन कारण है? अथवा पृथिवी आदि पञ्चभूत या पुरुष अर्थात् जीवात्मा कारण है? इनमेंसे प्रत्येक या कोई एक मूल कारण है। या नहीं, यह चिन्तनीय है। ये मूल कारण नहीं हैं। क्या इनका पारस्परिक संयोग ही कारण है?—यह भी नहीं, क्योंकि कारणको कार्यमें चेतन आत्माकी सहायता अपेक्षित है। तो क्या चेतन आत्मा (जीव) ही कारण है?—वह भी नहीं, क्योंकि जीव 'अनीशः' है, प्रभु नहीं है, कर्मके अधीन है, अतएव वह भी मूल कारण नहीं हो सकता।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

ब्रह्मवादी ऋषि बाह्य उपायोंसे जब कारण निरूपणमें असमर्थ हो गये तब वह ध्यानस्थ हुए। ध्यानयोगके द्वारा उन्होंने उस परम देवताकी कार्यकारिणी शक्तिको (जो सत्त्व, रजः, तमः और इनके कार्य बुद्धि आदिके द्वारा आवृत है) कारण-रूपमें

समझा। जो एक अद्वितीय वस्तु (परमात्मा) कालसे लेकर आत्मा पर्यन्त पूर्वोक्त कार्योंका परिचालन कर रही है, उनकी उसी शक्तिको ऋषियोंने देखा। इसका प्रमाण—

सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै परेश्वर॥
याऽतीताऽगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा।
ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम्॥

हे सर्वात्मन्! हे परमेश्वर! सब भूतोंमें अवस्थित गुणाश्रित जो तुम्हारी अपरा शक्ति है, उस चिरन्तन शक्तिके लिए नमस्कार। जो वाणीके परे है, मनके लिए अगोचर है तथा ज्ञान और ध्यानगम्य अविशेषरूपा है, उस परा देवताकी हम वन्दना करते हैं। देवात्मशक्तिका यह भी अर्थ होता है कि देव, आत्मा और शक्ति परब्रह्मके अवस्था-भेद हैं, प्रकृति, पुरुष और ईश्वरकी स्वरूपभूता एवं ब्रह्मरूपमें अवस्थिता जो परात्परतरा है, उस शक्तिको कारणरूपमें उन्होंने देखा।

(२) तुम पुराण पुरुष हो, देहपुरमें शयन करनेके कारण वह पुरुष हैं। वह सदा रहते हैं, त्रिकालमें उनके अस्तित्वका लोप नहीं होता, इसी कारण वह पुराण हैं।

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ श्वेता०।

नवद्वारोंसे युक्त इस पुरमें देही (देहाभिमानी जीव) बाह्य विषयोंके भोगके लिए व्यापारवान होता है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

जो भूत है, भविष्यत् है तथा जो अन्नके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हो रहा है, वह सब पुरुष या परमात्मस्वरूप है, वह पुरुष मुक्तिका भी प्रभु है।

(३) विश्वके तुम परम निधान हो अर्थात् संसारकी निःशेषरूपमें स्थितिके स्थान हो। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं सब कालवश परिवर्तित हो रही हैं या विलुप्त हो रही हैं, इसलिए जिसका भी आश्रय लिया जाय वह आश्रय-स्थान एकदिन ध्वस्त होगा ही, परन्तु अपरिणामी तुमको पा जाने पर फिर विनाश नहीं होता, क्योंकि आत्माको जो प्राप्त करता है वह आत्मा ही हो जाता है, सारी उपाधियाँ नष्ट होकर केवल आत्माकारमें उसकी स्थिति होती है।

(४) वेत्ता—तुम ही अपनेको जानते हो, और कोई तुमको नहीं जान सकता, जो तुमको जानने जाता है वह तुम ही हो जाता है।

(५) वेद्य—जानने योग्य जो कुछ है वह तुम्हीं हो, क्योंकि तुम्हारे सिवा दूसरी वस्तु है ही क्या? लोग जो दूसरोंको ज्ञान-दान करते हैं वह भी तुम्हारी ही कृपासे होता है। ज्ञानरूपमें यदि तुम स्फुरित न होते तो हम किसीको कुछ भी समझा नहीं सकते।

(६) परं धाम—लयविक्षेपशून्य अविद्यारहित स्थितिको कहते हैं, जहाँ से मन फिर विषयोंके आकर्षणमें नहीं आता। वही क्रियाकी परावस्था, परमानन्दरूप स्थितिका स्थान है। यह स्थिति साधककी निज बोधरूपा है।

(७) अनन्त रूप—वह स्थिर प्राण चञ्चल होकर अनन्त नामरूपमय जगत्-रूपमें लीला कर रहा है। उसकी उस अनन्त लीलाको समझनेके लिए पहले इस देह-ब्रह्माण्डके भीतर उसका अनुसंधान करना पड़ता है ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

अन्वय—त्वं (तुम) वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशाङ्कः (चन्द्र) प्रजापतिः (ब्रह्मा) प्रपितामहः च (और ब्रह्माके भी पिता) हो। ते (तुमको) सहस्रकृत्वः (सहस्रों बार) नमः अस्तु (नमस्कार हो) पुनः च (और पुनः) नमः अस्तु (नमस्कार हो) भूयः अपि (और फिर सहस्र बार) ते नमः नमः (तुमको वारंवार नमस्कार हो, नमस्कार हो !) ॥३९॥

श्रीधर—इतश्च त्वमेव सर्वैः नमस्कार्यः सर्वदेवात्मकत्वादिति स्तुवन् स्वयमपि नमस्करोति—वायुरिति। वाय्वादिरूपः त्वमिति। सर्वदेवात्मकत्वोपलक्षणार्थम् उक्तम्। प्रजापतिः पितामहः। तस्यापि जनकत्वात् प्रपितामहः त्वम्। अतः ते तुभ्यं सहस्रकृत्वः सहस्रशो नमोऽस्तु। भूयोऽपि पुनरपि सहस्रकृत्वो नमो नम इति ॥३९॥

अनुवाद—[तुम सर्वदेवात्मक हो, इस कारण तुम सबके नमस्य हो - इस प्रकार स्तवन करके भगवान्‌को नमस्कार कर रहे हैं]—वायु आदि रूप तुम ही हो। सर्वदेवात्मक बतलानेके लिए कह रहे हैं कि तुम प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा हो, उनके भी पिता तुम्हीं हो, अतः प्रपितामह तुम हो। अतएव तुमको सहस्र-सहस्र नमस्कार। फिर भी सहस्रों बार तुमको नमस्कार ॥३९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—वायु, यम, अग्नि, चन्द्र, वरुण, ब्रह्मा—नमस्कार करता हूँ, हजारों बार—फिर नमस्कार—नमस्कार।—कूटस्थके भीतर वायु, यम, अग्नि, चन्द्र आदिका दर्शन होता है। बाहर भी उन सबको देखते हैं। तब साधक समझता है कि ये सब देवमूर्त्तियाँ कूटस्थके ही रूप हैं। वस्तुतः है भी यही—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः।" वही आदित्य हैं, वही वायु हैं और वही चन्द्र हैं, वही शुक्र अर्थात् शुभ्रज्योति हैं, वही हिरण्यगर्भ ब्रह्म हैं, वही आप् और वही विराट् पुरुष हैं। जो कुछ है, सब तुम हो। तुमको 'पिता' कहूँ, 'माता' कहूँ, गुरु कहूँ या सखा कहूँ, भाई कहूँ या पुत्र कहूँ, कुछ समझमें नहीं आता—सब कुछ तो तुम्हीं हो। मेरे हृदयके सर्वोत्तम प्रिय वस्तुके रूपमें तुम्हीं

विराज रहे हो। तुम्हें छोड़कर त्रिलोकमें और कुछ नहीं है। हे बहुरूपी, हे मेरे प्रिय सुहृत्, हे मेरे प्रियसे प्रियतर आत्मा, तुम नानारूप धारणकर क्या ही अपूर्व लीला कर रहे हो! हे पाता! हे विधाता! तुमको बारंबार प्रणाम करनेकी इच्छा हो रही है। गुरूपदिष्ट ॐकारक्रियाके द्वारा यह प्रणतभाव साधकको प्राप्त होता है, तब क्रिया करनेकी इच्छा बारम्बार होती है। यह प्रणतभाव प्राप्त होने पर ही जीवका यथार्थ कल्याण होता है ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अन्वय—सर्व (हे सर्व!) ते (तुमको) पुरस्तात् (सामने) अथ पृष्ठतः (और पश्चाद् भागमें) नमः (नमस्कार), ते (तुमको) सर्वतः एव (सब दिशाओंसे ही) नमः अस्तु (नमस्कार हो), अनन्तवीर्य (हे अनन्तवीर्य!) त्वं (तुम) अमित-विक्रमः (अमित बल-विक्रमसे युक्त हो) सर्वं (इस समस्त विश्वको) समाप्नोषि (व्याप्त कर रहे हो) ततः (इस कारण) सर्वः असि (तुम सर्वरूप हो) ॥४०॥

श्रीधर—भक्तिश्रद्धाभयातिरेकेन नमस्कारेषु तृप्तिं अनधिगच्छन् पुनरपि बहुशः प्रणमति—नम इति। हे सर्व सर्वात्मन्, सर्वतः सर्वासु अपि दिक्षु तुभ्यं नमोऽस्तु। सर्वात्मकत्वं उपपादयन् आह। अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य। तथा अमितो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, एवम्भूतः त्वं सर्वं विश्वं सम्यग् अन्तर्बहिश्च समाप्नोषि व्याप्नोषि। सुवर्णमिव कटककुण्डलादि स्वकार्यं व्याप्य वर्त्तसे। ततः सर्वस्वरूपोऽसि ॥४०॥

अनुवाद—[भक्ति, श्रद्धा और भयके अतिरेकसे किये गये नमस्कारोंसे तृप्त न होकर पुनः बहुत-बहुत प्रणाम कर रहे हैं]—हे सर्व! हे सर्वात्मन्! सब दिशाओंसे तुम्हें नमस्कार। भगवान्का सर्वात्मकत्व प्रतिपादनके लिए कह रहे हैं कि तुम अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्त सामर्थ्ययुक्त और अपरिमित पराक्रमयुक्त हो, इस प्रकारसे सारे विश्वके बाहर और भीतर व्याप्त हो रहे हो। कटक, कुण्डल आदि कार्योंमें जैसे सुवर्ण व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सर्ववस्तुमें तुम व्याप्त होनेके कारण सर्वस्वरूप हो ॥४०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुमको सम्मुख नमस्कार—पीछेसे नमस्कार—सर्वत्रसे तुमको नमस्कार—अनन्तवीर्य—पराक्रमका अन्त नहीं है अर्थात् कूटस्थका अन्त नहीं है—सर्वत्र ही जीव, सर्वत्र ही कूटस्थ!!! क्रमशः वृद्धि होकर कहाँ तक वृद्धि हो सकती है, इसका पार नहीं।—तुमको पूर्व दिशामें नमस्कार, तुमको पश्चिम दिशामें नमस्कार, तुमको उत्तर-दक्षिण और सब दिशामें नमस्कार। यह नमस्कार ही ॐकारक्रिया है,

यह पुनः पुनः करनी पड़ती है, तब हृदय-ग्रन्थिका भेद होता है। सर्वत्र जीव है, सर्वत्र कूटस्थ है। एक जीवके भीतर ही इतना काण्ड! ये अनन्त जीव और अनन्त कूटस्थ!! और सब कूटस्थ मिलकर एक विराट् कूटस्थ!!! साधक कूटस्थ-दर्शन करते-करते देखता है कि वह सूक्ष्म ज्योतिका मण्डल बढ़ते-बढ़ते विश्वव्यापी हो गया, तब उसका अन्त नहीं रहता। इसी कारण वह अनन्तवीर्य हैं तथा उनका पराक्रम भी अनन्त है ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥

अन्वय—तव (तुम्हारी) महिमानं (महिमा) इदं (इस प्रकार) अजानता (न जानकर) मया (मैंने) प्रमादात् (प्रमादवश) प्रणयेन वा अपि (अथवा प्रणयवश) सखा इति मत्वा (तुम सखा हो, यह सोचकर) हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा (हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा) इति (इस प्रकार) प्रसभम् (हठपूर्वक) यत् उक्तं (जो कहा है) [तत् क्षामये—उसके लिए क्षमा चाहता हूँ] ॥४१॥

श्रीधर—इदानीं भगवन्तं क्षमापयति—सखेति द्वाभ्याम्। त्वां प्राकृतः सखा इत्येवं मत्वा प्रसभं हठेन तिरस्कारेण यद् उक्तं तत् क्षामये त्वां इत्युत्तरेणान्वयः। किं तत्? हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति च। सन्धिः आर्षः। प्रसभोक्तौ हेतुः—तव महिमानं इदञ्च विश्वरूपं अजानता मया प्रमादात् प्रणयेन स्नेहेन अपि वा यदुक्तमिति ॥४१॥

अनुवाद—[अब 'सखेति' इन दो श्लोकोंके द्वारा भगवान्से क्षमा माँगते हैं]—तुमको प्राकृत सखा अर्थात् समवयस्क समझकर हठात् प्रमादवश (असम्भ्रम भावसे) जो कुछ मैंने कहा है, उसके लिए तुमसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ। किस प्रकारके असम्भ्रम-वाक्य प्रयोग किये, यह बतलाते हैं—हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे इत्यादि। 'सखे इति' इन पदद्वयकी सन्धिमें आर्षप्रयोग हुआ है। असम्भ्रमसूचक वाक्य बोलनेका कारण यह है कि तुम्हारी महिमा और यह विश्वरूपता मुझे ज्ञात न थी। अतएव जो कुछ मैंने कहा है वह प्रमादवश या स्नेहवश ही कहा है ॥४१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मैंने पागलके समान होकर सखा शब्दका पहले प्रयोग किया है—परन्तु तुम जो महत् सर्वव्यापी हो—इसे न जानकर—परन्तु वह प्रेमवश ही कहा है।—वस्तुतः पागल हुए बिना कोई इस देहको 'मैं' नहीं कह सकता। हम सभी पागल हैं, देहातिरिक्त आत्माका बोध हमको नहीं है, जो कुछ सामान्य बोध है वह भी अत्यन्त अस्पष्ट है। इसीसे जीवके जन्म-मरणमें हम कितना हँसते-रोते हैं! हम जीवको लौकिक बुद्धिसे देखते हैं, हमें अलौकिक दृष्टि है कहाँ? इसी

कारण घट-घटमें विराजित राम या कूटस्थको न देखकर 'मेरा पुत्र, मेरे पिता, मेरे सखा' आदि प्रमादपूर्ण वाक्योंसे उनको सम्बोधन करते हैं। 'घट-घट बिराजे राम'—हम इस घटमें रामको न देखकर इस सड़े देहघटको ही देखते हैं और इसीसे इतनी भूल करते हैं। इस देहघटके भीतर बैठकर जो खाता है, घूमता-फिरता है, इन्द्रियोंकी लालसाको चरितार्थ करता है, कितनी खलता, छल-कपट आदि दुष्कर्म करता है, वह महान् कर्त्ता पुरुष क्या मैं हूँ? यह 'मैं' कौन हूँ? देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार—इनमें कोई भी 'मैं' नहीं, परन्तु जिसके न रहने पर ये कोई भी नहीं रहते, वही मेरा यथार्थ 'मैं' है।

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥—केनोप०॥

जो वाक्य द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिसके द्वारा वाक्य प्रकाशित होता है, तुम उसको ही ब्रह्म जानो। लोग चक्षु, कर्ण और अन्तःकरणके द्वारा ग्राह्य—रूप, शब्द और चिन्तादिकी जो उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। मनके द्वारा जिसका चिन्तन नहीं कर सकते, जिसके द्वारा मन प्रकाशित होता है, चक्षुके द्वारा जिसको नहीं देख सकते, चक्षु जिसके द्वारा देखते हैं, वही ब्रह्म हैं। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्' सूक्ष्मताके कारण (नामरूपादिहीन होनेके कारण) वह अविज्ञेय हैं। वह दुर्ज्ञेय, कालस्वरूप परब्रह्म प्रत्येक जीवकी देहमें कूटस्थरूपमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। वह परमात्मा ही एकमात्र हैं और कुछ नहीं है, जब इस सत्य-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, तब हम अपने भीतर 'मैं' को समझ पाते हैं और यह भी समझते हैं कि जिस प्रकार स्वप्नमें बाघसे आक्रान्त होकर डरने और भागने आदि कार्योंमें एकमात्र स्वप्नद्रष्टा ही वर्त्तमान होता है, वहाँ और किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं होता, इसी प्रकार उस प्रकृत 'मैं' के भीतर यह अनन्त दृश्य जगत् स्वप्नवत् स्फुरित होता है, परन्तु वहाँ भी एक साक्षी चैतन्यके सिवा और कोई वर्तमान नहीं है। 'देहोऽहं' बुद्धि ही हमारे पिता, माता, पुत्ररूपमें सज्जित होती है। शत्रु, मित्र और आत्मीय स्वजनके रूपमें हम आत्माको जो पृथक्-पृथक् भावमें देखते हैं, वह हमारी 'देहोऽहं' बुद्धिका ही फल है। जब क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें 'नाहं देहश्चिदात्मेति', इस प्रत्ययका उदय होगा, तब फिर स्वप्नदर्शन नहीं रहेगा और इस देहको आत्मा या 'मैं' कहनेका भ्रम न होगा। इस अपरोक्ष ज्ञानका उदय होते ही फिर पिता, माता, पत्नी, पुत्र, सखा, बन्धु आदि पृथक् उपाधियोंके द्वारा आत्माको सम्बोधन करके अपने आपको हास्यास्पद नहीं बना सकेंगे। तब 'तुम ही सब हो, तुम ही सब हो'—इस बोधमें हम प्रतिष्ठित होंगे, यथार्थ ज्ञाननेत्र उन्मीलित होगा, संसारके खेल दूर हो जायँगे॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अन्वय—अच्युत (हे अच्युत !) विहारशय्यासनभोजनेषु (आमोद, क्रीड़ा, शयन, आसन और भोजन कालमें) एकः (एकाकी रहने पर) अथवा तत् समक्षं अपि (अथवा बन्धु वर्गके सामने भी) अवहासार्थं (परिहासके लिए) यत् असत्कृतः (जिस प्रकार अनादृत) असि (हुए हो) अहं (मैं) अप्रमेयं त्वां (अप्रमेय तुम्हारे सामने) तत् क्षामये (तुमसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ) ॥४२॥

श्रीधर—किञ्च—यच्चेति । हे अच्युत, यच्च परिहासार्थं क्रीडादिषु तिरस्कृतोऽसि । एकः केवलः सखीन् विना रहसि स्थित इत्यर्थः । अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं पुरतोऽपि । तत्सर्वं अपराधजातं त्वां अप्रमेयं अचिन्त्यप्रभावं क्षामये क्षमां कारयामि ॥४२॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—हे अच्युत ! क्रीड़ादिके स्थानमें परिहासके लिए एकाकी या बन्धुवर्गके समक्ष, निर्जनमें या परिहासकारी सखावर्गके सामने जो मैंने तुम्हारा अनादर किया है, हे अचिन्त्यप्रभाव ! उन सब अपराधोंके लिए तुम्हारे सामने क्षमा याचना करता हूँ ॥४२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो ठट्ठा किया है—विहार, शय्या, आसनमें, भोजनमें—हे अच्युत !! अर्थात् तुम्हारे वीर्यका कूटस्थका स्खलन नहीं है—और तुम्हारे समान कोई नहीं है ।—तुम तो निर्विकार हो, तुम्हारा स्खलन नहीं होता । मैं चाहे जो कहकर तुमको सम्बोधन करूँ, तुम कभी अपने निज स्थान (स्वधाम) से स्खलित नहीं होते । तुम जो हो वही रहते हो । तुम्हारे प्रकृत स्वरूपको न समझ कर तुमको जब जैसा मनमें आया है तब वैसा कह गया हूँ, परन्तु हे नाथ ! मैंने एक बार भी यह नहीं विचारा कि तुम सबके परे हो । तुम्हारे समान और कुछ नहीं है, यह भी मैंने कभी नहीं सोचा है । मेरी इस त्रुटि और अपराधके लिए हे दीन-वत्सल ! क्या तुम अपने इस दीनार्त्त भक्तको क्षमा नहीं करोगे ? ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अन्वय—अप्रतिमप्रभाव (हे अतुल्य प्रभाववान् !) त्वं (तुम) अस्य चराचरस्य लोकस्य (इस चराचर विश्वके) पिता असि (पिता हो) च (और) पूज्यः

गुरुः गरीयान् (पूज्य गुरु तथा उनकी अपेक्षा भी गुरुतर हो), लोकत्रये अपि (तीनों लोकोंमें भी) त्वत्समः (तुम्हारे समान) न अस्ति (नहीं है), अभ्यधिकः (तुमसे भी श्रेष्ठ) अन्य कुतः (दूसरा कहाँ होगा ?) ॥ ४३ ॥

श्रीधर—अचिन्त्यप्रभावत्वं एव आह—पितेति । न विद्यते प्रतिमा उपमा यस्य स अप्रतिमः—तथाविधः प्रभावो यस्य तव हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकोऽसि । अतएव पूज्यश्च गुरुश्च गुरोरपि गरीयान् गुरुतरः । अतो लोकत्रयेऽपि त्वत्सम एव तावत् अन्यो नास्ति । परमेश्वरस्य अन्यस्य अभावात् । त्वत्तः अभ्यधिकः पुनः कुतः स्यात् ॥ ४३ ॥

अनुवाद—[अचिन्त्यप्रभावत्वके बारेमें कह रहे हैं]—जिसकी प्रतिमा या उपमा नहीं, वह अप्रतिम कहलाता है । तुम अप्रतिम-प्रभावशाली हो, तुम इस चराचर विश्वके जनक हो, अतएव तुम पूज्य हो, गुरु और गुरुसे भी गुरुतर हो । त्रिलोकमें तुम्हारे समान कोई नहीं है, परमेश्वरके तुल्य जब कोई है ही नहीं तो फिर उनसे श्रेष्ठ कोई कैसे हो सकता है ॥ ४३ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुम सब लोकोंके पिता अर्थात् सृजनकर्त्ता चर और अचर पदार्थके हो—तुम अखिल विश्वको अन्धकारसे प्रकाशमें ला सकते हो—यह प्रत्यक्ष देखता हूँ—तुम पूजनीय हो—(प = योनि मूलाधार, ऊ = शक्तिपूर्वक, ज = कूटस्थमें रहना, इसका ही नाम पूजा है अर्थात् प्राण लगाकर पूजा करनी चाहिए—जो गुरुवक्त्रगम्य है) तुम्हारे समान (जोड़ा) कोई नहीं है । अधिक तो फिर कैसे हो सकता है । इन तीनों लोकोंमें प्रतिमूर्त्ति कोई तुम्हारी नहीं हो सकती—क्योंकि तुम्हारे समान कुछ भी नहीं हो सकता ।—तुमसे जब सब कुछ उत्पन्न हुआ है, तब तुम चराचरके पिता तो हो ही, इसके सिवा तुम सबके गुरु हो, तुम्हीं मोहान्ध जीवोंको ज्ञाना-लोक देकर उनके परित्राणका उपाय कर देते हो । तुम पूजनीय हो, पूजा करने पर ही प्राप्त होते हो, परन्तु प्राण लगाकर पूजा करनी पड़ेगी । प्राण लगाकर पूजा करनेका क्या अर्थ है ? मूलाधारसे बलपूर्वक प्राणशक्तिको उठाकर जब आज्ञाचक्रमें रख सकोगे, तभी प्रकृत पूजा होगी । उस पूजाकी विधि गुरुके मुखसे जानकर श्रद्धापूर्वक बहुत काल तक अभ्यास करने पर पूजा करनेकी योग्यता प्राप्त होती है । जीव अपने चिन्मय स्वरूपको भूलकर भोगसुखमें मग्न है । गुणातीत ब्रह्म-सत्ता-सागरमें नानारूपमय तरंगें उठ रही हैं, गुरुकी कृपासे प्राणकी साधना करके क्रियाकी परावस्था लाभ करने पर चित्सत्तामें डूबकर समाहित होने पर यह नामरूपमय अध्यास दूर होता है । तभी पूजाका साक्षात् फल आत्मसाक्षात्कार लाभ होता है । उस परावस्थाके समान जब और कुछ नहीं है, तो उससे बढ़कर फिर क्या हो सकता है ? श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।

धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमञ्च दैवतम् ।
न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ॥
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

वह वृक्षाकार (संसार) और कालाकार (भूत, भविष्यत्, वर्तमानरूप) सबके परे भिन्न वस्तु हैं। उनसे जगत्-प्रपञ्च बारंबार आविर्भूत हो रहा है। वह धर्मानुकूल बुद्धिके लिए गम्य तथा पाप-प्रवृत्तिके विनाशक हैं। जो षड् ऐश्वर्योंके अधिपति, जगत्के आश्रयभूत, अमृतमय और अन्तर्यामी हैं, उनका साक्षात्कार करने पर साधक अपनेको पञ्चतत्त्वोंसे पृथक् अनुभव करता है। जो ब्रह्मा आदि लोकेश्वरोंके भी महेश्वर हैं, देवताओंके भी परम दैवत हैं, उस भगवान्के कार्य (शरीर) और करण (चक्षु आदि इन्द्रियाँ) नहीं हैं, उनके समान या उनसे श्रेष्ठ कुछ नहीं दीखता। उनकी अनेक प्रकारकी स्वतःसिद्ध शक्तियाँ हैं, यह सुना जाता है। उनको सब विषयोंका अप्रतिहत ज्ञान तथा सान्निध्य मात्रसे कार्य-सम्पादनकी क्षमता है, यह वेदसे जाना जाता है ॥ ४३ ॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अन्वय—देव (हे देव!) तस्मात् (इस कारण) अहं (मैं) कायं (शरीरको) प्रणिधाय (दण्डवत् निपातित करके) प्रणम्य (प्रणामकर) ईड्यं (आराध्य) ईशं (ईश्वर) त्वां (तुमको) प्रसादये (प्रसन्न करता हूँ) पिता इव (जैसे पिता) पुत्रस्य (पुत्रका) सखा इव (जैसे सखा) सख्युः (सखाका) प्रियः (प्रिय) [पति] प्रियायाः (जैसे प्रियाका) [उसी प्रकार मेरे अपराधको] सोढुम् अर्हसि (सहन करने योग्य हो अर्थात् सहन करो) ॥४४॥

श्रीधर—यस्मादेवं—तस्मादिति । तस्मात् त्वां ईशं जगतः स्वामिनं ईड्यं स्तुत्यं प्रसादये प्रसादयामि । कथं ? कायं प्रणिधाय दण्डवत् निपात्य प्रणम्य प्रकर्षेण नत्वा । अतः त्वं मम अपराधं सोढुं क्षन्तुम् अर्हसि । कस्य क इव ? पुत्रस्य अपराधं कृपया पिता यथा सहते, सख्युः मित्रस्य अपराधं सखा निरुपाधिबन्धुः यथा सहते, प्रियश्च प्रियायाः अपराधं तत्प्रियार्थं यथा वद्वत् ॥४४॥

अनुवाद—[क्योंकि ऐसा है, अतएव कहते हैं]—इसी कारण जगत्के ईश अर्थात् स्वामी और स्तुतिके पात्र तुमको प्रसन्न करता हूँ। कैसे प्रसन्न करता हूँ ?—शरीरको दण्डवत् अवनत करके और प्रकृष्टरूपसे नत होकर। तुम मेरा अपराध क्षमा करने योग्य हो। पुत्रका अपराध जैसे पिता कृपा करके सह लेता है, मित्रका अपराध जैसे निःस्वार्थ मित्र सहता है, प्रियाका अपराध जैसे प्रिय प्रणयवश सहन करता है, उसी प्रकार तुम मेरे अपराधोंको क्षमा करो। [प्रियायाः + अर्हसि, इन दोनों पदोंकी सन्धिमें 'प्रियाया अर्हसि' होता है, अतएव 'प्रियायार्हसि' आर्ष प्रयोग है, परन्तु 'प्रियः प्रियाय' इस प्रकारका अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है] ॥४४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस कारण मैं तुमको प्रणाम करता हूँ, शरीरको निःशेषरूपसे स्थिर करते हुए—अब प्रसन्न हो—क्योंकि तुम कर्त्ता हो।—भक्त इस बार भगवत् पूजाका आयोजन कर रहा है। इस पूजाका प्रधान अङ्ग है आत्मसमर्पण—अपनेको भगवच्चरणोंमें नमित करना। वह अपनेको बड़ा ही दीन समझ रहा है, बड़ा ही असमर्थ मान रहा है। निरुपाय सखा जिस प्रकार सखाको आत्मसमर्पण करता है, पत्नी जैसे पतिको आत्मसमर्पण करती है, पुत्र जैसे पिताको अत्मसमर्पण करनेमें सङ्कोच नहीं करता, उसी प्रकार निःसङ्कोच साधक भक्त अपनेको परमात्माके सामने उत्सर्ग करता है, अपने दैन्यके लिए क्षमा याचना करता है, भगवान्को प्रसन्न करता है। भगवान्को प्रसन्न करना और आत्मको प्रसन्न करना एक ही बात है। भगवान् प्रसन्न तब होते हैं जब श्रीगुरु प्रसन्न होते हैं। वह गुरु ही आत्मा है। गुरुकी प्रसन्नता जब मानसतटमें तरङ्गायित होती है, तब अन्तःकरण भी प्रसन्न होता है। अन्तःकरणके प्रसन्न होने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। मनका यह स्थिरभाव या प्रसन्नता ही श्रीविष्णुका परम पद है। विष्णुके इस परम पदको वही सदा साक्षात्कार करते हैं, जो 'सूर' या वीर साधक हैं। वे वीर साधक कैसे प्रणाम करते हैं, देखिये। 'प्रणिधाय कायम्'—कायं प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा दण्डवत् भूमौ पतित्वा इति यावत्' (मधुसूदन)। काय = क + अय, इ धातुसे अय गमनार्थक है। क = ब्रह्मा, जो ब्रह्मासे गमन करता है। ब्रह्माका स्थान नाभिदेश और उससे नीचे है। जो श्वास नाभिदेशसे सहस्रारमें गमन करता है, योगी उस श्वासको मस्तकमें स्थिर करके समग्र मेरुदण्ड और तत्संलग्न अवयवको निम्नाभिमुख करके जिस साधनको करते हैं यहाँ उसी साधनकी ओर संकेत किया गया है। इस साधनके द्वारा मूलाधारस्थ कुण्डलिनी चैतन्ययुक्त होती है। कुण्डलिनीके चैतन्ययुक्त होने पर ही वह तद्विष्णुके परमपद आज्ञाचक्रको भेद कर सहस्रारस्थित शिवके साथ युक्त होती है, तब देहसे चित् पृथक हो जाता है। तभी जीव बन्धनसे विमुक्त होकर परम शान्ति लाभ करता है। महर्षि अष्टावक्र राजर्षि जनकसे कहते हैं—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

अन्वय—देव (हे देव!) अदृष्टपूर्वं (अदृष्टपूर्वं तुम्हारे विश्वरूपको) दृष्ट्वा (देखकर) हृषितः (हर्षान्वित) अस्मि (हो रहा हूँ), भयेन च (और भयसे) मे मनः (मेरा मन) प्रव्यथितं (व्याकुल हो रहा है)। [अतएव] तत् रूपं एव (उसी पूर्वरूपको) मे दर्शय (मुझे दिखलाओ), देवेश जगन्निवास (हे देवेश! हे जगन्निवास!) प्रसीद (प्रसन्न हो) ॥४५॥

श्रीधर—एवं क्षमापयित्वा प्रार्थयते—अदृष्टपूर्वमिति द्वाभ्याम्। हे देव! पूर्वं अदृष्टं तव रूपं दृष्ट्वा हृषितः हृष्टः अस्मि। तथा भयेन च मे मनः प्रव्यथितं प्रचलितम्। तस्मात् मम व्यथानिवृत्तये तदेव रूपं दर्शय। हे देवेश! जगन्निवास! प्रसन्नो भव ॥४५॥

अनुवाद—[इस प्रकार क्षमा याचना कर दो श्लोकोंमें प्रार्थना कर रहे हैं]—हे देव, जैसा पहले कभी देखा नहीं गया, वैसा तुम्हारा रूप देखकर मैं आनन्दित हो रहा हूँ, परन्तु भयसे मेरा मन व्याकुल हो रहा है। अतएव मेरी व्यथा-निवृत्तिके लिए अपना वही रूप दिखलाओ। हे देवेश, हे जगन्निवास, प्रसन्न होओ ॥४५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अदृष्टपूर्वं अर्थात् पहले ऐसा रूप नहीं देखा इसीसे भय लगता है—इसलिए पूर्वका रूप दिखाओ—अनुग्रह करके।—यह जो विश्वरूप अर्जुनने देखा, ऐसा रूप उन्होंने और कभी नहीं देखा था। विश्वरूप देखकर वह बहुत भयभीत हो गये हैं, इसीसे भगवानसे कहते हैं—हे प्रभो, तुम अपना यह रूप संवरण करो, पहले तुम्हारा जो रूप मैंने देखा था उसी हृदय और मनको आकर्षण करने वाले अपने मोहन-मुरलीधर रूपको फिर मुझे दिखलाओ। मुझे वही रूप देखनेमें बड़ा प्रिय लगता है ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥४६॥

अन्वय—अहं (मैं) त्वां (तुमको) तथा एव (उसी पूर्वरूपमें) किरीटिनं (किरीटधारी) गदिनं (गदाधारी) चक्रहस्तं (चक्रधारी) द्रष्टुमिच्छामि (देखना चाहता हूँ)। सहस्रबाहो (हे सहस्रबाहो!) विश्वमूर्त्ते (हे विश्वमूर्त्ते!) तेन (उसी) चतुर्भुजेन रूपेण एवं (चतुर्भुज नारायण मूर्त्तिमें ही) भव (आविर्भूत हो जाओ) ॥४६॥

श्रीधर—तदेव रूपं विशेषयन् आह—किरीटिनमिति। किरीटिनं, गदावन्तं, चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छामि। पूर्व यथा दृष्टोऽसि तथैव। अतः हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते, इदं विश्वरूपं संहृत्य तेनैव किरीटादियुक्तेन चतुर्भुजेन रूपेण भव, आविर्भव। तदनेन श्रीकृष्णं अर्जुनः पूर्वमपि किरीटादियुक्तमेव पश्यतीति गम्यते। यत्तु पूर्वमुक्तं विश्वरूपदर्शने 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च पश्यामि' इति तं बहुकिरीटाद्यभिप्रायेण। यद्वा—एतावन्तं कालं यं त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च सुप्रसन्नं अपश्यम् तमेव इदानीं तेजोराशिं दुर्निरीक्ष्यं पश्यामि इत्येवं तत्र वचनव्यक्तिः इत्यविरोधः ॥४६॥

अनुवाद—[वह रूप कैसा है, विशेषरूपसे बतलाते हैं]—पहले जिस किरीट-युक्त, गदाधारी और चक्र हाथमें लिए हुए रूपको तुमने दिखलाया था, मैं तुम्हारे उसी रूपको देखना चाहता हूँ। अतएव हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते, इस विश्वरूपको उपसंहार कर किरीट आदिसे युक्त चतुर्भुजरूपमें आविर्भूत होओ। इस श्लोकसे यह जान पड़ता है कि अर्जुनने श्रीकृष्णको पहले भी किरीटादिसे युक्त देखा था। विश्वरूपदर्शनके समय अर्जुनने जो 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च' कहा, उसका अभिप्राय यह है कि उस समय उन्होंने उनको अनेक किरीटादियुक्त देखा। अथवा अबतक तुमको किरीटयुक्त, गदाचक्रहस्त सुप्रसन्नरूप देखता आ रहा था, इस समय तुमको तेजःपुञ्ज और दुर्निरीक्ष्य देख रहा हूँ, ऐसा भी अर्थ हो सकता है, अतएव यहाँ पूर्वापर विरोध नहीं हुआ ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—चतुर्भुज होकर उसके बाद यह विश्वमूर्त्ति धारण की थी—वही रूप दर्शन कराओ।—बृहत् कूटस्थ दर्शनके बाद साधकको पुरुषोत्तम-रूप दर्शन करनेकी स्वाभाविक इच्छा होती है। विश्वरूपके भीतर जिस प्रकार भीति और चाञ्चल्य उत्पन्न होता है, पुरुषोत्तमरूपमें साधकको वैसी उत्कण्ठा नहीं होती। अतएव साधकको 'प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि, अपनी सौम्यमूर्त्तिका दर्शन कराओ,' कहकर प्रार्थना करनेका प्रयोजन नहीं होता। पुरुषोत्तम-रूप देखनेमें साधकको बहुत ही अच्छा लगता है, बड़ी तृप्ति मिलती है। यह मानो एक असीम वस्तुको सीमाके भीतर लाकर देखना है। सारी इन्द्रियाँ भलीभाँति उसमें सुखानुभव कर सकती हैं, इसीलिए उनको असीम तृप्ति होती है। केवल सौन्दर्यरसान्वेषी भावुक ही इसको पसन्द करते हों ऐसी बात नहीं है। यह रूप योगियोंका भी चित्त-विनोद करता है। असीमके भीतर एक प्रगाढ़ विस्मय आकर चित्तको अभिभूत करता है, सीमाके भीतर जो यह अरूपका रूप देखा जाता है, वह मानो गुणातीत ब्रह्म-सत्तामें रूपमय सगुण ब्रह्मका विकाश है। मनकी धारणाके योग्य होकर मानो वह फूट उठता है। इसमें विस्मय है, आनन्द है, परन्तु भीति नहीं है। इसे देखकर साधकको यह नहीं कहना पड़ता कि 'प्रभो, अपने इस रूपको संवरण करो, मैं सहन नहीं कर सकता'। वह तो मानो कोटि-कोटि चन्द्र-स्रवित सुधासे प्लावित सुख है। इस रूपको जितना ही देखते हैं, उतना ही और देखने की इच्छा होती है। युग-युग तक देखते रहने पर भी मानो तृप्ति नहीं होती। असीम वस्तु जब सीमाके

भीतर आकर अपनेको प्रकाशित करती है तो उसके अपरूप सौन्दर्य और माधुर्यका सन्धान मिलता है। यूरोपीय दार्शनिक इसीकी प्रतिध्वनिमें कहते हैं—"The beautiful is the infinite represented in the finite form".

अस्तु, इस विषयमें योगियोंकी जो धारणा होती है, वही मैं बतलाता हूँ। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ (२य स्क०)

अपनी देहके अभ्यन्तर हृदयाकाशमें प्रादेशमात्र शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज पुरुष वास करते हैं, इस प्रकारकी धारणा करनी पड़ती है।

योगी लोग भी अपने हृदयमें अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुषको देखते हैं, वह प्रादेशमात्र होता है। कठश्रुतिमें लिखा है—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।" अङ्गुष्ठ-परिमित पुरुष अन्तर्यामीरूपसे सर्वदा प्राणियोंके हृदयमें सन्निविष्ट रहते हैं। सूक्ष्म ज्योतिर्मय मण्डलस्थ श्यामसुन्दरको वे हृदयाकाशमें देख पाते हैं, वह बृहत् कूटस्थके समान तीव्र ज्योतिःपुञ्ज नहीं होता। वह चतुर्भुज होता है। भुज शब्दका अर्थ है धनुके आकारकी गोलाकार वस्तु (प्रकृतिवाद अभिधान देखो)। यहाँ भुज का अर्थ हाथ नहीं है। मण्डलाकार ज्योतिःपुञ्जके भीतर चार बातें जानने योग्य हैं। (१) पहले साधक शङ्खके शब्दके समान एक गम्भीर और सुन्दर शब्द सुनता है, यही पाञ्चजन्य शङ्खका नाद है। मूलाधारसे विशुद्धाख्य पर्यन्त पञ्च चक्रोंमें पञ्च प्रकारके श्रुतिमधुर नाद सुननेमें आते हैं। इस प्रकारका सम्मिलित निर्घोष ही शङ्ख शब्दके द्वारा सूचित होता है। इस शङ्खको वह धारण किये हुए हैं अर्थात् इस ज्योतिर्मय कूटस्थ-मण्डलका यह शङ्खनाद एक चिह्न है। (२) इस भुजाका द्वितीय विषय है चक्र। कूटस्थके चारों ओर जो ज्योतिर्मय मण्डल है, वह चक्रके समान पहले घूमता है। 'अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे'—आत्मस्वरूप हंस ब्रह्मचक्रमें घूम रहा है। वह कूटस्थ ब्रह्म ही अमृत अक्षर है, यह सूर्य ही श्रेष्ठ है। उसकी उपासनासे वायुस्वरूप मधुर रसकी उपलब्धि होती है और इस प्रकार उपासना करते-करते विद्या, शान्ति, प्रतिष्ठा और निवृत्ति-रूपा चार शक्तियोंका आविर्भाव होता है। क्रिया करते-करते हृदयमें कूटस्थके भीतर उत्तम पुरुष हरि देखनेमें आते हैं। वह उत्तम पुरुष हैं, वह सारी इच्छाओंको हरण करते हैं, इसीसे उनका नाम हरि है। यह विष्णुस्वरूप स्थिति क्रियाकी परावस्था है। इसीसे जीवका प्रकृत कल्याण होता है, इसी कारण वह शिवस्वरूप है, इस अवस्थामें जो इच्छा की जाती है, वही होता है। तब उसको समस्त वस्तुओंका सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा कहा जाता है। सर्वाधिपति इन्द्र ही कूटस्थ ब्रह्म हैं, जो इस शरीरके भीतर और बाहर आधिपत्य कर रहे हैं। वह देवराज हैं अर्थात् सारे देवता उनके भीतर हैं। कूटस्थमें रहने पर सब दीख पड़ते हैं,

परन्तु बहुत देर तक रहने पर ही दीखते हैं। सब प्रकारकी ज्योति, उसके बाद तमः है, जिसके परे उत्तम पुरुष 'नीलनभोनिभ निखिलकारण' हैं, जिनको सब एकदृष्टिसे देख रहे हैं। वही जगन्नाथ हैं, उनके भीतर सब लोक हैं, वही भर्त्ता-भोक्ता और महेश्वर हैं।(३) इस भुजाका तृतीय विषय गदा है—यह शासनका परिचय देती है। कठोपनिषद्में लिखा है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

इनके शासनसे अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु यथायथ भावमें अपना-अपना कार्य सम्पादन कर रहे हैं।

यह परम नियन्ता कूटस्थ ब्रह्म ही सबकी देहके भीतर रहकर सबको अपने-अपने कर्मका फलभोग करा रहे हैं।

तं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति।

उनको जानकर जीव संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और अमरत्वको प्राप्त होता है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैषा महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः॥

जो ब्रह्म सर्वज्ञ अर्थात् सब प्रकारके ज्ञानके आश्रय हैं, जो सर्वविद् हैं अर्थात् जिनको प्राप्त करने पर साधकको और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता, जगत्में जिनकी महिमा है अर्थात् जिनके ज्ञानैश्वर्यके द्वारा अपने-अपने स्थान और अपने-अपने कार्यमें सब प्रतिष्ठित हो रहे हैं, वह आत्मा ही ज्ञानशक्तिसे दीप्त होकर व्योम्नि ब्रह्मपुरमें अर्थात् ब्रह्मके प्रकाश-स्थान ब्रह्मरन्ध्रमें प्रतिष्ठित अर्थात् अभिव्यक्त हो रहे है। "तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितं" —मूर्द्धामें अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें मन स्थिर करने पर आत्माका तुरीय स्वरूप प्रकाशित होता है।

(४) भुजाका चतुर्थ विषय पद्म है—यह शान्तिका परिज्ञापक है। साधनाके द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर जो एक परम शान्तिमय अवस्था प्राप्त होती है, उसके मिलने पर फिर जन्म, जरा और मृत्युका भय नहीं रहता, प्राप्ति-अप्राप्तिके हर्ष-विषाद चित्तको क्षुब्ध नहीं कर पाते, वही शान्तिरूपा परमा गति है। पद्महस्तके द्वारा यही सूचित होता है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्—स्थिर इन्द्रियधारणाको अर्थात् आत्माभिमुखी इन्द्रियोंकी निश्चलताको ही योग कहते हैं।

अप्रमत्तस्तदा भवति।

उस अवस्थामें योगी समाहित होनेके कारण प्रमादरहित हो जाते हैं। उसे ही परम गति या निवृत्तिरूपा परमा शान्ति कहते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

जिस अवस्थामें पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ अवस्थान करती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होती हैं और बुद्धि भी विषय-चिन्तन द्वारा चञ्चल नहीं होती, उसको ही परम गति कहते हैं।

योगीको इस अवस्थामें अवस्थित होनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होती है। इसका कुछ परिचय उनको विश्वरूप-दर्शनके पहले ही मिला है, विश्वरूप-दर्शनके बाद उस अवस्थामें लौट जानेकी साधककी प्रबल इच्छा होती है, अर्जुनकी यह चतुर्भुज रूप देखनेकी इच्छा उसीका संकेत-मात्र है॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—अर्जुन (हे अर्जुन!) प्रसन्नेन (प्रसन्न होकर) मया (मैंने) आत्मयोगात् (अपने योगबलके प्रभावसे) इदं (इस) विश्वं (सर्वात्मक) तेजोमयं (तेजोमय) अनन्तं (अन्तहीन) आद्यं (सबके आदिभूत) मे (मेरे) परं रूपं (परम रूपको) तव दर्शितं (तुमको दिखलाया है) यत् (जो) त्वदन्येन (तुम्हारे सिवा और किसीने) न दृष्टपूर्वम् (पहले नहीं देखा था)॥४७॥

श्रीधर—एवं प्रार्थितः सन् तं आश्वासयन् श्रीभगवानुवाच—मयेति त्रिभिः। हे अर्जुन, किमिति त्वं बिभेषि? यतो मया प्रसन्नेन कृपया तवेदं परं उत्तमं रूपं दर्शितम्। आत्मनो मम योगात् योगमायासामर्थ्यात्। परत्वमेव आह—तेजोमयं विश्वं विश्वात्मकं अनन्तं आद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन त्वादृशात् भक्तात् अन्येन न पूर्वं दृष्टं तत्॥४७॥

अनुवाद—[इस प्रकार प्रार्थित होकर अर्जुनको आश्वासन देनेके लिए तीन श्लोकोंमें] श्रीभगवान कह रहे हैं—हे अर्जुन! तुम भयभीत क्यों होते हो? मैंने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक अपनी योगमायाके प्रभावसे तुमको यह उत्तम रूप दिखलाया है। यह कैसे उत्तम है, यह बतलाते हैं—यह तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त और आद्य जो मेरा रूप है, इसे तुम्हारे समान भक्तके सिवा और किसीने पहले नहीं देखा॥४७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—आत्माके योगसे किये हुए इस रूपको तुमने देख पाया—जो सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और इसको मैंने सन्तुष्ट होकर तुमको दिखलाया है—सारा तेजोमय रूप (ज्योतिःस्वरूप) विश्वसंसार अनन्तरूप तुमने देखा—तुम्हारा अन्त भी नहीं है आदि भी नहीं है—जिस रूपको तुम्हारे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा।—आत्मयोगके सिवा इस रूपको देखनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। यह रूप सब भूतोंके भीतर रहता है, परन्तु आत्मयोगके बिना देखा नहीं

जाता। साधनाभ्यासके द्वारा मनको आत्माके सहित योगयुक्त करने पर यह अद्भुत तेजोमय रूप साधकके लक्ष्यपथमें उपस्थित होता है। चिर-प्रसन्न आत्माकी प्रसन्नता इस अवस्थामें उपलब्ध होती है। यह देहेन्द्रियादि प्रकृति ही उसका आवरण है, यह आवरण जितना ही निर्मल होता है उतना ही उसका शाश्वत शान्तभाव उपलब्ध होता है। "धातुप्रसादात् महिमानमात्मनः"—शरीर धारण करनेवाली इन्द्रियाँ और मन आदिकी स्थिरताके वश आत्माकी महिमा (निर्विकारत्वादि रूप) साक्षात्कार की जाती है। आत्मा ही आत्माको अपना स्वरूप दिखला सकता है। इस प्रकारका ज्योतिर्मय रूप ब्रह्मनाड़ीमें प्राणके प्रविष्ट होने पर ही देखा जाता है। वही प्रकृत प्राणका रूप है, परन्तु प्राणकी बहिर्मुख वृत्ति प्राणापानके रुद्ध हुए बिना रूपका प्रकाश अनुभूत नहीं किया जाता। यही ब्रह्मनाड़ी या सुषुम्नाके भीतर प्राणका प्रवेश है। साधक गुरुकी कृपासे साधन प्राप्त कर स्वयं इसको समझ पाता है। साधक जब विश्वरूप देखता है तब विश्वकी सारी वस्तुएँ ज्योतिर्मय हो जाती हैं। पहले अनेक नाम-रूपमय सत्ता देखी जाती है, अन्तमें केवल ज्योति ही ज्योति दीखती है, और कुछ नहीं दीखता, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्निमें धातु, काष्ठ, प्रस्तर पड़ने पर वे सब अग्निमय हो जाते हैं। इस परम ज्योतिका अनुभव करनेके पूर्व अपना भी नामरूप भूल जाना पड़ता है, स्वयं भी ज्योतिःस्वरूप हो जाना पड़ता है। यह अवस्था जबतक प्राप्त न हो तबतक कोई विश्वरूप देखनेका अधिकार नहीं पाता, इसीसे भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे सिवा और किसीने इसे नहीं देखा। अर्जुन तेजस्तत्त्व हैं न ? वह तेजस्तत्त्व जब अन्य समस्त देहेन्द्रियसे आकर्षण करके एक विशेष केन्द्रमें एकीभूत होता है, तब उस अवस्थाको प्राप्त साधकके लिए ही यह विश्वरूप देखना सम्भव होता है। इसीसे सर्वप्रथम आत्माको प्रसन्न करना पड़ता है, उसकी प्रसन्नताके बिना इस प्रकारका दर्शन असम्भव है। किस प्रकार उसको प्रसन्न करना पड़ता है, यह पहले ही कह चुका हूँ ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

अन्वय—कुरुप्रवीर (हे कुरुश्रेष्ठ !) न वेदयज्ञाध्ययनैः (न वेदाध्ययनद्वारा, न यज्ञविद्या अध्ययनद्वारा) न दानैः (न दान द्वारा) न च क्रियाभिः (न अग्निहोत्रादि क्रियाओंके द्वारा) न उग्रैः तपोभिः (न उग्र तपस्या द्वारा) एवंरूपः अहं (इस प्रकारका रूप-विशिष्ट मैं) नृलोके (मनुष्य-लोकमें) त्वदन्येन (तुम्हारे सिवा दूसरेके द्वारा) द्रष्टुं शक्यः (दृष्ट होने योग्य हूँ) ॥ ४८ ॥

श्रीधर—एतद्दर्शनम् अतिदुर्लभं लब्ध्वा त्वं कृतार्थोऽसि इत्याह—न वेदेति। वेदाध्ययनातिरेकेण यज्ञाध्ययनस्याभावात्, यज्ञशब्देन यज्ञविद्या कल्पसूत्राद्या लक्ष्यन्ते। वेदानां

यज्ञविद्यानाञ्च अध्ययनैः इत्यर्थः। न च दानैः न च क्रियाभिः अग्निहोत्रादिभिः न च उग्रैः तपोभिः चान्द्रायणादिभिः एवंरूपोऽहं त्वत्तोऽन्येन मनुष्यलोके द्रष्टुं शक्यः। अपि तु त्वमेव केवलं मत्प्रसादेन दृष्ट्वा कृतार्थोऽसि ॥ ४८ ॥

अनुवाद—[यह विश्वरूप-दर्शन अति दुर्लभ है, इसको प्राप्तकर तुम कृतार्थ हो गये हो, यही कहते हैं]—वेदाध्ययनसे यज्ञाध्ययन कोई पृथक् वस्तु न होनेके कारण यहाँ यज्ञ शब्दसे यज्ञविद्या कल्पसूत्रादि लक्षित है। [कर्मकाण्डके संग्रह-ग्रन्थ-विशेषको 'कल्पसूत्र' कहते हैं] वेदाध्ययन या यज्ञाध्ययन द्वारा, दान द्वारा, अग्निहोत्रादि क्रियाके द्वारा और चान्द्रायणादि उग्र तपस्याके द्वारा भी मेरे इस रूपको देखनेमें कोई समर्थ नहीं होता। मनुष्यलोकमें तुम्हें छोड़कर इस प्रकारके विशिष्ट भावसे मुझे देखनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। केवल तुम ही मेरे प्रसादसे देखकर कृतार्थ हो गये हो ॥ ४८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—तुमने जिस रूपको देखा—वेद पढ़ने,, यज्ञ करने, उग्र तपस्या करने, दान और क्रियाओंके द्वारा—यह रूप किसीने नहीं देखा मनुष्योंमें।—यह विश्वरूप देखनेमें कौन समर्थ है यही यहाँ बतलाते हैं। जो धर्मका केवल बाह्यानुष्ठान करके ही निश्चिन्त रहते हैं, बहुल वेदशास्त्रादि अध्ययन करते हैं, उग्र तपस्या, दान, ध्यान और याग-यज्ञादि बाह्य क्रियाओंका अनुष्ठान आदि पूर्ण मात्रामें करते हैं, वे भी इस रूपको देखनेकी योग्यता प्राप्त नहीं करते। तो क्या वेदादि अध्ययन और यागयज्ञादि करना बिल्कुल व्यर्थ है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। इनसे सकाम साधकका अल्पाधिक उपकार अवश्य होता है, परन्तु आत्मदर्शनके लिए अथवा भगवत्कृपा प्राप्तिके लिए ये पर्याप्त नहीं हैं। यदि भगवत्कृपासे आत्मदर्शन न हुआ, तो ये सारे बाह्य व्यापारोंके अनुष्ठान व्यर्थ हैं, श्रममात्र हैं। भगवान्की कृपा बिना यदि उनके दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है तो जीवके लिए फिर उपाय क्या है? हमने प्राणपनसे चेष्टा की परन्तु भगवान्ने यदि कृपा न की, तो क्या चेष्टा करनेकी इच्छा प्रबल रह सकती है? भयकी बात नहीं है, भगवत्कृपाकी प्राप्ति ऐसी वस्तु नहीं है कि चेष्टाशील साधकको कभी निराश होना पड़े। 'यो मां स्मरति नित्यशः' 'तस्याहं सुलभः पार्थः' 'ददामि बुद्धियोगम्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा भगवान्ने बतला दिया है कि वह अपने भक्तोंके लिए क्या करते हैं। केवल संयम, नियम, तपस्या करके अपने शरीरके बल या अहङ्कार द्वारा उनको कोई नहीं पाता। उनको पानेके लिए 'अहं'को छोड़ना पड़ेगा, अभिमानको दूर रखना होगा। अहङ्कारी बनकर चाहे हम जैसी घोर तपस्या क्यों न करें, उससे कुछ भोग्य विषय तो मिल जायगा, परन्तु आत्मदर्शन न होगा। आत्मदर्शन होता है उनकी कृपासे। उनकी कृपा वही प्राप्त कर पाता है जो उनके शरणागत होता है। शरणागत कैसे होते हैं? मनको जब कोई दूसरा आश्रय नहीं रहता, जब अन्य किसी विषय-भावनामें मन लिप्त नहीं होता, केवल उनका स्मरण करता रहता है और इस प्रकार स्मरण करते-करते जब जगत् भूल जाता है, अपनी देहको भूलकर तन्मयता प्राप्त हो जाती है, तभी

प्रकृत शरणागत-भाव प्राप्त होता है। इसके लिए मनुष्यको अपनी आयु, प्राण, इन्द्रिय, वाक्य आदि सब उस यज्ञपुरुषके अर्थ नियोजित करना पड़ता है।

इसीलिए वेदकी यह आदेशवाणी है—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्॥
वाग् यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पताम्॥ इत्यादि।

भजनशील पुरुष क्रिया करते-करते मनुष्यस्वभावको अतिक्रम करके देवत्वको लाभ करता है, तब वह अपने अन्तःशरीरमें अपने तेजोमय वपुका दर्शन कर कृतार्थ होता है। पश्चात् साधनाके तीव्र वेगसे प्राणकी स्थिरताके साथ मनोलय होने पर वह कैवल्यपदमें प्रतिष्ठित होता है। उसके पहले ही आत्माके महाकालरूप भावको समझ लेने पर सब कुछ आत्माका ही रूप है, यह बोधका विषय हो जाता है। उसको छोड़कर कुछ है ही नहीं, सब रूप उसी एकके भीतर प्रविष्ट होकर आत्मसंगोपन करते हैं, रहती है केवल एक अनन्त ज्योति, दशों दिशाओंमें प्रसरित एक अप्रमेय तेजोराशि —और रहता है उस अपार महिमाके द्रष्टाके रूपमें स्वयं साधक। परन्तु उस समय 'आपनार नाम मोर नाहिं पड़े मने' उसको अपना नाम भी याद नहीं आता। इस प्रकारसे कृतार्थ साधक द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानरूप महायोग-समाधिमें निमग्न होकर कालातीत अवस्था प्राप्त करता है। अर्जुनको यहाँ 'कुरुप्रवीर' कहा गया है। जो क्रिया करते हैं, उनमें जो विशेष ख्यातिसम्पन्न वीर अर्थात् अति उग्र साधक हैं उनके सिवा और कौन उनको देखनेमें समर्थ होगा?॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

अन्वय—ईदृक् (इस प्रकार) मम (मेरे) इदं (इस) घोरं रूपं (भयङ्कर रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) ते व्यथा (तुमको व्यथा) मा (न हो) विमूढभावः च (और विमूढभाव) मा (न हो) त्वं (तुम) व्यपेतभीः (विगतभय) प्रीतमनाः (प्रसन्नचित्त होकर) पुनः (फिर) मे (मेरे) इदं (इस) तत् रूपं (उस पूर्वरूपको) प्रपश्य (देखो)॥४९॥

श्रीधर—एवमपि चेत् तवेदं घोरं रूपं दृष्ट्वा व्यथा भवति तर्हि तदेव रूपं दर्शयामि इत्याह—मा ते इति। ईदृक् ईदृशं घोरं मदीयं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा अस्तु। विमूढभावो विमूढत्वञ्च मा अस्तु। विगतभयः प्रीतमनाश्च सन् पुनस्त्वं तदेव इदं मम रूपं प्रकर्षेण पश्य॥४९॥

अनुवाद—[इस प्रकारके भयङ्कर रूपको देखकर यदि तुमको व्यथा होती है तो पूर्व रूपको दिखलाता हूँ, यह बतलाते हैं]—मेरे इस प्रकारके घोर रूपको देखकर

तुमको व्यथा और विमूढ़भाव न हो। तुम विगतभय और प्रसन्नचित्त होकर पुनः मेरे उस पूर्वरूपको भलीभाँति देखो ॥४६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—इस रूपको देखकर तुमको मनमें डरना अच्छा नहीं—इसलिए इस व्याप्त रूपको अभयपूर्वक भलीभाँति देखो।—विश्वरूप दर्शन करके अर्थात् बृहत् कूटस्थकी ज्योतिको देखकर मनमें जो अस्वस्ति आती है, उस प्रकारका उद्वेग आना ठीक नहीं, परन्तु जो इसको पहले दर्शन करते हैं उनके लिए इस प्रकारका क्लेशानुभव स्वाभाविक है। इस अवस्थाको अतिक्रम किये बिना किसीके लिए भी उस अभय परम पदमें प्रतिष्ठित होनेका कोई उपाय नहीं है। साधकको प्रीतमना और उपयुक्त होकर इसका दर्शन करना पड़ेगा। उपनिषद्‌में इस प्रकार उपयुक्त और प्रीतमना होनेके लिए प्रार्थना-मन्त्र है—

युक्ताय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ श्वेता०।

हे सवितृदेव! (मेरे) मनको परमात्मामें संयोजित करके ब्रह्मानन्दाभिमुखी देवोंको (मन और इन्द्रियोंको) बुद्धिकी सहायतासे (साधनालब्ध एकाग्रताके द्वारा) बृहत् ज्योतिके अनुभवके उपयुक्त करो जिससे परमार्थ-लाभके उपाय-स्वरूप ध्यानादि कार्यमें मैं यथाशक्ति प्रयत्न कर सकूँ। इसके लिए 'युक्ताय मनसा' अर्थात् मनको संयोजित करना होगा।

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥

वह आत्मा ही महान् प्रभु है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लयका कर्त्ता है। वह पुरुष है अर्थात् देहपुरमें अवस्थित है, उससे निर्मल मुक्ति प्राप्त होती है, वह बुद्धि-सत्त्वका प्रेरक है। उसीकी प्रेरणासे स्वरूपमें अवस्थिति-रूप निर्मल परम पद प्राप्त होता है, वह सबका शासनकर्त्ता, ज्योतिःस्वरूप और अविनाशी है।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥

समस्त जगत्‌का जो कारण (प्राण) है, उसका भी जो कारण है, वह अरूप और अनामय है अर्थात् आध्यात्मिकादि तीनों तापोंसे रहित है (यही क्रियाकी परावस्था है)। जो लोग इसको नहीं जानते, वे केवल आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखोंको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि केवल देहमें और देहस्थ भोगकी ओर ही होती है ॥४६॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अन्वय—सञ्जय उवाच (सञ्जय बोले)—वासुदेवः (श्रीकृष्ण भगवान्ने) अर्जुनम् (अर्जुनको) इति उक्त्वा (इस प्रकार कहकर) भूयः (फिर) तथा (उसी) स्वकं रूपं (अपने चतुर्भुज रूपको) दर्शयामास (दिखलाया) महात्मा (विश्वरूप-धर श्रीकृष्ण) पुनः (फिर) सौम्यवपुः भूत्वा (सौम्यदेह धारण करके) भीतं एनं अर्जुनं (भीत इस अर्जुनको) आश्वासयामास (आश्वासन प्रदान किया) ॥५०॥

श्रीधर—एवमुक्त्वा प्राक्तनमेव रूपं दर्शितवान् इति सञ्जय उवाच—इतीति। श्रीवासुदेवः अर्जुनमेवं उक्त्वा यथापूर्वं आसीत् तथैव किरीटादियुक्तं चतुर्भुजं स्वीयं रूपं पुनः दर्शयामास। एनं अर्जुनं भीतमेवं प्रसन्नवपुः भूत्वा पुनरपि आश्वासितवान्। महात्मा विश्वरूपः कृपालुरिति वा ॥५०॥

अनुवाद—[सञ्जय कहते हैं कि] श्रीवासुदेवने अर्जुनको इतना कहकर पहलेकी तरह किरीट आदिसे युक्त अपने चतुर्भुज रूपको फिर दिखलाया। इस प्रकार प्रसन्नवपु होकर भय-विह्वल अर्जुनको आश्वासन प्रदान किया। महात्माका अर्थ है विश्वरूप अथवा कृपालु ॥५०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—दिव्य दृष्टिद्वारा अनुभव हो रहा है—इस प्रकार कहकर फिर उसी शान्त मूर्त्तिको धारण किया।—जो शान्त चतुर्भुज मूर्त्ति साधकको अतिप्रिय है, वही किरीटके समान प्रभायुक्त, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-विशिष्ट सौम्य मूर्त्ति भगवान्ने धारण की। यही चतुर्व्यूह-समन्वित विष्णुमूर्त्ति है, जो समस्त जगत्के भीतर प्रविष्ट हो रही है। विशुद्धसत्त्व हुए विना कोई उस वासुदेवका सन्धान नहीं पा सकता। यही उस ज्योतिका आभ्यन्तरीय रूप है। इसके चतुर्दिक किरीटके समान छटा रहती है। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-विशिष्ट जो भाव है उसको लेकर साधकेन्द्रगण मग्न रहते हैं, परन्तु जो गृहकर्ममें रत रहते हैं और साधना भी करते हैं, उन्हें बाध्य होकर कहना पड़ता है कि "दिव्यं रूपमिदं देव प्रसादेनोपसंहर"—यह जो ज्योतिर्मय प्रकाश है, इसका उपसंहार करो, अन्यथा कंस कहाँ रहेगा? कामना कहाँ रहेगी? कामनाके न रहने पर संसार-प्रवाह कैसे चलेगा? इसी कारण कंस न रहेगा इस भयसे इस चतुर्भुज मूर्तिको संवरण करनेके लिए अनुरोध कर रहे हैं। वासुदेवभाव या अवस्था प्राप्त योगीकी सारी कामनाएँ संकल्पमात्रसे सिद्ध होती हैं। परन्तु इस प्रकारकी कामना भी कहीं वशमें न कर ले, इसी कारण कंस (कामना)के भयसे साधक इस प्रकारका रूप संवरण करनेका अनुरोध करता है। द्विभुज शान्त मूर्त्तिमें योगैश्वर्यका प्रकाश नहीं रहता, परन्तु उनकी वंशीकी जो श्रुतिमधुर ध्वनि है उससे व्रजबालाएँ अर्थात् मनकी बहिर्मुखी चञ्चल वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं। वे सब कुछ भूलकर आत्माभिमुखी हो रहती हैं। यह द्विभुजमुरलीधर मूर्त्ति ही अन्तमें कंस या वासनासमूहका उच्छेद करती है। उस सुमधुर निनादको सुनकर वासनाकी वेगवती प्रगति अर्थात् कंसका ध्वंस हो जाता है। उसके आगे जो चतुर्व्यूह-समन्वित भाव है वह और भी उच्च कोटिके साधकोंके लिए है। साधनके प्रभावसे सत्त्व विशुद्ध हो जाने पर जब मनमें किसी कामनाका मल नहीं रहता,

तब वह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-समन्वित भावमें विभोर हो जाता है, तब विश्वरूप या कालचक्र उसको मुग्ध या भयविह्वल नहीं कर सकता ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—जनार्दन (हे जनार्दन!) तव (तुम्हारे) इदं (इस) सौम्यं मानुषं रूपं (सौम्य मनुष्यरूपको) दृष्ट्वा (देखकर) इदानीं (अब) सचेताः (अव्याकुलचित्त) संवृत्तः अस्मि (मैं हो गया हूँ) प्रकृतिं गतः (प्रकृतिस्थ हो गया हूँ) ॥५१॥

श्रीधर—ततो निर्भयः सन् अर्जुन उवाच—दृष्ट्वेदमिति। सचेताः प्रसन्नचित्तः इदानीं संवृत्तो जातोऽस्मि। प्रकृतिं स्वास्थ्यञ्च प्राप्तोऽस्मि। शेषं स्पष्टम् ॥५१॥

अनुवाद—[उसके बाद निर्भय होकर अर्जुन बोले]—'सचेतस्' शब्दका अर्थ है प्रसन्नचित्त, 'संवृत्तः अस्मि' का अर्थ है, मैं हुआ हूँ। प्रकृति शब्दका अर्थ है स्वास्थ्य। हे जनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त और स्वस्थ हो गया हूँ ॥५१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरके तेजके द्वारा अनुभव होता है—अब तुम्हारे मनुष्यरूपको देखकर मेरा मन मनमें आया अर्थात् चैतन्यप्राप्त हुआ।—भगवान्‌की अरूप-सत्ताके अतिरिक्त उनके तीन रूपमय व्यक्त भाव हैं। एक है विश्वरूप, जो साधारण साधकके लिए दर्शनीय नहीं है। यदि कहीं भाग्यवश उसका दर्शन प्राप्त होता है, तो उसको सहन करनेकी क्षमता अधिकांश साधकोंमें नहीं होती। द्वितीय रूप है पुरुषोत्तमरूप, वह नराकृति है और नराकृति नहीं भी है, वह क्या है यह बतलानेका कोई उपाय नहीं है। कबीर साहब कहते हैं—

परब्रह्मके तेजका कैसा है अनुमान।
का वाकी शोभा कहौं देखनको परमान॥

कबीर कहते हैं कि परब्रह्मके तेजका अनुमान कैसे हो सकता है? उसकी जो शोभा है, उसके बारेमें मैं क्या कहूँ? प्रत्यक्ष देखने पर ही वह समझमें आता है। जिसने देखा है वही उसका प्रमाण जानता है। अर्थात् हिरण्मय सिंहासन पर कूटस्थ और सम्मुखमें समस्त सिद्धगण बैठे हुए हैं, इस प्रकारके प्रकाशका प्रमाण देनेका कोई उपाय नहीं है, क्योंकि यह निज-बोधरूप है, जो देखता है वही जानता है।

अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ झलक्के ज्योति।
तहाँ कबीरा बन्दगी पापपुन्य नहिं छोति॥

कबीर कहते हैं कि वह स्थान अगम्य है, इन्द्रियोंके लिए गोचर नहीं, बुद्धि वहाँ जा नहीं सकती, वहाँ कोई चिन्ता नहीं अर्थात् मन नहीं, वहाँ पाप-पुण्य दोनों ही नहीं। इस प्रकारके स्थानसे ज्योतिकी झलक बाहर हुई, वहाँ कबीरने दण्डवत् प्रणाम किया।

जहाँ पवन नहिं संचरे तहाँ रची एक गेह।
अचरज एक जो देखिया सेंध कलेजा देह॥

[इस अवस्थाको पानेके लिए क्या उपाय करना चाहिए, यह कबीर बतला रहे हैं]—जहाँ पवनका सञ्चार नहीं वहाँ एक घर बनाया। आश्चर्य यह है कि हृदय और देहमें सेंध हो गयी है अर्थात् श्वास-प्रश्वास रहित हो गया है। उस समय श्वास सूक्ष्म रूपमें सुषुम्नाके भीतर तत्त्व-तत्त्वमें चल रहा है। गृहमें जैसे वास किया जाता है उसी प्रकार सुषुम्नामें वास करनेसे सुषुम्ना गृहवत् हो गयी। इस अवस्थामें एक आश्चर्य दीखा कि हृदयमें धुकधुकी नहीं है, प्राण भीतर ही भीतर चल रहा है।

उन्मन लागी शून्यमें निशदिन रह गलतान।

तन मनकी कछु सुधि नहिं पाया पद निरबान॥

कबीर उन्मनीमें अटक कर शून्य देखने लगा। रात दिन गलेमें टान रहती है, शरीर और मनकी कोई खबर नहीं, निर्वाण-पद पा गया। अर्थात् ऊर्ध्वमें मणि अटक जानेसे साधक कूटस्थ ब्रह्ममें (शून्यमय) रहा और दिनरात गलेमें टान (जालन्धर मुद्रा) बनी रही। नशेमें बुत रहनेसे किसी विषयमें आसक्ति नहीं रही। वह निर्वाण-पद पा गया। जिसको सर्वदा जालन्धर मुद्रा बनी हो, जान लो कि उसने निर्वाणपद पा लिया। निर्वाण = वाण-रहित, वाण वह है जिसके द्वारा जीवमात्र विद्ध हो रहे हैं।

तृतीय रूप—द्विभुज मुरलीधर श्यामसुन्दर रूप है। इस रूपमें कोई आडम्बर नहीं है, केवल पीताम्बरमें आवृत नील नभके समान श्याम ज्योति और उनकी मुरली ध्वनि! 'रग् रग् बोले रामजी, रोम् रोम् रंकार'—अविच्छिन्न भावसे प्रणवका मधुर निक्वण हृदय-मनको मतवाला कर देता है। उस ध्वनिको सुनते-सुनते चित्त लय हो जाता है, देह और जगत्की सुधि नहीं रहती। जैसे साधुओंकी धूनिमें सदा आग जलती रहती है, उसी प्रकार देह-घटमें श्वास-प्रश्वासकी जो सहज धूनि चलती रहती है, उसमें मन लगाये रखो, तब देखोगे कि "हिरदे हरि हरि होत है, मुखकी हाजत नाहिं"—अपने आप हृदयमें श्यामसुन्दरकी वंशी बज उठती है, नाम अपने आप ध्वनित होता है और मुँहसे नाम लेनेकी आवश्यकता नहीं होती।

इस अवस्थामें चित्त प्रशान्त और प्रसन्न होता है। अर्जुनको व्यक्त भावके द्वितीय भाव पुरुषोत्तमरूपका दर्शन हुआ। वह दुर्निरीक्ष्य नहीं है, बल्कि जीवमात्रके अभीष्टको सिद्ध करनेवाली इष्ट मूर्त्ति है॥ ५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥ ५२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—मम (मेरा) इदं (यह) सुदुर्दर्शं (सुदुर्लभ-दर्शन) यत् रूपं (जो रूप) दृष्टवान् असि (तुमने देखा है) देवाः

अपि (देवता भी) अस्य रूपस्य (इस रूपके) नित्यं दर्शनकांक्षिणः (नित्य दर्शनकी आकांक्षा करते हैं) ॥ ५२ ॥

श्रीधर—स्वकृतस्य अनुग्रहस्य अतिदुर्लभत्वं दर्शयन् श्रीभगवानुवाच—सुदुर्दर्शमिति। यत् मम विश्वरूपं त्वं दृष्टवान् असि इदं सुदुर्दर्शम् अत्यन्तं द्रष्टुम् अशक्यम्। यतो देवा अपि अस्य रूपस्य सर्वदा दर्शनमिच्छन्ति केवलम्। न पुनः इदं पश्यन्ति ॥ ५२ ॥

अनुवाद—[अपने अनुग्रहके अति-दुर्लभत्वको दिखलाते हुए] श्रीभगवान् बोले—मेरे जिस विश्वरूपका तुमने दर्शन किया है, उसको देखना अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि देवता लोग भी इस रूपको देखनेकी सदा इच्छा करते हैं, पर देख नहीं पाते ॥ ५२ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थ द्वारा अनुभव हो रहा है—इस प्रकारका देखना बहुत दुःखसे मिलता है—जो तुमने देखा है देवता लोग भी अर्थात् क्रियान्वित व्यक्ति भी इस रूपकी सर्वदा इच्छा करते हैं जो देखते हैं।—अर्जुनने जिस पुरुषोत्तम रूपका दर्शन किया है, उसको देखना कोई सहज बात नहीं है, देवता लोग भी उसे नहीं देख पाते। देवता वे हैं जो चरित्रवान् और साधनशील पुरुष हैं। साधन करने पर भी सब साधकोंको इस रूपको देखनेकी शक्ति नहीं होती। अद्वैतावस्थामें सब एक हो जाता है, उस समय एक कहने वाला भी कोई नहीं रहता। यह क्रियाकी परावस्थामें ही उपलब्ध हो सकता है। द्वैतावस्थामें कूटस्थके भीतर अगणित रूप दीख पड़ते हैं, अन्तमें सब रूप एकरूप (ज्योतिमात्र) अद्वैतभावमें पर्यवसित हो जाते हैं। उस समय वह उस अपूर्व अवस्थाका द्रष्टा-मात्र होता है। पुरुषोत्तम-रूप पूर्ण अद्वैतभाव-स्वरूप न होने पर भी विशिष्टाद्वैत भाव है। अद्वैतभावसे कुछ द्वैतभावकी ओर उतरते ही यह पुरुषोत्तम नारायण-रूप साधकको दर्शन होता है। यह भी अति सुदुर्लभ दर्शन है। बहुतसे साधक इस अपूर्व रूपका दर्शन करनेकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु देख नहीं पाते। यह वासुदेव-मूर्त्ति अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है। सुदूर आकाशमें विद्युद्-विलसित नवजलधर-श्यामल अपूर्व श्यामसुन्दर मूर्त्ति! आकाशपट पर मानो अनेक मूर्त्तियाँ अङ्कित दीख पड़ती हैं। वे मूर्त्तियाँ वास्तविक अङ्कित होती हैं या कल्पना मात्र हैं? कल्पना होने पर भी जैसे एक प्रकारका अनुभव होता है, यह भी बहुत कुछ उसी ढंगका अनुभव है ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

अन्वय—मां यथा (मुझको जिस प्रकार) दृष्टवान् असि (तुमने देखा है) एवंविधः अहं (इस प्रकार मैं) न वेदैः (न वेदाध्ययनके द्वारा) न तपसा (न तपस्याके द्वारा) न दानेन (न दानके द्वारा) न च इज्यया (और न यज्ञके द्वारा) द्रष्टुं शक्यः (दृष्ट हो सकता हूँ) ॥५३॥

श्रीधर—तत्र हेतुमाह—नाहमिति। स्पष्टोऽर्थः ॥५३॥

अनुवाद—(इसका हेतु बतला रहे हैं)—मुझको जिस रूपमें तुमने देखा है, वह रूप वेदाध्ययन, तपस्या, दान अथवा यज्ञके द्वारा दर्शन नहीं किया जा सकता ॥५३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई जान-सुनकर, क्रिया दान करके—ॐकार-क्रिया करता है—कूटस्थमें रहकर—यह रूप कोई नहीं देख पाता जिसको तुमने देखा है :—केवल आत्मतत्त्वको जान लेने, सुन लेने अथवा आत्मतत्त्वको जाननेके उपायस्वरूप क्रियासाधनको करने या कूटस्थमें रहनेसे भी यह रूप देखनेमें नहीं आता। इस रूपको देखनेकी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। साधनमें विशेष परिपक्वता आये बिना इस रूपको दर्शन करनेका सामर्थ्य नहीं प्राप्त होता। यह दर्शन, आत्मदर्शन है। वेद कण्ठस्थ करनेसे या अन्य किसी याग-यज्ञ अथवा तपस्याके द्वारा इसका अनुभव नहीं किया जाता। 'मैं' या आत्माको देखनेका एकमात्र उपाय है क्रियाके द्वारा अनुभवपद प्राप्त करना। क्रियाकी परावस्थासे ही यह अनुभव-पद प्राप्त होता है, इसके लिए अन्य मार्ग नहीं है। हृदय-ग्रन्थि भेद होनी चाहिए। अविद्या आदि संस्कारोंके नष्ट हुए बिना संशय छिन्न नहीं होता। हृदयस्थित कामनाके रहते अविद्या या अज्ञान नष्ट नहीं होता। यह अज्ञान नष्ट कब होता है? "तस्मिन् दृष्टे परावरे"—जब वह परावर ब्रह्म साधकके आत्मचैतन्यसे अभिन्नरूपमें दृष्ट होता है। वह कहाँ है—

> मनोमयः प्राणशरीरनेता
> प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
> तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
> आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ मुण्डक २।२।८

आत्मा केवल मनोवृत्तिके द्वारा ही अनुभव-गोचर होता है, इसी कारण वह मनोमय है। वह 'प्राणशरीरनेता' अर्थात् प्राण और शरीरका नियन्ता है। इन दोनोंको इस स्थूलशरीरसे दूसरे सूक्ष्मशरीरमें ले जानेके लिए यह कर्त्ता है। पुण्डरीक-रन्ध्रमें बुद्धि या हृदयको सन्निवेशित करके वह अन्नमें प्रतिष्ठित है अर्थात् अन्न द्वारा परिपुष्ट देहमें अवस्थित है। 'हृदयं सन्निधाय'—हृदय अर्थात् बुद्धिको (स्थिर प्राणको) शीर्षस्थ ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापन करने पर उसकी नित्य अवस्थिति या प्रकाशका ज्ञान होता है। 'तद्विज्ञानेन'—गुरूपदिष्ट साधनके द्वारा प्राणको स्थिर करके धीर व्यक्ति उस आत्म-तत्त्वको जानता है। वह आनन्दस्वरूप और अमृतस्वरूप है। प्राणायाम-साधनके द्वारा प्राणोंका प्राण ब्रह्मस्वरूपिणी सुषुम्नामें दौड़ता है, वहाँ जाने पर अग्निकी अपेक्षा भी प्रज्वलित ज्योतिस्वरूप कूटस्थ देखा जाता है। वह गायत्री-छन्दः-स्वरूप चतुर्थ पाद ब्रह्म है, वहाँ जाने पर सब बन्धनोंसे मुक्ति मिल जाती है और श्वेतद्वीपनिवासी उत्तम पुरुषमें लीन हो जाता है। पश्चात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म सर्वव्यापक परमात्मा पुरुषको देखता है और वही हो जाता है। क्रियाका अभ्यास करते-करते इच्छा-रहित हो जाता है और ब्रह्मपदको पाता है ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥

अन्वय—परन्तप अर्जुन (हे परन्तप अर्जुन !) तु (किन्तु) अनन्यया भक्त्या (अनन्य भक्तिके द्वारा) एवंविधः अहं (इस प्रकार मैं) तत्त्वेन (स्वरूपतः) ज्ञातुं (जाननेमें) द्रष्टुं च (और देखनेमें) प्रवेष्टुं च (और प्रवेश करनेमें) शक्यः (समर्थ हूँ) ॥५४॥

श्रीधर—तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्य इति ? तत्राह—भक्त्या त्विति । अनन्यया मदेकनिष्ठया भक्त्या तु एवम्भूतो विश्वरूपोऽहं तत्त्वेन परमार्थतो ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतः, द्रष्टुं प्रत्यक्षतः, प्रवेष्टुं च तादात्म्येन शक्यः, नान्यैः उपायैः ॥५४॥

अनुवाद—[तब किस उपायसे यह रूप देखा जाता है, इसके उत्तरमें कहते हैं)—मदेकनिष्ठ भक्तिके द्वारा ही इस प्रकारका विश्वरूप-मैं शास्त्रतः परमार्थरूपमें ज्ञात हो सकता हूँ, प्रत्यक्षरूपमें दृष्ट हो सकता हूँ और तादात्म्यरूपमें (अभिन्न होकर) प्रविष्ट हो सकता हूँ, अन्य किसी उपायसे नहीं ॥५४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अनन्य भक्ति द्वारा करके—अर्थात् सर्वदा आत्मामें रहकर गुरुवाक्यमें विश्वास करके यह रूप देख सकता है जान सकता है—देख पाता है तत्त्वेन अर्थात् पञ्चतत्त्वमें रहकर—क्रिया करके प्रकृष्टरूपसे आवेश करने पर ।—ब्रह्मकी अपार महिमा न जान सकनेके कारण उनके अस्तित्वमें भी सन्देह होनेकी संभावना है । क्रियाकी परावस्थामें रहना ही ब्रह्मभाव है, अतएव बिना क्रियाके उनकी महिमा जानना सम्भव नहीं । क्रिया करते-करते जब क्रियाकी परावस्थामें पूर्ण स्थिति लाभ होती है तब फिर मन दूसरी ओर नहीं जाता, इसका ही नाम 'अनन्य भक्ति' है । गुरुवाक्यमें विश्वास करके जो क्रिया करते हैं, वह अपने आप सब कुछ समझ लेते हैं । आत्मा जब मन, इन्द्रिय आदिके भावमें भावित होता है तभी वह जीव होता है और इन्द्रियाँ तथा उनका कर्त्ता मन जब आत्मामें लीन हो जाते हैं और आत्मा परमात्मामें लीन हो जाता है तब इन्द्रियाँ भी ब्रह्मस्वरूप हो जाती हैं । जीव सब वस्तुओंमें रहता है परन्तु आसक्तिपूर्वक रहता है, परमात्मा भी सब वस्तुओंमें रहते हैं परन्तु निर्लिप्त भावसे । क्रियाकी परावस्थामें नशेमें रहकर सब कर्म करता है । इस शरीररूपी चक्रका मध्यभाग है नाभि, जहाँ समान वायु रहती है, वह समान वायु ही स्थिरत्व या ब्रह्मपद है । वहाँ रहने पर अपने आप राजा होता है यानी समस्त इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं, एक प्रकारका विचित्र नशा होता है जिसमें चैतन्य रहता है और आनन्द होता है । इस प्रकार उनके स्वरूपका ज्ञान होता है । कूटस्थके भीतर नक्षत्रस्वरूप ज्योति दीख पड़ती है, उसके भीतर त्रिलोक स्थित हैं । वह प्रकाशस्वरूप दीप्ति है । उसके भीतर पहले अग्नि पश्चात् विद्युत् और उसके बाद सूर्यका प्रकाश है । इस प्रकार जो दिव्यचक्षु है वही ब्रह्म है, जगन्मय व्याप्त है । उसके भीतर प्रवेश किया

जा सकता है। कूटस्थके भीतर जो नक्षत्र है वह गुहास्वरूप है, उसमें प्रवेश करने पर आश्चर्यजनक दृश्य दीखते हैं! वहाँ रहकर सब कुछ देखा जाता है। वह गुहा ही आश्रय होता है, उसमें ही ब्रह्म अवस्थित हैं, उस ब्रह्ममें रहते-रहते साधक तद्रूप हो जाता है। उस समय भीतर ही भीतर श्वास चलता है, भ्रूमध्यमें दृष्टि रहती है, प्राण और अपान समान रूपसे अवस्थिति करते हैं, वायु नासिकाके भीतर ही विचरण करती है—इस प्रकारकी अवस्थाका नाम ही निष्कल अवस्था है, यह क्रिया करते-करते अपने आप होती है। चित्स्वरूप कूटस्थमें रहते-रहते ब्रह्ममें रहना होता है, ब्रह्ममें रहने पर साधक ब्रह्म ही हो जाता है। जब सब ब्रह्म हो जाता है तो दूसरा कुछ नहीं रहता और अद्वितीय ब्रह्मका बोध होता है। इस ज्ञानका नाम ही कैवल्य है। सर्वदा क्रिया करने पर कैवल्यपद लाभ होता है। अर्थात् जो केवल कुम्भकमें सदा रहता है और संसारके सब व्यापारोंमें रहते हुए भी कैवल्यपदमें आरूढ़ रहता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। इसके लिए योगाभ्यास करना आवश्यक है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—बलहीन पुरुष आत्मस्वरूपसे अवगत नहीं हो सकते। योगबल ही प्रकृत बल है ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यः (जो आदमी) मत्कर्मकृत् (मेरा कर्मानुष्ठान करता है) मत्परमः (मत्परायण है) मद्भक्तः (मेरा भजन करनेवाला है) सङ्गवर्जितः (आसक्तिशून्य है) सर्वभूतेषु निर्वैरः (सब भूतोंमें शत्रुभावरहित है) सः (वह) माम् एति (मुझको प्राप्त होता है) ॥ ५५ ॥

श्रीधर—अतः सर्वशास्त्रार्थसारं परमं रहस्यं शृणु इत्याह—मत्कर्मकृत् इति । मदर्थं कर्म करोतीति मत्कर्मकृत्, अहमेव परमः पुरुषार्थो यस्य सः, ममैव भक्तः मामेव आश्रितः, पुत्रादिषु सङ्गवर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरश्च एवम्भूतो यः स मां प्राप्नोति नान्य इति ॥ ५५ ॥

देवैरपि सुदुर्दर्शं तपोयज्ञादिकोटिभिः ।
भक्ताय भगवानेवं विश्वरूपमदर्शयत् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां सुबोधिन्यां विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अनुवाद—[अब सब शास्त्रोंका सारभूत जो परम रहस्य है, उसे बतलाते हैं]—मदर्थं अर्थात् मेरे लिए जो कर्म करते हैं, मैं ही जिनका परम पुरुषार्थ हूँ, मेरा भक्त अर्थात् जो मेरे आश्रित हैं, पुत्रादिमें आसक्ति-रहित तथा सर्वभूतोंमें वैरशून्य हैं, वही मुझको प्राप्त होते हैं और कोई मुझको नहीं पाता ॥५५॥

देवताओंके द्वारा और कोटि-कोटि तप-यज्ञादिके द्वारा जो विश्वरूप सुदुर्लभ-दर्शन है, उसका दर्शन भगवान्ने अपने भक्तको कराया ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मेरा ही कर्म करो अर्थात् क्रिया करो, जो गुरुमुखसे जानी जाती है—मेरे ऊपर—कूटस्थमें रहना—देख सुनकर गुरुवाक्यमें विश्वास—अतएव अन्य वस्तुमें इच्छा न जाय इस प्रकार देखे—सर्वदा निर्मल ब्रह्ममें रहकर जब सबको समान रूपसे देखेगा तब वैरभाव कभी न होगा—जो कोई इस प्रकारकी अवस्थामें रहता है, वह मुझको पाता है अर्थात् अपने आपमें रहता है—जो क्रियाकी परावस्था है।—इस श्लोकमें समस्त गीता-शास्त्रका सारभूत उपदेश लिपिबद्ध हुआ है। श्रीमच्छङ्कराचार्यका भाष्य यहाँ उद्धृत करता हूँ। "अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थः निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्य उच्यते, मत्कर्मकृत्—मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्करोति इति मत्कर्मकृत्। मत्परमः—करोति भृत्यः स्वामिकर्म न त्वात्मनः परमा प्रेत्य गन्तव्या गतिरिति स्वामिनं प्रतिपद्यते अयं तु मत्कर्मकृत् मामेव परमां गतिं प्रतिपद्यते इति मत्परमः अहं परमः परा गतिर्यस्य सोऽयं मत्परमः। तथा मद्भक्तः—मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते इति मद्भक्तः। सङ्गवर्जितः—धनपुत्रमित्रकलत्रबन्धुवर्गेषु सङ्गवर्जितः सङ्गः प्रीतिः स्नेहस्तद्वर्जितः। निर्वैरः—निर्गतवैरः सर्वभूतेषु शत्रुभावरहितः आत्मनः अत्यन्तापकार-प्रवृत्तेष्वपि। य ईदृशो मद्भक्तः स मामेत्यहमेव तस्य परा गतिः नान्या गतिः काचित् भवत्ययं तवोपदेशः इष्टः मया उपदिष्टः हे पाण्डव! इति"—अब सब गीताशास्त्रका जो सारभूत अर्थ है तथा जो एकमात्र निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्तिका उपाय है उसके अनुष्ठानके लिए उपदेश देते हैं—'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरे लिए जो कर्म किया जाय उसका नाम है मत्कर्म, वह मत्कर्म जो करता है उसको मत्कर्मकृत् कहते हैं। भृत्य प्रभुके लिए कर्म करता है अपना कर्म नहीं करता, फिर भी वह प्रभुको अपने परलोककी गति या आश्रय नहीं समझता। परन्तु जो भक्त मेरा कर्म करता है वह मुझको ही ऐहिक और पारलौकिक एकमात्र गति समझता है, जो ऐसा जानता है उसको ही 'मत्परम' कहते हैं। 'मद्भक्तः'—जो मुझको ही सबका आत्मा समझकर सब प्रकारसे भजन करता है वह मद्भक्त है। 'सङ्गवर्जितः'—धन, पुत्र, मित्र, पत्नी और बन्धुवर्गमें जिसको सङ्ग अर्थात् प्रीति या स्नेह नहीं उसको सङ्गवर्जित कहते हैं। 'निर्वैरः'—प्राणियोंमें यदि कोई अत्यन्त अपकार करनेमें भी प्रवृत्त हो तो भी उसके ऊपर जिसकी शत्रुता-बुद्धि नहीं होती, वही निर्वैर है। इस प्रकारका गुणसम्पन्न भक्त ही मुझको पा सकता है अर्थात् मैं उसकी परम गति होता हूँ, उसकी अन्य कोई गति नहीं होती।

पूर्व श्लोकमें कह चुके हैं कि अनन्य भक्तिके द्वारा ही मेरे तत्त्वको जान सकोगे, मेरे स्वरूपका दर्शन कर सकोगे और मुझमें प्रविष्ट हो सकोगे। भक्त कौन है?—जो अनन्यशरण है, जिसको कोई दूसरा आश्रय नहीं है। वही उसके एकमात्र आश्रय हैं, इस भावसे जो भगवान्को निरतिशय प्रीतिके साथ भजन करता है वही भक्त है। भक्तको क्या करना होगा? मत्कर्मकृत् होना पड़ेगा। भगवान्के कर्म क्या हैं? जब भगवान्के सिवा और कुछ नहीं रहता, तब सभी कर्म भगवत्कर्म हो जाते हैं। परन्तु देहाभिमानके वश समस्त कर्मोंका कर्ता जीव अपनेको ही समझता है, भगवान्को नहीं

समझता। समस्त कर्म भगवान्‌के ही हैं, इसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। कर्म करते हैं किस लिए?—किसी उद्देश्यकी साधनाके लिए। अतएव कर्म करते समय शरीर, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धिकी आवश्यकता तो है ही, अहङ्कारकी भी आवश्यकता है। परन्तु यदि प्राण न रहे तो देह-इन्द्रियाँ आदि भी कर्म करनेमें समर्थ नहीं होतीं। अतएव प्राण ही देहेन्द्रिय आदिके रूपमें तथा उनकी कर्म-चेष्टाके रूपमें परिणामको प्राप्त होता है। प्राणके बिना कोई कर्म नहीं होता। इस प्राणका सब प्रकारसे अपना निजी कर्म क्या है?—श्वास-प्रश्वासका ग्रहण और त्याग। यह ग्रहण और त्याग ही जीवन है। जीवन ही समस्त कर्मोंका मूल कारण है। जीवनसे ही मन या इच्छा तथा इच्छानुकूल कर्मचेष्टा है। श्वास और प्रश्वासका यह ग्रहण-त्याग जब बन्द हो जाता है तो मन या सङ्कल्प नहीं रहता और मनके न रहने पर इन्द्रियाँ अकर्मण्य जड़ पदार्थ-मात्र हो जाती हैं। सबमें चैतन्यका सञ्चार करता है प्राण। यह प्राण ही भगवान् या परमात्माकी मुख्य शक्ति है अतएव यह प्राण-कर्म ही भगवत्कर्म है। उनका कर्म प्राणरूपमें अभिव्यक्त होकर सबको प्रकाशित करता है। सबके भीतर चैतन्य जाग्रत करता है, उस चैतन्यके अभावमें यह अखिल विश्व एक विराट् जड़ स्तूपमात्रमें पर्यवसित हो जायगा।

'मैं' या आत्मा ही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, स्वर्गादि नहीं—इस प्रकारका स्थिर निश्चय जिसको हो गया है, वह मुझमें प्रवेशकी चेष्टा करेगा। मेरा सन्धान उसे कैसे मिलेगा? किसी बाह्य वस्तुमें या किसी मानसिक कल्पनामें मुझको खोजकर कोई नहीं पा सकता। जिस श्वासके बहिर्गमनागमनके कारण यह सारा बाह्य व्यापार चल रहा है, वह बाह्य उपायोंसे किसी प्रकार भी रुद्ध होने वाला नहीं है। श्वास प्राणका कर्म है और प्राण जब उनकी मुख्य शक्ति है, तब श्वास ही उनकी प्रकृत क्रिया-शक्ति हुई। जो मन्त्र मनको त्राण करता है वह मन्त्र श्वास-प्रश्वास है, तन्त्रमें श्रीमहादेवजीका यही वचन है। अतएव कण्टकके द्वारा कण्टक-उद्धारके समान, जिस प्राण-क्रियासे यह जगद्-व्यापार संघटित हो रहा है उस जगद्-व्यापारसे मनको लौटानेके लिए इसी श्वास-प्रश्वासके भीतर आश्रय लेना पड़ेगा। अतएव उनको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है आत्मकर्म या प्राणकर्म। अपने आपमें रहनेका नाम है ज्ञान या ब्रह्मकी स्वरूपावस्था। प्राणायाम वह कर्म है जिसका साधन करते-करते परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्म अकर्म हैं, प्राण-साधना ही एकमात्र आत्मकर्म है, इसका साधन करते-करते परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। यह 'मत्कर्म' जो करते हैं वे ही 'मत्परम' हो जाते हैं। गुरूपदेशके अनुसार क्रिया करने पर कूटस्थका प्रकाश होता है और उनमें रहना बनता है। जब वही हमारे सर्व कालके एकमात्र गति जान पड़ते हैं, तभी वास्तविक 'मत्परम' अवस्था आती है। इस अवस्थामें अवस्थित साधकको सङ्गवर्जित अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् अन्य किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा भी मनमें नहीं उठती। इच्छाशून्य (आसक्ति-शून्य) होने पर मनकी समता आती है, वही अत्यन्त सुनिर्मल ब्रह्मभाव है। लोग फलासक्त होकर कर्मकाण्डमें लगते हैं।

यह चाहिए वह चाहिए करते हुए जगत् तथा अपने लिए घोर अशान्ति बुला लेते हैं। मनका यह वैषम्यभाव अशान्तिका जनक और मुक्तिका बाधक है। सारे मल इसी भावसे उत्पन्न होते हैं और जीवको हर्ष-विषादके वशीभूत करके उसके साम्य-भावको नष्ट कर देते हैं। परन्तु ब्रह्मभाव भावित साधककी सर्वत्र समदृष्टि होनेके कारण किसीको मित्र और किसीको शत्रुरूपमें समझनेकी बुद्धि नहीं होती। यह समदृष्टि-सम्पन्न साधक जगत्को, जीवोंको और अपनेको ब्रह्मके साथ अभेदभावसे देखता है। मनकी चञ्चलताके रहते भगवान्की स्वरूप-सत्ताके साथ अपनेको अभिन्न भावसे नहीं देख सकते। प्राणकर्मकी साधनाके द्वारा जो उनके एकान्त शरणापन्न होते हैं उनकी आत्मविस्मृत दृष्टिके सामने शत्रु-मित्र, स्वजन-परजनका ज्ञान नहीं रहता। उनकी एकमात्र चेष्टा होती है भगवत्-सत्तामें आत्माभिमान विसर्जित करके उनका ही हो जाना। जो उनका हो जाता है, वह वही हो जाता है। ध्याता ध्येयके आकारमें अवस्थान करता है। यही अनन्यशरणकी अवस्था है। अनन्यशरणभाव साधकको चरम अपरोक्षानुभूति प्रदान कर कैवल्य-मुक्तिका अधिकारी बना देता है। तब वह निर्वैर हो जाता है। जबतक द्वितीय पदार्थका अनुभव होता है, तभी तक भेदभाव है, तभी तक शत्रु-मित्रका बोध होता है। वस्तुतः जो इदं-रूपमें ज्ञेय है वह दृश्य पदार्थ है और दृश्यका जो प्रकाशक है वह द्रष्टा या अहं है, इस अहंकी प्रत्ययगोचर वस्तु ही दृश्य है। यह द्रष्टा-दृश्यरूप भेद अज्ञान-कल्पित है अर्थात् देहदृष्टिके कारण होता है। स्वकीय स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान नहीं रह सकता, अज्ञानकल्पित चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। वस्तुतः जगत्में द्वितीय कुछ नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य-भावापन्न होकर एक दूसरेको देखता है। इसीसे उपनिषद्में कहा है—'यदा द्वैतमिव भवति तदा इतर इतरं पश्यति'। क्रियाकी परावस्थामें एक आत्माके सिवा और कोई वस्तु नहीं रहती, अतएव उसके सामने फिर सर्वभूत नहीं रहते, सब एक ही भूत हो जाते हैं। यह अवस्था भङ्ग होने पर भी साधक दृश्य प्रपञ्चको द्रष्टासे अभिन्नरूपमें समझ पाता है। इस प्रकार सर्वभूतमें समदर्शी साधकमें इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं रह जाती, राग-द्वेष भी नहीं रहता, तब उसकी अहिंसा प्रतिष्ठित होती है, सब भूतोंमें समज्ञान होता है, किसीको भी दुःख देनेकी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। केवल इस प्रकारके अहिंसा-प्रतिष्ठित पुरुषका ही वैरत्याग होता हो, ऐसी बात नहीं है, उसके सामने उपस्थित होने पर हिंस्रपशुकी भी हिंसा-बुद्धि लुप्त हो जाती है। इसीसे योगदर्शनमें ऋषिने कहा है—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"। उपर्युक्त भावापन्न साधक ही आत्म-दर्शनके उपयुक्त है, वह विश्वरूप-दर्शन भी कर सकता है, वह वासुदेवरूपमें सब भूतोंमें प्रविष्ट पुरुषोत्तमरूपका भी दर्शन कर सकता है। पश्चात् क्रियाकी परावस्थामें वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। क्रियाकी परावस्थाके परे भी जो स्मृति रहती है उसमें भी बड़ा आनन्दानुभव होता है, अनुभव होता है कि विषय-रहित होकर मैं एक अपूर्व आनन्दमें स्थिर था! मनकी इस जाग्रत अवस्थामें भी सबके भीतर आनन्दका प्रकाश देखा जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि एक परमानन्द-

सत्ता ही अनन्त सत्ताकारमें परिदृष्ट हो रही है। परावस्थाके बाद इस प्रकार आत्म-दृष्टिसम्पन्न होकर सब प्रकाशको ब्रह्मका प्रकाश जानकर जो पूजा की जाती है वही 'शुक्लपूजा' है और क्रियाकी परावस्थामें जब ब्रह्मके सिवा और कुछ अनुभव नहीं होता, तभी 'कृष्णपूजा' होती है। मन जब ब्रह्ममें लीन हो जाता है तब ब्रह्म 'व्यक्त' अर्थात् निजबोध होता है, और मन जब विषयासक्त होता है तब ब्रह्म 'अव्यक्त' होता है अर्थात् निजबोध नहीं रहता। यह जो जगत् आदिका बोध होता है, वह वैसा ही है जैसे जलमें बुद्बुद् व्यक्तावस्थामें जलसे उठता है और कुछ क्षणोंके बाद जलमें लीन हो जाता है, जल तो ज्योंका त्यों रहता है परन्तु कुछ समयके लिए उसमें उत्पत्ति और ध्वंसका ज्ञान होता है। अन्य अवस्थान्तर नहीं होता, जलसे ही वह आता है और जलमें ही लय हो जाता है। यह दृश्य चराचर जगत् भी उसी प्रकारका है। "प्राण एजति निःसृतम्"—जबतक प्राण है, तबतक सब कुछ वर्तमान है, प्राणके स्थिर होते ही समस्त दृश्य पदार्थोंका विलय हो जाता है। अतएव सदा प्राणकी क्रिया करके सब कुछ प्राणमय या आत्ममय कर दो। तभी ब्राह्मी स्थिति लाभ कर सकोगे। क्रियाकी परावस्थाकी परावस्थामें मन अन्य दिशामें जानेके कारण ही उत्पत्ति है, ऐसा न हो तो प्रलय अर्थात् 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' हो जाता है। क्रिया करके स्थिर होने पर स्थिर बुद्धि होती है, यह स्थिर बुद्धि ही परा बुद्धि या क्रियाकी परावस्था है। प्राण जबतक चक्षुमें है तबतक जाग्रत, जबतक कण्ठमें है तब-तक स्वप्न, हृदयमें है तो सुषुप्ति और मस्तकमें है तो तुरीय अवस्था होती है। देखते ही मन आँखोंमें जाता है, मनके जाने पर सृष्टि होती है, इस अवस्थाका देवता ब्रह्मा है। वही मन कण्ठमें रहकर देख-सुन कर किंकर्त्तव्यविमूढ़के समान मानो स्थिर हो जाता है, इस स्थितिके अधिष्ठाता विष्णु हैं। इस प्रकार मग्न रहनेके बाद सब नष्ट हो जाता है, उस नाशका देवता रुद्र है। यह सृष्टि, स्थिति, प्रलय है अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं। इसके आगे मूर्द्धामें तुरीय अवस्था है जो अक्षर ब्रह्म है। ब्रह्मके अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं है। तब "हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः" हृदयमें प्राणवायुकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति होती है। -तुरीयावस्था होने पर ही प्राणवायु हृदयमें स्थिर होती है। स्थिर होते ही सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। यही ब्रह्मके चार पाद अर्थात् चार स्थानोंमें स्थिति है। नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन चार स्थानोंमें चतुष्पाद ब्रह्म प्रकाशित हो रहे हैं। जाग्रत—नाभिमें वायु रहने पर दूसरी ओर मन जाते ही आँखकी पलकें झपकती हैं और नाना विषयोंमें मन धावमान हो जाता है। क्रिया करके इस वायुके नाभिमें स्थिर रहने पर मन स्थिर रहता है और आँखकी पलकें नहीं पड़तीं यह स्थिरता ही अनुभव-स्वरूप ब्रह्मका एक पाद है। हृदयसे कण्ठ पर्यन्त जो वायु चलायमान है उसके द्वारा स्वप्नवत् बाहरकी वस्तुएँ देखकर जीव मोहित होता है, भीतर भी तद्रूप स्वप्नवत् दीख पड़ता है और उससे भी मोहित होता है। उस वायुके स्थिर होने पर बाहर-भीतर स्वप्न नहीं दीखता। जिसको ब्रह्मज्ञान होता है उसका लक्षण होता है स्वप्न न देखना। उस समय हृदयमें सदा सुषुप्तावस्था रहती है। इन तीन पादोंके ऊपर जो वायु है उसका नाम है अमृत। वह वायु ऊर्ध्वमें

अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर गगन-सदृश क्रियाकी परावस्थामें रहती है। उसको ही चतुर्थ पाद या तुरीयावस्था कहते हैं।

प्राणकी मूर्द्धामें स्थिति होते ही तुरीयावस्था होती है। जिसको यह अवस्था प्राप्त होती है वह ब्रह्मरूप हो जाता है। "सः मां एति" वही मुझको पाता है॥५५॥

इति श्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके एकादश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त॥

द्वादशोऽध्यायः

(भक्तियोगः)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)—एवं (इस प्रकार) सततयुक्ताः (निरन्तर अनन्यशरण होकर) ये भक्ताः (जो भक्त लोग) त्वां (तुम्हारी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ये च अपि (और जो लोग) अव्यक्तं अक्षरं (अव्यक्त अक्षर ब्रह्मकी) [उपासना करते हैं] तेषां (उनमें) के (कौन) योगवित्तमाः (श्रेष्ठ योगविद् हैं) ॥१॥

श्रीधर—निर्गुणोपासनस्यैव सगुणोपासनस्य च।
श्रेयः कतरदित्येतन्निर्णेतुं द्वादशोद्यमः ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्येवं भक्तिनिष्ठस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम्। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' इत्यादिना च तत्र तस्यैव श्रेष्ठत्वं वर्णितम्। तथा 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यादिना, 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' इत्यादिना च ज्ञाननिष्ठस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम्। एवमुभयोः श्रेष्ठ्येऽपि विशेषजिज्ञासया भगवन्तं प्रत्यर्जुन उवाच—एवमिति। एवं सर्वकर्मार्पणादिना सततयुक्ताः त्वन्निष्ठाः सन्तो ये भक्ताः त्वां विश्वरूपं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं पर्युपासते ध्यायन्ति; ये चाप्यक्षरं ब्रह्म अव्यक्तं निर्विशेषं उपासते—तेषां उभयेषां मध्ये के अतिशयेन योगविदः श्रेष्ठा इत्यर्थः ॥१॥

अनुवाद—निर्गुण उपासना और सगुण उपासना—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है, यह निर्णय करनेके लिए इस द्वादश अध्यायका उद्यम अर्थात् आरम्भ होता है।

[पूर्वाध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि द्वारा भक्तिनिष्ठका श्रेष्ठत्व कहा गया है, तथा 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' (नवम अध्याय) इत्यादि श्लोकोंमें भी उसकी (अर्थात् भक्तिनिष्ठ व्यक्तिकी) ही श्रेष्ठता वर्णित है। फिर 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' इत्यादि सप्तम अध्यायके श्लोकोंमें तथा 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव' इत्यादि चतुर्थ अध्यायके श्लोकोंमें ज्ञाननिष्ठ व्यक्तिका श्रेष्ठत्व कहा गया है। दोनोंका ही श्रेष्ठत्व कथित होनेके कारण विशेषरूपसे जिज्ञासा करनेके लिए भगवान्से अर्जुन बोले]—इस प्रकार सर्वकर्मसमर्पण आदिके द्वारा सतत-युक्त अर्थात् त्वन्निष्ठ होकर जो भक्त लोग विश्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तुमको ध्यान करते हैं एवं जो अव्यक्त निर्विशेष अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं—इन दोनोंमें कौन अतिशय योगवित् अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ है ?

[श्रीमद् आचार्य शङ्करने इस श्लोकके भाष्यमें जो कहा है, उसका अनुवाद यह है—"द्वितीय अध्यायसे दशम अध्याय पर्यन्त दो विषय कहे गये हैं—(१) सर्व-विशेषणविमुक्त अर्थात् नाम-रूपादिवर्जित अक्षर परब्रह्मकी उपासना कही गयी है, (२) सर्वयोगैश्वर्यसम्पन्न सर्वज्ञानशक्तिसमन्वित जो सत्त्व है, उसके द्वारा विशेषित जो परमेश्वर हैं, उनकी भी उपासना कही गयी है। विश्वरूपके अध्यायमें तुमने जगदात्म-स्वरूप आद्य ईश्वरसम्बन्धी त्वदीय विश्वरूप दिखलाया है। उपासनार्थ ही इस प्रकार विश्वरूप दिखलाया है और उसे दिखलाकर तुमने कहा है कि 'मत्कर्मकृत्' उपासक-गण मुझको प्राप्त होते हैं। अब निर्गुण और सगुण—इन द्विविध उपासनाओंमें कौन विशिष्टतर है, यह समझनेके लिए मैं तुमसे जिज्ञासा करता हूँ। अर्जुन कहते हैं कि इस प्रकार 'सततयुक्त' निरन्तर भगवत्प्रीतिके लिए विहित कार्योंमें सदा रत रहकर अनन्य शरण होकर जो भक्तलोग तुम्हारे उस दर्शित विश्वरूपकी उपासना अर्थात् ध्यान किया करते हैं, तथा जो लोग सर्वेषणा त्यागपूर्वक सर्व प्रकारके कर्म संन्यस्त करके पूर्वोक्त सब विशेषणोंसे रहित अव्यक्त परब्रह्मकी उपासना करते हैं—इन दो प्रकारके उपासकोंमें कौन उपासक योगवित्तम हैं अर्थात् अतिशयरूपमें योग जानते हैं ?] ॥१॥

आध्यात्मिक व्याख्या—शरीरका तेज कह रहा है—इस प्रकार जो सर्वदा अटका रहता है—क्रिया करता है गुरुवाक्यमें विश्वास करके—और जो कूटस्थकी उपासना या योनिमुद्रा करते हैं—जो क्या है कहा नहीं जा सकता—इनमें कौन उत्तम योगी है ?— श्रीमद् आचार्य शङ्कर कहते हैं कि 'सततयुक्ताः' वे हैं जो "नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ यथोक्तेऽर्थे समाहिताः सन्तः प्रवृत्ता इत्यर्थः"। भगवत्कर्मादिमें शास्त्रानुसार जो निरन्तर निरत रहते हैं, तथा जो अव्यक्त परब्रह्मकी उपासना करते हैं, इन द्विविध उपासकोंमें कौन उपासक उत्तम योगी हैं ? श्रीमद् रामानुज स्वामीने 'के योगवित्तमाः' का अर्थ किया है, 'के स्वसाध्यं प्रति शीघ्रगामिनः ?' अर्थात् इन उभय योगियोंमें निज साध्य वस्तुके समीप शीघ्र कौन पहुँचता है ? प्रश्न यह है कि कौन-सा उपाय अवलम्बन कर लक्ष्य वस्तुके पास शीघ्र पहुँच सकते हैं। उपाय दो हैं—(१) गुरूपदेशके अनुसार क्रिया करते जाना। क्रिया करते-करते ऐसी एक अवस्था प्राप्त होती है (जिसको क्रियाकी परावस्था कहते हैं) जिसके द्वारा ब्रह्मभावमें भावित साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यह क्रिया ही व्यक्तावस्थाका साधन है। क्यों है यह बतलाते हैं—आत्मा ही प्राणाकारमें प्रकाशित होकर जगत् सृष्टि करता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—'स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते'। शङ्कर अपने भाष्यमें इसका अर्थ करते हैं—'यह भोक्ता प्राण ही वैश्वानर और विश्वरूप है। सर्वात्मक होनेके कारण वही प्राण अग्निस्वरूप भी है।' 'स ईक्षाञ्चक्रे—कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि इति'—उस षोड़शकला-विशिष्ट पुरुषने चिन्तन किया था कि (देहसे) किसके उत्क्रान्त होने पर मैं उत्क्रान्त हूँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर मैं भी प्रतिष्ठित हूँगा।

"स प्राणमसृजत्, प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्न-मन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोकाः लोकेषु च नाम च"—उस पुरुषने उपर्युक्त प्रकारसे ईक्षण

या चिन्ता करके समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियोंके आधार और अन्तरात्मा हिरण्यगर्भ-संज्ञक प्राणकी सृष्टि की। उस प्राणसे समस्त शुभकर्ममें प्राणियोंकी प्रवृत्तिका हेतु श्रद्धा तथा इससे कर्मफलोपभोगके साधनाश्रय कारणस्वरूप महाभूतोंकी सृष्टि की। इसी प्रकार ज्ञान और कर्मका सम्पादन करने वाली ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों तथा इन सबके प्रभु या सञ्चालक, संशय और सङ्कल्प आदि लक्षणोंसे युक्त देहमध्यस्थ मन तथा प्राणियोंके कार्य (देह) और करण (इन्द्रियों)की सृष्टि की, उसके बाद इनकी रक्षाके लिए व्रीहियवादिरूप अन्न, तदनन्तर भुक्त अन्नसे सब कार्योंमें प्रवृत्तिका साधन वीर्य अर्थात् सामर्थ्य एवं उपर्युक्त वीर्यसम्पन्न प्राणियोंकी शुद्धि करने वाली तपस्या, वेदरूपी मन्त्रसमूह, कर्म (यज्ञादि), कर्मफल-स्वरूप लोकादि तथा लोकोंमें नाम—इन कलाओंकी सृष्टि की। यह तो हुई सृष्टिकी व्यक्त दिशा, उसके विपरीत ये सृष्ट पदार्थ जब अपने-अपने कारणमें विलीन होकर पुरुषको प्राप्त होकर नाम-रूप शून्य हो जाते हैं तब केवल 'पुरुष' मात्र कहे जाते हैं—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।"

इस पुरुषको जानना आवश्यक है, "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः"—मुण्डक। केवल इस आत्माको ही जानो, अन्य सारी बातें छोड़ो, यही अमृत या मोक्षप्राप्तिका सेतु है। यह पुरुष ज्ञात होगा कैसे? "आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषेच्छाया एतस्मिन्नेतदाततं, मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।" आत्मासे यह प्राण जन्मग्रहण करता है। पुरुष-देहमें जैसे छाया समुत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह प्राण भी इस आत्मामें आतत या अनुगत होता है, मानसिक सङ्कल्प या इच्छा आदिके द्वारा सम्पादित कर्मोंके अनुसार छायाके समान यह शरीरमें आगमन करता है। 'अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्'। रथचक्रकी नाभिमें अरा अर्थात् शलाकाओंके समान सब कुछ इस प्राणमें अवस्थित रहता है।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥

हे प्राण! तुम प्रजापति होकर गर्भमें विचरण करते हो और (मातापिताके) अनुरूप होकर जन्म ग्रहण करते हो। ये जो मनुष्यादि प्रजागण हैं, सभी तुम्हारे उद्देश्यसे चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा बलि उपहार दिया करते हैं। तुम चक्षु आदि प्राण-समूहके साथ सारे शरीरमें अवस्थित हो, इसलिए तुम्हारे उद्देश्यसे बलि आहरण करना समुचित ही है, क्योंकि तुम ही भोक्ता हो और दूसरे सब भोग्य हैं।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञाञ्च विधेहि न इति॥

त्रिलोकमें जो कुछ अवस्थित है, वह सब प्राणके वशीभूत है। हे प्राण! माता जिस प्रकार पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार हमारी रक्षा करो और हमारे लिए सम्पत् और कल्याण-बुद्धिका विधान करो।

"यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते—एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते।"

संसारमें सम्राट् जैसे अधिकृत विभिन्न लोगोंको विभिन्न ग्रामादिके शासनमें नियुक्त करता है, ठीक उसी प्रकार प्राण भी अन्य प्राणोंको पृथक् पृथक् भावसे उनके अपने-अपने विषयोंमें नियुक्त करता है।

"पायूपस्थेऽपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः, एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।"

प्राण, अपानको पायु और उपस्थ देशमें नियुक्त करता है, प्राण स्वयं चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिकामें अवस्थान करता है, प्राण और अपान स्थानके बीचमें नाभिदेशमें समान वायु अवस्थान करती है। यह समान वायु ही भुक्त अन्नको समता प्रदान करती है। हृदय-देशस्थ इस जाठर अग्निसे शीर्षवर्ती सात प्रकारकी दीप्ति निकलती है अर्थात् रूप-रसादि विषयोंकी अनुभूति-स्वरूप दर्शन-श्रवण आदि रूप प्रकाश प्राणके द्वारा ही निष्पन्न होता है।

"हृदि ह्येष आत्मा, अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।" 'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यलोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।"

पद्मके सदृश मांसपिण्डद्वारा परिव्याप्त हृदयाकाशमें यह आत्मा अर्थात् आत्म-सम्बन्धी लिङ्गरूपी जीवात्मा है। इस हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, इन एक-एक प्रधान नाड़ियोंमें एक-एक सौ विभाग हैं। पुनश्च इस प्रत्येक शाखानाड़ीमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। आदित्य-मण्डलसे निकलती हुई रश्मियोंके समान हृदयसे सब अवयवोंमें गमन करने वाली नाड़ियोंके द्वारा समस्त देहमें व्याप्त होकर व्यान वायु वर्तमान है। शरीरकी सन्धियाँ, स्कन्धदेश, मर्मस्थान तथा प्राणवृत्ति और अपान-वृत्तिके बीचमें अर्थात् प्राणापानके सन्धिस्थलमें व्यान वायुका कार्य अभिव्यक्त होता है।

तत्पश्चात् उदान वायु है। उन एक शत एक नाड़ियोंमें सुषुम्ना नामक एक ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी है, उसके द्वारा उदान वायु ऊर्ध्वगामी होकर पादतलसे मस्तक पर्यन्त सर्वत्र विचरण करते हुए जीवको पुण्यवश पुण्यलोकमें और पापवश पापलोकमें ले जाती है, उभय द्वारा अर्थात् पाप और पुण्य दोनोंके समानरूपसे प्रधान होने पर मनुष्य-लोकको प्राप्त कराती है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति॥

मृत्युके समय जीवका चित्त जिस विषयमें आसक्त रहता है, उसी चित्तके साथ जीव मुख्य प्राणको प्राप्त होता है। फिर मुख्य प्राण तेजोयुक्त होकर अर्थात् उदान-वृत्तिके सहित सम्मिलित होकर पुण्य और पापकर्मोंके अनुसार उस भोक्ताको यथा-सङ्कल्पित लोकमें ले जाता है।

"य एवं विद्वान् प्राणं वेद, न हास्य प्रजा हीयते अमृतो भवति।"
जो विद्वान् इस प्रकार प्राणको जानता है, उसकी प्रजा कभी विच्छिन्न नहीं होती अर्थात् वंशलोप नहीं होता। वह स्वयं अमृतत्वको प्राप्त करता है।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा।
अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते ॥

उपासक प्राणकी उत्पत्ति अर्थात् परमात्मासे प्राणका जन्म, आयति अर्थात् मनके द्वारा सम्पादित धर्माधर्मके फलस्वरूप इस शरीरमें आना, स्थान अर्थात् पायु और उपस्थादि स्थानोंमें अवस्थान, विभुत्व अर्थात् सम्राट्के समान प्राणकी वृत्तिके भेदसे अपानादि वायुको पाँच प्रकारसे स्थापन, बाह्यरूपसे आदित्यादि रूपमें अवस्थान और अध्यात्म अर्थात् चक्षु आदि आकारमें अवस्थान—प्राणको इस प्रकार जानकर जीव अमृत भोग करता है।

'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्'—ये सारे जागतिक पदार्थ प्राणसे निकले हैं और प्राणसत्तामें स्पन्दित हो रहे हैं। सब प्राण एक ही हैं। वही मुख्य प्राण भिन्न-भिन्न मार्गोंमें विभक्त होकर विभिन्न स्थानोंमें रहकर विभिन्न नाम ग्रहण करता है। श्वास-प्रश्वासरूपमें वायु जीवका प्राण है। जबतक श्वास है तबतक प्राण है, तबतक सुख-दुःखादि भोग हैं। इस श्वास-प्रश्वासरूप चञ्चल प्राणकी सहायतासे ही स्थिर प्राणमें पहुँचा जा सकता है। उस स्थिर प्राणका व्यक्त भाव ही यह श्वास-प्रश्वास है। तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है—'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।' वायु तुमको नमस्कार, तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप हो। प्राणशक्ति जब स्थूलरूपमें आत्मप्रकाश करती है, तब वायुरूपमें ही इसका प्रकाश होता है। हमारा श्वास-प्रश्वास प्राणकी बाह्य अभिव्यक्ति है। इसी कारण बाह्य वायु अर्थात् श्वास-प्रश्वासके स्थिर होने पर वायुदेवता महाप्राणमयी महालक्ष्मीका अस्तित्व और आविर्भाव समझा जा सकता है। यह प्राणशक्ति विश्वको बाहर-भीतरसे धारण किये हुए है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राणवायु उस विश्वाधार महाप्राणशक्तिके ही पञ्च प्रकारके प्रवाह हैं। श्वास-प्रश्वासरूपी प्राणन-क्रिया सामान्य वायुप्रवाहके नामसे उपेक्षणीय नहीं है, यही हमारा जीवन है। अव्यक्त स्थिर महाप्राणका ही यह पञ्चप्राण विक्षोभ-मात्र है। इसके ही द्वारा यह स्थूल शरीर विधृत है। ये सब उस महाशक्तिके ही प्रकाश या तरङ्ग-मात्र हैं। महाशक्ति प्राण ही आद्या शक्ति या मूला प्रकृति है, वही प्राण ब्रह्मा, विष्णु, शिव और समस्त देवोंकी शक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। ब्रह्माण्ड और उसके भीतरके सारे जीव और वस्तुएँ उस प्राण-समुद्रके बुद्बुद-मात्र हैं। दुर्गासप्तशतीमें इस महाप्राणको लक्ष्य करके कहा गया है—

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥

तुम्हीं सत्त्वरजस्तमोगुणमयी त्रिगुणा प्रकृति हो, तुम्हीं समस्त जगत्के मूल कारण हो। रागादि दोषोंके वश तुम परिज्ञात नहीं होती हो। तुम हरिहरादिके लिए भी ध्यानके द्वारा अगम्य हो। तुम सर्वाश्रया हो अर्थात् जो कुछ है सब तुमको आश्रय

करके ही रहता है। यह निखिल ब्रह्माण्ड तुम्हारा ही अंशभूत है, परन्तु तुम अव्याकृता परमा आद्या प्रकृति हो (जिसके द्वारा अवच्छेदरहित परमात्मा जीवभावमें अवच्छिन्न-वत् होकर रहते हैं)। चञ्चल प्राण (अविद्या)के कारण यह संसार प्रत्यक्ष हो रहा है, साधनके द्वारा उस प्राणके स्थिर होने पर सारी इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि सब एक हो जाते हैं, तब जिससे इन सबोंकी उत्पत्ति है उस परा प्रकृतिके भीतर मिलकर वे सब एक हो जाते हैं। वह मिलन-स्थान ही सर्वशक्तिका कारण है, वही ब्रह्म है। जो क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें अटका रहता है, वही उस महाप्राणका सन्धान पाता है, वह तब अक्षर ब्रह्मको जानकर सर्वज्ञ हो जाता है और उसमें प्रवेश कर सकता है। निरन्तर प्राणकी साधना करने पर इस प्रकार अटकनेकी अवस्था प्राप्त होती है, वह अवरुद्ध रूप है। इस अवस्थामें मनकी वृत्ति तिरोहित होनेसे मन परमानन्दमें मग्न होकर परमानन्द-स्वरूप आत्मा बन जाता है। जो लोग सतत इस प्राण-कर्ममें व्यापृत रहकर उनकी उपासना करते हैं अर्थात् उनके समीपस्थ होना चाहते हैं, वे उनका सान्निध्य प्राप्त करते हैं, उनमें तन्मयता प्राप्त कर वही हो जाते हैं, यही व्यक्त या प्राण (श्वास-प्रश्वास)की उपासनाका फल है। ऐसे साधक धीरे-धीरे क्रमशः क्रियाकी परावस्था प्राप्त करके मुक्ति लाभ करते हैं।

द्वितीय उपाय कूटस्थकी उपासना—अव्यक्तकी उपासना है, जो योनिमुद्राकी सहायतासे योगियोंको प्राप्त होती है। कूटस्थ अव्यक्त है, इसी कारण वह सब जीवोंके भीतर रहता तो है पर आच्छादित भावसे रहता है। बाहरसे जैसे प्राण या श्वासकी उपलब्धि की जाती है, यह उस प्रकारसे उपलब्ध नहीं होता। जो व्यक्त नहीं तथापि जिसके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता, जिसको स्पर्श भी नहीं कर सकते, जो अतीन्द्रिय होते हुए भी बोधगम्य है, वही कूटस्थ ब्रह्मका रूप है।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥

रजोगुणसे रहित और कलाशून्य ब्रह्म ज्योतिर्मय परमकोषमें अवस्थित हैं। वह शुभ्र हैं, ज्योतियोंकी भी ज्योति हैं, उनको आत्मवेत्ता लोग जानते हैं।

परन्तु यह कूटस्थ ब्रह्म आवृत या आच्छादित है अर्थात् चक्षुसे देखा नहीं जाता। इसका प्रमाण क्या है? ईशोपनिषद्में लिखा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हे पूषन्! (जगत्-पोषक) हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र द्वारा उस सत्य-स्वरूप ब्रह्मकी उपलब्धिका मार्ग आवृत हो गया है, तुम उसको हटा दो, तुम्हारी उपासना तथा धर्मकी सेवासे मैंने सत्यधर्मको प्राप्त किया है। इस हिरण्मय पात्रके आवरणको तुम उन्मुक्त करो, जिससे मैं सत्य और आत्म-स्वरूप तुम्हारे रूपका दर्शन कर सकूँ।

परमात्माका वह ज्योतिर्मय रूप देहावरणके भीतर गुप्त है। गुरुकी कृपासे साधनद्वारा वह द्वार खुल जाता है, कूटस्थका वह परम ज्योतिर्मय रूप दीखने लगता है।

अब अर्जुनका प्रश्न है कि इन दोनों उपायोंमें कौन अधिक सुगम है, यह मुझको समझाओ ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)—मयि (मुझमें) मनः आवेश्य (मनको संस्थापित करके) नित्ययुक्तः (नित्य योगाभिलाषी होकर अर्थात् सतत उद्योगशील होकर) परया श्रद्धया (परम श्रद्धा द्वारा) उपेताः (युक्त होकर) ये (जो लोग) माम् उपासते (मेरी उपासना करते हैं या चिन्तन करते हैं) ते (वे) युक्ततमाः (युक्ततम) [हैं] मे मताः (मेरे मतसे) ॥२॥

श्रीधर—तत्र प्रथमाः श्रेष्ठा इति उत्तरं श्रीभगवानुवाच—मयीति । मयि परमेश्वरे सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टे । मन आवेश्य एकाग्रं कृत्वा । नित्ययुक्ता मदर्थकर्मानुष्ठानादिना मन्निष्ठाः सन्तः श्रेष्ठया श्रद्धया युक्ता ये माम् आराधयन्ति ते युक्ततमा मम अभिमताः ॥२॥

अनुवाद—[इनमें जो प्रथम अर्थात् सगुण उपासक हैं वे ही श्रेष्ठ हैं, यही भगवान् उत्तर देते हैं]—सर्वज्ञत्वादि-गुण-विशिष्ट मुझ परमेश्वरमें मन एकाग्र करके मदर्थ कर्मानुष्ठान द्वारा 'मन्निष्ठ' तथा श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर जो मेरी आराधना करते हैं, वे ही मेरे मतसे युक्ततम हैं ॥२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—कूटस्थके द्वारा अनुभव हो रहा है—क्रियाके परे मन आवेश करता है—स्थितिपूर्वक नित्य अटका रह कर उपासना करता है—जो ज्यादा अटका रहता है, वही अच्छा है।—पण्डितोंने सगुण-निगुण या साकार-निराकारकी उपासना को लेकर यहाँ बड़ी गड़बड़ी मचायी है। जो निर्गुण है, अनिर्देश्य है, उसकी उपासना नहीं होती। निर्गुण-निराकारकी उपासनामें मन क्या सोचेगा? उनको चाहे जो कहो, असीम कहो या अनन्त कहो, हम मुखके द्वारा उनकी गुणरहित अवस्थाकी थाह नहीं प्राप्त कर सकते। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको लेकर ही तो हमारी दौड़ है, ये चाहे जितनी लम्बी-चौड़ी हाँके, मन-बुद्धिके लिए यह साध्य नहीं कि उनका निर्देश करे। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'—जिनको व्यक्त करनेकी चेष्टामें वाणी मनके साथ लौट आती है, क्या वह किसीके चिन्तनगम्य हो सकते हैं? एक बृहत् वस्तु आकाश या समुद्रको पूर्णतः देखना सम्भव न होने पर भी उसको देखते ही हमारी बुद्धिमें इतना तो आ ही जाता है कि वह हमारे इन्द्रिय-ज्ञानकी सीमाके बाहर है। अतएव जब हम एक विशाल वस्तुकी धारणा नहीं कर पाते हैं, तब अचिन्त्य बृहत् ब्रह्मवस्तुका चिन्तन कैसे कर सकेंगे? अतएव जो ध्यानका विषय नहीं है, उसके सम्बन्धमें चिन्तन या ध्यानका उपदेश कैसे दिया जा सकता है? न तो शास्त्र और न भगवान् ही यह उपदेश देते हैं। "सालम्बस्यानित्यत्वं निरालम्बस्य शून्यता"—अवलम्बनयुक्त अर्थात् साकार-ध्यान अनित्य है। जो है वह जायगा ही यह सोचकर

यदि निरालम्बका ध्यान करो तो वह भी केवल शून्यका ध्यान होगा, दोनों ओर ही दोष है। प्रपञ्चोपशम तुरीयावस्था अव्यवहार्य है, और जो व्यवहार्य अर्थात् इन्द्रिय और मनका विषय है, वह प्रपञ्च या मायिक है। अतएव विभिन्न रूपोंसे प्रलाप करने पर भी ब्रह्म हमारे बोधका विषय नहीं होते। उनको जाननेके लिए क्या करना पड़ेगा? "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"—कोई-कोई धीर पुरुष अपने नित्यसिद्ध स्वभाव या स्वरूप प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रत्यगात्माका दर्शन करते हैं। कैसे धीर पुरुष—जिनकी इन्द्रियाँ सब विषयोंसे प्रत्याहृत हो गयी हैं।

इससे समझा जा सकता है कि जीवका एक नित्य सिद्ध स्वरूप है, जो जीव-देहमें आत्मचैतन्य रूपसे प्रकटित है तथा व्यापक है। वह दीख पड़ता है परन्तु इन आखोंसे नहीं। जो विवेकी है अर्थात् विषयासक्त नहीं और जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे सदा विनिवृत्त होती हैं वही देख पाता है।

इसके लिए दृष्टिका शोधन आवश्यक है। दृष्टिका शोधन कैसे होता है? "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र चिन्तनात्"—मन जब किसी वस्तुको ग्रहण करनेके लिए उद्यत हो तब यह चिन्तन करना पड़ेगा कि वह वस्तु, वस्तु-मात्र नहीं, बल्कि ब्रह्म ही है। यह चिन्तन करते-करते वस्तुका रूप-गुण अर्थात् उसके विशेषण दृष्टिमें नहीं आवेंगे। नाम-रूपादि विशेषणोंकी विच्युति घटित होने पर वह केवल सत्तामात्र बोध होगा। 'सत्'-स्वरूपकी प्रतीति होने पर उसके सामने तत्त्वभाव स्फुटित होता है। इस समय जगत् आदि रूपमें जो अनुभव हो रहा है तब वह सब भगवान्की उपाधि जान पड़ेंगे, पश्चात् वह सब भगवद्-रूप अनुभव होने लगेंगे, यही साधकका विश्वरूप-दर्शन है।

परन्तु ये सारी बातें बाह्य आलोचना-मात्र हैं। साधकको वास्तविक विश्वरूप-दर्शन होता है, जैसे गीतामें अर्जुनको दृष्ट हुए विश्वरूपका वर्णन है। अवश्य ही उसको कोई भाग्यवान व्यक्ति ही देख पाता है, सबके लिए इसका घटित होना दुर्लभ है। परन्तु मन लगाकर प्राणायाम क्रिया करने पर प्रतिदिन कुछ-कुछ मन अवरुद्ध होता जाता है और मनका वह अदम्य चाञ्चल्य भी कम होने लगता है। मन पूर्णतः निर्विषय होकर कुछ क्षण ठहर सकता है, क्रमशः उसकी साधनाकी शक्ति बढ़ती है, मनको निविष्ट करके यदि वह साधना करता है और बहुत देर तक प्रतिदिन नियमित भावसे करता है, तो अवरुद्ध भावकी स्थितिका काल बढ़ता जाता है। उसकी इन्द्रियाँ और मन सब प्रकारसे विषय-चिन्तासे विरत होकर स्थिररूप धारण करते हैं। मनके इस प्रकारके प्रत्याहारके वश जिसकी उपर्युक्त अवस्था अतिशय वृद्धिको प्राप्त होती है, वह परम शान्तिपद प्राप्त करता है। अल्प चेष्टाके फलस्वरूप भी जो स्थिति प्राप्त होती है, वह भी बड़ी ही शान्ति और आनन्दप्रद अवस्था है। अतएव उसके साथ योगयुक्त होनेके लिए क्रियाकी परावस्थाके समान कोई दूसरा सुन्दरतर उपाय नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान्ने इस उपायको ही, इस शरणागत भावको ही युक्तम रूपमें वर्णित किया है।

इस उपायको शरणागतभाव कैसे कह सकते हैं ? चित्तकी वृत्तियोंका प्रवाह सदा सञ्चरणशील होता है, उसके ही फलस्वरूप जीवका जन्म-जन्मान्तरव्यापी क्लेशभोग होता है। मनकी विक्षेप और आवरण शक्तियोंके द्वारा जीव अपनेको भूलकर विषयभोगकी ओर दौड़धूप करता रहता है। इन सब क्लेशोंका मूलबीज प्राणके भीतर निहित रहता है। किसी प्रकारका सङ्केत या उत्तेजना पाते ही प्राणका प्रवाह अस्वाभाविक रूपसे वेगयुक्त हो जाता है। प्राणका वह स्पन्दित भाव ही मनरूपमें इधर-उधर दौड़ता है। श्वासके ऊपर ध्यान देने या प्राणायामपरायण होने पर श्वास-प्रश्वासमें समता आती है, तब मनका चाञ्चल्य दूर हो जाता है। इस प्रकार मन विषयमुखी न होकर आत्ममुखी हो जाता है। मनके इस आत्माभिमुख भावका नाम ही 'शरणागति' है। यह शरणागति भाव जितना ही बढ़ता है उतना ही नाद प्रकाशित होता जाता है। नादके प्रकाशके साथ मन आनन्दमें मग्न होकर जगत्को भूल जाता है। तब श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनि द्वारा अपहृतचित्ता गोपाङ्गनाएँ जैसे सर्वस्वकी उपेक्षा करके श्रीकृष्णकी ओर दौड़ गयी थीं उसी प्रकार योगीका चित्त वेणुनादसे मोहित होकर परम स्थिर-स्वरूप परमात्माके साथ मिल जाता है। अतएव क्रिया ही वस्तुतः अध्यात्मविद्या है, इसके द्वारा प्रकृत आत्मज्ञान होता है। और सब अविद्या है, उसके द्वारा अतीन्द्रिय किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। यह साधना करते-करते वीर्य अर्थात् आन्तरिक बल होता है, वह बल ही इच्छारहित और कामनारहित अवस्था है। यह ब्रह्मवीर्य जिसका जितना ही बढ़ता है वह उतना ही अमृतपदको प्राप्त करता है। क्रमशः उस पदमें रहते-रहते साधक तद्रूप अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अन्वय—ये तु (परन्तु जो) अनिर्देश्यं (यह ऐसा है, इस प्रकारके निर्देशके अयोग्य) अव्यक्त (इन्द्रियोंके अगोचर अर्थात् रूपादिविहीन) सर्वत्रगं (सर्वत्र विद्यमान) अचिन्त्यं (मनके चिन्तन से परे अर्थात् अगोचर) कूटस्थं (जो मिथ्या होते हुए भी सत्यरूपमें प्रतीयमान होता है वह कूट है, उस कूटमें जो अवस्थित है अर्थात् मायामय जगत्के अधिष्ठातृरूपमें जो अवस्थित है) अचलं (स्थिर निर्विकार) च ध्रुवं (शाश्वत, ह्रासवृद्धिहीन नित्य) अक्षरं (निर्विशेष ब्रह्मको) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ॥ ३ ॥

अन्वय—इन्द्रियग्रामं संनियम्य (इन्द्रियोंको सम्यक् संयत करके) सर्वत्र समबुद्धयः (सर्वत्र सम अर्थात् ब्रह्मबुद्धि-सम्पन्न होकर) सर्वभूतहितेरताः (सब जीवोंके कल्याणार्थ नियुक्त) ते (वे) माम् एव (मुझको ही) प्राप्नुवन्ति (प्राप्त होते हैं) ॥ ४ ॥

श्रीधर—तर्हि इतरे किं न श्रेष्ठा इति ? अत आह—ये त्विति द्वाभ्याम् । ये तु

अक्षरं पर्युपासते ध्यायन्ति तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्ति इति द्वयोः अन्वयः। अक्षरस्य लक्षणं अनिर्देश्यं इत्यादि अनिर्देश्यशब्देन निर्देष्टुं अशक्यम्। यतः अव्यक्तं रूपादिहीनम्। सर्वत्रगं सर्वव्यापि। अव्यक्तत्वादेव अचिन्त्यम्। कुटस्थं कूटे मायाप्रपञ्चे अधिष्ठानत्वेन अवस्थितम्। अचलं स्पन्दनरहितं अतएव ध्रुवं नित्यं वृद्ध्यादिरहितम्। स्पष्टमन्यत् ॥३-४॥

अनुवाद—[तो क्या अपर अर्थात् निर्गुणोपासक श्रेष्ठ नहीं हैं, इस विषयमें दो श्लोकोंमें कह रहे हैं]—जो इन्द्रियोंको संयत करके सर्वत्र समबुद्धि होकर अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं। अनिर्देश्य इत्यादि पदोंसे अक्षरका लक्षण बतला रहे हैं। अनिर्देश्य अर्थात् जिसका निर्देश नहीं किया जा सके, क्योंकि वह अव्यक्त अर्थात् रूपादिहीन हैं। सर्वत्रग अर्थात् सर्वव्यापी हैं। अव्यक्त होनेके कारण अचिन्त्य हैं। कूटस्थ—कूटमें अर्थात् मायाप्रपञ्चमें अधिष्ठानरूपमें अवस्थित हैं। अचल अर्थात् स्पन्दनरहित हैं, अतएव ध्रुव और नित्य अर्थात् वृद्ध्यादि रहित हैं ॥३-४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई कूटस्थमें रहता है—जहाँ जाता है वहीं कूटस्थको देखता है तथा सब विषयोंमें अचिन्त्य ब्रह्मको कूटस्थरूपमें चिन्तन करता है—स्थिर होकर निश्चिन्तरूपमें।

इन्द्रियोंको निःशेषरूपसे संयम करके सबको समान रखकर—देखकर बुद्धिको स्थिर करके—वह मुझको पाता है निश्चय और वह जिसमें सब जीवोंका कल्याण होता है अर्थात् क्रिया बतला देता है—इसमें ही उसका मन सर्वदा रहता है।—सब मनुष्योंका चित्त तो एक प्रकारका नहीं होता, इसलिए साध्य वस्तु एक होने पर भी साधनाकी प्रणालीमें कुछ-कुछ पार्थक्य होना स्वाभाविक है। देखनेमें आता है कि किसीका चित्त सहज ही द्रवीभूत होता है और किसीका नहीं। कोई संसारमें भोग्य वस्तुओंको लेकर उन्मत्त है और किसीका चित्त बिल्कुल ही भोग-प्रवण नहीं होता। किसीकी चित्तवृत्ति अत्यन्त विक्षेपयुक्त होती है और किसीका चित्त खूब स्थिर होता है। कोई भगवान्‌को सब रूपोंमें देखकर आनन्दसे उत्फुल्ल होता है और कोई सबके भीतर उसी एक सत्ताको समझ कर स्तम्भित हो जाता है। कोई सहज ही विश्वास कर लेता है, कोई विचार करनेके बाद ग्रहण करना चाहता है। ये सारे विविध संस्कार चित्तके भीतर रहते हैं।

पूर्व संस्कार या साधनाभ्यासके वश जो कर्मफलमें और भोगादिमें विरक्त हैं, उनके लिए ज्ञानयोग अनुकूल पन्था है। "निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु"—इस प्रकारकी जिनकी प्रकृति है उनकी साधना है ज्ञानमार्ग।

यदारम्भेषु निर्विण्णः विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

जब योगी कर्मसे निर्विण्ण और तत्फलमें विरक्त होता है, तब उसको संयतेन्द्रिय होकर आत्मत्याग द्वारा, जिससे मन अचल हो, उसी प्रकारके धारणाभ्यासमें मनको लगाना चाहिए। मनके रहने पर उसमें किसी न किसी वासनाकी तरङ्ग उठती ही रहती है, इसलिए उसे प्राणनिरोधकी चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि इच्छा होने

पर भी जबतक मन है तबतक भोगेच्छा या कामनाका त्याग करना सहज नहीं है। प्राणायामके द्वारा प्राणका निरोध होने पर मन निरुद्ध हो जायगा। तब जो अपूर्व ध्यानावस्था आयेगी, उसमें ध्याता और ध्येय एक हो जायँगे। साधक (मैं) और परमानन्द-स्वरूप आत्मा, जिनको साधक चाहता है, उस ध्येय-स्वरूपके साथ जबतक ऐकात्म्य लाभ नहीं करता, तबतक साधनाके प्रवाहको वन्द करनेसे काम नहीं चलेगा। जो कूटस्थ साक्षी-स्वरूप है, वह मनके अगोचर है, मनके जीवित रहते उसका सन्धान नहीं पाया जाता। क्रियाकी परावस्थामें मन नहीं रहता। यह अवस्था जिसकी होती है वह सद्य मुक्त होता है। परन्तु जबतक मन वर्तमान है, यह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। प्राणायामके द्वारा मनके निरुद्ध होने पर देहातीत अवस्था प्राप्त होती है, तब यह समझमें आता है कि मुक्ति क्या वस्तु है। इसीसे व्यक्त प्राणकी उपासनासे जो स्थिति प्राप्त होती है उससे व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारकी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं अर्थात् सामान्य स्थिरता और स्थिरताकी पराकाष्ठा दोनों प्राप्त होती हैं। सामान्य स्थिरताके प्राप्त होने पर कल्पना पूर्णतः नहीं मिटती। अतएव पूर्ण वैराग्य-भाव नहीं आता, भोगेच्छा बाकी रह जाती है, इसी कारण उस समय मनमें सङ्कल्प उदय होता है और उसकी सिद्धि होती है। इस अवस्थामें स्थित साधक ही व्यक्तका उपासक है, यही मूर्त्तोपासना है। पश्चात् जब स्थिरताकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है, मनमें कोई वृत्ति उदय नहीं होती और इसके दीर्घकालस्थायी होने पर जब नाम-रूप सब विस्मृत हो जाते हैं, तब सुख-दुःख, प्राप्ति-अप्राप्ति, लाभ-अलाभ कुछ भी नहीं रहता, यही अमूर्त्त की उपासना है। इस बातको कुछ और स्पष्ट रूपसे कहता हूँ।

हम जगत्में सदा जिन असंख्य वस्तुओंको देखते हैं, वे वस्तुतः हमारे चित्तसे पृथक् कोई वस्तु नहीं हैं। वे वस्तुएँ चित्तकी ही तात्कालिक अवस्थाएँ हैं। बाहरकी वस्तुएँ चित्तकी ही घनीभूत अवस्था-मात्र हैं (चित्त प्राणका ही स्पन्दन है)। चित्तका यह घन भाव या जड़ भाव जबतक मिट नहीं जाता तबतक चित्त वास्तविकरूपमें अन्तर्मुख नहीं हो सकता। -अन्तर्मुख हुए बिना ध्यानावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। ध्यान गम्भीर होने पर चित्तकी वृत्तियोंके क्षीण होनेसे जो चाञ्चल्यरहित अवस्था प्राप्त होती है उसीको योगदर्शनमें 'समापत्ति' कहते हैं। इस तनुतासे ही चित्त गगनोपम हो जाता है, तब चित्तसे जड़त्वका मल स्खलित हो जाता है और चित्तमें चिद्-भाव परिस्फुट होता है। इस प्रकार चित्त भगवद्-ध्यानकी योग्यता प्राप्त करता है। दर्पणमें जिस प्रकार प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार चित्के भीतर वस्तुके प्रतिबिम्बित होने पर चित् तत्स्वरूपताको प्राप्त होता है, तभी हम उसको चित्त कहते हैं। अस्तु, पूर्वोक्त समापत्तिके सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविकार और निर्विकार भेदसे चार प्रकारके भेद होते हैं। अब 'सवितर्क' क्या है, यह बतलाते हैं। समापत्ति जब शब्द, अर्थ और ज्ञान, इन त्रिविध विकल्पोंके द्वारा सङ्कीर्ण होती है तो उसको सवितर्क कहते हैं। जैसे अश्व एक शब्द है, उस शब्दका अर्थ है उसी नामका एक विशेष पशु तथा अश्व विषयक ज्ञान। ये यद्यपि प्रत्येक स्वतन्त्र हैं तथापि अश्व शब्द

उच्चारण करने पर ये तीनों अभिन्न भावमें प्रकाशित होते हैं। परन्तु वास्तविक ज्ञान एकान्ततः स्वतन्त्र वस्तु है, पहले-पहल शब्द और अर्थ द्वारा सङ्कीर्ण न होकर जान पड़ता है मानो अपनेको प्रकाशित नहीं कर पा रहा है। ज्ञानको पकड़नेके लिए किसी शब्द या अर्थका आश्रय करना पड़ता है, इन दोनोंके बिना ज्ञान मानो नहीं टिक सकता। योगी जब इस भावको ग्रहण करता है तब उसकी सवितर्का समापत्तिकी अवस्था होती है। उसके बाद साधकको निर्वितर्का समापत्तिकी अवस्था आती है। योगदर्शनमें इस सम्बन्धमें यह सूत्र है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (योगदर्शन, समाधिपाद, ४३ सूत्र)। सवितर्कसे ही यह निर्वितर्क अवस्था प्राप्त होती है। तब ( ) स्मृति परिशुद्ध होती है, (२) स्वरूपशून्यसा हो जाता है, और (३) अर्थमात्रनिर्भास होता है। जबतक स्मृति परिशुद्ध नहीं होती, तबतक शब्द, अर्थ और ज्ञान इन त्रिविध विकल्पोंके द्वारा स्मृति या ज्ञानका सङ्कीर्णभाव तिरोहित नहीं होता। तब जिस विषयको लेकर समापत्ति होती है, उस विषयके शब्द और अर्थकी स्मृति नहीं रहती, केवल ध्येय पदार्थकी स्मृति रहती है, यही स्मृतिकी परिशुद्धि है। इस प्रकारकी अवस्था प्रकाशित होने पर स्वरूपशून्य-सा हो जाता है अर्थात् स्वरूप जो मैं या ज्ञाता है, वह शून्यके समान हो जाता है, मैं ध्यान करता हूँ यह भाव भी नहीं रहता। तब रहता है 'अर्थमात्रनिर्भास' अर्थात् ध्येय ही पूर्णरूपेण ज्ञानका विषय रहता है। यही निर्वितर्का समापत्ति है। इस अवस्थामें शब्द और अर्थकी स्मृति या ज्ञान नहीं रहता, ध्याताकी भी शून्यवत् अवस्था होती है, एक ध्येय पदार्थका सम्यक् ज्ञान होता है। पहले किसी एक विषयको जाननेके लिए तीन भावोंको समझना पड़ता है। (१) ग्रहीता—यह पुरुष है, जिसकी सत्ता और प्रकाशमें सारी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। (२) ग्रहण—अर्थात् करणवर्ग, जिनके द्वारा विषय ग्रहीत होते हैं, हमारी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये सारे करण-वर्ग ही ग्रहण-शब्द द्वारा लक्षित होते हैं। (३) ग्राह्य—जो गृहीत होता है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि।

चित्तकी वृत्तियोंके क्षीण होने पर उक्त तीनोंमें जब जिसमें रहनेकी इच्छा हो, ठीक उसीमें रहनेकी योग्यता प्राप्त होती है। पश्चात् ध्याता ध्येय वस्तुके आकारमें आकारित हो जाता है। यह ध्यानकी एकाग्रभूमि है; इसीको समापत्ति कहते हैं। पहले कोई ग्राह्यविषयक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उस विषयका अवलम्बन करके ध्यान करना पड़ता है। इस प्रकार चेष्टा करने पर पहले चित्तका विक्षिप्त भाव दूर होगा, रहेगा ध्येय पदार्थका नाम या शब्द, उस ध्येय वस्तुका आकार और ध्याता। जान पड़ेगा मानो एक ज्ञान ही इन त्रिविध भावोंमें प्रकाशित होता है। 'मैं' ही वह ज्ञानस्वरूप है, अतएव यह बोध होगा कि जो कुछ है वह मेरा (आत्मा) का ही प्रकाश है। पश्चात् यह भावनामय ध्यातृभाव भी नहीं रहता। रह जाता है केवल उस वस्तुकी आकार-अवयवादि-रहित ज्ञानमय सत्ता। ग्राह्यविषयमें इस प्रकारके ध्यानके फलस्वरूप फिर पदार्थमात्रमें कोई आसक्ति नहीं रह जाती, क्योंकि उस समय यह बोध हो जाता है कि मेरी जो आकांक्षित वस्तु है, उसकी पृथक् सत्ता कुछ नहीं है, वह कोई

वस्तु नहीं है, वह केवल ज्ञानमात्र है। इस प्रकारके ज्ञानके फलस्वरूप पर-वैराग्यका लाभ होता है अर्थात् फिर किसी विषयके प्रति आकर्षण नहीं रह जाता।

ग्राह्यविषयक समापत्तिके समान ग्रहण-विषयक समापत्ति सविचारा और निर्विचारा भेदसे दो प्रकारकी होती है। ग्रहणविषयक समापत्ति जब शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप विकल्पके द्वारा सङ्कीर्ण होती है तो उसे सविचारा कहते हैं तथा स्मृति विशुद्ध होने पर जब स्वरूपशून्यके समान होकर अर्थमात्रनिर्भास हो जाता है तो वह निर्विचारा होती है।

ग्राह्यविषयक समापत्तिसे ग्रहणविषयक समापत्ति सूक्ष्मतर होती है। पहले इन्द्रिय तब मन और पश्चात् बुद्धिके क्षेत्र तक पहुँचने पर ग्रहणविषयक समापत्तिकी परिसमाप्ति होती है।

ग्रहीतृविषयक समापत्ति ही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है। ग्रहीताकी सूक्ष्मता अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुओंके समान नहीं है। उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतम कोई वस्तु नहीं, और न वह किसी प्रकारके इन्द्रियज्ञानका विषय ही है। इसी कारण उसको 'अज्ञेय' कहते हैं। बुद्धिकी सारी मलिनता पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने पर जो सत्तामात्र ज्ञानका विषय होता है, वही प्रकृत योग है। उस समय बुद्धि रहती भी है तो शुद्धसत्त्व बुद्धि, उसमें कोई अञ्जन नहीं होता। तब वह बुद्धि बिम्बस्वरूप आत्माके साथ मिलकर एक हो जाती है। यही शिवशक्ति-समरसभाव या अर्द्धनारीश्वर अवस्था है। इसे शुद्धा प्रकृति भी कहते हैं या यह भी कहा जा सकता है कि पुरुषकी गोदमें सुप्ता प्रकृतिका पुरुषके साथ तादात्म्यभाव प्राप्त हो गया है। इस प्रकार साधकको द्वैतसे अद्वैतभावमें आना पड़ता है। 'सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना स हि मुक्तिभाक्'—सब ब्रह्म है, यह जिसकी अन्तर्भावना होती है, वही मुक्तिका भागी होता है। इस बातको केवल मुँहसे सुन लेने या विचार लेने मात्रसे काम नहीं चलेगा, वैसा ही बनना पड़ेगा। यही अनिर्देश्य और अव्यक्तकी उपासना है, इस उपासनाके किये बिना साधना सफल नहीं होती। यह विश्वब्रह्माण्ड किस प्रकार मनकी घनीभूत अवस्थासे विकसित होता है और किस प्रकार ध्याननिष्ठ चित्तके द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होकर सूक्ष्मतम आत्माकारमें पर्यवसित होता है, इसको समझने पर अक्षर उपासनाका विषय समझमें आ जायगा। सगुण और निर्गुण पृथक् वस्तु नहीं है, सगुण ही निर्गुण होता है और निर्गुण सगुण होता है। विशुद्ध चैतन्य जब अविद्याके अञ्जनसे अनुरञ्जित-सा होता है तो नामरूपमय बनता है। साधनके प्रभावसे जब विक्षिप्त मन नामरूपको भूलकर ज्योतिमात्रमें पर्यवसित होता है तब साधक निराकारके पथमें चलने लगता है, जब वही ज्योति केवल एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विन्दुमें विलयको प्राप्त होकर विन्दुरूप हो जाती है तब तद्विष्णुका परमपद प्रकाशित होता है, पश्चात् वह चिदाकाशमें

चिन्मात्र अवस्थामें अवस्थित होकर चित्-स्वरूप हो जाता है, यही पूर्ण अव्यक्त अवस्था है।*

इस अवस्थाकी प्राप्ति साधकको दो प्रकारसे हो सकती है। प्रथमतः व्यक्त श्वासके साहचर्यमें मनको रखकर—यह सहज ही लभ्य है, इस प्रकारके साधकको युक्ततम कहते हैं। द्वितीयतः तारकब्रह्म-योगके द्वारा कूटस्थ ब्रह्मको लक्ष्य करके उसमें प्रविष्ट होने पर—परिणाम एक होते हुए भी इसमें पथकी गहनता कुछ अधिक है अर्थात् ज्योतिर्मय कूटस्थ तथा बृहत् कूटस्थ भेद करके विन्दुमें, फिर नाद-विन्दु भेद करके चिन्तनके परे जाकर चिन्मात्रमें अवस्थान करना होता है। इसी कारण इस साधनामें बतलाया है कि "सर्वदा कूटस्थका चिन्तन करना होगा, पश्चात उस अचिन्त्य ब्रह्ममें ध्यान जमाना होगा जो कूटस्थ-रूपमें प्रकाशित होता है।" ध्यान करते-करते जब तन्मयता आ जायगी, ध्येय और ध्याताका परिज्ञान न रहेगा, तब आत्माकाराकारित चित्त महाशून्यमें विलीन हो जायगा। इसमें इन्द्रियोंका संयम आवश्यक है जिससे वे बाह्य विषयोंको ग्रहण न करें। इन्द्रियोंके स्थिर होने पर मनकी तनुता अवश्य प्राप्त होगी और उससे चिदाकाशरूपी बुद्धिमें प्रवेश-लाभ होगा। अन्य तब अन्य नहीं रह जायगा, सब आत्माका स्वरूप जान पड़ेगा। इस अवस्थाको प्राप्त साधक जब देखता है कि आत्मक्रियाके अभावमें जीव भयानक बन्धनावस्थामें पड़ा है, तब वह कृपापरवश होकर माया-पाशमें फँसे जीवको भव-रोगकी औषधिरूप क्रियाका उपदेश करता है। उसका मन सदा ही कूटस्थमें रहता है, इस लिए सबमें उसकी समबुद्धि होती है। "कूटस्थमें रहने पर दूसरी ओर मन नहीं जाता, इन्द्रियाँ मुग्ध नहीं होतीं। वही प्रकृत पक्षमें साधु होता है। जो क्रिया करता है उसकी आयु और बुद्धि बढ़ती है, अपने जैसा एक आदमी कूटस्थमें देखता है और क्रियामें अटका रहता है। सुषुम्नामें स्थिर होकर कूटस्थ दर्शन करने पर कितने ही अश्रुत विषय सुने जाते हैं और अज्ञात विषय जाने जाते हैं। जो कभी देखा नहीं, सुना नहीं, उसे देख और सुनकर पश्चात् अन्यान्य लोगोंको और बन्धुओंको उपदेश दे।

---

*चिदाकाश ही सब रूपोंका उद्भव और विलय का स्थान है। यही साकारकी अन्तिम सीमा और निराकारका आरम्भ-स्थान है। साधक अव्यक्त कूटस्थ-रूपका दर्शन करते-करते पश्चात् चिदाकाशका अनुभव करता है। उसके बाद परावस्थामें प्रवेश करके 'मैं' और 'मेरा'-बोधसे शून्य हो जाता है। प्राणायामके द्वारा सीधे इस परावस्थामें क्रमशः प्रवेश किया जा सकता है, इसी कारण व्यक्तभावके उपासकको श्रेष्ठ कहा गया है। परन्तु अन्ततः दोनोंका फल एक ही है (५म अ० का ४र्थ श्लोक देखो)। बाह्य दृष्टिसे कूटस्थ अव्यक्त होने पर भी प्रकृतपक्षमें वह व्यक्तरूप है, नहीं तो कूटस्थका ज्ञान कैसे होता। बाह्य रूपादिके समान वह परिवर्तनशील नहीं है। वह सब अवस्थाओंमें एकरूप है। कूटस्थ दर्शन करके कूटस्थमें स्थित हुए बिना प्रकृत अव्यक्तावस्था प्राप्त करनेमें बहुत विलम्ब लगता है। परन्तु १७२८ बार विशुद्ध प्राणायामके द्वारा जो ध्यानावस्था प्राप्त होती है उसमें उस ब्रह्मवस्तुकी ज्ञानोपलब्धि सहज होती है।

प्राणायामादि साधनके द्वारा विधिपूर्वक तीन ग्रन्थियोंका भेद करने पर प्राण सुषुम्नामें जाकर अटक जायगा।" यही वस्तुतः संयम है, इस प्रकारके संयममें जो अभ्यस्त है उसकी बुद्धि स्थिर होती है और वह आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति-अवस्था प्राप्त करके वह परम शान्तिपद लाभ करता है ॥३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अन्वय—तेषां (उन) अव्यक्तासक्तचेतसां (अव्यक्तमें आसक्तचित्तवालोंको) अधिकतरः क्लेशः (अधिकतर कष्ट होता है) हि (क्योंकि) देहवद्भिः (देहाभिमानियोंके द्वारा) अव्यक्ता गतिः (अव्यक्तब्रह्मविषयिणी निष्ठा) दुःखं अवाप्यते (दुःखसे प्राप्त होती है) ॥ ५ ॥

श्रीधर—ननु च तेऽपि त्वामेव प्राप्नुवन्ति तर्हि इतरेषां युक्ततमत्वं कुतः—इति अपेक्षायां क्लेशाक्लेशकृतं विशेषमाह—क्लेश इति त्रिभिः। अव्यक्ते निर्विशेषे अक्षरे आसक्तं चेतो येषां तेषां क्लेशः अधिकतरः ; हि यस्मात् अव्यक्तविषया गतिः निष्ठा देहाभिमानिभिः दुःखं यथा भवति एवं अवाप्यते। देहाभिमानिनां नित्यं प्रत्यक्प्रवणत्वस्य दुर्घटत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

अनुवाद—[निर्गुणोपासक भी यदि तुमको प्राप्त होते हैं तो सगुणोपासकोंका युक्ततमत्व कैसे सम्भव है, इस आशङ्काके लिए क्लेश और अक्लेशजनित पार्थक्य निर्देश कर रहे हैं]—अव्यक्तमें अर्थात् निर्विशेष अक्षरमें जिनका चित्त आसक्त है उनको अधिकतर क्लेश होता है क्योंकि अव्यक्त-विषयक निष्ठा देहाभिमानीको दुःखसे प्राप्त होती है। देहाभिमानियोंके लिए नित्य प्रत्यक्प्रवणता दुर्घट है, इसी कारण यह क्लेशकर है। [स्थूल देहमें जिसकी आत्मबुद्धि प्रबल है उसकी मानसिक वृत्तिके लिए प्रत्यक् चैतन्यमें युक्त होना अत्यन्त दुर्घट है।] ॥५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो कोई कूटस्थमें नहीं रहता है, उसको अत्यन्त क्लेश होता है—क्योंकि अव्यक्त ब्रह्मको देही दुःखसे प्राप्त करता है।—जिनका चित्त अत्यन्त भोगासक्त है वे कूटस्थमें चित्त-समाधान नहीं कर सकते, उनका चित्त देह और देहके भोगोंकी ओर पड़ा रहता है। ऐसा चित्त लेकर यदि साधन किया जाय तो चित्त कदापि स्थिर न होगा ऐसी बात नहीं है, केवल स्थिर होनेमें बहुत दिन और बहुत चेष्टा लगेगी तथा बहुत क्लेशसे वह स्थिरताका आस्वाद पा सकेगा। ऐहिक भोगादिमें चित्तका निर्विषय होना बहुत ही दुर्घट है, पूर्व जन्मोंके साधन-संस्कारोंके वश विषयादिमें जिनकी आसक्ति कम होती है, उनका चित्त शीघ्र ही एकनिष्ठ और ध्यानप्रवण होता है, उस चित्तमें योगलाभ बहुत सहज होता है। परन्तु जिनकी देहादिमें यथेष्ट आसक्ति है और साधन करके आत्मज्ञान प्राप्त करना या ध्यानी होना चाहते हैं, उनकी चेष्टा विफल नहीं होती, ऐसी अवस्था प्राप्त करनेके लिए विशेष तीव्रताकी आवश्यकता पड़ेगी। इसी कारण भगवान्ने 'देहवद्भिः' शब्दका व्यवहार किया है। जो लोग

कूटस्थमें मन रखकर ध्यानस्थ होकर देहको भूल जाते हैं उनके पूर्व जन्मोंके संस्कार अच्छे होते हैं; ऐसे लोगोंके लिए अव्यक्त ब्रह्ममें प्रवेश लाभ करना विशेष दुष्कर नहीं, परन्तु जिनकी किसी प्रकारसे अव्यक्त विषयमें आसक्ति तो हो गयी है तथापि मनसे विषयासक्ति अथवा इन्द्रियोंका विषयविचरण कम नहीं हुआ है, उनको अव्यक्तावस्थाके प्रति लोभ होते हुए भी उसमें प्रवेश करना सुकर नहीं होता। चित्त-विक्षेप करनेवाली इन्द्रियाँ जिनकी अतिमात्रामें प्रबल हैं, उनके लिए योगाभ्यास सहज नहीं होता। गुरुकृपासे यद्यपि वे कूटस्थका कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु पूर्व संस्कार या अभ्यासके वश जिनका चित्त अधिक अन्तर्मुख नहीं है उनको अव्यक्तावस्था प्राप्त करनेमें बहुत विलम्ब होता है। "चञ्चल मनका आश्रय स्थिर मन है, उस स्थिर मनमें मनको लय करने पर ब्रह्मपद प्राप्त होता है।" यह विचार करके समझने पर भी समझमें नहीं आता। प्राणापानके संयमके द्वारा जो साधक स्थिर हो गया है, वही इसे समझ सकेगा। तब वह भ्रूमध्यमें देखनेसे ही ओंकार-ध्वनि सुन पायेगा। पश्चात् प्रकाशमें मन जायगा अर्थात् मन जितना ही बाह्य विषय भूलकर अन्तर्मुख होगा, उतना ही भगवान्की विविध प्रकाश-शक्तिके विषयसे अवगत होगा। उस मनमें मनके लय होने पर ब्रह्मपद मिलता है, तब ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं रहता। यह अवस्था सर्वदा रहने पर किसी और प्रकारकी उपलब्धि न होगी। यही क्रियाकी परावस्था है, यह एक विचित्र दशा है जो साधकको होती है। इसके बारेमें मुँहसे कुछ कहा नहीं जा सकता। दर्पणमें मैल होने पर जैसे स्व-रूप नहीं दीखता, उसी प्रकार मनके अन्य दिशामें दौड़ने पर उसमें आत्म स्वरूपका दर्शन नहीं होता। इस कारण नियमपूर्वक क्रिया करनी पड़ती है, क्रिया करने पर क्रियाकी परावस्थामें बुद्धि स्थिर रहती है और उसके साथ कर्मेन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाती हैं। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्'—"वही विष्णुका परमपद क्रियाकी परावस्था या ब्रह्मपद है। वायु सदा जिसके मस्तकमें रहती है, वह कूटस्थ ब्रह्मको आकाशके समान चक्षुके प्रकाशके रूपमें देख पाता है और देखते-देखते परव्योम महाकाश ब्रह्म विश्वव्यापक बोध होने लगता है। उसमें मन लीन हो जाता है।" इसीको कैवल्यमुक्ति कहते हैं। इससे सब दुःखोंका अवसान और परमानन्दरूपता प्राप्त होती है।

जिनका चित्त दुर्बल और विषयासक्त है, वे इन्द्रियोंको प्रत्याहारके द्वारा सहज ही अन्तर्मुख नहीं कर सकते। प्राणायामके द्वारा जब उनकी बुद्धि स्थिर होगी, इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जायँगी और कूटस्थ दर्शन तथा उसमें स्थितिलाभ होगा, तब अव्यक्तावस्थारूप परव्योममें उनका चित्त विलीन हो जायगा। निर्गुण उपासकका बाना धारण करनेसे काम न चलेगा, निर्गुण उपासक बनना पड़ेगा। निर्गुण उपासक बननेके लिए सगुणकी उपासना करनी पड़ेगी। कूटस्थ ब्रह्म निर्गुण है। सगुण ब्रह्म प्राण है। प्राणकी उपासना करने पर जब प्राण स्थिर हो जायगा तब वह अव्यक्तमें प्रवेश करके स्वयं भी अव्यक्त या ब्रह्ममय हो जायगा। भक्तिपूर्वक क्रिया करने पर प्राणापानकी गति रुद्ध हो जायगी, अतएव गुरुवाक्यमें विश्वास करके श्रद्धाके साथ

क्रिया करो। श्रुति कहती है—'भक्तियोगात् मुक्तिः' अर्थात् भक्तिके साथ उपासित होने पर प्राण स्थिर हो जायगा। स्थिर प्राणमें यह समझमें आ जायगा कि ब्रह्मका वह परमानन्द भाव क्या है? ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अन्वय—ये तु (परन्तु जो) सर्वाणि कर्माणि (सारे कर्म) मयि संन्यस्य (मुझमें अर्पण करते हुए) मत्पराः (मत्परायण होकर) अनन्येन योगेन एव (अनन्य योग द्वारा ही) मां ध्यायन्तः (मेरा ध्यान करते हुए) उपासते (उपासना करते हैं) ॥६॥

श्रीधर—मद्भक्तानां मत्प्रसादात् अनायासत एव सिद्धिर्भवति इत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्। मयि परमेश्वरे सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य समर्प्य मत्परा भूत्वा मां ध्यायन्तः अनन्येन—न विद्यते अन्यो भजनीयो यस्मिन् तेनैव। एकान्तभक्तियोगेन उपासत इत्यर्थः ॥६॥

अनुवाद—[मेरे भक्तोंको मत्प्रसादसे अनायास ही सिद्धि लाभ होती है, यह दो श्लोकों द्वारा कह रहे हैं]—जो मुझ परमेश्वरमें सारे कर्मोंको समर्पण करके मत्परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए अनन्ययोगद्वारा (अन्य भजनीय नहीं है जिसमें ऐसे योगके द्वारा) अर्थात् एकान्त भक्तियोग द्वारा उपासना करते हैं ॥६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिस किसीने सारे कर्मोंको फलाकांक्षाके सहित मुझमें नाश कर दिया है—मेरी ही क्रिया—गुरुमुखसे जानकर मुझमें रहता है—दूसरी ओर दृष्टि न करके समाधिस्थ होकर मेरी क्रिया अर्थात् प्राणायाम १७२८ बार करके उपासना करता है।—पूर्वोक्त वर्णनसे ज्ञात होता है कि कूटस्थमें जो नहीं रहता उसको अत्यन्त क्लेश होता है, और देहाभिमानी जब अव्यक्त ब्रह्मको दुःखसे प्राप्त करता है तब उसका फल अवश्य ही कुछ बड़े पैमानेका होगा, इसीसे कूटस्थसे शरीरके तेजको अनुभव हो रहा कि जो गुरुके उपदेशके अनुसार दूसरी ओर मन न लगाकर क्रिया करते जाते हैं वे सहज ही आत्मस्थ हो सकते हैं। आत्माके भीतर कर्मवासना नहीं रहती क्योंकि वह स्वयं पूर्ण है, क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें मनके आत्मस्थ होने पर साधकको कोई फलाकांक्षा नहीं रह जाती, उसके सारे कर्म आत्मामें लीन हो जाते हैं। कर्मका कर्त्ता भी वह तब नहीं रहता, अतएव फलाकांक्षा किसको होगी। इस प्रकार जो साधकगण १७२८ बार प्रतिदिन प्राणायाम करते हैं, तत्फलस्वरूप जिनका चित्त ध्याननिष्ठ होकर एकाग्र हो जाता है, उनको कूटस्थ-दर्शनकी अपेक्षा भी अधिक फल लाभ होता है। जिसका चित्त जितना एकाग्रभूमिमें रहता है उतना ही उसमें इच्छा या सङ्कल्पका वेग कम हो जाता है, इस भावसे जो उपासना करते हैं वे निःशेषरूपसे स्थिर हो जाते हैं तथा आत्माके सिवा और किसीमें मन नहीं लगाते। क्रियाके द्वारा कुछ स्थिरता आने और उसमें पड़े रहनेपर (जो प्रतिदिन दृढ़ अभ्यास द्वारा अपने आप होता है) सारवस्तु ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और

साधक तद्गतचित्त हो जाता है। गुरु इस साधनाका पथ शिष्यको बतला देते हैं। जो शिष्य गुरूपदेशके अनुसार साधन करता जाता है, वह क्रिया करते-करते उस वस्तुको प्राप्त करता है। परन्तु क्रिया न करके विषयचिन्तन करने पर उसको प्राप्त करना दुःसाध्य है। गुरूपदेशके अनुसार क्रिया द्वारा आत्मचिन्तन करने पर क्रियाकी परावस्था अर्थात् स्थितिपद प्राप्त होता है। दूधमें जामन देनेसे जैसे वह जमकर दही बन जाता है, दूधकी वह तरलता नहीं रहती, उसी प्रकार क्रिया करने पर मनकी चञ्चलता निःशेषरूपसे हट जाती है, तब वह स्थिरावस्था-रूपी क्रियाकी परावस्थामें ब्रह्मसंलीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता है ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आवेशितचेतसाम् (आवेशित अर्थात् समर्पित चित्त) तेषां (उनका) मृत्युसंसारसागरात् (मृत्युयुक्त संसार-समुद्रसे) न चिरात् (बिना विलम्बके) अहं (मैं) समुद्धर्त्ता भवामि (समुद्धारकर्त्ता बनता हूँ) ॥७॥

श्रीधर—तेषामिति। एवं मय्यावेशितं चेतो यैः तेषां मृत्युयुक्तात् संसार-सागरात् अहं सम्यक् उद्धर्त्ता अचिरेण भवामि ॥७॥

अनुवाद—इस प्रकार जो मुझमें आवेशितचित्त हैं, उनका मैं अति शीघ्र मृत्युयुक्त संसार-सागरसे सम्यक् उद्धार करता हूँ ॥ ७ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—उसको मृत्युसंसारसे स्थिर करके मस्तकके ऊपर उठा देता हूँ—शीघ्र वह मैं हो जाता है—जो कोई क्रियाकी परावस्थामें जाकर अटका रहता है।—तरङ्गविहीन अनन्त प्रशान्त समुद्र जैसे स्थिर और आद्यन्तविहीन जान पड़ता है, ब्रह्म उसी प्रकार स्थिर और शान्त है। समुद्रके चञ्चल होने पर जैसे उसमें अनन्त ऊर्मिमालाएँ प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार प्रशान्त ब्रह्मसमुद्रमें नाम-रूप और जन्म-मृत्युमय संसार-ऊर्मि परिदृष्ट होती है। समुद्र और समुद्र-तरङ्ग विभिन्न होने पर भी जैसे एक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और नामरूपमय जगत् एक ही है। तरङ्गें जैसे समुद्रसे उठकर समुद्रमें ही आत्मगोपन करती हैं, समुद्रसे पृथक् रूपमें उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मसमुद्रमें नामरूपमय जगत् तरङ्गके समान उठकर फिर उसमें ही विलीन हो जाता है। यह चाञ्चल्य होता है कैसे? ब्रह्मके अनेक होनेके सङ्कल्पसे। सङ्कल्प क्यों होता है, यह अनिवर्चनीय है। इच्छा होने पर ब्रह्ममें जो स्पन्दन होता है वही जगद्योनि 'प्राणशक्ति' है। यही प्राण-शक्ति चञ्चल होकर सङ्कल्पमय मनको उत्पन्न करती है। प्राणशक्तिका चाञ्चल्य ही पञ्च प्राणरूपमें और श्वास-प्रश्वासके रूपमें प्रवाहित होता है। इस श्वास-प्रश्वासके प्रवाहसे प्राणके भीतर सुप्त संस्कारसमूह जाग्रत होकर मनके आकारमें परिणामको प्राप्त होते हैं। यह प्राण ही ब्रह्मकी माया है, प्राणके स्पन्दित होने पर जगदादि

उत्पन्न होते हैं। प्राणशक्तिमें जो चैतन्य प्रतिफलित है, वही चैतन्य ईश्वर है। वही अर्द्धनारीश्वर, देवादिदेव या नारायण हैं। उनसे ही हिरण्यगर्भ ब्रह्मा या विश्व-सङ्कल्पशक्तिरूप समष्टि मन उत्पन्न होकर जगदादिरूपमें परिणामको प्राप्त होता है। व्यष्टि भावसे वही अन्तःकरण (मन) या तदधिष्ठित चैतन्य ही सुख-दुःखादिके भोक्ता जीवके रूपमें प्रतीयमान होता है। यह जीव-चैतन्य और सर्वव्यापक ईश्वर-चैतन्य वस्तुतः एक ही हैं, उनमें जो भेद है वह केवल औपाधिक है। अविद्याके हटने पर जब उपाधिकृत व्यवधान विलुप्त होता है तो दोनोंका भेद भी नष्ट हो जाता है। ब्रह्मकी उत्पत्ति और विनाश नहीं है तथा वह निष्क्रिय हैं, यह तबतक समझमें नहीं आ सकता जबतक प्राण विशुद्ध अर्थात् स्थिर नहीं हो जाता। प्राण चञ्चल होने पर श्वास-रूपमें प्रवाहित होता है, तभी अनेक-सङ्कल्पमय मनकी उत्पत्ति होती है और मनकी नाना प्रकारकी इच्छा या सङ्कल्पके द्वारा जीव बद्ध जान पड़ता है। मनके चाञ्चल्यसे नानात्वका दर्शन होता है। यह भाव जबतक रहेगा तबतक आवा-गमन-रूपी तरङ्गोंके उत्थान और पतनका कभी अवसान न होगा। कठोपनिषद्में कहा है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। जो चैतन्य देहमें है वही ईश्वरमें है। एक ही चैतन्य कार्य और कारणमें अनुस्यूत रहता है, इस चैतन्यको जो नाना भावोंमें देखता है वह मृत्युको प्राप्त होता है। यह जो जन्म-मृत्युकी तरङ्गसे हम कम्पित होते रहते हैं, यह कम्पन और नानात्व-दर्शन मनका ही धर्म है। मनका जो कम्पन और चाञ्चल्य है, वह प्राणकी अविशुद्धिसे ही घटित होता है। प्राणके स्थिर या शुद्ध होने पर मन भी स्थिर होता है। उस मनमें फिर सङ्कल्पका उदय नहीं होता। "मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं काम-विवर्जितम्।" अशुद्ध मनको किस प्रकार शुद्ध कर सकते हैं?

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।
यदायात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ —ब्रह्मविन्दु।

मन इच्छा या सङ्कल्प करके बद्ध होता है, इच्छाशून्य होने पर वह शुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। मुक्तिपदमें यदि आरोहण करना चाहते हो तो इस चञ्चल प्राणको स्थिर करके नित्य क्रियाकी परावस्थामें रहो। उस अवस्थामें मन अपने आप निःसङ्ग होकर हृदयमें निरुद्ध रहेगा। इस प्रकार रहते-रहते जब उन्मनी भाव होगा तो उसको ही ब्रह्मपद जानो। जबतक बुद्धिका क्षय नहीं होता अर्थात् सदा क्रियाकी परावस्था नहीं प्राप्त होती, तबतक क्रिया करनी चाहिए। क्रियाकी परावस्था ही परब्रह्मपद है। क्रियाकी परावस्थामें प्राण आत्मामें अटका रहता है, यही निरोधरूप समाधिकी अवस्था है। जीवात्मा चेतनरूप है, वह वृक्षादिमें भी है, क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें जो चैतन्य होता है उस चैतन्यमें स्थिर होकर रहने पर "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था जिसकी होती है वह सदा ही क्रियाकी परावस्थामें रहता है अर्थात् अनन्त ब्रह्ममें रहता है, ब्रह्मके सिवा और किसीमें नहीं रहता, अतएव सर्वज्ञ अर्थात् सबके भीतर जो ब्रह्म है उस ब्रह्मको ही देखता है।

अब यह देखना है कि क्रियाकी परावस्था कैसे प्राप्त होती है। "हृदयसे ब्रह्मरन्ध्र तक जो वायु जाती है उसका नाम प्राण है। गुरूपदेश द्वारा साधन जानकर उस साधनाके द्वारा प्राणवायुको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित करनेका नाम क्रियाकी परावस्था है।"

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ कठोपनिषद् ।

आत्माके स्वरूप-परिज्ञानका उपाय बतलाते हैं—"ऊर्ध्वविन्दु और अधोविन्दुके बीचमें मन रहता है। सब इन्द्रियोंमें मन ही ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक है, वह मन यदि मनमें स्थित होता है तो ब्रह्मलीन हो जाता है, तब कर्त्ता और करण कुछ भी नहीं रहते। क्रियाकी पर-अवस्था ब्रह्म ही कर्त्ता हैं, उनका कोई कार्य-कारण नहीं है, वही अनादि कारण हैं।" वह विना पैरके चलते हैं, बिना हाथके ग्रहण करते हैं, बिना आँखके देखते हैं और बिना कानके सुनते हैं। उनके अनन्त गुण हैं, उनकी सर्वत्र गति है, इसीसे वह वासुदेव अर्थात् उत्तम पुरुष हैं, वही सर्वव्यापक जगन्नाथ हैं, उनकी इच्छासे ही सब कुछ हो रहा है।

"ऊर्ध्व वायुको नाश करके अधोवायुमें आनेका नाम ही अपान है, उस (श्वास) को सामनेसे पीछेकी ओर मेरुदण्डमें गमन करानेका नाम मन है, उस मनमें जो बैठा है अर्थात् जो क्रियाकी पर-अवस्थामें है, सारे देवता अर्थात् क्रियावान् उसकी उपासना करते हैं।" यह वामन ही हृत्पद्ममध्यवर्ती आकाश है, इस हृदयाकाशमें श्वासकी स्थिरताके कारण जो अवस्थित है, सारी इन्द्रियाँ उसकी उपासना करती हैं अर्थात् उसके न चाहने पर भी दूरदर्शन, दूरश्रवण, सङ्कल्पसिद्धि आदि होती है।

योगाभ्यासके द्वारा अनन्यचित्त होकर जो 'मत्पर' रहते हैं अर्थात् सर्वदा क्रियामें लगे रहते हैं, उनको क्रियाकी परावस्थारूप पुरुषोत्तमरूपका दर्शन सहज ही होता है। दूसरे कूटस्थके भीतर परव्योमरूप शिवका दर्शन करते हैं। इन दोनोंको अन्तमें एक ही अवस्था प्राप्त होती है। "ज्योतिके भीतर आकाश है, आकाशके बिना ज्योति नहीं हो सकती। अतएव ज्योति और आकाश परस्पर सापेक्ष हैं। दोनोंका समान बल है अर्थात् क्रियाकी पर-अवस्थामें तथा कूटस्थमें—दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मका अनुभव समान रूपसे होता है" ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अन्वय—मयि एव (मुझमें ही) मनः आधत्स्व (मन स्थिर करो या स्थापन करो) मयि (मुझमें) बुद्धिं निवेशय (बुद्धि निविष्ट करो) अतः ऊर्ध्वं (इससे परे अर्थात् शरीरपातके बाद) मयि एव (मुझमें ही) निवसिष्यसि (वास करोगे) संशयः न (इसमें सन्देह नहीं है) ॥८॥

श्रीधर—यस्मादेवं तस्मात्—मय्येवेति। मय्येव सङ्कल्पविकल्पात्मकं मन आधत्स्व स्थिरीकुरु। बुद्धिमपि व्यवसायात्मिकां मय्येव निवेशय। एवं कुर्वन् मत्प्रसादेन

लब्धज्ञानः सन् अत ऊर्ध्वं देहान्ते मय्येव निवसिष्यसि निवत्स्यसि मदात्मना वासं करिष्यसि नात्र संशयः। तथा च श्रुतिः—"देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" इति ॥८॥

अनुवाद—[क्योंकि इस प्रकार है, इसीसे कहते हैं]—(तुम) मुझमें सङ्कल्पविकल्पात्मक मनको स्थिर करो, व्यवसायात्मिका बुद्धिको भी मुझमें सन्निवेशित अर्थात् निविष्ट करो। ऐसा करने पर मत्प्रसादसे ज्ञानलाभ करके देहान्त होने पर मुझमें ही वास करोगे अर्थात् मत्स्वरूपमें अवस्थान करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है। श्रुतिमें भी है—"देहान्त होने पर उपास्य देवता तारक-ब्रह्ममन्त्रका उपदेश दिया करते हैं" ॥८॥

आध्यात्मिक व्याख्या—मुझमें ही मनको रख दो अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें बुद्धिको स्थिर करते हुए निःशेषरूपसे प्रवेश करा दो—इस प्रकार निःशेषरूपसे आवेश करने पर वह निश्चय ही मैं हो जायगा—निश्चितरूपमें—तथा ऊर्ध्वमें जायगा अर्थात् मस्तकके ऊपर चढ़कर बैठा रहेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।—मनमें जबतक सङ्कल्प-विकल्प हैं, तबतक वह ब्रह्ममें प्रवेश नहीं कर सकता। यह 'मन' अति स्थूल है और ब्रह्म अति सूक्ष्म है। स्थूल सूक्ष्ममें कैसे प्रवेश करेगा ? इसके लिए मनको सूक्ष्म करना पड़ेगा। मन जितना ही निर्विषय होता है, उतना ही सूक्ष्म बनता है। प्राणायामके द्वारा मन बाह्य विषयोंको भूलकर प्राणके साथ तत्त्व-तत्त्वमें विचरण करते-करते तनुताको प्राप्त होता है। तनुताको प्राप्त मन जब धीरे-धीरे अदृश्य हो जाता है तब परावस्थामें पहुँच जाता है, तब मन नहीं रहता अतएव मनमें भी कुछ नहीं रहता। तरङ्गशून्य समुद्र जिस प्रकार अतीव प्रशान्तरूप धारण करता है, सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन जब सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर होकर आत्माकाशमें लीन होता है तो योगीका चित्त भी उसी प्रकार प्रशान्त भाव धारण करता है। तब मन विश्वात्मामें मिलते-मिलते पूर्णतः मिल जाता है, उसका चिह्न भी नहीं रह जाता। यह अवस्था ही ध्यान है, यह अवस्था जितनी ही गम्भीरसे गम्भीरतर होती है उतनी ही समाधिकी अवस्था आरम्भ होती है। यही है मनको स्थिर मनमें प्रवेश करा देना—'मय्येव मन आधत्स्व'। उसके परे मनका स्थिर भाव या एकाग्रता है जिसको बुद्धि कहते हैं, इस बुद्धिको भी निःशेषरूपसे उसमें प्रवेश करा देना होगा, तब जैसे बाह्य जगत्की स्मृति नहीं रहेगी, उसी प्रकार 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' यह भाव भी उदय नहीं होगा। मन तब असीम शून्यमें प्रवेश करके वही हो जाता है। यही 'बुद्धिं निवेशय' कहनेका अभिप्राय है। यही आत्माकारमें अवस्थित अवस्था है। इस अवस्थामें रहने पर फिर दर्शन, श्रवण, मनन कुछ भी नहीं होता, देवताकी देवमूर्त्ति भी नहीं दीख पड़ती। जितने देवता और आत्मा हैं, सब ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। तब योगीका यह शरीर रहते हुए भी मानो नहीं रहता। तब शरीर-बोध इस प्रकार रहता है मानो ब्रह्मरूप नदीमें शरीररूप फेन बहता जा रहा है। पश्चात् वह भाव भी नहीं रहता, सब एक हो जाता है। प्राण जबतक मस्तक-स्थित सहस्रारमें स्थिर नहीं होता, तब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। इसलिए सर्वदा आत्मचिन्तनमें रत रहो,

गुरूपदेशके अनुसार प्राणको स्थिर करनेकी चेष्टा करो, इससे यह अवस्था अपने आप प्राप्त होगी। तुम बुद्धिको स्थिर करो, आत्मामें प्रवेश करा दो, ऐसा होने पर बाह्य प्रकृति तुम्हारे लिए क्लेशोत्पादक न होगी। प्राण सर्व शरीरमें आत्मस्वरूपसे चंचल है, इस अवस्थासे स्थिरावस्थामें रहनेका नाम बुद्धि है। यही इड़ा-पिङ्गला-रहित होकर सुषुम्नामें रहना है। ऐसा होने पर ही ब्रह्मपद प्राप्त होता है, सब ब्रह्ममय हो जाता है। 'सब' नामका कुछ नहीं रह जाता, उस समय सब एक हो जाता है।

तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय।
बुद्ध्यादिभ्यो वहिः सर्वमनुवर्त्तस्व मा खिद॥

तुम कोई वस्तु नहीं हो, किसी वस्तुके साथ तुम्हारा योग नहीं है। कोई वस्तु है भी नहीं, एक तुम्हीं हो। बुद्धिरूपी दर्पणमें एकमात्र तुम्हीं प्रतिबिम्बित हो रहे हो। तुम्हारे बाहर भी तुम्हारे सिवा कुछ नहीं है, इसको जान लेने पर फिर तुम्हें कोई क्लेश न होगा।

क्रिया करके क्रियाकी परावस्थाकी प्राप्ति होने पर वह निजबोधरूप होता है। निज बोध हुए विना केवल सुननेसे काम नहीं चलता॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) अथ (यदि) मयि (मुझमें) चित्तं (चित्तको) स्थिरं समाधातुं (स्थिर करके रखनेमें) न शक्नोषि (समर्थ नहीं होते हो) ततः (तब) अभ्यासयोगेन (अभ्यासयोग द्वारा) मां आप्तुं (मुझको पानेकी) इच्छ (इच्छा करो)॥९॥

श्रीधर—अत्र अशक्तं प्रति सुगमोपायम् आह—अथेति। स्थिरं यथा भवत्येवं मयि चित्तं धारयितुं यदि शक्तो न भवसि, तर्हि विक्षिप्तं चित्तं पुनः पुनः प्रत्याहृत्य मदनुस्मरणलक्षणो यः अभ्यासयोगः तेन मां प्राप्तुम् इच्छ प्रयत्नं कुरु॥९॥

अनुवाद—[पूर्वोक्त रीतिसे उपासनामें जो अशक्त हैं, उनके लिए सुगम उपाय बतला रहे हैं]—चित्त मुझमें जिस प्रकार स्थिर होता है उस प्रकार यदि मुझमें चित्तको धारण करनेमें तुम समर्थ नहीं हो रहे हो, तो विक्षिप्त चित्तको पुनः पुनः प्रत्याहार करके मेरे अनुस्मरणरूप अभ्यासयोगके द्वारा मुझको पानेकी इच्छा करो अर्थात् प्रयत्न करो॥९॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् मुझमें मन इस प्रकार स्थिर नहीं कर सकते तो अभ्यास करनेकी इच्छा करो अर्थात् क्रिया बढ़ाओ।—भगवान्में मन और बुद्धिको निविष्ट कर देना कठिन साधना है, सबको इतना सामर्थ्य नहीं होता। चित्तके प्रमादवश सूक्ष्म विषयमें मनको बहुत देर तक रखना सबके लिए साध्य होना संभव भी नहीं है। जिनका चित्त ऐसी एकाग्रतासे युक्त नहीं है उनके लिए किसी कौशलका अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। यह कौशल अभ्यासयोग है। भ्राम्यमाण चित्तको

मेरुदण्डके भीतर चक्र-चक्रमें घुमानेके अभ्यासके द्वारा प्रत्याहृत करनेकी चेष्टा करने पर जब वह स्थिर होता है, तब मुक्तमें चित्तको स्थापित करना अपेक्षाकृत सहज है। योगदर्शनमें लिखा है—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः"—द्रष्टाकी स्वरूपावस्थामें जो स्थिति है वही क्रियाकी पर-अवस्था है, उस स्थितिके लिए पुनः पुनः प्रयास ही अभ्यास-योग है। इस स्थितिके विना किसीके लिए ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त करना संभव नहीं है। किसीको भी यह स्थिति एकबारगी नहीं आती, इसके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। क्रिया करते-करते किसी समय मन ऐसा स्थिर हो जायगा मानो कहीं सरकना नहीं चाहता, परन्तु सदा वैसा न रहेगा। अनेक बार चेष्टा करने पर असफल भी होना पड़ेगा। साधक! इस कारण कभी हतोत्साह मत होना। गुरूपदिष्ट मार्गसे प्रयत्न करते-करते मन लक्ष्यके समीप पहुँचेगा, अति समीप पहुँचकर भी संभव है कि वह नीचे गिर जाय, तो भी आशा त्याग न करना। जितनी बार गिरे उतनी बार उठानेकी चेष्टा करो, इस प्रकार वारंवार चेष्टा करने पर उद्देश्यको प्राप्त करना सहज हो जायगा। तब लक्ष्यमें मनको प्रवेश करानेमें विशेष आयास न लगेगा। वह इतना सहज और स्वाभाविक हो जायगा कि इच्छा होते ही चित्त निरालम्बमें स्थिर किया जा सकेगा, तब अभ्यास बन्द कर देने पर भी कोई क्षति न होगी।

इस अभ्यासको कैसे दृढ़ कर सकते हैं, इस विषयमें योगदर्शनमें कहा है—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः"—अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर और अत्यन्त श्रद्धा तथा आदरके साथ आसेवित होने पर दृढ़भूमि होता है।

अल्पकाल साधना करके ज्ञानलाभ करना दुष्कर है। यदि ऐसा न होता तो भगवान् क्यों कहते—"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"। तपस्या और ब्रह्मचर्यादिपूर्वक अभ्यास सम्पादन किये बिना दृढ़भूमि-लाभ नहीं होता, इसे भी दीर्घकाल और निरन्तर किया जाय तभी इसका होना संभव है। जो लोग शीघ्र और सहज ही कुछ हो जानेकी भावना करते हैं और इसके लिए व्याकुल हो जाते हैं, उनको गीताके इस भगवद्वाक्य तथा योगदर्शनके उपर्युक्त सूत्रपर ध्यान रखना होगा। भगवान् भी 'सर्वेषु कालेषु' स्मरण करनेकी बात कहते हैं। अभ्यासकी दृढ़तासे ज्ञानकी परिपक्वावस्था प्राप्त होने पर ज्ञानकी चरम भूमिका तुरीयावस्था तक पहुँचा जा सकता है। अभ्यास करते-करते जैसे-जैसे वृत्तियोंका निरोध होता जायगा वैसे-वैसे चित्तकी तनूमानसा सम्पादित होती जायगी। ऐसी क्षीण-चित्ततासे योगकी चतुर्थ भूमि 'सत्तापत्ति'-अवस्था प्राप्त होती है। 'सत्तापत्ति' अर्थात् ब्रह्ममें स्थिति। स्वर्गीय लाहिड़ी महाशय इसको 'अटके रहना' कहते हैं। क्रियाकी परावस्थाका सूत्रपात यहींसे होता है। सत्ता जो आत्मा है जिसमें चराचर समस्त विश्व प्रतिष्ठित रहता है, उस सत्तारूपी ब्रह्मवस्तुकी प्राप्ति ही 'सत्तापत्ति' नामसे अभिहित होती है। अतएव कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए दीर्घकाल और निरन्तर अभ्यास करना होगा।

कबीरने कहा है कि 'निसिदिन हरि ध्याये बिना, मिले न दुर्लभ योग'। दिनरात ध्यान किये बिना कोई हरिके साथ योग प्राप्त नहीं कर सकता। महात्मा कबीरने दूसरी जगह कहा है—

लम्बा मारग दूर घर, विकट पन्थ बहुभार

रास्ता लम्बा है, घर कितनी दूर है इसका ठिकाना नहीं, राह भी बड़ी विकट है, कन्धे पर भारी बोझ है—इस अवस्थामें दुर्लभ हरि कैसे मिलेंगे ?

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्, तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।

जो विद्वान् पुरुष इस प्रकारके उपायका अवलम्बन करके प्रयत्न या अभ्यास करता है, उसीका आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अन्वय—अभ्यासे अपि (यदि अभ्यासमें भी) असमर्थः असि (असमर्थ हो) मत्कर्मपरमः भव (तो मत्कर्मपरायण बनो) मदर्थं (मेरे उद्देश्यसे अथवा मेरी प्रीतिके लिए) कर्माणि कुर्वन् अपि (सब कर्मोंको करते हुए भी) सिद्धिम् अवाप्स्यसि (सिद्धि प्राप्त कर सकोगे) ॥१०॥

श्रीधर—यदि पुनर्नैवं तत्राह—अभ्यास इति। यदि पुनः अभ्यासेऽपि अशक्तः असि तर्हि मत्प्रीत्यर्थानि यानि कर्माणि—एकादश्युपवास-व्रतचर्या-पूजा-नामसंकीर्तनादीनि तदनुष्ठानमेव परमं यस्य तादृशो भव। एवंभूतानि कर्माण्यपि मदर्थं कुर्वन् मोक्षं प्राप्स्यसि॥१०॥

अनुवाद—[यदि पुनः पुनः इस प्रकार अभ्यास नहीं कर सकते, तो कैसे क्या करना होगा, यही बतलाते हैं]—यदि पुनः पुनः अभ्यासमें भी तुम अशक्त हो, तो मेरे प्रीत्यर्थ एकादशी-उपवास, व्रत-आचरण, पूजा और नामसङ्कीर्तन आदि जो कर्म हैं उनका अनुष्ठान ही परम श्रेष्ठ समझकर उनका आचरण करो। इस प्रकार कर्मोंको मेरे उद्देश्यसे करने पर मोक्ष प्राप्त करोगे ॥१०॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अभ्यास करनेमें यदि कदाचित् तुम्हारी शक्ति और सावकाश न हो तो मेरे कर्म अर्थात् फलाकाङ्क्षारहित कर्ममें अर्थात् क्रिया करते-करते सारी वस्तुओंसे इच्छारहित हो जाओगे—इसीका नाम है सिद्धिप्राप्ति।—नवम श्लोकोक्त अभ्यासको करते-करते प्राण सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जायगा, कूटस्थमें लक्ष्य स्थिर हो जायगा। जिनका जन्मान्तरीण साधन-संस्कार प्रबल है उनके लिए इस जन्ममें दृढ़ताके साथ अभ्यास करने पर लक्ष्यमें स्थिरता रखना अपेक्षाकृत सहज है, परन्तु जिसका पूर्वाभ्यास प्रबल नहीं है, उसके लिए क्या कर्त्तव्य है, यही इस श्लोक में बतलाते हैं। उसको भी क्रियाके अनुशीलनमें यत्नवान् होना पड़ेगा। प्राणकर्म ही मत्कर्म है, यह पहले ही कहा जा चुका है। उस प्राणमें जो लक्ष्य रखेगा उसका प्राण स्थिर हो जायगा और वह कैवल्य प्राप्त कर सकेगा। पूर्व श्लोकमें कथित प्रबल अभ्यासको करनेमें असमर्थ होने पर भी यदि वह सब कर्मोंको करते हुए प्राणमें लक्ष्य

रख सके और इस प्रकार लक्ष्य रखकर संसारके समस्त कर्मोंको करते जाय तो वह लक्ष्यकी प्राप्तिसे वञ्चित न होगा। इस भावके साधक आसन पर बैठकर संभवतः कुछ देर तक साधन करते हैं, परन्तु पूर्वोक्त श्लोकके अभ्यासीके समान दिन-रात इस विषयमें प्रयत्न नहीं कर पाते हैं, तथापि यदि वे प्राणमें सदा लक्ष्य रखते हैं तो वे सिद्धकाम होंगे। प्राणका प्रच्छर्दन-विधारण उनको भी करना पड़ेगा, संभव है कि उतनी प्रबलतापूर्वक और दीर्घकालव्यापी अभ्यास उनके द्वारा न हो सके तथापि यदि वे आध्यात्मिक देशसमूहमें सर्वदा लक्ष्य रख सकेंगे तो धीरे-धीरे आत्मस्थितिको प्राप्त कर पावेंगे। इसके साथ "ज्योतिष्मती प्रवृत्ति" या हृदयस्थ ज्योतिकी धारणा और अनाहत नादकी धारणाका अभ्यास कर सकने पर तथा उसके साथ कुछ-कुछ प्राणायामका अभ्यास करते रहने पर बहुविध अन्तरस्थ नादसमूह सुन पड़ेंगे। इस प्रकार सुनते-सुनते एक सूक्ष्म विन्दुका दर्शन प्राप्त होगा। उस विन्दुका दर्शन करते-करते मन उसमें विलीन हो जायगा, इसको ही योगशास्त्रमें विष्णुका परम पद कहते हैं।

क्रियाभ्यासके विषयमें तो पूर्व श्लोकोंमें भी कहा जा चुका है। इस श्लोककी साधना उनके लिए है जो पूर्वोक्त रूपसे अभ्यास करनेमें असमर्थ हैं। यह निश्चय ही पूर्वापेक्षा कुछ सहज उपायका उपदेश है, परन्तु यहाँ भी यदि वही क्रियाके अभ्यासकी बात कही जाती है तो पूर्वोक्त साधनाभ्यासकी अपेक्षा यह सहज कैसे है तथा पूर्व साधनाके साथ इसका पार्थक्य कहाँ है?—पार्थक्य यही है कि पूर्वोक्त (नवम श्लोकोक्त) अभ्यास ध्यानयुक्त है, उसमें प्रत्ययकी एकतानता अधिक है। जिसने दीर्घकाल प्रयत्नके साथ अभ्यास किया है, उसीके लिए पूर्वोक्त अभ्यास सम्भव है। दीर्घकाल अभ्यासके फलस्वरूप जो चित्तकी एकतानता आती है, वह एकतानता जितनी दीर्घकाल स्थायी होती है, उतना ही साधकका क्लेशदायक विक्षेपभाव विदूरित होता जाता है। तब क्रियाभ्यास अधिक कष्टसाध्य नहीं जान पड़ता। इसके साथ ईश्वर-प्रणिधान (अचञ्चल स्थिर दिव्यभाव) होनेके कारण अविद्यादि पञ्च क्लेश क्षीण हो जाते हैं और मन सहज ही निरुद्ध हो जाता है, फलस्वरूप शीघ्र ही सविकल्प समाधिका उदय होता है।

जिसके लिए इस प्रकार दृढ़ अभ्यासके साथ साधन करनेकी संभावना नहीं है, जो अभी वासनाके प्रबल वेगसे इतस्ततः धावित होता है उसके लिए श्वासमें लक्ष्य रखना और गुरूपदेशके अनुसार नित्य नियमित भावसे कुछ-कुछ प्राणायामादिका अभ्यास करना आवश्यक है। जो प्रतिदिन कुछ-कुछ अभ्यास करता है, उसका प्राण और उसके साथ मन धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है। जो इस स्थिरताका आस्वादन पाता है, वह फिर इस अभ्यासका परित्याग नहीं कर सकता। क्रमशः उसका नशा जमते-जमते ऐसा जम जाता है कि वह क्रिया किये बिना नहीं रह सकता। जो इस प्रकार लगा रहता है, उसके प्राण अन्तमें चरम तत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

यथा वायुवशाद्गन्धः स्वाश्रयाद्घ्राणमाविशेत्।
योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत्॥

जैसे वायुके द्वारा गन्ध अपने आश्रय पुष्पादिसे लोगोंके नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है, वैसे ही योगाभ्यासरत चित्त विषयान्तरका परिहार कर आत्मामें प्रविष्ट हो जाता है।

पूज्यपाद श्रीधर स्वामी 'मत्कर्म' शब्दसे ऐसा अर्थ करते हैं कि पूजा, चर्या, एकादशी व्रत तथा नाम-संकीर्तनादि कर्म ईश्वरोद्देश्यसे करने पर मुक्ति प्रदान करते हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्यने भी कहा है कि 'अभ्यासके बिना केवल मेरे लिए कर्म करते हुए भी सिद्धि प्राप्तकर सकोगे . अर्थात् क्रमशः चित्तशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिके द्वारा सिद्धि अर्थात् मोक्षलाभ कर सकोगे।' श्रद्धापूर्वक श्रवण-कीर्तनादि अथवा भगवत्प्रतिमादिकी पूजाके द्वारा चित्त शुद्ध हो सकता है, परन्तु विधिपूर्वक प्रतिमाका पूजार्चनादि भी सहज व्यापार नहीं है, इसमें भी न्यास और भूतशुद्धि यथेष्ट परिमाणमें करनी पड़ती है, क्योंकि इसके बिना प्राण शुद्ध नहीं होता। पूजादिमें शुद्धिका उद्देश्य भूल जाने पर यह पूजादि अनुष्ठान बाह्याडम्बरमें पर्यवसित हो जाता है। नाम-सङ्कीर्तनादि करते-करते जिसका चित्त भगवदुन्मुखी होता है, उसके लिए यह सङ्कीर्तनादि निरर्थक नहीं समझना चाहिए। भगवान्के लिए कर्म करने पर तद्द्वारा सिद्धि हो सकती है, परन्तु भगवान्के लिए कर्म करना अभ्यासका फल है। बिना अभ्यासके भगवत्कर्म भी कैसे हो सकेगा? मनमें समझ लिया कि जो कुछ करता हूँ, भगवान्के लिए ही करता हूँ, परन्तु इसके लिए भी स्मृति-शुद्धि आवश्यक है। भगवत्स्मृति न आनेका कारण यह है कि हमारा चित्त शुद्ध नहीं है और जबतक प्राण अशुद्ध रहेगा, चित्त भी शुद्ध नहीं हो सकता। मध्यमार्ग सुषुम्नामें प्राणका प्रवेश कराये बिना प्राण शुद्ध नहीं हो सकता। सुषुम्ना-मार्गमें प्राणको प्रवेश करानेका सहज उपाय है प्राणको स्थिर करना, जो प्राणायामकी साधनाके द्वारा सहज ही हो जाता है। चैतन्य ही प्राणरूपमें और प्राणही अखिल वस्तुरूपमें प्रकाशित हो रहा है। मन और बुद्धि भी प्राणके ही प्रकाश-मात्र हैं। प्राणके प्रतिष्ठित होने पर ही इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं। अतएव प्राणायामके द्वारा जबतक प्राण शुद्ध नहीं हो जाता तबतक कोई कर्म भगवत्कर्म नहीं जान पड़ता, यदि जान पड़ता है तो केवल मौखिक। 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'—प्राणायामके द्वारा सारी अशुद्धियाँ क्षय होती हैं। अतएव भूतशुद्धि, स्मृतिशुद्धि और भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेके लिए भी प्राणकी उपासना एकमात्र कर्त्तव्य है। चित्तशुद्धिके बिना वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, वैराग्यके बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और प्राणकी उपासनाके बिना चित्त की शुद्धि नहीं होती। प्राणकी उपासना करते-करते प्राण जितना ही स्थिर और विशुद्ध होता जाता है उतना ही वह अन्य वस्तुओंमें नहीं जाता। कुछ भी पानेकी फिर इच्छा नहीं होती, इस इच्छारहित अवस्थाका नाम ही सिद्धि है॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

अन्वय—अथ (यदि) एतद् अपि कर्तुम् (यह भी करनेमें) अशक्तः असि (असमर्थ हो) ततः (तो) मद्‌योगम् (मेरे शरणमें) आश्रितः (आश्रय लेकर) यतात्मवान् (संयतेन्द्रिय होकर) सर्वकर्मफलत्यागं (सब कर्मोंका फलत्याग) कुरु (करो) ॥ ११ ॥

श्रीधर—अत्यन्तं भगवद्धर्मपरिनिष्ठायाम् अशक्तस्य पक्षान्तरमाह—अथेति। यदि एतदपि कर्त्तुं न शक्नोषि तर्हि मद्‌योगं मदेकशरणत्वं आश्रितः सन् सर्वेषां दृष्टादृष्टार्थानाम् आवश्यकानाञ्च अग्निहोत्रादिकर्मणां फलानि नियतचित्तो भूत्वा परित्यज। एतदुक्तं भवति—मया तावदीश्वराज्ञया यथाशक्ति कर्माणि कर्त्तव्यानि। फलं तावत् दृष्टमदृष्टं वा परमेश्वराधीनं इत्येवं मयि भारमारोप्य फलासक्तिं परित्यज्य वर्तमानो मत्प्रसादेन कृतार्थो भविष्यसीति तात्पर्यम् ॥११॥

अनुवाद—[भगवद्‌धर्म-परिनिष्ठामें भी जो अत्यन्त अशक्त हैं, उनके लिए दूसरे उपायका निर्देश कर रहे हैं]—यदि तुम यह भी नहीं कर सकते, तो एकमात्र मेरे शरणापन्न होकर सारे दृष्ट फल, अदृष्ट फल और आवश्यकीय अग्निहोत्रादि कर्मोंके फलोंको संयतचित्त होकर परित्याग करो। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि हम ईश्वराज्ञाके अनुसार यथाशक्ति कर्म करते चलें, हमारे कृतकर्मोंका फल दृष्ट हो या अदृष्ट, सब परमेश्वराधीन है। इस प्रकारका भाव मुझमें आरोप कर फलासक्तिका परित्याग करके कर्म करने पर मेरे प्रसादसे कृतार्थ हो जाओगे—यही तात्पर्य है।

[मद्‌योगमाश्रितः—मयि क्रियमाणानि कर्माणि संन्यस्य यत्करणं तेषामनुष्ठानं स मद्‌योगः। तमाश्रितः सन्—मेरे योगको आश्रय करके अर्थात् जो कुछ कार्य मुझमें समर्पण करके अनुष्ठित होता है, वह अनुष्ठान मेरा योग है—इस प्रकार मेरे योगको आश्रय कर—शङ्कर] ॥११॥

आध्यात्मिक व्याख्या—यदि कदाचित् यह भी समाधिस्थ होकर न कर सको तो सब प्रकारके कर्म करो—किन्तु फलाकाङ्क्षारहित होकर संयत आत्माके साथ अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधिस्थ होकर।—भगवान् ही सबके आश्रय हैं, यह बात समझने या ऊपर-ऊपर जान लेने पर ही कोई उनका आश्रय पा जायगा, यह सोचना भूल है, क्योंकि कर्मको फलकामना छोड़कर करना तथा संयतचित्त होना—दोनों अत्यन्त दुरूह व्यापार हैं। मैंने फलकामनाका त्याग कर दिया, यह कहनेसे ही फलाकाङ्क्षाका परित्याग हो जायगा अथवा चित्तको संयत करूँगा, यह कहनेसे ही चित्त संयत हो जायगा ऐसा न समझो। तब फिर यतात्मा और मद्‌योगाश्रय कैसे हो सकते हो? इसके लिए साधना करनी होगी, विपुल चेष्टा करनी पड़ेगी। योगदर्शनमें लिखा है—'त्रयमेकत्र संयमः'—धारणा, ध्यान और समाधि किसी एक विषयमें एकत्र प्रयुक्त होनेकी अवस्थाको संयम कहते हैं, परन्तु चित्त अत्यन्त शुद्ध हुए बिना धारणा, ध्यान, समाधि अधिक देर तक नहीं टिक सकती। अभ्यास द्वारा प्राण शुद्ध हुए बिना चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त पूर्णतः शुद्ध न होनेसे वह व्युत्थित होगा ही।

जबतक चित्त व्युत्थित होता रहेगा, तबतक उसे यथार्थ संयम नहीं कह सकते। पुनः पुनः चित्तको प्रत्याहारकी भूमिमें लाकर प्राणायामादि क्रियायोगका अभ्यास करने पर धारणा-ध्यान-समाधि-रूप प्रकृत संयम आयत्त हो सकता है। योगदर्शनमें इसके भी अद्भुत फल लिखे हैं—'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'—यदि इस संयमको जय कर सको तो प्रज्ञालोक उद्भासित होगा। जब इच्छा-मात्रसे ही धारणा और साथ ही साथ ध्यान और समाधिकी अवस्था आती है, तभी वह संयमजयकी अवस्था होती है। पुस्तक पढ़कर, कथा सुनकर या चिन्तनके द्वारा जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान-मात्र है, प्रज्ञालोक नहीं है। धारणा, ध्यान और समाधिके पुनः पुनः अभ्यासले बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है, वह विषयोंके तरङ्ग-विक्षेपमें कभी विचलित नहीं होती तथा बाहरके शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि उसमें प्रवेश भी नहीं कर सकते, यही स्थिर अविचलित बुद्धि वस्तुतः 'प्रज्ञा' है और इसी बुद्धिमें आत्मा ज्ञेय होता है। 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'—ऋग्वेदका महावाक्य जो 'प्रज्ञानं ब्रह्म' है, यह वही प्रज्ञान है। संयमजय होने पर ही इस प्रज्ञाका उदय होता है। इस प्रकारके प्रज्ञावान् पुरुष ही क्रियाकी परावस्थामें तथा परावस्थाकी परावस्थामें निर्लिप्त भावसे संसारके नाना प्रकारके कर्म करते हैं, वे सिद्ध पुरुष हैं, उनको किसी भी काम्य वस्तुके प्रति स्पृहा नहीं होती। फलाकांक्षा रहित होकर निःस्पृह भावसे कर्म करना उनके लिए स्वाभाविक हो जाता है। यह अवस्था जिनको प्राप्त नहीं अर्थात् इस भावसे कर्म करनेका जिन्होंने अबतक सामर्थ्य नहीं प्राप्त किया है, उन्हें उचित है कि वे परावस्थाकी प्राप्तिके लिए दृढ़ प्रयत्नपूर्वक धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास करते रहें। इससे साधक सदा समाधिस्थ रह सकेगा, ऐसी बात नहीं है, कभी वह ध्यानकी अवस्थामें उतरेगा और कभी धारणाकी अवस्थामें अवतरित होगा, उठेगा और गिरेगा। समाधिके द्वारा असाधारण ज्ञान और असाधारण शक्ति प्राप्त होती है। जैसे-जैसे व्युत्थान कम होता जायगा, वैसे-वैसे समाधि उत्कृष्टतर रूपमें प्रतिष्ठित होती जायगी। इसीलिए कहते हैं 'यदि समाधिस्थ होकर कर्म न कर सको तो धारणा, ध्यान और समाधि जिससे उत्कर्षको प्राप्त हो, उसके लिए प्रयत्न करो और उसके साथ सब प्रकारके कर्म भी करते रहो, परन्तु यह ध्यानमें रखकर कर्म करो कि कहीं चित्त अत्यन्त विक्षिप्त न हो, अन्यथा धारणा, ध्यान और समाधि पूर्व श्लोकोक्त अवस्थाको प्राप्त न हो सकेगी।

सर्व-कर्मफल-त्याग कैसे हो सकता है, इस सम्बन्धमें कुछ आलोचना होनी चाहिए। कर्म-मात्र कर्त्ताके आश्रित हैं। भगवान् ही सबके आश्रय हैं, यह समझ लेने पर ज्ञात हो जायगा कि कर्मोंके कर्त्ता भी वही हैं, इसकी सम्यक् धारणा होने पर सारे कर्म आत्मामें या ईश्वरमें अर्पित होंगे। सर्व कर्मका फलत्याग करनेके लिए 'यतात्मा' बनना होगा। परन्तु चित्तसंयमके बिना यह समझमें न आयेगा कि आत्मा या भगवान् सबके आश्रय हैं, उनका आश्रय करके ही सब कुछ अस्तित्ववान् हो रहा है। एक ब्रह्मसूत्र (प्राण) जगत् आदिके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। अतएव उस ब्रह्मसूत्रका सन्धान पाये बिना यह समझमें नहीं

आ सकता कि वह किस प्रकार जगत्का आश्रय हो रहे हैं। इसको जबतक नहीं समझ पाते तबतक कर्मके कर्त्ता हम बने रहेंगे, अतएव कर्मफल भी तबतक हमारा पिण्ड नहीं छोड़ेगा। चित्तके बाह्य व्यापारके प्रवाहमें बहते रहने से मेरुमध्यस्थ ब्रह्मसूत्रका सन्धान नहीं मिलेगा। तबतक कर्मके जो मालिक हैं उनका भी सन्धान नहीं मिलेगा, तबतक मुझको ही सारे भूतोंका भार वहन करते हुए मरना पड़ेगा। सुख-दुःखका फलास्वाद जबतक निवृत्त न होगा, जन्म-मरणका प्रवाह भी नहीं छूटेगा और न जीवनकी ज्वाला ही मिटेगी।

कर्म जिसके आश्रयसे रहता है, उसका कुछ परिचय पाने पर ही प्राणमें लक्ष्य पड़ेगा। लक्ष्य पड़ने पर प्राण जिससे संयत हो उस ओर चेष्टा बढ़ेगी और समस्त सांसारिक कर्मोंको करते हुए उनके मूलमें जो सत्ता रहती है अर्थात् अपना स्वरूप, उसकी ओर लक्ष्य पड़ने पर समझमें आ जायगा कि देह, इन्द्रियों और मनसे 'मैं' पृथक् है। अतएव अबतक जिनको आश्रय समझ रखा था, वे सब आश्रय अपने आप भङ्ग हो जायेंगे। अन्य किसी वस्तुका आश्रय न रहने पर मन उस परम सत्ता 'मैं' के साथ मिलकर एक हो जायगा। तब 'सर्वकर्म' तथा उनके समस्त फलोंका त्याग हो जायगा।

परन्तु केवल जान लेने पर ही 'कमली' छोड़ न देगी। इसके लिए जिससे विवेक उत्पन्न हो वैसा सङ्ग और विचार करना होगा। जो अनात्म वस्तु है उसका परिहार तथा जो आत्म-सम्बन्धी है उसके ग्रहणमें सर्वदा अतन्द्रित रहना होगा। इसके लिए साधकको धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास करना पड़ेगा, नहीं तो देहमें 'मैं'-बोध नहीं छूटेगा, कर्म भी नहीं छोड़ेगा, फलसङ्ग भी नष्ट न होगा।

एक ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है, यह बोध केवल समाधिसे ही हो सकता है। व्युत्थित दशामें नानात्वका दर्शन होना अवश्यम्भावी है, नानात्व-बोध रहने पर प्रकृत ज्ञान नहीं होगा अतएव व्युत्थितावस्थामें अज्ञान तो जकड़े ही रहेगा। तब इस अज्ञानसे मुक्तिलाभ कैसे सम्भव है?

पहले कह चुके हैं कि यह 'नानात्व'-बोध क्रियाकी परावस्थामें अर्थात् समाधिके समय नष्ट होता है। परन्तु समाधि बहुत दुर्लभ अवस्था है, शीघ्र लभ्य नहीं है। इसके लिए कुछ बाह्य विचार करना भी आवश्यक है। विचार करके देखना होगा कि 'नानात्व' है नहीं, है केवल 'एक'। चित्तमल या विक्षेपके कारण नानात्वका बोध नष्ट नहीं हो रहा है। अतएव जिससे विक्षेप नष्ट हो, तदर्थ प्रयत्न करना बुद्धिमान्का कार्य है। प्राणायामके बिना चित्तमल या विक्षेप नष्ट होना बहुत दुरूह है। प्राणायामके द्वारा प्राण स्थिर होने पर वह मेरुमध्यस्थ सुषुम्नाको भेद करके सहस्रारमें परम शिवके साथ युक्त हो जायगा। तब प्रकृत ज्ञानोदय होगा तथा ज्ञान-प्रसादसे जगत्की किसी वस्तुमें फिर मन नहीं लगेगा। इस प्रकार परवैराग्यको प्राप्त साधक परम पदको प्राप्त कर धन्य हो जायगा, जीव ब्रह्ममें मिल जायगा। कबीर कहते हैं—

मन लागा उन्मनी सूँ गगन पहूँचा जाय।
चाँद बिना चाँदनी तहाँ अलख निरंजन राय॥

कबीर कहते हैं कि जब मन उन्मनीमें लग गया, तब उस शून्यब्रह्ममें पहुँचा जा सकता है जहाँ चन्द्र नहीं है परन्तु ज्योत्स्ना है। जहाँ इस प्रकारका प्रकाश है वहीं अलक्ष्य कूटस्थ अर्थात् निरञ्जन ब्रह्म रहते हैं।

बुन्द समाना सिन्धुमें, सो जाने सब कोय।
सिन्धु समाना बुन्दमें, बूझे बिरला कोय॥

कबीर कहते हैं कि बिन्दु जो सिन्धुमें प्रवेश करता है, यह बात तो सभी जानते हैं, परन्तु सिन्धु बिन्दुमें प्रवेश करता है, इस रहस्यको बहुत कम लोग जानते हैं। क्रिया करते-करते बिन्दु-दर्शन होता है और बिन्दुका दर्शन करते-करते क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है, इसे सुनिपुण क्रियावान ही जानते हैं, यही है बिन्दुका सिन्धुमें निमज्जन। इस बिन्दुमें जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं, इसकी धारणा बहुत ही कम लोगोंको हो सकती है।

एक समाना सकलमें सकल समाना ताहि।

कबीर कहते हैं कि एक सबके भीतर प्रवेश किये हुए है और सब उसी एकके भीतर है।

एक आत्मा ही (१) कूटस्थमें, (२) क्रियाकी परावस्थामें, (३) ब्रह्मके अणुमें, (४) सत्रमें रहता है। यह विपुल विश्व ब्रह्माणु द्वारा संगठित है और एक ब्रह्माणुके भीतर तीनों लोक प्रविष्ट हैं। जो साधक इस ब्रह्माणुमें प्रवेश कर पाता है, उसके लिए त्रिलोकमें कुछ भी अज्ञेय, अदृश्य, अश्रुत नहीं रहता।

इस अवस्थाका वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

गुरू नहीं, चेला नहीं, नहिं मुरीद नहिं पीर।
एक नहीं दूजा नहीं तहँ रिझ दास कबीर॥

कबीरदास कहते हैं कि वहाँ गुरु नहीं है, चेला नहीं है, मुरीद या पीर भी वहाँ नहीं है। वहाँ एक भी नहीं है, दूसरा भी नहीं है, ऐसे स्थानमें कबीर रमण करते हैं।

पूर्व श्लोकमें कहा गया है कि प्रबल अभ्यासमें असमर्थ होने पर तुम प्राणमें लक्ष्य स्थिर करो। प्राणकर्म ही फलाकाङ्क्षारहित कर्म है। उसमें लक्ष्य रखने पर ही तुम इच्छारहित अवस्थाको प्राप्त हो सकोगे। यहाँ फिर कहते हैं कि उसमें भी यदि तुम असमर्थ हो तो इन्द्रियोंका संयम करते हुए मदेकशरणत्वरूप योगका आश्रय करके सब कर्मोंके फलका त्याग करो।

यह पूर्वापेक्षा सहज कर्म होगा ऐसा तो नहीं जान पड़ता। तब यह कहनेका उद्देश्य क्या है? वस्तुतः ये सारे उपदेश उनके ही लिए सहज हैं, जिनको विश्वरूप-दर्शन हो गया है। यहाँ उत्तरोत्तर सहज साधनाका कथन नहीं है, बल्कि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्थाकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। अगले श्लोकमें इसका अर्थ और स्पष्ट हो जायगा। विश्वरूप-दर्शनकी प्राप्तिके समान अवस्था जिसको प्राप्त है, वह अपनेको साधनाके अन्तिम उच्चस्तरमें ले जाना चाहे तो समय और सुयोगके अनुसार जो वह कर सकता है, उसीका सङ्केत यहाँ प्रदान किया गया है। एक ही अवस्थाप्राप्त एक ब्राह्मण और एक राजाका, अथवा एक गृहस्थ और

एक संन्यासीका—साधन-क्रममें जो तारतम्य होता है, उसीकी बात यहाँ परिव्यक्त की गयी है। उद्देश्य यह है कि साधक अपनी अवस्थाके अनुसार साधनाकी चरम सिद्धिके लिए चेष्टा करेगा ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अन्वय—हि (क्योंकि) अभ्यासात् (ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा) ज्ञानं श्रेयः (शब्द और युक्ति द्वारा आत्मनिर्णय श्रेष्ठ है) ज्ञानात् (श्रवण-मनन-जनित ज्ञानकी अपेक्षा) ध्यानं विशिष्यते (निदिध्यासन-रूप ध्यान श्रेष्ठ है) ध्यानात् (इस प्रकारके ध्यानसे) कर्मफलत्यागः (कर्मफलका त्याग) [श्रेष्ठ है]; त्यागात् अनन्तरं शान्तिः (इस त्यागके बाद संसारोपशम-रूप शान्ति लाभ करनेमें विलम्ब नहीं होता) ॥१२॥

श्रीधर—तमिमं फलत्यागं स्तौति—श्रेयः इति। सम्यग्ज्ञानरहितात् अभ्यासात् युक्तिसहितोपदेशपूर्वकं ज्ञानं श्रेष्ठम्। तस्मादपि तत्पूर्वकं ध्यानं श्रेष्ठम्। 'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुतेः। तस्मादपि उक्तलक्षणः कर्मफलत्यागः श्रेष्ठः। तस्मात् एवम्भूतत्यागात् कर्मसु तत्फलेषु च आसक्ति-निवृत्त्या मत्प्रसादेन च समनन्तरमेव संसार-शान्तिर्भवति ॥१२॥

अनुवाद—[उपर्युक्त कर्मफल-त्यागकी प्रशंसा करते हैं]—सम्यग्ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा युक्तिसहित उपदेश पूर्वक (परोक्ष) ज्ञान श्रेष्ठ है। इस प्रकारके ज्ञानकी अपेक्षा तत्पूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है। श्रुतिमें लिखा है—"उसके बाद (साधनसम्पन्न और संयतेन्द्रिय होकर) एकाग्रतापूर्वक ध्यान करते-करते भेदरहित आत्माका दर्शन करते हैं।" इससे भी उक्तलक्षण कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है। इस प्रकारके त्यागके बाद कर्म और उसके फलस्वरूप आसक्तिकी निवृत्ति होने पर मेरे प्रसादसे अति शीघ्र संसार-शान्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

आध्यात्मिक व्याख्या—योनिमुद्राकी अपेक्षा १७२८ बार प्राणायाम करना अच्छा है, उसकी अपेक्षा फलाकाङ्क्षारहित होकर सर्वदा क्रिया करते रहना अच्छा है, और तदपेक्षा मैं कुछ नहीं और मेरा कुछ नहीं—जो क्रियाकी परावस्थामें होता है—अच्छा है।—जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उदय हुई है, वह कोई न कोई एक साधनपथ अवलम्बन करेगा ही। साधनपथ अवलम्बन करना तो हुआ, परन्तु भगवान् क्या हैं, भगवत्प्राप्ति होने पर क्या अवस्था होती है, भगवत्प्राप्ति किसको कहते हैं, कुछ भी नहीं जानता। 'भगवान्को प्राप्त करना है' केवल यह सोचकर एक योगी गुरुको पकड़ लिया, उन्होंने भी संभवतः उसे उपयुक्त नहीं समझा तथापि कृपा करके एक पथ दिखला दिया। उस मार्ग पर गुरूपदेशके अनुसार अभ्यास करना आरम्भ भी कर दिया परन्तु साधनाभ्यासके अवश्य पालनीय नियमोंको ठीक तौर पर पालन नहीं करता, करनेकी इच्छा भी नहीं होती। किसी प्रकार नियमरक्षा करके साधन करता

जा रहा है, इससे बिल्कुल ही कुछ नहीं होता ऐसा नहीं है। समय-समय पर मन स्थिर होता है, एक-आध बार ज्योतिदर्शन भी होता है, परन्तु यही सारात्-सार परमाराध्य वस्तु है, यह कभी-कभी मनमें होने पर भी इसमें दृढ़ विश्वास नहीं होता। इसीसे समय समय पर तीर्थभ्रमणार्थ जाता है, देवी-देवताका दर्शन करता है, परन्तु वहाँ भी कुछ शान्ति नहीं मिलती। सोचता है, संसारमें लोग ऐसा करते हैं, सम्भवतः भविष्यमें कुछ फल मिलेगा, कहीं उस फलसे वञ्चित न हो जाना पड़े, अथवा देवताके स्थानमें न जानेसे देवता क्रोध करेंगे और उससे मेरी कोई सांसारिक हानि हो सकती है—इन आशङ्काओंसे, कुछ मिले या न मिले, देवमन्दिरमें जाकर एक बार सिर झुका आता है। विषयका लोभ नहीं जाता, विषयत्यागमें कोई उत्साह भी नहीं आता, परन्तु धर्मके लिए आडम्बर करनेका एक अभ्यास-सा हो गया है और वही करता रहता है। समय-समय पर अपनी अवस्थाको भी समझता है, परन्तु अभ्यास नहीं छोड़ सकता—इस प्रकृतिके उपासककी अपेक्षा ज्ञानी अच्छे हैं। ज्ञानी अर्थात् जिनको शास्त्रज्ञान है, जिन्होंने शास्त्रमें पढ़ा है कि आत्मा क्या है, आत्माके साथ मनका और मनके साथ शरीरका क्या सम्बन्ध है यह एक-एक करके समझ लिया है, उनके मनमें जब इस आत्मदर्शनकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है, तब वे उस अनन्त रहस्योंसे परिपूर्ण आत्मविषयक चिन्तामें मनोनिवेश करते हैं। इसके लिए सत्सङ्ग करते हैं, सत् शास्त्रोंकी आलोचना करते हैं और अध्यात्ममार्गमें पारदर्शी पुरुषोंके उपदेशके अनुसार साधन करते हैं। उस समय उनके चित्तमें यह बात सदा जाग्रत रहती है कि ब्रह्म सब कुछ हैं, परन्तु सबको देखकर मनमें वैसी कोई तृप्ति तो नहीं मिलती। तब क्या किया जाय जिससे अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय आत्माके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान प्राप्त हो। द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान ही योग तो है, परन्तु द्रष्टाका सन्धान कैसे मिलेगा? तब विचारयुक्त अनुसन्धान आरम्भ होता है। उनके मनमें आता है कि जिसके न रहने पर कुछ भी नहीं रहता, जो इस दृश्यसमूहको प्रकाशित करता है और जिसके रहने पर दृश्यसमूहका अनुभव होता है, वही द्रष्टा क्या है? क्या वह द्रष्टा ही अभ्यन्तरस्थ ज्योति है जिसको गुरु दिखला देते हैं और देखनेका उपाय बतला देते हैं। उस ज्योति प्रकाशके न रहने पर किसी वस्तुका प्रकाश नहीं होता, वही मेरा प्राण है, उसके न रहने पर मेरा मन मनन नहीं कर सकता, मेरी इन्द्रियाँ विषय-ग्रहण नहीं कर सकतीं, मेरी स्त्री, पुत्र, कन्या, माता, पिता, भ्राता, बन्धु, स्वजन—जिनसे मैं बहुत प्रेम करता हूँ, प्राणपनसे जिनको मैं चाहता हूँ, वे सब उस ज्योतिके ही रूप हैं। उस ज्योतिके रहनेसे ही प्राणका स्पन्दन होता है, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, मनमें नाना प्रकारके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार, अनुमान, सङ्कल्प-विकल्पकी तरङ्गें उठती हैं। गुरुके द्वारा ज्ञात हुआ है कि वह ज्योति ही द्रष्टाका एकमात्र स्वरूप नहीं है, वह तो एक अंश-मात्र है। उसका स्वरूप जाननेके लिए ध्यानके अगम तलमें डुबकी लगानी पड़ेगी। वह 'ज्ञेय'मात्र नहीं है, वह 'विज्ञाता' है। उस विज्ञाताको जाननेका कोई करण नहीं है। जो गुरुके उपदेशके

अनुसार साधनाभ्यासमें सर्वदा निरत रहते हैं, वे उसको केवल आनन्दस्वरूपमें जान पाते हैं। उसको जान लेने पर भी प्रकट करनेका कोई उपाय नहीं है। ऐसी भाषा भी नहीं है जिसमें उसका वर्णन किया जाय, ऐसी बुद्धि भी नहीं जो वर्णन सुनकर उसका बोध कर सके। प्रकृत योग तब प्राप्त होता है जब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है। परन्तु जब योगकी प्राप्ति नहीं होती, तब द्रष्टा कहाँ रहता है और उसको किस प्रकार पहचानते हैं? इसके लिए योगदर्शनके समाधिपादमें एक सूत्र है, उसमें कहा है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'—अन्यत्र अर्थात् अयोग-अवस्थामें द्रष्टा वृत्तिकी समानरूपताको प्राप्त होता है। उपनिषद्‌में भी है—'यदा द्वैतमिव भवति तदा इतर इतरं पश्यति'—जब आत्मा द्वैतके समान होता है, तब वह अद्वितीय आत्मा द्रष्टा और दृश्यभावापन्न होकर एक भावमें द्रष्टा और अन्य भावमें दृश्यरूपसे द्रष्टाके बोधका विषय बनता है। तब फिर ये जो चित्तकी नाना प्रकारकी वृत्तियाँ हैं, जो शत-शत दृश्यरूपमें स्फुटित हो रही हैं, इन सब दृश्योंमें कौन अपनेको प्रकाशित कर रहा है?—जिस प्रकार समुद्र अपनेको सहस्रों तरङ्गोंके आकारमें प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस दृश्यमान जगत्‌के रूपमें चित्तका ही विभिन्न प्रकाश या वृत्तियाँ हैं, इसके सिवा वह और कुछ नहीं है, वह द्रष्टाका प्रकाशमात्र है। दृष्टि-मार्जन करने पर दीख पड़ेगा कि इस अनन्त रूपराशिके भीतर केवल एक सत्तामात्र आत्मा ही विराजमान है, और कुछ नहीं है। "या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता"—वह ब्रह्मशक्ति प्राण है, वही जगत्‌की माता है, वह नानारूपोंमें अपनेको प्रकाशित कर रहा है, समस्त वस्तुओंके अस्तित्वका मूल वही है, अतएव कोई वस्तु उसके सिवा नहीं हो सकती, वही जड़-चेतन रूपमें सजा हुआ है और द्रष्टाके रूपमें अपनेको दृश्यसे पृथक् करके दिखला रहा है। यद्यपि अविद्याको इसका हेतु कहा गया है—'तस्य हेतुरविद्या' तथापि वह अविद्या भी उसीका अन्य एक रूप है। वह महादेवी और महासुरी दोनों है। अविद्याके न रहने पर यह जगत्-लीला नहीं चलती। अविद्या द्वारा स्वरूप आच्छादित होता है, इसीसे मनुष्य 'मैं'को नहीं जान पाता। यदि यह अविद्या आत्माके आवरक-रूपमें एक पृथक् वस्तु होती तो कभी छूटती नहीं, जीव कभी मुक्तिलाभ नहीं कर पाता। वस्तुतः यह विद्या और अविद्या एक ही वस्तु है। अपनेको जब जानते हैं तब वह 'विद्या' है, जब नहीं जानते तब 'अविद्या' है। इसी कारण आज जो अज्ञ है, आज जो बद्ध है, वह कल 'विज्ञ' हो जाता है, मुक्त हो जाता है।

यह तो हुई आलोचनात्मक ज्ञानकी बात। अब देखना है कि 'ज्ञान'की अपेक्षा 'ध्यान' श्रेष्ठ कैसे है। 'अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः'—जीवात्मा और परमात्मामें अभेद है, यह अभेद-धारणा ही ज्ञान है। मनके विषयशून्य होने पर अर्थात् मनमें जब सङ्कल्प या दृश्य पदार्थ नहीं भासित होते, तभी उसको ध्यान कहते हैं। ज्ञानमें स्वरूपदर्शन तो होता है, आत्माका अभेदभाव भी समझमें आता है, परन्तु ज्ञेय-स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। उस समय हम कूटस्थदर्शन करते हैं तथा यह विचार करते हैं कि यह कूटस्थ ही मैं हूँ। यहाँ मनकी पूर्ण निर्विषयावस्था नहीं प्राप्त होती, परन्तु स्वरूपदर्शन अत्यधिक होता है। इसे देखनेसे क्या लाभ होता है—

आपना चिनिले भ्रम जाबेक तोमार ।*
जगत् देखिते पावे आपन प्रकार ॥
आमाते जे बस्तुरूपे देह माझे आछे ।
सर्बजीवे तदाकारे बस्तु बिहरिछे ॥
अत्तय अव्यय बस्तु आछे सर्ब ठाइं ।
रामेर रमण छाड़ा कोन प्राणी नाइ ॥—आत्मबोध

सद्गुरु प्रसन्न होने पर सत् शिष्यको यह दिखला देते हैं —

ए हेन सद्गुरु जवे हन कृपावान ।
शब्दातीत परब्रह्म चत्तुते देखान ॥— आत्मबोध †

तब साधक 'श्यामरूपे राम देखे जगत भरिया' ।‡

यहाँ तक जो कुछ कहा गया, वह सब ज्ञान है । यह प्रज्ञा साधकको गुरुप्रदत्त साधनाके द्वारा अपने आप होती है । जब साधकके लिए यह ज्ञानगम्य होता है, तब साधकके शरीर और मनमें जो एक वैशिष्ट्यभाव प्रकटित होता है, उसको ही 'योनिमुद्रा' कहते हैं । 'मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः'—मन्त्रार्थ और योनिमुद्रा जो नहीं जानता वह शत कोटि जप करने पर भी मन्त्र-चैतन्य लाभ नहीं कर सकता । यही ज्ञानपूर्विका साधना है, यह अज्ञानपूर्विका साधनाकी अपेत्ता श्रेष्ठ तो है, परन्तु इसमें भी क्रियायोग अपेत्तित है ।

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (योगदर्शन) । तपः और स्वाध्यायके द्वारा जिससे ईश्वरप्रणिधान सिद्ध हो सके, इस भावसे अनुष्ठित कर्मसमूह ही क्रिया-योगके नामसे अभिहित होते हैं । तपः शब्दका अर्थ है तपोलोक या आज्ञाचक्र । इस आज्ञाचक्रमें ही 'स्व' का अर्थात् आत्माका अधिगम (सात्तात्कार) होता है, उसमें ही सर्वदा स्थिति या आत्मसमर्पण करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है । यह इच्छा मात्रसे ही नहीं हो जाता, इसके लिए क्रियायोगका अनुष्ठान करना पड़ता है । क्रियायोगकी सहायतासे इस प्रकारका आत्मानुसन्धान-कर्म सिद्ध हो जाता है । श्रीश्रीगुरुदेव कहते हैं कि इसके लिए १७२८ बार प्राणायामका अभ्यास करना आवश्यक है, इसीसे मन निर्विषय होगा और यही ध्यानावस्था है । तब मन एकाग्र होकर पूर्ण निरोधकी ओर अग्रसर होता है । योनिमुद्रामें दर्शनरूप ज्ञानकी अपेत्ता यह ध्याना-वस्था उच्चतर अवस्था है, क्योंकि यहाँ मनमें कोई आन्दोलन नहीं होता, वित्तेप-विहीन मन स्थिर होते-होते स्वरूपशून्यके समान हो जाता है ।

---

* अपनेको पहचान लेने पर तुम्हारा भ्रम मिट जायगा । तब जगत्को देखने पर अपना ही प्रकार देख पाओगे । मेरी देहमें जो वस्तुरूपमें है, वह वस्तु तदाकारमें ही सब जीवोंमें विहार करती है । वह अत्तय, अव्यय वस्तु सब जगह है, रामके रमणके सिवा कोई प्राणी नहीं है ।

† सद्गुरु जब कृपा करते हैं तो शब्दातीत परब्रह्मको आँखोंसे दिखला देते हैं ।

‡ तब साधक रामको श्यामरूपमें संसारमें सर्वत्र भरा देखता है ।

यह स्थिरावस्था है, परन्तु यह विशेष घन नहीं है, अपेक्षाकृत तरल है, अल्प आयास या सामान्य कारणसे उसकी स्वरूपच्युति होती है। इसीसे इसकी अपेक्षा भी उच्चावस्था है—सदा क्रिया करके फलाकाङ्क्षा-रहित अवस्थाको प्राप्त होना। मन लगाकर सर्वदा क्रिया करने पर नशा-ग्रस्तसी एक अवस्था होती है, उसमें आत्मकर्मके सिवा बाहरके भी कर्म किये जाते हैं, परन्तु कर्मकी सिद्धि-असिद्धिसे मनमें कोई उद्वेग नहीं होता। यह जब और भी गम्भीर और घनी होती है तो क्रियाकी परावस्था प्राप्त होती है। उस दशामें न 'मैं' रहता है और न 'मेरा'। यही संन्यासकी अवस्था है, इसके द्वारा शीघ्र ही शान्ति मिलती है। यह अवस्था ज्ञानी या ध्यानीको तो होती ही है, परन्तु जो लोग अज्ञ हैं, वे भी यदि मन लगाकर क्रिया करें तो क्रियाकी परावस्था प्राप्त कर मनोनिवृत्तिरूप परम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। मनोनिवृत्ति होने पर सब वस्तुओंसे बन्धन छिन्न हो जाता है, तब किसी पदार्थके लिए मन दौड़-धूप नहीं करता, इस प्रकार उसका क्रियायोग या कर्म करना हो गया, फलत्याग भी हो गया और शान्ति प्राप्ति भी हो गयी।

बहुतोंकी धारणा हो सकती है कि भगवानने कई श्लोकोंमें (८-९-१०-११) एककी अपेक्षा दूसरेको मानो सहज पथ बतलाया है, परन्तु फल-निरूपणमें सबसे निम्न-स्तरके फलको ही सर्वापेक्षा बड़ा कहकर घोषित किया। क्या वस्तुतः पूर्व-पूर्व मार्गकी अपेक्षा पीछेके मार्ग अपेक्षाकृत सहज हैं? यदि ऐसा नहीं है तो 'वह न कर सको तो यह करो', ऐसा कहनेमें कोई सार्थकता नहीं रहती।

वस्तुतः कर्मफल-त्याग निकृष्ट नहीं है, उसका सहज-साध्यत्व भी प्रदर्शित नहीं हुआ है। मनुष्यको चाहिए क्या?—शान्ति। यह 'शान्ति' त्यागके बिना प्राप्त नहीं हो सकती। जबतक हमारा मन विषयोंमें चिपका रहेगा तथा विषय-ग्रहणके लिए लालायित होकर विषयोंमें फिरता रहेगा, तबतक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। इस दुःख या अशान्तिका मूल है विषयके साथ मनका संयोग। दुःख हेय अर्थात् परित्याज्य है। जिसे हेय कहा गया, उसका कारण निर्दिष्ट किया जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—द्रष्टा और दृश्यका संयोगही हेयहेतु है। दुःखका कारण जान लेने पर कारणको हटाकर दुःखका नाश किया जा सकता है। द्रष्टा अर्थात् पुरुष और दृश्य अर्थात् बुद्धिसत्त्व। सारे दृश्य बुद्धिरूपताको प्राप्त होकर पुरुषके दृश्यरूपमें सम्बन्धयुक्त होते हैं। वस्तुतः द्रष्टाके साथ दृश्यका कभी संयोग नहीं होता, संयोगकी केवल प्रतीति-मात्र होती है। अज्ञान ही इसका कारण है, इसलिए अज्ञानको दूर करने पर द्रष्टा और दृश्यके संयोगकी प्रतीति भी नहीं होती। जिसको आत्मदर्शन होता है, उसके सामने समस्त दृश्य वस्तुएँ आत्ममय हो जाती हैं। इसीसे पञ्चशिखाचार्य कहते हैं—"तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःख-प्रतीकारः"—बुद्धिके साथ संयोगके हेतुको वर्जित करने पर दुःखका आत्यन्तिक प्रतीकार होता है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि शान्ति ही जीवनकी एकमात्र आकांक्षित और अत्यन्त

प्रयोजनीय वस्तु है। परन्तु उसको प्राप्त करना सहज-साध्य नहीं है। जिन कारणों से जीवको अशान्ति या दुःख प्राप्त होता है, उनका प्रतीकार करना आवश्यक है। यह प्रतीकार कैसे किया जा सकता है? जो दृश्यरूपमें प्रतीत हो रहा है, वह दृश्य नहीं है, आत्मा है—यह समझना होगा। विषयरूप दृश्यकी जो सर्वदा अनुभूति हो रही है, वह सब बुद्धिका ही खेल है। उस बुद्धिका प्रतिसंवेदी होनेके कारण आत्मा विषयोंके ज्ञाता-रूपमें अनुभूत होता है। अविद्याके वश द्रष्टा और दृश्यका जो एकत्र सम्बन्ध होता है, उससे द्रष्टा और दृश्यके साथ भोगरूप सम्बन्ध घटित होता है। इस सम्बन्धके नष्ट होने पर भोगका अवसान हो जाता है। प्राण आत्माकी विशिष्ट शक्ति है, यह पहले अनेक बार कहा जा चुका है। यह प्राण ही चञ्चल होकर मनरूपमें विषयको ग्रहण करता है। प्राणकी साधनासे जब वह चाञ्चल्य तिरोहित होता है, तब सङ्कल्पात्मक मन भी उपशान्त हो जाता है। इस अवस्थामें ही कर्म और उसका फलत्याग संभव है। जो कर्म होता है वह प्राणके चाञ्चल्यके कारण होता है। प्राणके भीतर अनादि वासना-बीज निहित है, प्राण चञ्चल होकर मनरूपमें विषयकी आकांक्षा करता है। चञ्चल प्राण स्थिर होने पर अव्यक्तमें मिल जाता है, तब उसके फिर कर्म नहीं हो पाते। अतएव इस अवस्थाको प्राप्त योगीके कर्म और फल एकबारगी परित्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकारके त्यागके द्वारा ही निवृत्तिरूपा परमा शान्तिका उदय होता है, तब साध्य और साधक एकाकारमें मिल जाते हैं। इस एकत्वकी अवस्थामें कर्मके प्रवर्त्तक ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तथा कर्मके आश्रय करण, कर्म और कर्त्ताका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वहाँ एकमात्र साक्षी-स्वरूप कूटस्थ वर्तमान रहता है, अतएव अपने आप सब त्याग हो जाता है। यह 'त्याग' अत्यन्त ही आवश्यकीय वस्तु है, प्रकृत त्यागके बाद ही शान्ति-लाभ होता है। ध्याननिष्ठ चित्तके बिना यह त्याग-क्रिया संसिद्ध नहीं होती। जिसको क्रियाकी परावस्था कहते हैं, वही त्याग है। यह त्याग या परावस्था ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति है, यही मोक्षलाभ-रूप सर्वोच्च फल है। ध्यानके द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है। ध्यानके द्वारा प्राप्ति होनेके कारण एक प्रकारसे ध्यानकी श्रेष्ठता तो होती है, परन्तु परावस्था ध्यानावस्थासे भी अधिक शान्तिमय अवस्था है। इस लिए फल-रूपमें परावस्थाका ही श्रेष्ठत्व दिखलाया गया। उसमें 'मैं' 'मेरा' भाव नहीं रहता, अतएव कर्म, कर्त्ता या उनका पारस्परिक संयोग भी नहीं रहता। यह अवस्था प्रतिदिन भक्तिपूर्वक क्रिया करनेसे आती है। क्रियाके द्वारा यह ध्यानावस्था प्राप्त होती है, इसलिए जो क्रिया ध्यानावस्था ला देती है वही सर्वतोभावेन प्रशंसनीय है। क्रियाकी अपेक्षा ध्यानावस्था अच्छी इस कारणसे है कि क्रिया करते समय मन रहता है और मनके साथ विक्षेप-भाव भी रहता है। तब चित्त उपरामको प्राप्त नहीं होता, इससे क्रिया खूब तृप्तिकारक या आनन्दप्रद नहीं जान पड़ती। क्रियाके द्वारा जब प्राण स्थिर हो जाता है और उसके साथ मनकी जो स्थिरता और एकाग्रता प्राप्त होती है—वह अवस्था अतिशय वाञ्छनीय और तृप्तिजनक जान पड़ती है। अतएव क्रियाके अभ्याससे मनकी विक्षेपशून्य अवस्था अधिक उपयोगी होती

है, अतः अभ्यास और क्रियाके ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ होता है। ध्यानसे ही फलत्याग होता है अर्थात् आशा और वासना मिट जाती है। ध्यान गम्भीर होने पर क्रियाकी परावस्था-रूप जो अवस्था प्राप्त होती है, उसमें किसी विषयकी वासना नहीं रहती और चित्तकी इस वासना-विरहित अवस्थासे चित्त ध्येयाकारमें मिल जाता है, इसकी अपेक्षा परम शान्तिजनक अवस्था दूसरी नहीं है।

अब सारी साधनाकी बात और भी संक्षेपमें कहता हूँ। (१) 'मुझमें ही मनको स्थिर करो, मुझमें बुद्धि निविष्ट करो'—यही भगवान्का उपदेश है। साधना करते-करते साधक जबतक अपने मन-बुद्धिको आत्माके भीतर प्रविष्ट करके निश्चिन्त नहीं हो जाता, तबतक यह नहीं माना जा सकता कि उसने साधनामें आशाजनक उन्नति कर ली है। जिन्होंने इस मार्गमें यथार्थ उन्नति प्राप्त की है, उनका भगवान्में आत्मसमर्पण प्रधान लक्षणके रूपमें स्फुटित हो उठता है। भगवान्के अस्तित्वमें उनका दृढ़ विश्वास होनेके कारण उनको कभी भय नहीं होता, उनके अनवद्य चरित्र-बलके सामने जनसमाजका सिर अवनत हो जाता है। उनका सदा-ध्याननिष्ठ चित्त कभी विषयचिन्तनके द्वारा कलुषित नहीं होता।

क्रियाकी परावस्थाके विना किसीकी मनःबुद्धि भगवान्में वस्तुतः अर्पित नहीं हो सकती। भगवद्-अर्पित चित्तमें साधकके मनकी कल्पना या बुद्धिकी मलिनता नहीं रहती। क्रियाकी परावस्थामें स्वभावतः मन और बुद्धि स्थिर हो जाती हैं। तब उसके द्वारा कोई सांसारिक कार्यक्रम बिल्कुल ही नहीं हो सकता ऐसी बात नहीं है और यह भी नहीं है कि वह व्युत्थित दशामें ठीक सांसारिक पुरुषके समान आसक्त होकर कार्य करता हो। यदि कोई ऐसा करता हो तो समझना चाहिए कि उसकी बुद्धि अभी पूर्णरूपसे आत्मामें आविष्ट नहीं हुई है। क्रियाकी परावस्थामें जो रहते हैं, उन स्थिरबुद्धि-सम्पन्न उन्नत साधकोंमें एक प्रकारका सूक्ष्म आभ्यन्तरिक शक्तिमय संस्कार-शून्य चित्त उत्पन्न होता है और उसके द्वारा जिन वृत्तियोंका उदय होता है या उनसे जो कर्म किये जाते हैं, उनमें धर्म-अधर्म या उभयात्मक कोई संस्कार नहीं रहता। वही योगीका निर्मल चित्त है, वह समाधिस्थितिसे उत्पन्न होता है। इस प्रकारका ध्यानज चित्त काम्यकर्मादि-संस्कार-दूषित चित्तसे बिल्कुल भिन्न होता है। सर्वसाधारणके चित्त कर्माशयसे उत्पन्न होते हैं, योगीका चित्त कर्माशयसे रहित होता है। इस प्रकारके चित्तमें अनेक प्रत्यय नहीं रहते, वह सतत एकमुखी होता है। अतएव उससे सर्व प्रकारका भेदज्ञान तिरोहित हो जाता है। इस प्रकारके ध्यानज चित्तमें संसारका कोई संस्कार नहीं पड़ सकता। कैवल्य स्थितिके लिए साधकको इसी प्रकारके चित्तकी आवश्यकता है। इस अवस्थामें ही बुद्धिको निःशेषरूपसे क्रियाकी परावस्थामें आविष्ट किया जा सकता है। तब उसको "आपनार नाम मोर नाहि पड़े मने" अर्थात् 'अपना नाम भी याद नहीं रहता'। इस प्रकारके भावसे युक्त साधकप्रवरका स्थिर प्राण सहस्रारमें निःशेषरूपसे स्थित होकर शिवशक्तिसमरस-भावापन्न हो जाता है अर्थात् प्राण आत्मामें निमज्जित होकर एक हो जाता है। इसी कारण भगवान्ने कहा है—"अत ऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि"—साधना द्वारा प्राणको ऊर्ध्वमें अर्थात्

सहस्रारमें रखने पर साधक अभय परमपदको लाभ करता है और मुझमें ही रहता है। इस प्रकारकी स्थिति जिसको हो गयी है, वह ही अपना उद्धार आप कर सकता है।

(२) उसके बाद कहते हैं कि यदि इस प्रकारसे चित्त-समाधान न कर सको अर्थात् इतना स्थिर न हो सको तो क्रियाका अभ्यास खूब बढ़ाते जाओ। दीर्घकाल तक मन लगाकर अधिक देर तक क्रिया करने पर प्राणका स्थैर्य-साधन होगा और वह स्थिरता धीरे-धीरे बढ़कर क्रियाकी परावस्थामें प्रवेश कर सकेगी। क्रियाकी परावस्था उदय होते-होते क्रमशः घन और अधिक-काल स्थायी हो जायगी, पश्चात् पूर्वोक्त अवस्थामें प्रवेश करनेका सामर्थ्य प्राप्त होगा।

(३) यदि इस प्रकार अभ्यास करनेमें समर्थ न हो या समय न मिले, तो भी निराश न हो। मन लगाकर थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते रहो और इस निरन्तर प्रवाहित प्राणधाराकी ओर लक्ष्य रक्खो। यह सब समय और सब अवस्थाओंमें कर सकते हो। इस प्रकारके लक्ष्यके फलस्वरूप मन स्थिर हो जायगा, क्रमशः बाह्य जगत् मनमें न रह जायगा, तुम्हारा अपना नामरूप भी याद न रहेगा। इसके द्वारा अन्ततः यही होगा कि तुम्हारी अपनी कोई इच्छा न रहेगी और प्रवाह-वत् कर्म करते जाओगे। कर्मके शुभाशुभ फलकी ओर दृष्टि न रह जायगी। इस प्रकार सब कामोंको करने पर भी मन बद्ध न होगा। तुम अनायास ही संसार-सागर पार हो जा सकोगे। उपर्युक्त द्वितीय अभ्यास करने वाले योगीके समान हो सकता है कि तुम्हें योगविभूति प्राप्त न भी हो, परन्तु जीवनका जो सर्वप्रधान लक्ष्य—आत्माराम हो जाना है—वह प्राप्त हो जायगा।

(४) पूर्वोक्त साधकका चित्त अन्तमें स्थिर और एकाग्र होकर त्रिकुटीमें प्रवेश कर सकता है और उसको सिद्धावस्था भी प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो लोग इस प्रकारकी साधनामें भी असमर्थ हैं, उनको भगवान् कहते हैं कि 'तुम चित्त संयम कर सब कर्मोंका फल त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।' फलकी आशा त्याग करके अल्प साधना करने पर भी आशातीत सफलता होती है। इसमें थोड़े प्रयत्नसे भी चित्त स्थिर हो जाता है, चित्तके स्थिर होने पर नाद उत्थित होता है, उस नादके साथ चित्तवृत्ति भी लय हो जाती है, अतएव इन्द्रियाँ संयत होती हैं और मनमें सङ्कल्पकी तरङ्ग नहीं उठती। विश्वरूपदर्शन होनेके समान अवस्थाकी प्राप्ति होने पर साधक उपर्युक्त चार प्रकारकी साधनाओंमेंसे कोई भी एक साधना अपनी अवस्थाके अनुसार चुन ले सकता है, उसीमें उसको भगवत्प्राप्ति हो जायगी। परन्तु वह अवस्था प्राप्त किये बिना इन चारोंमें कोई भी सहजसाध्य नहीं है। चित्तसंयम करके और फला-कांक्षारहित होकर साधन करना कोई साधारण कर्म नहीं है। सर्वसङ्कल्पत्याग या इच्छारहित होना, समाधि-अवस्थामें ही हो सकता है। इच्छारहित अवस्था त्यागकी अवस्था है, उसमें परमा शान्ति प्राप्त होती है। इस शान्तिकी प्राप्तिके लिए योगी लोग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास किया करते हैं। उत्तम प्राणायाममें १२ से प्रत्याहार, १४४ से धारणा, १७२८ से ध्यान और २०७३६ से

समाधि होती है। योनिमुद्रामें कूटस्थका ज्ञान होता है, ज्योति-दर्शन होता है और नाना प्रकारकी अलौकिक वस्तुओंका ज्ञान भी होता है, परन्तु मनका उपराम या शान्ति तदपेक्षा भी वाञ्छनीय वस्तु है, इस अवस्थाके न होने पर आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, हृद्रोग भी नष्ट नहीं होता। प्राणायाम द्वारा प्राण स्थिर होने पर योगी इस शान्तिमय पदका अनुभव करते हैं। अतएव योनिमुद्राकी अपेक्षा प्राणायाम अधिक करना ही विशेष फलप्रद है, परन्तु प्राणायाम उत्तम होना चाहिए। प्राणायाम उत्तम होने पर एक घंटेमें ८० बार किया जा सकता है। मध्यम प्राणायाम एक घंटेमें १०० बार और तृतीय श्रेणीका प्राणायाम घंटेमें १२० से १५० बार होता है। चतुर्थ श्रेणीका प्राणायाम घंटेमें १७५ से २०० या इससे भी अधिक हो सकता है।

प्रत्याहार—उत्तम प्राणायाम १२ बार करनेसे प्रत्याहार होता है। प्रत्याहार होते ही रूप-रसादि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग छूट जाता है। प्राणायामके द्वारा प्राण जैसे-जैसे स्थिर होता है, चित्त भी उसी परिमाणमें स्थिर होता है और चित्तकी स्थिरताके साथ इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयोंसे प्रत्याहृत होकर चित्तका ही अनुसरण करती हैं। उड्डीयमान मधुकरराजके साथ जिस प्रकार अन्यान्य मक्षिकाएँ उड़ती हैं, उसी प्रकार चित्त जैसे-जैसे स्थितिपद लाभ करता है, इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार चित्तनिरोधके साथ निरुद्ध हो जाती हैं। चित्तकी एकाग्रताके साथ विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति बन्द हो जाती है। जैगीषव्यके मतसे इन्द्रियजयका यही सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

धारणा—प्रत्याहारके बाद १४४ बार उत्तम प्राणायामके द्वारा धारणा होती है। धारणा अर्थात् अभीष्ट लक्ष्यमें चित्तको संस्थापित कर सकना। मन स्वभावत: एक वस्तुमें अधिक देर तक नहीं टिक सकता। जब मनको किसी एक विषयमें लगा देनेका सामर्थ्य आता है तो उसको 'धारणा' नाम देते हैं। प्राणायामके समय आध्यात्मिक देशों (मेरुदण्डस्थ चक्र आदि) में वारंवार भावना करनी पड़ती है। भावना करते-करते चित्त तत्तत् देशमें बद्ध हो जाता है तथा इन्द्रियाँ अपने विषयोंके आस्वादनसे विरत हो जाती हैं, यही वस्तुत: 'धारणा' है। प्राणायाममें अभ्यस्त हुए बिना इन आध्यात्मिक देशोंमें चित्त आबद्ध नहीं हो सकता। इन आध्यात्मिक देशोंमें धारणासे अलौकिक दर्शन-श्रवणादि विभूतियाँ आकर उपस्थित होती हैं।

ध्यान—१७२८ बार उत्तम प्राणायामसे ध्यानावस्था प्राप्त होती है। प्रत्ययकी एकतानता ही 'ध्यान' है। धारणाके समय चित्त अभीष्ट स्थानमें या ध्येय विषयमें बद्ध तो होता है, परन्तु वह विभिन्न प्रत्ययोंके द्वारा क्षण-क्षण भग्न होता रहता है। ध्यानके समय प्रत्ययकी एकतानता होती है अर्थात् एकजातीय प्रत्ययप्रवाह अखण्ड-धारामें चलता रहता है। ध्यानावस्थामें चित्त खूब प्रशान्त और आत्मविस्मृत-सा हो जाता है। धारणाका भाव गम्भीरतर होने पर उसको ध्यान कहते हैं।

समाधि—२०७३६ बार प्राणायामके द्वारा समाधि-लाभ होता है। ध्यान अतिशय प्रगाढ़ होने पर चित्त ध्येयाकारमें अवस्थित होता है, ध्याताको आत्मविस्मृति हो जाती है, ध्येय विषयके साथ ध्याता मानो एक हो जाता है। चित्तके इस प्रकारके

असीम धैर्यको समाधि कहते हैं। समाधि अवस्थाके बिना आत्मसाक्षात्कार होना असम्भव है। श्रुति कहती है—"समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्"—समाहित होकर अपने भीतर ही—स्थिर चित्तके भीतर ही—आत्माका अनुभव किया जाता है॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

अन्वय—सर्वभूतानां (सब जीवोंके प्रति) अद्वेष्टा (द्वेष-रहित) मैत्रः (मैत्री भावापन्न) करुणः च एव (और दयावान्) निर्ममः (ममतारहित) निरहङ्कारः (अहङ्कारशून्य) समदुःखसुखः (दुःख और सुखमें समचित्त) क्षमी (क्षमाशील) ॥१३॥

श्रीधर—एवम्भूतस्य भक्तस्य क्षिप्रमेव परमेश्वरप्रसादहेतून् धर्मान् आह—अद्वेष्टा इति अष्टभिः। सर्वभूतानां यथायथं अद्वेष्टा, मैत्रः करुणश्च उत्तमेषु द्वेषशून्यः, समेषु मित्रतया वर्त्तते इति मैत्रः; हीनेषु कृपालुरित्यर्थः। निर्ममः निरहङ्कारश्च। कृपालुत्वात् एव अन्यैः समे सुखदुःखे यस्य सः। क्षमी क्षमाशीलः ॥१३॥

अनुवाद—[अतिशीघ्र परमेश्वर-कृपा प्राप्तिके हेतु-स्वरूप धर्मको आठ श्लोकोंमें कहते हैं]—(वह व्यक्ति) सब भूतोंके प्रति यथायोग्य क्रमसे अद्वेष्टा, मैत्र और करुण होता है अर्थात् उत्तमके प्रति द्वेषशून्य, सम अवस्थापन्नके प्रति मित्रभावापन्न और हीनके प्रति कृपालु होता है। 'निर्मम' अर्थात् 'मैं'-'मेरा' अभिनिवेशसे रहित और निरहङ्कार होता है, कृपालु होनेके कारण अन्य लोगोंके साथ उसको सुख-दुःखका समान बोध होता है, वह क्षमी अर्थात् क्षमाशील होता है ॥१३॥

आध्यात्मिक व्याख्या—किसीसे द्वेष नहीं करता—नशेबाजको द्वेष ही क्या ! —सबको ही अपने समान कूटस्थका रूप देखे और जिससे क्रियामें उन्नति हो, वह करे—मैं कुछ नहीं मेरा कुछ नहीं क्रियाकी परावस्थामें रहकर, क्योंकि अहङ्कार उस समय नहीं रहता—नशेमें सुख-दुःख समान ज्ञान—कोई कुछ बोले भी तो 'बोलने दो' कहकर क्षमा करता है अर्थात् परवाह नहीं करता—जैसे द्वारकी 'कैंचकोंच' ध्वनि।—इस श्लोकसे इस अध्यायके अन्तिम श्लोक तक भगवद्भक्त और ज्ञानीके जो लक्षण स्फुटित होते हैं उनके बारेमें कह रहे हैं। "अविच्छिन्न आत्मरतिरूप परा भक्ति और अपरोक्ष ज्ञानमें वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं है।" आत्मा ही सर्वापेक्षा प्रिय वस्तु है, ज्ञानी भक्त भगवान्का आत्मा है, अतएव तदपेक्षा उनका प्रिय और कोई नहीं हो सकता। परा भक्तिका लक्षण भी ठीक यही है। जिसकी आत्मरति अविच्छिन्न धारामें और अप्रतिहत भावसे बहती है, वह आत्माके साथ सदा ही योगयुक्त हो जाता है। इसीसे इस प्रकारके भक्त और ज्ञानी लोग समभावापन्न होते हैं, उनके आन्तर और बाह्य लक्षण भी एक-से होते हैं अथवा समानरूपसे ही प्रस्फुटित होते हैं। परन्तु गौणी भक्तिको यदि प्रकृत भक्ति कहें तथा परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके यदि कोई ज्ञानीके आसन

पर अधिकार जमा बैठे तो उनके बीच फिर वादाविवादकी सीमा न रहेगी। जिसके चित्तका गठन जैसा होता है वह इन लक्षणोंको तदनुरूप ही देखा करता है। इनको लक्ष्य करके ज्ञानी शङ्कराचार्यने कहा है—"तस्मादक्षरोपासकानां सम्यग्दर्शन-निष्ठानां संन्यासिनां त्यक्तसर्वैषणानां 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादि धर्मपूगं साक्षात् अमृतत्वकारणं वक्ष्यामीति प्रवर्त्तते"—इसी कारण जो अक्षरोपासक हैं, जिन्होंने सर्वकामनाओंका परित्याग किया है, जो सम्यग्दर्शननिष्ठ हैं तथा जो संन्यासी हैं, उनमें साक्षात् अमृतपदकी प्राप्तिके उपायभूत जिन सद्गुणोंका उदय होता है, उनको बतलानेके लिए ही भगवान् यहाँ प्रवृत्त हो रहे हैं। भक्त श्रीधर स्वामी इस श्लोकको लक्ष्य करके कहते हैं—"भक्तको शीघ्र ही परमेश्वरकी प्रसन्नताके हेतु-स्वरूप जो धर्म (गुणसमूह) स्फुटित हो उठते हैं, आठ श्लोकोंके द्वारा उन्हें ही व्यक्त कर रहे हैं।"

इन दोनोंकी लेखन-शैली देखने पर ज्ञात होता है कि ज्ञान और भक्ति एक ही वस्तु है, कोई उसे ज्ञान कहता है और कोई भक्ति कहता है। भक्तको ज्ञान नहीं होता या ज्ञानीको भक्ति नहीं होती, यह बात सर्वथा अविश्वसनीय है। जो हो, मैं इसको भक्ति ही कहूँगा क्योंकि भगवान्‌ने भक्त शब्दका ही व्यवहार किया है।

भक्त किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है, भगवान् यही बतला रहे हैं—(१) वह किसीसे द्वेष नहीं करता, क्योंकि भगवद्भजन (क्रियाके) द्वारा उसका मन नशेबाजके जैसा हो जाता है, वह अपने भावमें आप बुत होकर बैठा रहता है, किसने उसको गाली दी या किसने उसका अनिष्ट किया, इसके लिए किसीके ऊपर क्रोध करने या किसीको दण्ड देनेकी बात उसके मनमें नहीं आती। उसका मन जहाँ रहता है, वहाँ दुःख-बोधकी कोई संभावना ही नहीं होती, इसलिए उसको दुःख-बोध ही नहीं होता, जिसने उसको दुःख दिया है उसको दण्ड देनेमें भी वह व्यस्त नहीं होता।

(२) उसका बाह्य ज्ञान लौट आने पर भी वह अन्य जीवोंको कूटस्थ-देवके ही रूपमें देखता है, इसलिए सबके प्रति उसकी स्नेहदृष्टि और प्रेमदृष्टि होती है। वह शत्रुको भी प्यार करता है, क्योंकि वह जानता है कि उसके 'मैं'-पनका जो कारण है, वही राम-श्यामके राम-श्यामत्वका भी कारण है। अतएव वास्तविक दृष्टिमें सभी एक ही वस्तु हैं, इसी कारण सबके प्रति उसकी मित्रता होती है। वह जो दूसरोंके दुःख दूर करनेमें यत्नशील होता है, यह समझकर नहीं कि दूसरा दुःखी है बल्कि उस दुःखको अपना ही समझकर उसका प्रतीकार करता है।

(३) वह बड़ा ही करुणापूर्ण होता है। जब वह ध्यान या समाधिमें निश्चेष्ट होकर बैठा रहता है, तब बहिर्मुख लोग समझते हैं कि वह दूसरोंके माथे भोजन करता है, किसीका कोई काम नहीं करता, चुपचाप बैठे-बैठे आलस्यमें कालक्षेप करता है। परन्तु वे अज्ञ लोग नहीं जानते कि उस परम-भाव-मग्न योगीके ब्रह्मभावापन्न और यतचित्तात्म-भावका प्रभाव कितना विराट् और विश्वव्यापक है! उनके शान्त समाहित चित्तकी स्निग्ध शीतल किरण-कण-राशि कितने अगणित शोक-ताप-दग्ध जीवोंका सन्ताप हर लेती है! कितने पथभ्रष्ट दुर्बल साधकोंके चित्तमें वह बलसञ्चार करते हैं!

व्युत्थित दशामें कितने पाप-हत जीवोंकी पाप-कालिमा अपने हाथसे दूर कर भीत और सन्तप्त जीवको अभयदान देते हैं और उसे उसका गन्तव्य पथ दिखला देते हैं! जिससे उसकी साधनामें सुविधा हो, वह भलीभाँति साधना कर सके, साधनपथमें उन्नति कर सके, इस प्रकारके शास्त्रसम्मत अनेक उपायोंका निर्देश कर देते हैं। भव-व्याधिसे अत्यन्त कातर अनेक असमर्थ आतुर लोगोंको वह भव-रोगकी औषधि दिखला देते हैं।

(४) वह निर्मम होता है अर्थात् किसी विषयमें उसकी ममता या आसक्ति नहीं होती। कोई बाह्य वस्तु उसका मन हरण नहीं कर सकती, क्योंकि वह सर्वदा क्रियाकी परावस्थामें और परावस्थाकी परावस्थामें रहता है, इसीसे 'मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है' इस भावमें निमग्न होनेके कारण किसी वस्तुमें उसको ममत्व-बोध नहीं होता। वह व्युत्थितावस्थामें जगत्के विविध सम्बन्धोंको चित्तकी कल्पनामात्र जानकर सर्वत्र ममताशून्य हो जाता है। ममताशून्य होने पर भी वह निर्दय पुरुषके समान कठोर नहीं होता। उसके मनः प्राण बड़े ही कोमल होते हैं। संसारके साधारण लोग जैसे अपने या अपने पुत्र-कन्याके दुःखसे कातर हो उठते हैं, दूसरोंके दुःखको देखकर वैसे कातर नहीं होते। परन्तु देहात्मबुद्धि न होनेके कारण वह सभीको एक आँखसे देखता है, वह जैसे अपने पुत्रके दुःखसे अभिभूत नहीं होता, उसी प्रकार दूसरेके दुःखको देखकर भी वह मोहाभिभूत नहीं होता, परन्तु अपने पुत्रको तथा दूसरोंको भी समभावसे दुःखके प्रतीकारका उपाय बतला देता है।

(५) वह निरहङ्कार होता है—'अहं'-भाव उसको नहीं होता। देहादिमें 'अहं'-बुद्धि ही अज्ञान है। वह सदा आत्मस्वरूपमें—ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहता है। आत्मासे बाहर किसी वस्तुको नहीं देख पाता, जो कुछ देखता है सबको आत्मका रूप समझता है। अतएव देहात्मबुद्धिके वश जिस प्रकार अज्ञानीको पृथक् 'अहं'का ज्ञान होता है, उसको इस प्रकारका अहङ्कार नहीं होता। सब वस्तुओंको आत्मासे अभिन्नरूपमें देखनेके कारण उसके सामने दृश्य प्रपञ्च नहीं होता, फिर अहङ्कार क्या करे?

(६) वह सुख-दुःखमें सम होता है—क्योंकि उसका मन कूटस्थमें लक्ष्य करके तन्मय हो जाता है, अतएव सुखमें उसको सुखबोध नहीं होता और दुःख देखकर वह विचलित नहीं होता। "कः शोकः को मोहः एकत्वमनुपश्यतः"—एक ही वस्तुका जिसको अनुभव हो रहा है, उसको शोक-मोह कैसे होगा?

व्युत्थित अवस्थामें सुख-दुःखादि होने पर भी उसको प्रारब्धका खेल समझकर योगी मुग्ध नहीं होते, इसको स्वप्न-बोधके समान समझकर वह तितिक्षाका सहारा लेते हैं।

(७) वह क्षमी होता है—कोई यदि अकारण तिरस्कार करता है तो वह उसको क्षमा कर देता है। वह जानता है कि दूसरे अपने-अपने स्वभाववश ही उसको तिरस्कार या ग्लानि प्रदान करते हैं। स्वभाव अपरिहार्य है, अतएव वह किसीमें दोष नहीं देखता। द्वारकी चरचराहट जैसे स्वाभाविक होती है, उससे जैसे कोई उद्विग्न नहीं होता, उसी प्रकार योगी 'बोलने दो' कहकर दूसरोंके द्वारा किये गये

अपराध या गालीवर्षणको बिना क्लेशके सहन करते हैं, उसकी परवाह नहीं करते ॥१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

अन्वय—सततं (सर्वदा) सन्तुष्टः (प्रसन्नचित्त) योगी (समाहितचित्त) यतात्मा (संयतस्वभाव) दृढ़निश्चयः (दृढ़निश्चययुक्त) मयि अर्पितमनोबुद्धिः (जिसकी मन-बुद्धि मुझमें अर्पित है) यः मे भक्तः (जो मेरा भक्त इस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न है) सः (वह) मे प्रियः (मेरा प्रिय है) ॥१४॥

श्रीधर—सन्तुष्ट इति। सततं लाभे अलाभे च सन्तुष्टः सुप्रसन्नचित्तः। योगी अप्रमत्तः। यतात्मा संयतस्वभावः। दृढो मद्विषये निश्चयो यस्य। मय्यर्पिते मनोबुद्धी येन एवंभूतो यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

अनुवाद—लाभ और अलाभमें जो सर्वदा सुप्रसन्नचित्त है, योगी अर्थात् अप्रमत्त है, यतात्मा अर्थात् संयतस्वभाव, दृढ़निश्चय अर्थात् मेरे विषयमें जिसको दृढ़ निश्चय है और जिसके द्वारा मन और बुद्धि मुझमें अर्पित है, वही मेरा भक्त है, वही मुझको प्रिय है ॥१४॥

आध्यात्मिक व्याख्या—सर्वदा—मनमें सन्तुष्ट—अपने आप क्रियाकी परावस्थामें रह कर—क्योंकि आत्मा अटका रहता है भलीभाँति और निश्चयरूपसे—मुझमें जिसने मनको क्रियाके बाद स्थिर करके अर्पण कर दिया है अर्थात् अन्य विषयमें आसक्ति पूर्वक दृष्टि नहीं करता—जिसको यह अवस्था अपने आप होती है—जहाँ बुद्धि स्थिर करके अर्पण करता है—वह भी अपने आप होता है—इस प्रकार जिसका गुरुवाक्यमें विश्वास करके हुआ है—वह मेरा प्रिय अर्थात् प्रकृष्ट रूपमें इसके सिवा और कुछ नहीं जानता।—(८-९) उपर्युक्त गुणोंसे युक्त भक्त ही मुझको प्रिय हैं। जो मेरा भजन करता है, जो मुझसे प्रेम करता है अर्थात् मुझको चाहता है वही भक्त है। भक्त साधकोंकी साधनाके पथ नाना प्रकारके हो सकते हैं। कोई ज्ञानालोचनाके द्वारा, कोई योगाभ्यासके द्वारा, कोई मन्त्रजपके द्वारा और कोई पूजा-स्तुतिके द्वारा उनकी आराधना करता है अर्थात् उनके समीप जाना चाहता है। यद्यपि आत्मा या भगवान् हम सबके भीतर हैं, वह सबके अन्तरके अन्तरतम हैं, तथापि बिना उपासनाके किसी को भगवद्दर्शन नहीं होता। प्रश्न हो सकता है—'जब वह सर्वव्यापी और सर्वभूतोंके अन्तर-बाहर विद्यमान हैं, तो उनकी उपासना करनेकी आवश्यकता क्यों होती है ?' इसका उत्तर योगी याज्ञवल्क्य देते हैं—

गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
निःसृतं कर्मसंयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम् ॥
एवं स हि शरीरस्थः सर्पिवत् परमेश्वरः।
बिना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु ॥

गौके दूधमें घी रहता है, परन्तु वह घी गायके शरीरके भीतर रहकर भी उसके अङ्गादिकी पुष्टि था क्षतादिका उपशम नहीं करता। दूध गायके शरीरसे निकालने पर मन्थनादिके द्वारा उससे मक्खन निकालते हैं, तब वह मक्खन उसके लिए औषधिरूपमें व्यवहृत होकर आरोग्यप्रद बनता है। इसी प्रकार परमेश्वर सबकी देहके भीतर होने पर भी उपासनारूपी मन्थनके बिना (तदुत्पन्न शान्तिरूप नवनीत जबतक बाहर नहीं निकलता तबतक) मनुष्योंके लिए हितकारी नहीं होते अर्थात् वह देहीके अन्तरस्थ होकर भी उसके भवदुःखको नष्ट नहीं करते, जबतक कि उपासनारूप उपायका अवलम्बन नहीं किया जाता। उपासना करनी चाहिए, इसका कारण यह है कि हम शास्त्र या विचार द्वारा भगवान् या आत्माको कुछ समझ तो सकते हैं, परन्तु उनका ठीक परिचय नहीं मिलता, क्योंकि जिसके द्वारा समझना है, वह मन-बुद्धि भूतग्रस्त हैं। भूत भगाये बिना उस मनके द्वारा ईश्वरप्राप्ति नहीं हो सकती। मन इतना विक्षिप्त और चञ्चल है और उसका विषयानुराग इतना प्रबल है कि उसको जितना ही समझाओ, वह विषय नहीं छोड़ सकता। इसीलिए उपासनाकी आवश्यकता है। उपासना एक प्रकारका अभ्यास है। विचार द्वारा मैंने भगवदुपासना की सार्थकता तो समझ ली, परन्तु उपासना करते समय देखता हूँ—

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुख माँहि।
मनुवाँ तो चहुँदिस फिरे, यह तो सुमिरन नाहि॥

इस तरहसे माला फेरनेसे, नाम लेनेसे या फुस-फुस करके साँस खींचनेसे कुछ नहीं होगा। उपासना है उनके समीपस्थ होना। जब हमारी मन-बुद्धि और किसी विषयको ग्रहण न करके एकान्तभावसे केवल उनका ही स्मरण करती है तब उपासना होती है अर्थात् हमारी मन-बुद्धि उनके पास आकर बैठती है और उस उपासनाका फल परमशान्ति प्राप्त करती है। यह मन एकबारगी उनकी ओर प्रवृत्त होकर आत्मविस्मृत नहीं होता। भ्रमर जैसे फूल-फूल पर मधुग्रहण करते हुए भटकता है, उसी प्रकार मनका स्वभाव है रसग्रहण करनेकी आशासे एक विषयसे दूसरे विषयमें दौड़ना। जिसका स्वभाव इस प्रकार चञ्चल है उसको किस प्रकार जपमें, ध्यानमें या इष्ट-चिन्तनमें बैठाओगे?—इसका भी उपाय है। मन प्राणके अधीन है, प्राणशक्ति चञ्चल होकर श्वासरूपमें सदा दौड़धूप करती है। प्राणके चाञ्चल्यसे ही मन, इन्द्रियाँ, देह—सब चञ्चल होकर घूम रहे हैं। प्राणकी साधनाके द्वारा यदि इस श्वासको स्थिर किया जाय, तो सर्पके मस्तकमें डंडा मारनेसे जैसे वह फिर सिर नहीं उठा सकता, वैसे ही मन-इन्द्रियाँ सब सुस्थिर हो जायँगी।

प्राणेर स्थिरता हले मनःस्थिर तबे।
मनःस्थिरे बुद्धिस्थिर आपनिइ हबे॥
प्राणस्थिरे मनःस्थिर हइबे यखन।
दिव्यधाम प्रकाशित हइबे तखन॥
मध्यपथे बहिप्राण हइले निश्चल।
चरमे परम बोध हबे सुविमल॥

प्राणेर विचेष्टा जावे सङ्कल्प मनेर।
भातिवे अपूर्व ज्योतिः ज्ञान भास्करेर॥
प्राण स्थिरे मनःस्थिर हइले तोमार।
विन्दु स्थिर, देह स्थिर हवे पर पर॥

(१०) महात्मा—संयतस्त्रभाववाला अर्थात् शरीर और इन्द्रियादि जिसके वशमें हैं। विषयोंमें लोलुपता होने पर मनुष्यका संयम नष्ट हो जाता है।

(११) दृढ़निश्चय—अन्य किसी कर्ममें दृढ़ निश्चय रहे या न रहे, "आत्मतत्त्वके विषयमें जिसका अध्यवसाय स्थिर है वही दृढ़निश्चय है"—शङ्कर।

"ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्"—मेरा आत्मा भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। मैं देह नहीं, अतएव ब्रह्म जिस प्रकार निर्विकार है, शोक-मोहसे अतीत है, मैं भी वही हूँ, इस प्रकार जिसकी धारणा है उसीका निश्चय दृढ़ है, यह समझना चाहिए। देहाभिमानवश ही आत्मा शोक-मोह-ग्रस्त जान पड़ता है। परन्तु जो भक्त हैं उनको देहाभिमान नहीं होता। 'मैं देह नहीं, देह मेरी नहीं'—यह भाव जिनके भीतर प्रतिष्ठित हो गया है, वह विषयको प्राप्त करके भी कभी प्रमत्त नहीं होते। इस प्रकारके आत्मप्रतिष्ठित दृढ़ निश्चयशील पुरुषकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। वह विपद्में पड़े हों या दुःख-स्रोतमें प्रवाहित होते हों, अन्नसंस्थान हो या न हो, आत्म-विषयमें उनको कोई प्रमाद उपस्थित नहीं होता क्योंकि वह सदा दृढ़भावसे भगवान्को पकड़े रहते हैं। 'वह मेरे हैं', यह जानकर वह परम निश्चिन्त होते हैं। इसी कारण श्रीमधुसूदनने दृढ़निश्चयका अर्थ 'स्थितप्रज्ञ' किया है।

(१२) मय्यर्पितमनोबुद्धिः—वह योगी है, इसलिए उसकी मन-बुद्धि अन्य किसी विषयमें अटकी नहीं रह सकती। उसका सब कुछ ब्रह्मार्पण है। वह किसी विषयमें आसक्तिपूर्वक दृष्टिपात नहीं करता। वह अपने ध्यानज चित्तको कैवल्यस्थितिकी प्राप्तिके लिए क्रियाकी परावस्थामें सम्यक् रूपसे प्रविष्ट कर रखता है। यह भी बलपूर्वक नहीं किया जा सकता, गुरुकी कृपासे साधकको इस प्रकारकी स्थिति अपने आप आती है, इसको ही 'ब्रह्मार्पण' कहते हैं। आत्माके सिवा और किसी वस्तुको न वह जानता है और न समझता है। आत्माके प्रति जिसका इतना आकर्षण, इतना प्रेम है—ऐसा गुणयुक्त पुरुष ही भगवान्का प्रिय भक्त है।

श्रीभगवान तो कहते हैं—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"। तब प्रिय भक्तकी बात उठी कैसे? वस्तुतः भगवान्को कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है, ऐसा रहने पर भगवान्में पक्षपातित्व-दोष आता है। जब आत्माके सिवा और कुछ नहीं है, तो कौन उसका प्रिय होगा?—यह जो अपने आपमें रहना है, यही अपने आपका प्रिय होना है। परन्तु परावस्थामें अविच्छिन्नरूपसे रहने पर जो ब्रह्मात्मैक्य-बोध स्फुटित होता है, वहाँ तक जो अग्रसर नहीं हो सकते, वे ही भक्त-साधक आत्माको प्रिय मानते हैं और इसी कारण आत्मा भी उनको प्रिय जानता है, ऐसा जान पड़ता है। किसीका हँसता हुआ चेहरा रहने पर जैसे दर्पणमें भी उसी प्रकारका आनन्दपूर्ण मुख प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार आत्माको

जो प्रिय समझता है, आत्मा भी उसको प्रिय मानता है, ऐसा केवल जान पड़ता है। सगुण भावमें प्रिय अप्रियका भाव कुछ रहने पर भी निर्गुण भावमें बुद्धिसाम्यके कारण, कोई इतर-विशेष जान ही नहीं पड़ता, सर्वत्र ही समभाव जान पड़ता है। भक्त अपने आपमें प्रतिष्ठित होता है, इसलिए वह समझता है कि भगवान् उसके भीतर ही हैं। जो उनकी भक्ति नहीं करता, वह आत्मामें स्थित न होनेके कारण यह भी नहीं समझ पाता कि आत्मा है। भगवान्के सत् + चित् + आनन्द, ये त्रिविध भाव स्वाभाविक हैं। भगवान पापी-पुण्यात्मा, ज्ञानी-अज्ञानी, भक्त-अभक्त सबके भीतर समभावसे इन त्रिविध रूपोंमें विद्यमान हैं। किसीके प्रति स्नेहवश या किसीके प्रति द्वेषवश इस भावकी कमी-बेशी नहीं दीख पड़ेगी, परन्तु जो आदमी श्रद्धा-पूर्वक भजन करता है उसका अन्तःकरण स्वच्छ होता है और उस स्वच्छ अन्तः-करणमें भगवानके उपर्युक्त भाव-समूह सहज ही फूट उठते हैं, इसीसे जान पड़ता है कि वहपरमानन्दका उपभोग कर रहा है। दूसरा जो उनका भजन नहीं करता, उसका अन्तः-करण मलयुक्त रहता है। इसीसे भगवान् सबके लिए सम होने पर भी अभक्त उनको परमानन्दमय रूपमें नहीं जान सकता ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अन्वय—यस्मात् (जिससे) लोकः (कोई आदमी) न उद्विजते (उद्विग्न नहीं होता) यः च (और जो) लोकात् (अन्य लोगोंसे) न उद्विजते (उद्वेगको प्राप्त नहीं होता) यः च (और जो) हर्षामर्षभयोद्वेगैः (हर्ष, अमर्ष अर्थात् असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे) मुक्तः (इन सारे मानसिक धर्मोंसे मुक्त है) सः मे प्रियः (वह मेरा प्रिय है) ॥१५॥

श्रीधर—किञ्च—यस्मादिति। यस्मात् सकाशात् लोको जनः न उद्विजते भयशङ्कया क्षोभं न प्राप्नोति। यश्च लोकात् न उद्विजते। यश्च स्वाभाविकैः हर्षादिभिः मुक्तः। तत्र हर्षः स्वस्य इष्टलाभे उत्साहः। अमर्षः परस्य लाभे असहनम्। भयं त्रासः उद्वेगः भयादिनिमित्तश्चित्तक्षोभः। एतैः विमुक्तो यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१५॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—जिससे कोई व्यक्ति भय-आशङ्कासे क्षोभको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं दूसरोंसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, जो स्वाभाविक हर्षादिसे मुक्त है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है। यहाँ हर्ष शब्दका अर्थ है—अपनी अभीष्ट-प्राप्तिमें उत्साह। अमर्ष—दूसरेके लाभको जो सहन नहीं कर सकता। भय शब्दका अर्थ है त्रास तथा उद्वेगका अर्थ है—भयादि-जनित चित्तक्षोभ ॥१५॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जिसके द्वारा किसी व्यक्तिको क्लेश नहीं होता—और लोग जिसके कर्मसे कष्ट नहीं पाते—दुःख और सुख, भय और उद्वेग जिस नशेबाजको कभी नहीं होते—इस प्रकार क्रियाकी पर-अवस्थामें रहता है जो जीवन्मुक्त पुरुष—वह अपने आनन्दमें आप रहकर अपना प्रिय आप होता है।

—(१३-१४) जो समदर्शी है वही ज्ञानी है, उसका मन सदा समतामें अवस्थित होता है, वह प्रिय या अप्रियकी प्राप्तिमें हृष्ट या उद्विग्न नहीं होता। उसको द्वितीयका अभिनिवेश नहीं होता, अतएव किसीको शत्रु या मित्र, घातक या रक्षक नहीं समझता। उसके सदा प्रफुल्ल आत्मतृप्त मुखमण्डलको देखकर अतिशय हिंसक जीव भी अपनी वृत्तिका परित्याग करनेके लिए बाध्य होते हैं। सभी उसको देखकर अपना परम आत्मीय समझते हैं। अतएव ऐसे साधु पुरुषको देखकर दूसरोंको क्लेश होनेकी कोई संभावना नहीं होती, इसलिए कोई उसको देखकर उद्विग्न नहीं होता। कर्जदार जैसे महाजनको देखकर अशान्त हो जाता है, जीवन्मुक्त पुरुषको देखकर किसीको वैसा नहीं होता, यहाँ तक कि पापी-तापीको भी भय दूर होकर भरोसा मिलता है, वह उनको देखकर समझता है कि "अब विपद्-वारिधिसे उत्तीर्ण हो सकूँगा असीम भवसिन्धुके पार पहुँच जाऊँगा।" इस प्रकारके मुक्त पुरुषके कर्म इतने, आडम्बरशून्य स्वार्थगन्धहीन और सर्वतोमुखी होते हैं, जिसे देखकर सर्वसाधारण स्तम्भित हो उठते हैं। लोग उनको मनुष्यदेहमें ईश्वर-तुल्य जानते हैं, अतएव उनके ऊपर अप्रसन्न कैसे होंगे? श्रीमत् नित्यानन्द प्रभुको परदोष सहन और परोपकारमें रत तथा भगवत्प्रेममें मत्त देखकर आसुरी प्रकृति वाले जगाई-मधाई भी विस्मित हो गये थे, वे भी अपना-अपना स्वभाव भूलकर उनके पादपद्ममें आत्म-समर्पण करनेके लिए व्याकुल हो उठे थे। ऐसे महात्माका परिचय देनेकी जरूरत नहीं पड़ती। उनके महिमोज्ज्वल, शान्तिपूर्ण परदुःखकातर, क्षमापूर्ण मुखको देखकर अत्यन्त दुष्ट प्रकृतिके आदमी भी अपनी प्रकृतिको छोड़कर उन्हें अपना परम सुहृत् समझते हैं। परन्तु जो अहङ्कारी और उद्धत हैं, दूसरोंका उत्कर्ष सहनेमें असमर्थ हैं, वे वञ्चित रह जाते हैं, साधुकी महिमा उनके हृदयको स्पर्श नहीं कर सकती।

(१५-१८)—इन साधुओंको हर्ष, अमर्ष, भय या उद्वेग नहीं होता। वे सदा निर्भय और उद्वेगशून्य होते हैं, उनको किसीसे सुख या दुःख उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे नशेबाजको मत्तावस्थामें कोई बोध नहीं रहता। जो लोग क्रियाकी परावस्थामें सदा अवस्थित रहते हैं वे जीवन्मुक्त पुरुष अपने आनन्दमें आप बेसुध रहते हैं। जगत् या जागतिक वस्तुओंमें ऐसा कोई आकर्षण नहीं रहता, जिसके द्वारा उनका चित्त आकृष्ट हो जाय। हम जैसे किसीसे बात करके, किसीसे प्यार करके तृप्तिलाभ करते हैं, इस प्रकार उनकी तृप्तिके लिए किसी बाहरी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती, वे अपने आपमें मग्न, अपने आपमें स्तब्ध होते हैं। योगदर्शनमें एक सूत्र है—"विशेषदर्शिन आत्मभाव-भावनाविनिवृत्तिः" (कैवल्यपाद)—जिसको विवेकख्याति हो गयी है, इस प्रकारके विशेषदर्शी योगीकी आत्मभाव-भावनाकी निवृत्ति होती है। उनको ममत्वविषयक भावना नहीं होती। किस प्रकार जीवनयात्रा चलेगी, शरीरकी व्याधिसे मुक्ति कैसे मिलेगी, लड़के आदमी बनकर दो पैसे कमायेंगे कैसे, लोग मुझको प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे या नहीं, रहूँगा कहाँ, चलेगा कैसे—इत्यादि कोई भावना उनको नहीं होती, चित्त या चित्तका कोई प्रत्यय समुदित नहीं होता, उनको अहंभावना नहीं होती, इसी कारण

वह पूर्ण वैराग्यभावको प्राप्त होते हैं। अविद्याके तिरोहित होने पर जब पुरुष चित्तधर्मके द्वारा अस्पृष्ट होता है, तब उसकी अहं-भाव-भावना नहीं रहती। चित्का प्रतिबिम्बरूप चित्त जबतक वर्तमान रहेगा, तबतक चाहे जितना रोओ-पीटो, जितना नाचो-कूदो, जितना ज्ञान बघारो, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण भक्ति या पूर्ण वैराग्य कदापि न होगा।

अविद्या-विरहित साधकके कैसे भाव होते हैं, उनको पतञ्जलि इस प्रकार वर्णन करते हैं—"तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्" (कैवल्यपाद)—तब चित्त विवेकनिम्न और कैवल्य-प्राग्भार होता है। नदी जैसे निम्नभूमिकी ओर प्रवाहित होती है, विषयाभिमुख पुरुषका चित्त उसी प्रकार विषय-प्रणाली होकर बहता है, ऐसे चित्तको अविवेकनिम्न और विषयप्राग्भार कहते हैं। परन्तु योगीका चित्त विवेक-निम्न-प्रणालीसे प्रवाहित होता है और बहते-बहते कैवल्यकी सीमामें पहुँचता है। पुरुषसाक्षात्कार या आत्मदर्शनका यही फल है। अतएव अविवेकजनित हर्ष, अमर्ष, भय या उद्वेग—ये सब जीवन्मुक्त पुरुषको नहीं हो सकते। ये ही वस्तुतः भगवद्भक्त हैं। जीवन भर साधकोंकी यही चेष्टा चलती है, देहके लिए उनका कोई आग्रह नहीं होता, वे सोचते हैं कि यदि भगवान्को प्राप्त कर लिया तो देह-मन-इन्द्रियाँ सब सार्थक हो गयीं, नहीं तो यह भार वहन करनेसे कोई लाभ नहीं है। भक्त कबीरने इसीसे कहा है कि 'परमारथ परतीतमें, यह तन रहे कि जाय'—परमार्थकी प्रतीतिमें यह तन रहे या जाये, इसमें कोई हानि नहीं है।

विश्वब्रह्माण्डमें भ्रमण करनेवाला मन भक्तिके द्वारमें प्रवेश नहीं कर सकता, इसके लिए चित्तको शान्त करना पड़ेगा, क्योंकि वह द्वार बड़ा सूक्ष्म है। कबीरने कहा है—'भक्ति दुआर है साँकरा'। स्थूल बुद्धि, स्थूल इन्द्रिय और मनके रहते काम न चलेगा। 'मन ऐरावत हो रहा किस विध पैठा जाय'—मनके ऐरावत-सा हो जाने पर उस सूक्ष्म द्वारसे कैसे प्रवेश प्राप्त करोगे? अभिमानमें जीवका चित्त फूल कर सदा अविवेक-प्रणालीमें बहता रहता है। हे साधक! उस अभिमान-अहङ्कारको गुरुपादपद्ममें अर्पण करके विवेक-नदीमें तैरो, तभी भक्ति, प्रेम, वैराग्य और ज्ञानके तट पर पहुँच सकोगे। 'हम-बड़ा' इस प्रकारका अभिमान करके लोगोंको ठगने वाला स्वाँग रचकर आत्मानुसन्धान करने मत जाओ। कबीरने कहा है—

तिमिर गई रवि देखते, कुमति गई गुरुज्ञान।
सत्य गई एक लोभते, भक्ति गई अभिमान॥

सूर्यके आलोकसे अन्धकार नष्ट होता है, गुरुके ज्ञान देने पर कुमति नष्ट होती है, लोभ करनेसे सत्यकी मर्यादाकी रक्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार अभिमान रहने पर भक्ति नहीं होती॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

अन्वय—अनपेक्षः (निःस्पृह—देहेन्द्रिय-विषयादिमें जिसकी स्पृहा नहीं रहती)

शुचिः (जिसका वाह्य और अभ्यन्तर शुद्ध है, वही शुचि है) दक्षः (कार्यकुशल) उदासीनः (जो शत्रु या मित्र किसी पक्षका अवलम्बन नहीं करता) गतव्यथः (विगत-भय अर्थात् किसी कारणसे भी जिसके मनमें व्यथा उत्पन्न नहीं होती) सर्वारम्भपरित्यागी (आडम्बरशून्य—जो कर्त्तव्य जान पड़ता है वही करता है, लोगोंको दिखलानेके लिए कोई कर्म नहीं करता या कुछ करनेका सङ्कल्प नहीं करता, सामने जो कर्त्तव्य आया उसे किया) यः (जो इस प्रकारका) मद्भक्तः (मेरा भक्त है) सः (वह) मे प्रियः (मेरा प्रिय है) ॥१६॥

श्रीधर—किञ्च—अनपेक्ष इति। अनपेक्षः यदृच्छया उपस्थितेऽपि अर्थे निःस्पृहः। शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचसम्पन्नः। दक्षः अनलसः, उदासीनः पक्षपातरहितः। गतव्यथः आधिशून्यः। सर्वान् दृष्टादृष्टार्थान् आरम्भान् उद्यमान् परित्युक्तुं शीलं यस्य सः। एवंभूतः सन् यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—अनपेक्ष अर्थात् अपने आप उपस्थित वस्तुमें जो स्पृहाशून्य, शुचि अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तरिक शौच सम्पन्न, दक्ष अर्थात् अनलस, उदासीन अर्थात् पक्षपातरहित, गतव्यथ अर्थात् आधि या मनस्तापशून्य, सर्वारम्भपरित्यागी अर्थात् सारे दृष्टादृष्ट अर्थोंके लिए उद्यमका परित्याग करनेवाला, इस प्रकारका जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—अन्य किसी ओर ताकता नहीं—उसकी आशा भी नहीं करता—सर्वदा ब्रह्ममें रहता है—क्रियाकी परावस्थामें रहकर कूटस्थको देखता है सबसे सब प्रकारके कर्ममें पटु—मस्तकके ऊपर चढ़कर बैठे हुए किसी भी क्लेशसे रहित हो जाता है। जो अनावश्यक कर्ममें इच्छा होती है—उस इच्छाके पहले ही ब्रह्ममें रहनेके कारण—प्रकृष्टरूपमें नशेके द्वारा—अपने आप त्याग हो जाता है, क्योंकि वह सब क्षणिक सुख उसकी अपेक्षा जिसके परे सुख नहीं है—क्रियाकी परावस्थामें रहकर—भोग करता है—इस प्रकारकी अवस्था गुरुवाक्यके द्वारा प्राप्त हुई है वह अपने कर्ममें आप प्रिय है।—(१६) भक्त अनपेक्ष होता है अर्थात् अन्य किसी ओर नहीं ताकता या किसीकी आशा नहीं करता। जो लोभी है, जो आसक्त है, वही सबके मुँहकी ओर ताकता है। वह यदि भगवान्‌का भी भजन करता है तो उसका उद्देश्य होता है कुछ लाभ करना। योगाभ्यास भी यदि वह करता है तो उसके मनमें सदा यही चिन्ता रहती है कि कब सिद्धि प्राप्त होगी। मेरी क्षमता देखकर लोग आश्चर्य-चकित हो जायँगे अथवा बहुतसे लोग मेरे अनुगामी होंगे, बहुत-सा अर्थागम होगा, कोई अभाव नहीं रह जायगा—यह सब दुकानदारी है। कबीर कहते हैं—

भक्ति भेख बड़ अन्तरा जैसे धरनि अकास।
भक्त जो सुमिरे रामको, भेख जगत्‌की आस॥

भक्ति और वेषमें जमीन और आसमानका अन्तर है। भक्त वह है जो केवल रामको स्मरण करता है, सांसारिक किसी लाभ-हानिके चक्करमें नहीं रहता। जो लोग भक्तिका स्वांग रचते हैं उनकी दृष्टि सांसारिक हानि-लाभकी ओर

ही रहती है। इसी कारण प्रकृत भक्ति स्वर्गका पारिजात है और भेख धूल-कीचड़में सना हुआ सड़ा माल।

कबिरा ज्ञान न वेधिया, हिरदय नहीं जुड़ाय।
देख देख भगती करे, रंग नहीं ठहराय॥

कबीरदास कहते हैं कि ज्ञानका भेद किये बिना अर्थात् क्रियाकी परावस्थामें प्रवेश किये बिना हृदयकी ज्वाला नहीं मिटती। जो देखादेखी भक्ति करता है अर्थात् साधन-भजन करनेसे दूसरोंकी हालत सुधर गयी है, धन-सम्पत्से भण्डार भर गया है, अतएव मैं भी भजन करूँ, मेरा भी ऐसा ही होगा—ऐसा सोचकर जो भजन-साधन करने बैठता है, उसका भजन निष्फल और आडम्बरपूर्ण हो जाता है। लोगोंको दिखानेके लिए हम जो कुछ करते हैं, उसमें ऊपरी रंग चाहे बुरा न भी दीख पड़े, परन्तु वह रंग परीक्षामें नहीं टिकता।

अतएव जो सब प्रकार (२०) से स्पृहाशून्य हैं, वही अनपेक्ष हैं वही (२१) शुचि हैं अर्थात् उनका शरीर-मन विशुद्ध रहता है। शौच दो प्रकारका है—शरीरका और मनका। मिट्टी और जल आदिके द्वारा तथा मेध्याहारके द्वारा बाह्य शौच सम्पादित होता है। आभ्यन्तर शौच है मनःशुद्धि—चित्तका मलापसारण। आन्तर शौच ही यथार्थ शौच है, उससे मन निर्मल होता है, अपने-परायेका वोध नहीं रह जाता—यह प्रकृत आत्मज्ञान (क्रियाकी परावस्था) के बिना नहीं हो सकता।

(२२) भगवद्भक्त सब कार्योंमें दक्ष होते हैं। भगवद्भक्त कभी अलस या कर्मविमुख नहीं होते। भगवत्स्मरणके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी प्रसारित होती है, जिसे देखकर लोगोंको विस्मय उत्पन्न होता है। "जेइ जन कृष्ण भजे से बड़ो चतुर"। वे आलस्यरहित होकर सर्वदा साधनाभ्यासका प्रयत्न करते हैं, संसारकी आपातरमणीयतामें मुग्ध होकर अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं होते।

(२३) वे उदासीन अर्थात् पक्षपात-रहित होते हैं। उभयात्मक कर्म पाप-पुण्य अच्छा-बुरा—ये सब गुणके खेल हैं। परन्तु भगवद्भक्त गुणातीत होकर रहते हैं, उनके प्राण सहस्रारमें उत्थित होते हैं (उत् = ऊर्ध्वमें आसीन रहते हैं)। मन द्विदलमें विलीन हो जाता है, अतएव (२४) वे गतव्यथ होते हैं। इस अवस्थामें साधकको किसी क्लेशका अनुभव नहीं रहता। अनात्म भावसे ही त्याग और ग्रहण रूपी कर्मोंका उदय होता है। परन्तु जिसका प्राण सहस्रारमें स्थिर होकर विलीन हो गया है, उस पुरुषका चित्त साधारण पुरुषके समान क्लेश (अविद्या, अस्मिता आदि), कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्मबीज) द्वारा स्पृष्ट नहीं होता। वे ईश्वरकोटिके जीव हैं अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष हैं। वे (२५) सर्वारम्भपरित्यागी होते हैं अर्थात् इहकाल या परकालमें भोगार्थ जो कर्म-चेष्टा या उद्यम है उसीका नाम आरम्भ है, इस प्रकारके कर्ममें उनका उद्यम नहीं होता। ब्रह्ममें स्थित पुरुष सदा एक प्रकारके नशेके आकर्षणमें रहते हैं। साधारण जीवको अनावश्यक कर्ममें प्रचुर इच्छा होती है, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें नशेमें विभोर होनेके कारण मुक्त पुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्ति मिट जाती है, अतएव इस

प्रकारके कर्ममें उनका मन नहीं रहनेके कारण कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं। यदि कुछ करते भी हैं, तो वह अनिच्छाकी इच्छासे; उनमें प्रवृत्ति या आरम्भ नहीं रह सकता। जैसे मनुष्यकी देहमें रोम और केश स्वतः उद्गत होते हैं, उसी प्रकार उनके कर्म होते हैं। अपनी इच्छासे वह कोई काम नहीं करते, उनमें किसी सङ्कल्प चिन्ता या परिणाम-विवेचना आदि मनोबुद्धिका स्पन्दन कुछ भी नहीं रहता--करना है किये जाते हैं ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

अन्वय—यः (जो) न हृष्यति (प्रिय वस्तु पाकर हृष्ट नहीं होता) न द्वेष्टि (अप्रिय समागममें द्वेष नहीं करता) न शोचति (शोक नहीं करता) न काङ्क्षति (किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा नहीं करता) शुभाशुभपरित्यागी (पुण्य-पापका परित्यागी है अर्थात् स्वर्गकामना या नरकादिका भय जिसको नहीं है) [इस प्रकारका] यः भक्तिमान् (जो भक्तिमान है) सः मे प्रियः (वह मेरा प्रिय है) ॥१७॥

श्रीधर—किञ्च—यो नेति। प्रियं प्राप्य यो न हृष्यति। अप्रियं प्राप्य यो न द्वेष्टि। इष्टार्थनाशे सति यो न शोचति। अप्राप्तमर्थं यो न काङ्क्षति। शुभाशुभे पुण्य पापे परित्यक्तुं शीलं यस्य सः। एवंभूतो भूत्वा यो मद्भक्तिमान् स मे प्रियः ॥१७॥

अनुवाद—[और भी कह रहे हैं]—प्रिय वस्तु पाकर जो हृष्ट नहीं होता, अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें जो द्वेष नहीं करता, इष्टार्थ-नाश होने पर जो शोक नहीं करता, अप्राप्त अर्थकी भी जो आकाङ्क्षा नहीं करता, शुभाशुभ अर्थात् पाप-पुण्यका परित्याग करना जिसका स्वभाव है, इस प्रकार जो मुझमें भक्तिमान है वह मेरा प्रिय है ॥ ७॥

आध्यात्मिक व्याख्या—जो क्रियाकी परावस्थामें रहकर किसी वस्तुसे खुश नहीं होता—हिंसा नहीं करता—इच्छा नहीं करता—शुभ अशुभ दोनोंका त्याग जिस नशेबाजको अपने आप होता है। इस प्रकारकी क्रिया गुरुवाक्यके द्वारा पाकर अपने कर्मसे ही—आप प्रिय होता है।—(२६-२७) साधारणतः लोगोंको इष्टलाभसे हर्ष, अनिष्ट आ पड़ने पर द्वेष तथा प्रिय वस्तुके वियोगसे शोक होता है, परन्तु जो साधक प्राणको भ्रूके ऊपर प्रवेश करा कर क्रियाकी परावस्थामें अपने आपमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं, उनका चित्त कभी हर्ष-द्वेष या (२८) शोकके वशीभूत नहीं हो सकता। जो आत्मज्ञ पुरुष नहीं हैं, उनको ही प्रिय और अप्रिय वस्तुका ज्ञान होता है, आत्मज्ञ पुरुषको प्रिय-अप्रियका बोध नहीं होता। उनके आनन्दके लिए बाहरकी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। विषयके प्रति जीवका जो अति तीव्र आकर्षण होता है उसके ही फलस्वरूप शुभ-अशुभके ग्रहण और त्यागकी इच्छा होती है, यही कारण है कि देह और इन्द्रिय आदिकी व्याकुलता कदापि नष्ट नहीं होती। परन्तु क्रियाकी परावस्थामें जो प्रतिष्ठित हैं, उनका मन ही नहीं रहता

तथा देहके सङ्ग कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव इष्टानिष्टकी प्राप्तिसे उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। वह सभी अवस्थाओंमें अचल-अटल होते हैं। उनको उस स्थिरता से खींच लानेकी शक्ति विषयोंमें नहीं होती। परम स्थिर अवस्थाको प्राप्तकर उनकी सारी वासनाएँ मिट जाती हैं, (७६) इसीसे उनको किसी नये प्रकारकी इष्टप्राप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं करनी पड़ती। सच्चिदानन्द-भावमें नित्य प्रतिष्ठित हो सकना ही सर्वापेक्षा बड़ी अभीष्ट वस्तु है। जब वही वस्तु प्राप्त है तो अन्य किसी वस्तुको पानेकी उनको तृष्णा ही नहीं होती और न आकाङ्क्षा ही होती है। अतएव तब कोई उद्वेग उनके मनको व्याकुल नहीं कर पाता। (३०-३१) उनसे ऐसा कोई कर्म भी नहीं हो सकता जिसके द्वारा जन्मान्तरकी प्राप्ति हो। अतएव पुण्य-पापका कोई भी संस्कार उनके भीतर नहीं रह सकता। शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग हो गया है, कोई कर्म उनको कामना करके नहीं करना पड़ता। इस प्रकारके भजनशील साधक अपनेमें आप सदा प्रतिष्ठित हैं और ऐसे भक्त साधक भगवानके अत्यन्त प्रिय हैं। प्रिय बोध कैसे होता है? जो वस्तु जिसके प्राणके जितना समीप है, वह उसको अधिक प्रिय जान पड़ती है। आत्मा ही आत्माके सर्वापेक्षा सन्निकट है, अतएव आत्माके सामने आत्मा ही सर्वापेक्षा प्रिय जान पड़ता है। इस आत्माको वही प्रिय रूपमें अनुभव कर सकता है जो क्रियाके द्वारा आत्मस्थ हो गया है। गुरुकृपासे जो क्रिया प्राप्तकर क्रिया करते हैं और क्रियाकी परावस्थामें नशेबाजकी तरह उन्मत्त हो जाते हैं उनके सामने शुभाशुभ कुछ नहीं रह जाता। क्रियाभ्यासमें जो रत हैं, उनको ही इस प्रकारका नशा या आत्मविस्मृत भाव होता है। क्रियाके द्वारा मनःबुद्धिका मल अपनीत होनेपर अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसी शुद्ध अन्तः-करणमें आत्माका अपापविद्ध परमानन्द-भाव समुदित होता है। इसलिए गुरुकी कृपासे जिन्होंने साधन पाया है वे उस साधनाके द्वारा आप ही जो अपना प्रिय है, यह समझ पाते हैं ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

अन्वय—शत्रौ मित्रे च (शत्रु और मित्रमें) तथा मानापमानयोः (तथा मान और अपमानमें) समः (समान अर्थात् एकरूप) शीतोष्णसुखदुःखेषु (शीत, उष्ण और सुख, दुःखमें) समः (समभाव) च सङ्गविवर्जितः (और सर्वविषयोंमें आसक्तिशून्य) ॥ १८ ॥

श्रीधर—किञ्च—सम इति। शत्रौ च मित्रे च समः एकरूपः। मानापमानयोरपि तथा सम एव, हर्ष-विषादशून्य इत्यर्थः। शीतोष्णयोः सुखदुःखयोश्च समः। सङ्गविवर्जितः क्वचिदपि अनासक्तः ॥ १८ ॥

अनुवाद—[और भी कहते हैं]—शत्रु और मित्रमें जो सम अर्थात् एकरूप

है तथा मानापमानमें जो उसी तरह सम अर्थात् हर्ष-विषादशून्य है, शीत, ऊष्ण, सुख और दुःखमें जो सम है, जो सङ्गविवर्जित है अर्थात् जिसे आसक्ति नहीं है ॥ १८ ॥

आध्यात्मिक व्याख्या—नशेबाजके समान क्रियाकी परावस्थामें रहकर शत्रु-मित्र किसीको नहीं जानता—मान-अपमान भी उसको नहीं—शीत, उष्ण, सुख, दुःख सब समान है, किसी विषयमें इच्छा नहीं जाती।—(३२-३५) नशेबाजको जैसे अपने-परायेका बोध नहीं रहता, शुभाशुभका बोध नहीं रहता, शीत-उष्ण नहीं जान पड़ता, नशेकी झोंकमें सब भूल जाता है, उसी प्रकार क्रियाकी परावस्थामें स्थित योगीका मन नहीं रहता, अतएव शीतोष्णादि या सुख-दुःख-जनित कोई उद्वेग उनको नहीं होता। जब नशा टूट जाता है, तब भी वह सांसारिक लोगोंके समान सुख-दुःखसे विह्वल नहीं होते, वह जानते हैं कि सुख-दुःखादि जो कुछ है सब अपने आप प्रारब्धके अनुसार होता है और संसारमें जो हमारी निन्दा या प्रशंसा करते हैं वह अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार किया करते हैं। मेरा जो आत्मा या 'मैं' है, वह निन्दा और प्रशंसाके परे है। लोगोंको जो अच्छा नहीं लगता उसकी वे निन्दा करते हैं और जो उनको उत्फुल्ल करता है उसकी प्रशंसा करते हैं। निन्दा या प्रशंसा—गुण-दोष देखकर ही किये जाते हैं और गुण-दोषके सम्बन्धमें जिसकी जैसी धारणा होती है वह वैसा कहता है। परन्तु आत्मा गुण-दोष-रहित है, अतएव कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे—ज्ञानीको कोई निन्दा-प्रशंसा स्पर्श नहीं कर सकती। रामायणमें श्रीरामचन्द्रके वनवासकी आज्ञा सुनकर लक्ष्मण अत्यन्त रुष्ट होकर कभी दशरथ, कभी कैकेयी, और कभी भरतके कन्धेपर दोष आरोपण करने लगे तो उसके उत्तरमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—भाई! किसीका दोष नहीं है, क्यों दूसरोंके ऊपर क्रोध कर रहे हो?

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

अपने कर्मसूत्रमें सब बँधे पड़े हैं। हम जो सुख-दुःख पाते हैं वह अपने अपने कर्मोंका फल है, दूसरोंका इसमें तिलमात्र भी दोष नहीं है। इस प्रकारकी जिसकी दृष्टि है वही भक्त है, वही ज्ञानी है ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

अन्वय—तुल्यनिन्दास्तुतिः (निन्दा और स्तुतिमें तुल्य ज्ञान रखनेवाला) मौनी (संयतवाक् या मननशील) येन केनचित् सन्तुष्टः (यत्किञ्चित् प्राप्तिमें सन्तुष्ट) अनिकेतः (वासस्थानहीन अर्थात् गृहादिमें आसक्तिशून्य) स्थिरमतिः (स्थिरबुद्धि), [ऐसा] भक्तिमान् नरः (भक्तिमान् पुरुष) मे प्रियः (मुझको प्रिय है) ॥१९॥

श्रीधर—किञ्च—तुल्य इति । तुल्ये निन्दास्तुती यस्य । मौनी संयतवाक् येन केनचिद् यथालब्धेन सन्तुष्टः । अनिकेतो नियतवासशून्यः । स्थिरमतिः व्यवस्थितचित्तः । एवम्भूतो मद्भक्तिमान् यः स मे प्रियो नरः ॥१६॥

अनुवाद—(और भी कहते हैं)—जिसके लिए निन्दा और स्तुति समान है, जो मौनी अर्थात् संयतवाक् है तथा जो यथालब्ध वस्तुमें सन्तुष्ट है, जो अनिकेत है अर्थात् नियतकाल एकस्थानमें वास नहीं करते तथा स्थिरमति है अर्थात् व्यवस्थितचित्त है—इस प्रकारका मद्भक्तिमान पुरुष ही मुझको प्रिय है ॥१६॥

आध्यात्मिक व्याख्या—निन्दा या स्तुति दोनों बिना याचनाके नहीं होते अतएव दोनोंको तुच्छ समान जानकर कोई बात कहनेकी इच्छा नहीं करता—जो कुछ हुआ या पाया, उसीमें सन्तुष्ट—अपने घरमें नहीं रहता अर्थात् ब्रह्ममें रहता है—मति स्थिर क्रियाकी परावस्थामें अपने आप होती है—ऐसी क्रिया गुरुवाक्यके द्वारा प्राप्तकर अपने आप भलीभाँति यह स्थिर करते हुए ब्रह्मप्रिय हो जाता है।—(३६) इस प्रकारके साधककी कोई निन्दा करे तो वह दुःखी नहीं होता, कोई प्रशंसा करे तो वह हृष्ट नहीं होता। मृत शरीरमें जीवन न होनेके कारण उसको तुच्छ पदार्थ जानकर लोग जैसे उसको नहीं छूते, उसी प्रकार प्रशंसा और निन्दा दोनोंको योगी लोग अति तुच्छ समझते हैं। जिनको कामना है, वे ही निन्दा और स्तुति सुनकर विचलित होते हैं, परन्तु क्रियाकी परावस्थामें स्थित सर्वकामनाशून्य योगीको यह सब स्पर्श भी नहीं कर सकते। व्युत्थित अवस्थामें इनको वह अति तुच्छ समझते हैं, अतएव यदि कोई उनकी झूठी निन्दा भी करता है तो भी वे उसका प्रतिवाद नहीं करते। शान्तिके समुद्रमें उनका मन डूबा रहता है। बाह्य कोई अभाव उनके शान्त चित्तको चञ्चल नहीं कर सकता। विशेषतः किसी सांसारिक लाभको वह लाभ नहीं समझते। जिसको प्राप्तकर और कुछ पानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, आत्मप्रतिष्ठ होकर वह उसी धनके धनी बने हैं, अतएव सांसारिक लाभ-हानिकी ओर उनकी दृष्टि आकृष्ट नहीं होती। ब्राह्मी स्थितिके अटल सिंहासनसे सांसारिक हानि-लाभ उनको नीचे नहीं उतार सकता। (३७) वह सदा ब्रह्मसंलीन-चित्त होते हैं, इसी कारण वह मौनी होते हैं, तुच्छ बातोंमें समय बिताते उनको कोई नहीं देखता। बात करनेकी इच्छा तक उनको नहीं होती। वह (३८) सदा सन्तुष्ट होते हैं, प्रारब्धवश जो कुछ आकर उपस्थित होता है, वह अति सामान्य होने पर भी उनके मनमें असन्तोष उत्पन्न नहीं करता। (३६) वह अनिकेत होते हैं अर्थात् साधारण लोग जैसे अपने घरके प्रति आसक्त होकर उसको अपना नित्य निवास मानते हैं, योगीको वैसा नहीं होता। वह पर्णकुटीमें रहें या राजप्रासादमें, उसको वह एक वृक्ष-कोटरकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् नहीं मानते। धर्मशालामें जैसे यात्री एक दो दिन या कुछ घंटे बिताकर चले जाते हैं, वह भी उसी प्रकार गृहादिको धर्मशालाके समान देखते हैं। इस प्रकारके महात्मा घर-संसार, धन-धान्य, पशु अथवा पुत्र-कन्या लेकर उन्मत्त नहीं होते, इनको अपनी वस्तु भी नहीं समझते। निद्रालु शिशुको

खिलानेके लिए उठाने पर वह जिस प्रकार पुनः निद्रित हो जाता है, उसी प्रकार विषयों-की ओर उनके मनको खींच लाने पर भी उन सारी बाह्य ग्राम्य कथाओंमें उनका मन कदापि बैठना नहीं चाहता। क्रियाकी परावस्थामें प्रविष्ट होकर निजानन्दमें मग्न योगी जगत्को भूल जाते हैं। वह किसी वस्तुमें आसक्त न होनेके कारण घर पर रहते हुए भी नहीं रहते। उनका एकमात्र निवासस्थान ब्रह्म है, अन्य निवासकी उनको आवश्यकता नहीं होती। (४०) उनकी बुद्धि सर्वदा स्थिर होती है, क्योंकि उनका मन एकाग्र होते-होते निरोध अवस्थाकी ओर क्रमशः अग्रसर होता है। धीरे-धीरे वह निरतिशय स्थिर हो जाता है। क्रियाकी परावस्थामें यह स्थिरता अपने आप होती है। जिस क्रियाके अभ्यासके द्वारा इस प्रकारकी अनिर्वचनीय अवस्था प्राप्त होती है, उस क्रियाको गुरुमुखसे जानकर जो उसके साधनमें प्रयत्न करते हैं, वे अचिर कालमें ही अपने आप प्रिय हो जाते हैं। आत्माकी अपेक्षा और कोई प्रियतर वस्तु नहीं हो सकती। क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर साधक स्वयं ही आत्म-स्वरूप हो जाता है, तब आत्माका आनन्दत्व और प्रियत्व भाव सुपरिस्फुट हो उठता है। क्रियाकी परावस्थाके बिना आत्माका स्वरूप अवगत नहीं होता, अतएव सबको ही क्रिया करनी चाहिए। आत्मामें लक्ष्य न होनेके कारण हम अन्य वस्तुको प्रिय मानते हैं, परन्तु वह मनकी भ्रान्ति-मात्र है। बोध और आत्मा एक ही पदार्थ है, जब क्रिया करके क्रियाकी परावस्थामें सर्वशून्य होकर परमा-नन्दका बोधमात्र अवशिष्ट रहता है, तभी बोध होता है कि आत्मा कैसी प्रिय वस्तु है। संसारकी सारी प्रिय वस्तुओंका बोध भी इस आत्माके कारण ही होता है, आत्माके न रहने पर बोध होता किसको? अतएव जो कुछ बोध होता है वह भी केवल बोध-स्वरूप है, अतएव जो कुछ है सब आत्माका ही प्रकाश है। यह बोध न होनेके कारण अधिकांश लोग मोहकूपमें पड़े रहते हैं, क्रियाभ्यासके द्वारा इस आनन्दमय जगत्प्राण आत्माकी ओर लक्ष्य पड़ता है, तब आत्मा प्रियबोध होता है। यही है आत्माके प्रति आत्माका प्रियबोध। मन चञ्चल रहने पर आत्माको लक्ष्य नहीं कर सकते और यह बोधका विषय भी नहीं होता कि आत्मा ही सर्वापेक्षा प्रिय वस्तु है। प्राणके चाञ्चल्यसे ही मनका चाञ्चल्य घटित होता है, आत्मक्रिया द्वारा प्राण स्थिर होने पर उसके साथ मन भी स्थिर हो जाता है अर्थात् मन नहीं रहता। तब बहिर्दृष्टि न होनेके कारण आत्मा आत्मामें ही प्रतिष्ठित होता है। इस अवस्थामें देहादिका बोध नहीं रहता, अतएव देहजनित सुख-दुःख आदिमें आसक्ति या विरक्ति नहीं आ सकती। इसी कारण योगी सतत स्थिरमति हो सकते हैं ॥१९॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

अन्वय—ये तु (जो लोग) यथोक्तं (पूर्वोक्त) इदं धर्मामृतं (इस धर्मरूपी

अमृतको) पर्युपासते (परिपूर्णरूपसे अनुष्ठान करते हैं) ते (वे) श्रद्दधाना: (श्रद्धावान) मत्परमा: (मत्परायण) भक्ता: (भक्तगण) मे अतीव प्रिया: (मेरे अत्यन्त प्रिय हैं) ॥२०॥

श्रीधर—उक्तं धर्मजातं सफलं उपसंहरति—ये त्विति। यथोक्तं उक्तप्रकारं धर्ममेव अमृतं अमृतत्वसाधनत्वात्। धर्म्यामृतमिति केचित् पठन्ति। ये तद् उपासते अनुतिष्ठन्ति श्रद्धां कुर्वन्तः। मत्परमाश्च सन्तः। मद्भक्ताः ते अतीव मे प्रियाः इति ॥२०॥

दुःखमव्यक्तवर्त्मैतद्बहुविघ्नमतो बुधः।
सुखं कृष्णपदाम्भोजं भक्तिसत्पथमाभजेत् ॥

इति श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां भगवद्गीताटीकायां सुबोधिन्यां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

अनुवाद—[पूर्वकथित धर्मोंका फलके साथ उपसंहार कर रहे हैं]—उपर्युक्त धर्मामृत का जो श्रद्धापूर्वक और मत्पर होकर अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे भक्त हैं और मुझे अतिशय प्रिय हैं। धर्म ही अमृत है, क्योंकि वह मुक्तिका साधक है। कोई कोई इस श्लोकमें 'धर्मामृत' के स्थान 'धर्म्यामृत' पाठ करते हैं ॥२०॥

[अव्यक्त मार्ग-रूपी निर्गुण उपासना दुःखसाध्य और विघ्न-बहुल है, अतएव पण्डित लोग भक्तिरूपी सत्पथका आश्रय करके सुखसे श्रीश्रीकृष्णचरणकमलका भजन करते हैं ॥]

आध्यात्मिक व्याख्या—यह जो धर्म अर्थात् इच्छारहित क्रिया है—इससे ही अमरपद पाओगे—जो इस प्रकार क्रिया करेगा और ऊर्ध्वमें रहेगा—ब्रह्ममें रहकर केवल आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ है यह जानकर अर्थात् क्रियामें गुरुवाक्यके द्वारा उपदिष्ट होकर विश्वास कर लेने पर—अपने आप इस परमपदकी विवेचना करके ब्रह्मानन्दमें निश्चित स्थिर होकर रहता है। अतएव जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वह यही क्रिया करे। —इस अध्यायके १३ से २० श्लोक तक जिन सद्गुणोंकी बात कही गयी है, वही भगवद्भक्तिके पूर्णलक्षणके रूपसे भक्तोंमें प्रकटित होते हैं। यही प्रकृत धर्म अर्थात् आत्मकथा है। इन सबके अनुष्ठानसे ही आत्मानुशीलन होता है जिसका चरमफल इच्छारहित अवस्था है। यह इनके द्वारा ही प्राप्त होती है और यही साधकको अमृतपद प्रदान करती है। यहाँ जिन सद्गुणोंके विषयमें कहा गया है, वह नाच-कूदकर गोलमाल करनेसे अथवा पत्र-पुष्प-नैवेद्य-उपचार मन्त्र पढ़कर अर्पण करनेसे प्राप्त हो जायँगे, ऐसी बात नहीं है। जो भगवद्भक्त होंगे उनके चरित्रमें ये सारे लक्षण परिस्फुट होंगे ही। उनकी देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन-बुद्धि सब अत्यन्त शुद्ध और संयत होंगे, अन्यथा सतत सन्तुष्ट, सतत योगी, निःस्पृह, समदर्शी, सुखदुःखमें एकरूप, परोपकारी तथा शुभाशुभ-परित्यागी होना संभव नहीं। ये लक्षण जिनमें पूर्णतः परिस्फुटित होते हैं, वही जीवन्मुक्त पुरुष हैं। साधकको ये गुण साधनाके द्वारा प्राप्त करने पड़ते हैं, पश्चात् जब ये गुण साधकमें स्वाभाविक गुणके रूपमें परिणत होते हैं, तब उसको सिद्ध साधक कहते हैं। अशुभसे कल्याण मार्गकी ओर जानेकी जिसकी इच्छा होती

है, संसारके तापसे सन्तप्त होने पर जब उससे परित्राण पानेकी इच्छा बलवती होती है, जब जन्म-मृत्यु, भोग-रोगके अशुभ फलको देखकर चित्त अतिशय भीत और सन्त्रस्त हो उठता है तब उनसे मुक्ति पानेके लिए मानव चित्त व्याकुल हो उठता है। इस व्याकुलतासे जीवके भीतर मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छासे असत्कार्यसे निवृत्ति और सत्पथमें गमनकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जीवके सदसत् पथमें गमनका कारण है सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन। यह मन प्राणका ही स्पन्दन है। प्राणको निःस्पन्दित किये बिना मोक्ष-द्वार उद्घाटित नहीं हो सकता। यद्यपि शास्त्रमें कहा है—

न मुक्तिर्भजनाद् होमादुपवासशतैरपि।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति देहभृत्॥

जप, होम या शत-शत उपवासादि काय-क्लेशके द्वारा दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती। 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—यह ज्ञान जबतक नहीं होता तबतक देहधारीको मुक्ति-प्राप्तिकी संभावना नहीं होती। परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बातको मुँहसे कहनेसे या बारम्बार शास्त्रालोचन करनेसे मुक्ति-लाभ सम्भव नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो हमारे देशके सहस्रों वेदान्तादि शास्त्रोंमें पारदर्शी पण्डित मुक्ति प्राप्त कर लेते। परन्तु वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते यह उनकी विषयासक्ति तथा ऐहिक सुख-सम्पदादिके प्रति अत्यधिक आकर्षण देखकर अनुमान किया जा सकता है। वस्तु-दर्शन ही ज्ञान है, परन्तु वस्तु-दर्शनके लिए क्या ज्ञानकी आलोचना मात्र यथेष्ट है? आलोचना करते-करते जीवन समाप्त हो जाता है, परन्तु मनके तरङ्गोच्छ्वासकी निवृत्ति नहीं होती। नामसङ्कीर्तन करके नाचते-नाचते पैर थक जाते हैं, अश्रुधारा बहते-बहते नेत्र अन्धे हो जाते हैं, शरीरमें रोमाञ्च आदि लक्षण फूट उठते हैं, अपनेको कितना कृतार्थ समझने लगते हैं, परन्तु दूसरे ही क्षण विषय-स्पृहा बलवती हो उठती है। इसका कारण क्या है—इसका कारण यह है कि अज्ञाना-वरणरूप विक्षेप अभी उनका नष्ट नहीं हुआ है अतः चित्तकी एकाग्रता और निरोध-भावका अभाव वहाँ वर्त्तमान है, यह मानना पड़ेगा। पतञ्जलि कहते हैं—'ध्यानहेयास्त-द्वृत्तयः'—क्लेशोंका शोक-मोह आदिके रूपमें जो आविर्भाव होता है, वह ध्यानके द्वारा हेय होता है। ईश्वर-प्रणिधान और क्रियायोगके तीव्र अभ्यासके द्वारा ये सब भाव क्षीण होकर समूल निरुद्ध हो जाते हैं। संसारके अधिक लोगोंका चित्त आवरण-विक्षेप-रूप मलके द्वारा अशुद्ध होता है। सब लोग देह और इन्द्रियोंके सुख-विधानार्थ उन्मत्त होकर दौड़-धूप कर रहे हैं। क्यों दौड़ रहे हैं, जानते हो? सभी सुखकी खोजमें रत हैं, परन्तु 'सुख' है क्या, इसको वह नहीं समझते। इसीलिए व्यर्थ भटक-भटक कर मरते हैं। पतङ्ग अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसको पानेकी आशासे दर्पणमें सिर मारता है, परन्तु दर्पणमें उसको वह नहीं मिलेगा यह ज्ञान उसको नहीं है—इसीसे सिर मारते-मारते ढेर हो जाता है। यह दर्पण आवरणमात्र है, प्राप्तिका द्वार नहीं। सुखरूपमें जान पड़ने वाली सहस्रों वस्तुएँ आत्माके प्रतिबिम्ब तो हैं, परन्तु उनके द्वारा अन्वेषण करते समय वे आत्माके आवरक हो जाते हैं, वहाँ उस सत्य वस्तु—आत्माका कोई सन्धान नहीं मिलता। इसी

कारण विक्षेप या दौड़धूप दूर नहीं होती। सुख-स्वरूपका सन्धान न मिल सकनेके कारण ही यह विक्षेप होता है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उस स्वरूपका अप्रकाश ही आवरण है। वही चित्त-दर्पणका मल है। इस मलके कारण ही हमारी ज्ञान-दीप्ति नहीं होती। इस मलका क्षालन करके ज्ञानकी उज्ज्वलताकी वृद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है, उसे ऋषि बतलाते हैं—"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"—योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिका क्षय होता है। अशुद्धिका क्षय होने पर विवेक-ख्याति पर्यन्त ज्ञानका प्रकाश होता है। यम-नियम-आसन-प्राणायामादि योगाङ्गोंमें प्राणायामके द्वारा ही—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'—प्रकाशका आवरण क्षीण होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणवृत्ति स्तम्भित होने पर प्राणका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होता है। उस स्थिर प्राणके भीतर आत्माके सुशीतल क्रोड़को साधक लक्ष्य कर सकता है और उसमें अवस्थान करनेका सामर्थ्य प्राप्त कर चिरजीवनके लिए कृतकृत्य हो सकता है। प्राणायामादि क्रियाके द्वारा क्रियाकी परावस्था प्राप्त होने पर "देह और इन्द्रियोंसे मैं पृथक् हूँ", यह शुद्ध बुद्धिके द्वारा बोधित होता है। इस समय जो 'मैं' देहेन्द्रियमय हो गया है, कदापि देहेन्द्रियसे अपनेको पृथक् करके देख नहीं सकता, प्राणायामके द्वारा परावस्था प्राप्त होने पर उस पृथक् भावका अनुभव होता है तथा दिव्य ज्ञानका उदय होता है। यह केवल मनमें इच्छा-मात्र करते रहनेसे प्राप्त नहीं होगा, साधनाके फलके रूपमें इसकी प्राप्ति होती है। जीवके पूर्व कर्मोंके अनुसार उसका मोक्ष-द्वार अर्गलाबद्ध होता है, परन्तु प्राणायाम साधनके द्वारा वह अर्गल-मुक्त होता है। प्राणायाम विशुद्ध भावसे अभ्यस्त होने पर हमारा मूल प्राण जो कुल-कुण्डलिनीके रूपमें मूलाधारमें निद्रितावस्थामें पड़ा है, जाग्रत दशामें लौट आता है। बाह्य ज्ञान या स्पन्दनको उसकी सुप्तावस्था कहते हैं, जब वह शक्ति जाग्रत होकर अन्तर्धाराको स्पन्दित करती है, तब बहिर्ज्ञानका निरोध होता है और वह शक्ति सुषुम्नामार्गसे प्रवाहित होकर सहस्रारमें पहुँचकर परम शिवसे मिल जाती है। यही एकमात्र ज्ञान-प्राप्तिका उपाय है। यद्यपि ज्ञान मोक्षप्राप्तिका साक्षात् उपाय है, परन्तु प्राण और चित्तके जय हुए बिना ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं होता। ज्ञान केवल कहनेकी बात नहीं है, जबतक प्राण मध्य मार्गमें प्रविष्ट नहीं होता, तबतक मुँहसे ज्ञानकी बात कहते फिरना केवल मिथ्या दम्भ और प्रलापमात्र है। गोरक्षसंहितामें लिखा है—

> ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्द्धं यदि तिष्ठति।
> सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥

यदि कोई ब्रह्मरन्ध्रमें क्षणार्द्ध भी मनको निश्चल भावसे रख सके, तो वह साधक समस्त पापोंसे विनिर्मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त होता है।

जिसके प्राण और चित्त निविष्ट नहीं होते, वह यदि शास्त्रानुसार कर्म करे तो भी उसको आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तथा मोक्षलाभ नहीं होता। स्तुति, पूजा और स्मरणके द्वारा शुद्धसत्त्व होने पर भगवानमें जो निश्चला भक्ति और विश्वास

होता है, वही प्रकृत पूजा है। मनमें जबतक विजातीय चिन्ताका प्रवाह चल रहा है, तबतक उस मनके द्वारा प्रकृत भगवत्स्मरण-मनन नहीं हो सकता।

सतताभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत्।
तल्लयाल्लीयते नान्तर्गुण-दोषविवर्जितः॥

अभ्यासयोगके द्वारा मन जब निरालम्बमें स्थिर होगा, तब मनके लय होने पर सब प्रकारके गुण-दोषोंसे विनिर्मुक्त होकर योगी परमात्मामें विलीन हो जायँगे।

ब्रह्मसाक्षात्कारके द्वारा योगीका भ्रम और संशय अपने आप नष्ट हो जाता है। उनका चित्त इतनी एकाग्रता प्राप्त कर लेता है कि उसमें और किसी वस्तुकी प्रतीति तक नहीं होती। धर्मका पथ प्रशस्त हो, इसलिए श्रद्धावान् और श्रवणाभिलाषी साधकको वह व्युत्थित अवस्थामें उपदेश प्रदान करते हैं, और जिससे उसका आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उत्साह बढ़े, इस प्रकारकी व्यवस्था भी कर देते हैं। उनका चित्त सर्वदा समभावापन्न होनेके कारण उनको सुखकी इच्छा नहीं होती, दुःखादिके प्रतीकारमें प्रवृत्ति भी नहीं आती।

भ्रम-संशयशून्य योगीका चित्त अत्यन्त स्थिर होता है। वह स्थिरावस्था जब अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होती है तो योगी इच्छारहित हो जाते हैं। मन स्वभावतः ही विक्षेपधर्मी है, अतएव मनके चञ्चल रहते कोई साधना ठीक भावसे नहीं होती। साधनाके लिए हम अनेक मार्गोंका अनुसरण करते हैं और मनके द्वारा उसे करते हैं, परन्तु मनके चञ्चल होनेके कारण वह आत्मवस्तु उन उपायोंसे सहज ही प्राप्त नहीं होती। प्राण यद्यपि मनको वेगयुक्त करता है, तथापि प्राणकी क्रियामें कोई इच्छा नहीं होती, कोई उसकी ओर दृष्टि रखे या न रखे, वह अपने आप सर्वदा चलता रहता है। यह सङ्कल्पहीन प्राणक्रिया जो श्वासरूपमें होती है, उसमें लक्ष्य रखने पर प्राण एकदम स्पन्दनशून्य हो जायगा और उसके साथ साथ मन भी विलीन हो जायगा। प्राणके स्थिर और मनके लय होने पर अमरपद प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा तो अमृतस्वरूप है ही, केवल मनःप्राणके विक्षेपके कारण उसके अमृत-स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती। जो आत्मक्रियाका अभ्यास करता है, उसका प्राण सहस्रारमें प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है, तब वह समझ पाता है कि परमपद क्या वस्तु है। गुरुवाक्यमें विश्वास करके उनके उपदेशके अनुसार जो दृढ़ अभ्यासमें रत होता है, वह निश्चय ही परमपदमें प्रविष्ट होकर ब्रह्मानन्दका भोग करता है, उसका जीवन चिरकालके लिए कृतार्थ हो जाता है। अतएव हे साधक, यदि ब्रह्मके भीतर प्रवेश करके ब्रह्मज्ञान लाभ करना चाहते हो तो गुरुप्रदत्त इस साधनक्रियाको प्राणपणसे करते चलो। तुम निश्चय ही अमृतपद प्राप्त करके ब्रह्मानन्दके अधिकारी हो सकोगे॥२०॥

द्वादश अध्यायके वक्तव्यके सम्बन्धमें संक्षिप्त पुनरालोचना

ब्रह्मके दो विभाग हैं—एक 'निर्गुण' और दूसरा 'सगुण'। निर्गुणकी उपासना नहीं होती, साधनाके फलस्वरूप कोई-कोई साधक ब्रह्मके इस निर्गुण भावको उपलब्ध कर सकता है। परन्तु वह है क्या, यह कहने या समझाने योग्य भाषाका अभाव है।

कोई विशेषण देकर उस अवस्थाको नहीं समझा सकते, इसको चिरकाल तक मूकास्वादनवत् साधकेन्द्र लोग अनुभवमात्र कर सकते हैं, परन्तु उसके स्वरूपका निर्देश करनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं होता।

सगुणकी उपासना होती है। यह ब्रह्मका एकांश-मात्र है। यह सगुण उपासना दो प्रकारकी है—(१) अव्यक्त कूटस्थकी उपासना, और (२) व्यक्तकी उपासना। व्यक्तकी उपासना अधिकारी-भेदसे अनेक प्रकारकी हो सकती है।

विश्वके भीतर जो अधिष्ठान-चैतन्य विद्यमान है, वह असंख्य नाम-रूप द्वारा आवृत है, उस नामरूपमात्रको अवलम्बन करके जो उपासना प्रवर्तित होती है वही सगुण उपासना है और अव्यक्त होने पर भी वह स्थूल है। एक ही वस्तुके रूपभेदसे असंख्य नाम होने पर भी जैसे उसके स्वरूपगतभावमें द्वितीयका अस्तित्व नहीं रहता, एक ही आकाश घट-भेदसे विविध उपाधि ग्रहण करता है तथापि आकाश जैसे विभिन्न नहीं होता, उसी प्रकार विश्वकी जो मूल सत्ता या अधिष्ठान-चैतन्य है, वह प्रकाशमात्र ज्योतिःस्वरूप है, उसका अन्य कोई विशिष्ट नाम या रूप नहीं है, वह अद्वितीय ज्योतिःस्वरूप किसी अवस्थामें परिवर्तित नहीं होता, इस कारण उसको 'कूटस्थ' कहते हैं। यह कूटस्थ या सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण ही विश्वरूपमें प्रकाशित होते हैं। जो प्रत्येक जीवमें कूटस्थ ज्योतिके रूपमें रहते हैं वही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष हैं, और वही वृहत् कूटस्थ रूपसे विश्वमय व्याप्त हो रहे हैं, इसीलिए वृहत् कूटस्थको जिन्होंने देखा है, वह जानते हैं कि इस जगत्के समस्त नामरूपमय पदार्थ उस ज्योतिके भीतर प्रविष्ट होकर ज्योतिःस्वरूप हो जाते हैं। इस ज्योतिके अन्तर्गत पुरुष ही ध्येय है तथा इस विराट विश्वके भीतर लाखों नामरूप वर्तमान होने पर भी वे नाम-रूप जिसका आश्रय करके रूपवान और नामयुक्त हुए हैं, उनके अन्तरालमें जो ज्योतिर्मय अन्तर्यामी पुरुषरूपमें वर्तमान हैं, वही कूटस्थ या नारायण हैं।

यह पुरुष ही विश्वका प्राण है। इसके केवल चैतन्य भावको लक्ष्य करके इसको पुरुष या नारायण कहते हैं तथा इसकी विविध शक्तियोंको लक्ष्य करके इसको ज्योतिर्मयी महादेवी या जगदम्बा कहते हैं। ब्राह्मण लोग जिस गायत्रीकी उपासना करते हैं, वह भी इस विश्वप्राण जगदम्बाकी ही उपासना है। यह कूटस्थ ज्योति सबके भीतर वर्तमान रहने पर भी सबके सामने प्रकाशित नहीं है, अतएव इसको अव्यक्त कहते हैं। इसका कोई परिवर्तन न होनेके कारण इसको 'कूटस्थ' कहते हैं। वेदविद् पुरुष इसको अक्षर ब्रह्म कहा करते हैं।

सेइ एक बिन्दुरूप सिन्धुरूपाधार।
जगतेर रूप याते करये विहार॥

आदित्यके प्रकाशके समान वह स्वप्रकाश स्वरूप है, चिन्तनके द्वारा कोई उस रूपको साक्षात्कार नहीं कर पाता इसलिए वह अचिन्त्य है, वह अपने आपमें प्रकाशित होता तो है परन्तु मलिन मन-बुद्धिके लिए वह अगोचर है। योगबलके द्वारा सुषुम्नाके मार्गसे प्राणको आवेशित करने पर उस द्योतनात्मक परम पुरुषका दर्शन होता है, यह

गीताके अष्टम अध्यायमें कहा जा चुका है। यह पुरुष ही जीवका उपास्य और मोक्षदाता है।

चित्त स्थिर होने पर जो स्वरूपशून्यके समान अवस्था होती है, उसमें भगवान् पहले निराकार-से प्रतीत होते हैं, परन्तु वही अन्तिम तत्त्व नहीं है। निराकार असीम आकाशको भेद करने पर पुनः चिन्मय लीला-विग्रहका अनुभव होता है। वह मायिक रूप नहीं है, वह नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह है, इस रूपका दर्शन विरले ही कर पाते हैं। इसको तत्तत् स्थाननिवासी जीवन्मुक्त महापुरुष समय-समय पर अनुभव करते हैं। उसके परे भी जो अनिर्वचनीय अव्यक्त अवस्था रहती है, वह कहने या समझनेमें नहीं आ सकती। बहुतसे लोग समझते हैं कि योगी समाधिमग्न होकर कुछ भी अनुभव नहीं कर सकते, अतएव उस अवस्थामें आनन्दका पूर्ण अभाव होता है। परन्तु यह बात सत्य नहीं है, योगी समाधिकी अवस्थामें जो आनन्द प्राप्त करते हैं, उसकी तुलना किसी सांसारिक आनन्दके साथ नहीं हो सकती।

व्यक्त उपासनामें प्रतीककी उपासना देशमें नाना प्रकारसे प्रचलित है। सिद्ध साधकोंकी ध्यानावस्थामें ये रूप पहले प्रकाशित होते हैं, पश्चात् वे जगत्में प्रचारित होकर उपासकोंकी उपासनाको सुकर बनाते हैं। याद रखना होगा कि ये सब रूप केवल कल्पना-मात्र नहीं हैं। योगी लोग योग-साधनके समय अन्तःशरीरमें इनका अनुभव किया करते हैं। परन्तु जो नाममात्रकी पूजा करते हैं उनके सामने वह जड़रूपमें प्रतीत होते हैं। उसमें प्रतीकका दोष नहीं है, जड़बुद्धि साधककी जड़ताके कारण वह जड़वत् प्रतीत होते हैं। साधककी साधनामें तीव्रताके द्वारा इन सारी जड़ मूर्त्तियोंमें चैतन्यका अधिष्ठान होता है, कोई-कोई साधकइस प्रकार मूर्त्तिकी उपासना करके भी कृतकृत्य हो जाते हैं। मन्त्र-जप, मूर्त्ति-ध्यान, नाम-कीर्तन आदि प्रतीक उपासनाके अन्तर्गत हैं।

ये सारी उपासनाएँ एक प्रकारसे शक्तिकी या प्राणकी ही उपासना है। व्यक्त उपासनाके भीतर श्रेष्ठ उपासना हुई प्राणोपासना। प्राणका व्यक्तभाव श्वास-प्रश्वास-रूपमें देहमें वर्तमान रहता है, इस श्वास-रूपी मन्त्रको चैतन्ययुक्त करना होगा। जबतक श्वास है, तबतक जीवन और बाह्य चैतन्य है। इस व्यक्त प्राणकी उपासनासे ही साधक 'निष्कल' अवस्था प्राप्त करता है—"निष्कलं तं विजानीयात् श्वासो यत्र लयं गतः।" इस व्यक्त प्राण या श्वासकी उसापना करते-करते साधक अव्यक्त या स्थिर प्राणका सन्धान पाता है, तभी उसका मन्त्र-चैतन्य होता है। ऐसी उपासना विफल नहीं होती। सभी इस अभ्यासके बलसे सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। भक्तिके चालीस प्रकारके लक्षण हैं जो इस बारहवें अध्यायमें कहे गये हैं, ये साधनाके अभ्याससे सबके भीतर स्फुटित हो सकते हैं। मुक्ति प्राप्तिके लिए ये चालीस प्रकारके गुण साधकोंके लिए नितान्त सम्पादनीय हैं। साधकके साधनाभ्यासके फलस्वरूप ये सारे गुण एक-एक करके प्रकटित हो सकते हैं। सिद्धावस्थामें सिद्धके स्वाभाविक लक्षणके रूपमें ये गुण सर्वदा वर्तमान रहते हैं।

भक्त साधकको अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार क्या क्या करना होगा, इसकी भी एकबार आलोचना कर लेनी चाहिए।

(१) जो अव्यक्तकी उपासना नहीं करते, व्यक्तकी उपासना करते हैं, वे गुरूपदेशके अनुसार दूसरी ओर मन न देकर क्रिया करते चलें, इससे वे अतिशीघ्र आत्मस्थ हो सकेंगे अर्थात् मृत्यु-संसाररूप यह देह-ज्ञान उनको न रह जायगा। उनका प्राण मस्तकमें स्थिर होते ही क्रियाकी परावस्थारूप अवरुद्ध अवस्था शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इसलिए स्थिर कुम्भकके साथ प्राणको निःशेषरूपसे मस्तकमें अर्थात् सहस्रारमें उठाना होगा, इससे फिर जन्म-मरणका अभिनय करनेके लिए संसारमें पुनः पुनः आवागमन नहीं करना पड़ेगा।

(२) प्रतिदिन १२-१४ घंटे अभ्यास करनेपर, १७२८ बार प्राणायामका अभ्यास करने पर प्राण शीघ्र त्रिकुटी भेद करके सहस्रारमें पहुँच सकता है। इस प्रकारके तीव्र अभ्यासमें असमर्थ होने पर जहाँ तक हो सके अभ्यास करो और प्राणमें या श्वासमें लक्ष्य रखो। सब काम करो और उसके साथ-साथ श्वासमें लक्ष्य रखो, इससे भी चित्त स्थिर होकर विषय-भ्रमणसे विरत हो जायगा। इस प्रकारके अभ्यासके फलस्वरूप चित्त क्रियाकी परावस्थामें रहकर कर्म करनेमें समर्थ होगा।

(३) यदि क्रियाकी परावस्थामें रहकर कर्मादि न कर सको तो सब प्रकारके कर्म करते चलो, परन्तु संयमके अभ्यासके साथ। उपर्युक्त साधनमें सब प्रकारके कर्म करनेकी प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। परन्तु जिनकी प्रवृत्ति उस समय भी प्रबल हो वे यदि संयम-अभ्यासके साथ क्रियायोगके विविध अनुष्ठानोंकी साधना करते हैं, तो उसके फलस्वरूप उनके प्राण स्थिर हो जायँगे और प्राणकी स्थिरताके साथ मन भी स्थिर होकर विलीन हो जायगा। क्रियाकी परावस्थामें रहकर नशेबाजके समान कर्म करनेका सामर्थ्य नहीं रहता। क्रियायोगका अभ्यास करने पर उस अभ्यासके फलस्वरूप मन उत्तरोत्तर ध्यानावस्थामें प्रवेश कर सकेगा।

इस प्रकारसे जो साधक साधनाभ्यास करते हैं, वे शीघ्र ही गीताके ११वें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कथित लक्षणोंको प्राप्त कर सकते हैं—

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(१) कर्म करके भक्त साधकको अहङ्कार नहीं होता, सब कुछ भगवत्प्रेरणा जान पड़ती है। अतएव उन सब कर्मोंको करके वे सुख-दुःखके भागी नहीं होते।

(२) आत्माके सिवा दूसरी ओर मन देने पर प्रकृत कल्याण नहीं होता, यह समझ कर भक्त दृढ़तापूर्वक भगवद्-भजन करता है और उनको ही आश्रय करके रहता है।

(३) जो इस प्रकारका भक्त है वही सङ्गवर्जित हो सकता है। जीवका संसारके प्रति बड़ा आकर्षण होता है। मैं लाभान्वित हूँगा, यह सोचकर जीव सारे कर्म करता है। परन्तु भगवद्-भजन करते-करते भक्तका संसारके प्रति वह आकर्षण नहीं

रह जाता, तब ऐसा जान पड़ता है कि भगवत्प्रेरित होकर ही मैं सब कर्म कर रहा हूँ, उसके शुभाशुभ फलकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती।

(४) सर्वभूतमें उनका वैरभाव नहीं रहता, वह सब देहोंमें और सब वस्तुओंमें आत्मदर्शन करते हैं। इसलिए उनका लक्ष्य सदा जीवोंके कल्याणके प्रति रहता है। तब उनके लिए आत्माका अदर्शन कहीं भी नहीं रहता।

अक्रोध, परमानन्द और क्षमा साधुओंके लक्षण हैं। स्थित-प्रज्ञ हुए बिना ये सब लक्षण किसीमें नहीं घटते। सर्वभूतमें समदर्शन और ब्रह्ममें सर्वकर्मार्पण हुए बिना निःश्रेयस प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि संसारकी नियम-शृङ्खलाकी ओर लक्ष्य रख कर साधु लोग दुष्टके दमन और शिष्टके पालनका उपदेश देते हैं, अतएव अवस्था विशेषमें क्षमा और क्रोध दिखलाना पड़ेगा। भक्त प्रह्लादने अपने पौत्र बलिसे कहा था—'न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा'—सर्वदा तेज या क्षमा प्रकट करना श्रेयस्कर नहीं है। अवस्था-विशेषमें इनका प्रयोग होना चाहिए।

साधकका जीवन साधु जीवन है। साधुजीवन-यापन किये बिना चरित्रबलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ विषयोंको प्राप्त करते ही यदि उनकी ओर धावमान होती हैं तो समझ लो कि अभी भगवत्प्राप्ति बहुत दूर है। जो आत्मजयी नहीं अर्थात् जिसका मन विक्षेपशून्य नहीं हो सकता, उसे इन्द्रिय-जय करनेमें पूर्ण असमर्थ समझो। ईश्वरमें विश्वास करना पड़ेगा, परन्तु बलपूर्वक विश्वास नहीं उत्पन्न किया जा सकता। इसके लिए साधुसङ्ग करना पड़ेगा। साधुसङ्गसे शास्त्रमें दृढ़ मति उत्पन्न होती है। तब भगवान्को शास्त्र और गुरु-वाक्यके अनुसार युक्तिके साथ समझनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिदिन क्रिया करो, ध्यानाभ्यास करो, इससे प्राण, मन और बुद्धि स्थिर हो सकेगी। बुद्धि जितनी स्थिर होगी, उतना ही परमानन्दका अधिकारी बनकर तुम यह समझ सकोगे कि परम पद क्या वस्तु है। बाह्य कार्य जिसको करना अत्यावश्यक है उसे करना ही होगा, परन्तु यह दृढ़ लक्ष्य रखना पड़ेगा कि कहीं बाह्य कर्ममें मन आसक्त न हो जाय। क्रियाकी परावस्थाके बिना यद्यपि समदर्शन ठीक प्रकारसे नहीं होता, तथापि विचारके द्वारा यह जानकर कि सर्वभूतोंमें वह एक ही आत्मा विराजमान है, सबके प्रति श्रद्धालु हो सकते हो और सदय व्यवहार कर सकते हो। जीवनको शास्त्रानुशासनमें नियमित करो। अधिक मत बोलो, सर्वदा श्वासमें लक्ष्य रखकर स्मरणमें सचेष्ट रहो, परहित-साधनमें कभी पीछे न रहो। सब जीवोंमें वही आत्मा है, यह जानकर किसीसे घृणा न करो, यहाँ तक कि शत्रुसे भी द्वेष न करो—यही अमृतधर्म है। इस धर्मका आचरण करके साधुजीवन प्राप्त किया जा सकता है। इससे हृदयमें गौणी भक्ति, पश्चात् मुख्या भक्ति आकर उपस्थित होती है। दुश्चरित्र और अशान्त व्यक्तिकी साधना निष्फल है, इसलिए इन्द्रिय, मन और देहको सर्वदा पवित्र रखनेकी चेष्टा करो। चरित्रवान हुए बिना केवल शास्त्र पढ़नेसे विवेक उत्पन्न नहीं होता। प्रकृत श्रद्धा और विवेक उत्पन्न होने पर अपने आप भजनमें

दृढ़ता आती है। अविरत भजनके फलस्वरूप चित्त विषयाकृष्ट न होकर सर्वदा सब विषयोंमें सन्तोष प्राप्त करता है। इस प्रकारसे विक्षेपशून्य होने पर ही चित्त परम पदमें प्रविष्ट होता है। तब सर्वात्म-दृष्टि उत्पन्न होने पर परम ज्ञानकी प्राप्तिसे साधक सदाके लिए कृतकृत्य हो जाता है।

इति श्रीश्यामाचरण-आध्यात्मिक-दीपिका नामक गीताके द्वादश अध्यायकी आध्यात्मिक व्याख्या समाप्त।